॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

तृतीय स्कन्ध

चतुर्थ खण्ड

अध्याय : २५ - ३३

॥ श्री हरि: ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्दी महामहोत्सव

प्रकाशन :

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथ-माला–पञ्चम सुमन

श्री मदखण्ड भूमण्डलाचार्य श्री कृष्णवदन विरह वैश्वानरावतार

श्री मद्वल्लभाचार्य प्रादुर्भाविता

श्री मच्चतुर्थ प्रस्थान श्री मद्भागवत् शास्त्र सर्गलीला

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी

हिन्दी अनुवाद सहित

अध्याय २५ से ३३

सहायक ग्रंथ–"प्रकाश" – श्री मद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायण ।
साकार ब्रह्म वादेकस्थापको वेद पारग ॥
मायावाद निराकर्ता सर्ववाद निरासकृत ।
भक्तिमार्गाब्ज मार्तण्ड स्त्रीशुद्राद्युधृतिक्षमः ॥
श्री भागवत पीयूष समुद्र मथनक्षमः ।
तत्सार भूतरासस्त्री भाव पूरित विग्रहः ॥
श्री भागवत प्रतिपद मणिवर भावांशु भूषिता मूर्ति ।
श्री वल्लभाभिवानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम ॥

राष्ट्रीय भाषा अनुवादक :

प. भ. त्रिपाठी नारायणजी (आत्मज रामकृष्णजी) शास्त्री, नाथद्वारा

प्रथमावृति - १०००
श्री विजयादशमी
तिथि आश्विन शुक्ला १० वि. स. २०३८
दिनांक ८ अक्टूबर १९८१

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जीकृत)

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,

जोधपुर नगर (राजस्थान) पिन कोड ३४२००३

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (पञ्जिकृत)

जोधपुर (राजस्थान)

उद्देश्य—जगद्गुरु श्री मद् वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रति पादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्तों व ग्रन्थों का राष्ट्रभाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद करवा कर जन साधारण निमित्त प्रकाशन करवाना।

संगीत कला, चित्रकला एवं अन्य ललित कलाओं से सम्बन्धित उपलब्ध साहित्य सामग्रियों का शोध करवा कर उनका प्रकाशन करवाना।

विशिष्ट सहायक सदस्य—रु० ५०००) व इससे अधिक चल अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता। इनके शुभ नाम सब ग्रन्थ मालाओं की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सहायक सदस्य—रु० १०००) से रु० ४९९९) तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम एक ग्रन्थमाला की सब पुस्तकों में दिये जाते हैं।

सम्मानित सदस्य—रु० ५०१) से रु० ९९९) तक भेंटकर्त्ता इनके शुभ नाम केवल एक पुस्तक में प्रकाशित किये जाते हैं

सदस्य रु० १५१) से रु० ५००) भेंटकर्त्ता - साधारण सदस्य

इस द्वितीय ग्रन्थमाला के सर्व सुमन अर्थात् श्री मद्भागवत महापुराण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध (प्रथम पाँच अध्याय) की श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित की पुस्तकें सदस्यों को भेंट की जायेगी।

इस संस्था के विशिष्ट सहायक—

(१) गो. वा प. भ. श्री नन्दलालजी एवं इनकी धर्म पत्नीश्रीमती सौभाग्यवतीजी मानधना जोधपुर १००००)

(२) श्री हरिलालजी हरिवल्भदासजी धर्मादा ट्रस्ट अहमदाबाद १०,०००)

(३) श्री बालाभाई दामोदरदास ट्रस्ट तथा बाई रुकमणी पत्नि वकील चिमनलालजी कपूरचन्दजी वैष्णव मंडाण ट्रस्ट अहमदाबाद द्वारा गो. वा. सेठ साकरलाल वाला भाई द्वारा रु० ५०००)

सहायक सदस्य—

गो. वा. प. भ. मोहनलालजी शर्मा की स्मृति में प. भ. बंशीबाई जतीपुरा १६०१)

गो. वा. प. भ. हरगोविंददासजी की स्मृति में उनके सुपुत्र प. भ. चिमनलालजी मोहनलालजी नटवरलालजी केधर्मादा ट्रस्ट द्वारा भेंट बम्बई १५०१)

प. भ. कृष्णदासजी मून्धड़ा उनकी धर्म पत्नी सहोदराबाई कलकत्ता १५०१)

प. भ. कस्तूरी बहन एवं उनके सुपुत्र श्री विठ्ठलदासजी शाह हैदराबाद १२५१)

प भ. लाजवन्तीबाई नन्दलालजी भाटिया दिल्ली ११०१)

।। श्री हरिः ।।

श्री मद्वल्लभाचार्य महाप्रभु पंच शताब्धी महोत्सव प्रकाशन

श्री सुबोधिनी द्वितीय ग्रंथ माला–पंचम सुमन

तृतीय स्कन्ध सुबोधिनी

(सह हिन्दी अनुवाद)

अध्याय २५ से ३३

मुख पत्र	अ
संस्था के उद्देश्य एवं विशिष्ट आजीवन सदस्यों की सूची	आ
विषय सूची	इ
दो शब्द-गोस्वामी श्रीबृजभूषणलालजी महाराज संस्थाध्यक्ष महोदय	ई
श्री तत्वदीप निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण तृतीय स्कन्ध के अध्याय २५ से ३३ तक	१
संरक्षक एवं द्वितीय ग्रन्थ माला के आजीवन सदस्यों की सूची	११-१२
श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका से सौरभपूर्ण चुनी हुई कुछ कलियां (सुबोध रत्नाकर)	१३
भूमिका	१४-१६

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ क्रमांक
२५	कपिलदेवजी द्वारा देवहूतिजी को कहा हुवा भक्ति योग	१ से ४८
२६	कपिलदेवजी का माता देवहूति को सांख्य तत्वों का उपदेश देना	४६ से ११०
२७	पुरुष का स्वरूप और उसे जानने का उपाय	१११ से १३६
२८	भगवद्-ध्यान रूप योग और उसके साधन	१३७ से १८०
२६	श्री कपिलदेवजी का माता देवहूतिजी को वैराग्य के लिये बताया हुआ काल का स्वरूप	१८१ से २१६
३०	गृहस्थी को काल से होने वाले दुःख	२७१ से २४०
३१	जीव का गर्भ में, आना और गर्भ में रहते हुवे जीव द्वारा की गई भगवान की स्तुति	२४१ से २८०
३२	गृहस्थी के धर्म	२८१ से ३१६
३३	कपिलदेवजी का पधारना और देवहूतिजी की मुक्ति	३१७ से ३४६
	अनुक्रमणिका	३५०–३५६

चित्र सूची

पुष्टिमार्ग के आराध्य प्राण प्रेष्ठ–श्री नाथजी	४
श्री मद्वल्लभाचार्य चरण महाप्रभुजी द्वारा श्री सुबोधिनी की रचना	१

।। श्री हरि: ।।

दो शब्द

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण महाप्रभुजी की कृपा से श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के अन्तिम ९ अध्यायों की सुबोधिनी सह हिन्दी अनुवाद का समापन इस ग्रन्थ में होता है । अब प्रथम स्कन्ध के १९ अध्यायों एवं द्वितीय स्कन्ध के १० अध्याय–योग-२९ अध्यायों के प्रकाशन से सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद सहित उपलब्ध सुबोधिनी का कार्य है सो सदस्यों को प्राप्त हो जावेगी ।

निस्संदेह प्रकाशन-कार्य में अनेक कठिनाइयों के उपस्थित होने से इस स्कन्ध के पूर्ण होने में काफी विलम्ब हुई है यद्यपि संस्था प्रत्येक प्रकार से कार्य पूर्ण करने में प्रयत्नशील रही है । इसका कारण भगवद्-इच्छा ही मान कर सन्तोष करना चाहिये । सदस्य महानुभावों ने जो धैर्य रखा इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

इस पुस्तक का विषय है भगवान् कपिलदेवजी के सांख्य योग का उपदेश अपनी माताजी देवहूतिजी को प्रदान करके उनको मुक्त करना । इन नौ अध्यायों में सांख्य, योग और भक्ति का सुन्दर वर्णन है । भगवद्-भक्ति एक स्वतंत्र साधन है जिसमें भगवद्-कृपा ही कारण एवं कार्य रूप में विद्यमान है । भगवान् के चरण कमलों में सर्वस्व समर्पण कर दैन्य युक्त उन चरण कमलों का दृढ़-आश्रय ग्रहण कर जीवन निर्वाह करना ही भगवद्-कृपा प्राप्त करने का सुलभ सरलतम उपाय है जो वेद शास्त्रों का सार है। वह आश्रय सिद्ध हुआ तब जाना जाता है जबकि मानव अपनी अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों में भी प्रसन्न चित्त रहे । न सुख में हर्ष न दु:ख में शोक का होना ही निश्चिन्तता का लक्षण है । ऐसे महापुरुष ही निरन्तर भगवद्-भाव में मग्न रहते हैं और उनका जीवन ही सार्थक है । भगवद्-भाव का व्यसन हो जाना ही जीव की कृतार्थता है । इसे प्राप्त करने के लिये हम सबको सर्वेश्वर सर्वात्मा परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण की सदैन्य प्रार्थना करना चाहिये ।

इति सुभम् ।

रमा एकादशी
वि. सं २०३८

गोस्वामि व्रजभूषणलाल

* श्री सुबोधिनी *

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

।। श्री हरिः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के द्वारा विरचित तत्त्वार्थ दीप निबन्ध
का

भागवतार्थ प्रकरण

तृतीय स्कन्ध—अध्याय २५ से ३३

भागवतार्थ प्रकरण की कारिकाओं (श्लोकों) के अर्थों का स्पष्टीकरण दशदिगंत विजयी गोस्वामीवर्य श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने 'प्रकाश' द्वारा किया है जिसका तथा आभास का यहाँ केवल हिन्दी अनुवाद ही दिया गया है।

कारिका—**वैराग्यादिः स्त्रियाः प्रोक्ता मुक्तिर्नवभिरुत्तमा ।।१७६½।।**

कारिकार्थ—*नौ अध्यायों से स्त्रियों के लिये वैराग्य आदि तथा उत्तम मुक्ति कही है।१७६½।

इसके आगे एक अध्याय से स्त्री की मुक्ति कहनी चाहिये सो न कहकर नौ अध्यायों से क्यों कहा इसका उत्तर देते हैं कि स्त्री के लिये वैराग्य आदि विशेषरूप से कहने चाहिये वे एक अध्याय से नहीं कहे जा सकते इसलिये नौ अध्याय कहे हैं। क्या स्त्री की मुक्ति पुरुष से ही होगी उसके लिये कहा है कि उत्तमा स्त्री, मुक्ति के साधन प्रकारों से उत्तम है। ।।१७६½।।

आभासार्थ—कपिलदेवजी ने उपनिषद् सम्बन्धी ज्ञान का उपदेश न देकर सांख्य ज्ञान का उपदेश क्यों दिया इसके लिये कहते हैं—

कारिका—**यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा ।**
वर्णिनामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोऽन्यथा ।।१७८।।

कारिकार्थ—उपनिषद् का ज्ञान अथवा भागवत का ज्ञान त्रैवर्णिकों के ही लिये है इसलिये स्त्री और शूद्रों के लिये उससे अतिरिक्त ज्ञान का उपदेश किया गया है ।।१७८।।

प्रकाशार्थ—गार्गी और मैत्रेयी प्रभृति स्त्रियों को तो भर्त्ता के साथ यज्ञ सम्बन्ध तथा वेद सम्बन्ध था इसलिये उनको मुख्य ही ज्ञान था अर्थात् मैत्रेयी आदि का यज्ञ संबंध

---

* इस पुस्तक में तीसरे स्कन्ध के २५वें से ३३वें अध्याय तक की कथा है अतः नौ अध्यायों का आशय इन ही २५ से ३३वें अध्याय तक का है।

था और गार्गी आदि का वेद सम्बन्ध था। पहले के युग में स्त्रियों का भी उपनयन होता था ऐसा धर्मशास्त्रों में कहा है। कर्दमजी का तो देवहुति के साथ न यज्ञ सम्बन्ध था और न वेद सम्बन्ध। इसलिये उपनिषद् सम्बन्धी ज्ञान का उपदेश नहीं दिया। यदि स्त्रियों का वेद सम्बन्ध होता तो फिर 'स्त्री शूद्रद्विज बन्धूनात्रयीन श्रुति गोचरा' में स्त्री का ग्रहण व्यर्थ हो जाता। भागवत ज्ञान भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये ही है क्योंकि उसमें उपासना प्रधान है। जो भगवान् ने ब्रह्माजी के लिये कहा है वह त्रैवीर्णको के ही लिये हैं ।।१७८।।

कारिका—**विदुरस्याऽधिकारोऽत्र प्राधान्याद्बीजरूपयोः ।**
अतः साङ्ख्यप्रकारेण तस्यै ज्ञानमुदीर्यते ।।१७९।।

कारिकार्थ—बीज (ब्राह्मण) और रूप (क्षत्रिय) को प्रधानता से विदुर का यहाँ (सांख्य) में अधिकार है इसलिये सांख्य के प्रकार से ही स्त्री के लिये ज्ञान कहा गया है ।।१७९।।

प्रकाशार्थ—यहाँ मुख्य प्रकरण वाले विदुरजी हैं उनके अनुगुण सांख्य-ज्ञान है। अतिशूद्र का तो सांख्य में भी अधिकार नहीं है। उसके लिये कहा है कि प्राधान्याद्बीजरूपयोः विदुर व्यासजी के द्वारा उत्पन्न हुए थे। इसलिये बीज ब्राह्मण का था और रूप क्षत्रिय का ।।१७९।।

आभासार्थ—प्रमेय बल का सहारा लेकर समाधान करते हैं—

कारिका—**यथाकथञ्चिदात्मा हि ज्ञायतां साधने दृढे ।**
ज्ञाने वा भक्तियोगे वा फलं भवति सर्वथा ।।१८०।।
अतोऽत्र त्रितयं प्रोक्तं योगेनैषा परं गता । १८०½

कारिकार्थ—यथा कथंचित् आत्मा का ही ज्ञान करना है दृढ साधन के होने पर ज्ञान के या भक्तियोग के होने पर फल होता है। इसलिये यहाँ सांख्य, योग तथा भक्तिमार्ग ये तीन कहे हैं उनमें यह देवहूति योग के द्वारा परमगति को प्राप्त हुई।

प्रकाशार्थ—सांख्य-योग और भक्ति मार्ग इन तीन का उपदेश दिया है। उनमें से यह देव-हूति योग से परम पद को प्राप्त हुई। इसलिये त्याग के अभाव में भी कोई दोष नहीं। भगवान् के स्वधाम पधारने पर भी कोई दोष नहीं है ।।१८०½।।

आभासार्थ—देवहूति 'निर्विण्णातितराम्' इत्यादि वाक्य क्यों कहती है और किसलिये कहती है—

कारिका—**गुरूपसत्त्या निर्विण्णो हेयांशं ज्ञापयेद्गुरौ ।।१८१।।**
श्रद्धाभक्तियुतस्तस्मै तत्त्वं वाच्यं न चाऽन्यथा ।
भर्तुश्च ब्रह्मणो वाक्याद्भगवत्त्वं तु तस्य हि ।।१८२।।
साङ्ख्यप्रणेतृतां चैव ज्ञातवत्याऽऽह तादृशम् ।।१८२½

कारिकार्थ—निर्वेद को प्राप्त होने वाला गुरु के पास जाता है और 'हेयांश' उन्हें ज्ञापित करता है जिसकी गुरु में श्रद्धा और भक्ति होती है उसी को गुरु तत्वोपदेश करता है अन्यथा नहीं करता। अपने पतिदेव कर्दमजी के वचन से कपिलदेवजी को भगवान् जानती थी और सांख्य शास्त्र का प्रणयन करने वाला भी जानती थी इसलिये उसने 'निर्विण्णातितराम' ऐसा वचन कहा ।।१८२½।।

प्रकाशार्थ—वहाँ प्रथम में प्रकार कहा जाता है। ऐसा कहने में हेतु तो ब्रह्माजी का वचन और भर्त्ता का वचन है क्योंकि उनका भगवत्व निश्चित है। अतः भगवान् के विषय में ऐसा कहना अद्भुत नही है ।।१८२½।।

आभासार्थ—सामान्यरूप से पतिदेव ने सांख्य के प्रकार का निरूपण किया था अतः प्रकार का कथन है।

कारिका—**देहादिष्वात्मविज्ञानान्मोहस्तेनेह संसृतिः ।।१८३।।**
मोहाभावः सांख्ययोगस्तद्धेतुस्तेन याचितौ । १८३½

कारिकार्थ—देह आदि को आत्मा जानने से मोह होता है और मोह के कारण ही संसार होता है। मोह का अभाव सांख्य योग से होता है अतः देवहूति ने प्रकृति और पुरुष का ज्ञान प्राप्त किया ।।१८३½।।

प्रकाशार्थ—मोह ही संसार है और उसका अभाव सांख्य से होता है। सांख्य के कथन करने में हेतु है कपिलदेवजी अतः उसने प्रकृति और पुरुष को जाना ।।१८३½।।

आभासार्थ—जब देवहूति ने प्रकृति पुरुष के विवेक के लिये प्रार्थना की तो कपिलदेवजी ने योग आदि का कथन किया यह तो अनुचित है। इस आशंका के लिये वे ससाधन योग का उपदेश देते हैं—

कारिका—**शाब्दं साङ्ख्यं नोपयोगि सहकारि तु चेतसः ।।१८४।।**
ज्ञानशङ्कानिवृत्तिश्च मनसः सहकारिणी ।
अतो हि यादृशं चेतः साक्षात्कारे प्रयोजकम् ।।१८५।।
तादृशं साधनैः साध्यमित्याह गुरुरादृतः ।
अतो दोषनिवृत्त्यर्थं योगः प्रथममुच्यते ।।१८६।।
निर्दुष्टमेव रमते समता लिङ्गमस्य हि । १८६½

कारिकार्थ—केवल शाब्द सांख्य उपयोगी नहीं है किन्तु वह चित्त का सहकारी है। ज्ञान के विषय में शंका की निवृत्ति भी मन की सहकारिणी है। अतः जिस प्रकार का चित्त साक्षात्कार में प्रयोजक होता है उस तरह का चित्त साधनों से साध्य है यह बात गुरु कहते हैं। अतएव दोष की निवृत्ति के लिये योग पहले कहा जाता है। निर्दोष होने की पहचान है समता ।।१८४-८६½।।

प्रकाशार्थ—दोषों का निवर्त्तक होने से योग ही सब से मुख्य है । जब तक दोषों की निवृत्ति न हो तब तक योग की कर्त्तव्यता बताई है । दोषों की निवृत्ति की पहचान तो समता है ।।१८६½।।

ग्राभासार्थ—केवल योग से भी कार्य सिद्ध नहीं होता है । उसके लिये भक्ति को कहते हैं—

कारिका—**शुष्कयोगे नैव शक्यं स्वनिर्वाहोऽपि दुर्लभः ।।१८७।।**
ग्रतो भक्तिर्भगवति बिना सद्भिर्न सा क्वचित् ।१८७½

कारिकार्थ—भक्ति के बिना केवल योग चित्त का शोधन करने में समर्थ नहीं है तथा भक्ति के बिना योग अपना निर्वाह भी नहीं कर सकता । ग्रतः भगवान् में भक्ति होनी चाहिये परन्तु वह भक्ति सन्तों के बिना नहीं हो सकती ।।१८७½।।

प्रकाशार्थ—भक्ति रहित योग चित्त का शोधक नहीं हो सकता । बिना भक्ति के उसका निर्वाह भी संदिग्ध है । ग्रर्थात् भक्ति के बिना योग की भी सिद्धि नहीं होती । भक्ति भी भगवान् में ही होनी चाहिये वह भक्ति सर्वसाधिका है । वह भक्ति भी स्वतः उत्पन्न हो या अन्य दर्शन से उत्पन्न हो परन्तु वह भक्ति पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली नहीं हो सकती इसलिये यहां 'बिना सद्भिर्न सा क्वचित्' कहा है नये नये सन्देहों का निवारण सन्तजनों से ही हो सकता है ग्रन्य से नहीं ।

कारिका—**सन्तश्च लक्षणैरेव सङ्गश्च हरिवाचकः ।।१८८।।**
ग्रतो विलोमविधिना साक्षात्कारः फलिष्यति । १८८½

कारिकार्थ—लक्षणों के द्वारा संतजनों की पहचान करना चाहिये । उनका संग भी केवल भगवत्कथा के लिये होना चाहिये । ग्रतः विलोम (विपरीत) विधि से भगवत्साक्षात्कार फलित होगा ।।१८८½।।

प्रकाशार्थ—लोक प्रसिद्धि से ग्रथवा ग्रपनी रुचि से सन्त नहीं मानने चाहिये किन्तु लक्षणों से उन्हें जानना चाहिये । उन सत्पुरुषों का संग भी भगवत्कथा के लिये ही होना चाहिये । कथा में ग्रथवा कथा के साधन में हो । इस तरह शृङ्खलारूप से पदार्थों का निरूपण करके ग्रब उसकी समाप्ति को 'विलोमविधिना' से बताते हैं । ग्रर्थात् सत्सङ्ग होने पर कथा श्रवण होती है उसमें बताये हुए प्रकार से योग की सिद्धि होती है योग की सिद्धि से चित्त में निर्मलता ग्राती है तब धर्म में रुचि होने के कारण सद्भाव सम्पन्न होता है उससे भगवत्साक्षात्कार होता है भगवत्साक्षात्कार से सर्वज्ञता होती है सर्वज्ञता होने पर स्वरूप ज्ञान होता है इसे विलोम विधि कहा है ।।१८८½।।

ग्राभासार्थ—सांख्य में भक्ति का ग्रङ्गरूप से निरूपण है किन्तु स्वमार्ग में भक्ति तो प्रधान (मुख्य) है उसे कहते हैं—

कारिका—**भक्त्यैव हि सतां सर्वमित्यर्थादुक्तमित्यवैत् ।।१८९।।**
ग्रतो भक्तिं च योगं च द्वयंपृच्छति सा पुनः ।।१८९½

श्रद्धया पृष्टमित्याह भक्ति ज्ञानं च तस्य तत् ॥१६०॥
प्रतिज्ञातं त्रयं तस्मात्साङ्ख्ये ज्ञानं फलं सथा ।१६०½

कारिकार्थ—सन्तों के लिये भक्ति से ही सब होता है ऐसा सामान्य तर्क रूप से कह दिया है ऐसा देवहूति ने समझा। अतः देवहूति भक्ति और योग दोनों के विषय में प्रश्न करती है। 'भक्ति' ज्ञानं च तस्यतत् यह इसलिये कहा कि उसने प्रश्न श्रद्धा से किया था अतएव भक्ति, सांख्य और योग इन तीनों के कहने की प्रतिज्ञा की तथा सांख्य में ज्ञान फल है उसका भी कथन किया ।।१८६ से १६०½॥

प्रकाशार्थ—मुझे कपिलदेवजी ने प्रसङ्ग से ही ऐसा कह दिया है ऐसा देवहूति ने जाना। इसलिये सङ्ग के लिये उसने यत्न नहीं किया। विशेष प्रश्न का हेतु यह ही है। मुझे यदि कहेंगे तो भक्तियोग अथवा केवल योग मेरे लिये कर्तव्य होगा। वेद ही साधारण रूप से पदार्थों का निरूपण करता है किन्तु अन्य तो प्रश्नकर्त्ता के अधिकार के अनुसार ही उसका निरूपण करते हैं अतः उसने भक्ति का और योग का प्रश्न किया। भक्ति का प्रश्न करने से कपिलदेवजी के प्रति जो उसका पुत्र भाव था वह चला गया इसलिये कपिलदेवजी ने प्रसन्न होकर चार का कथन किया (१) भक्ति का (२) आत्मा और अनात्मा के विवेक का (३) ज्ञान का तथा (४) योग का उनमें आत्मा और अनात्मा का विवेक तो अङ्ग रूप है अतः 'विदित्वार्थम्' इस श्लोक में तीन के कथन की प्रतिज्ञा की। तत्वम्ना सांख्य को कहते हैं और भक्ति वितान के सहित योग इस तरह ये तीन होते हैं। शंका हो सकती है कि जब सांख्य का निर्देश पहले किया है तो उसका निरूपण पहले न कर भक्ति का निरूपण क्यों किया उस पर कहते है कि 'सांख्य ज्ञानं फलम्' सांख्य में ज्ञान मुख्य है अतः ज्ञान के निरूपण की प्रतिज्ञा है। सांख्य के निरूपण की नहीं अन्यथा केवल सांख्य की प्रतिज्ञा व्यर्थ होगी। साधन के सहित ज्ञान के वर्णन में बहुत कहना पड़ेगा इसलिये भक्ति का निरूपण पहले किया है ।।१८६ से १६०½॥

आभासार्थ—इस तरह प्रतिज्ञा को संदिग्ध मानकर उसे चार अध्यायों से स्पष्ट कहते हैं—

कारिका—**एवं चतुर्भिरध्यायैश्चतुष्टयमुदीर्यते ॥१६१॥**
भक्तावनधिकारित्वमस्या अर्थादुदीरितम् ।
त्रयं तदर्थमेवाऽऽह कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता ॥१६२॥

कारिकार्थ—इस तरह चार* अध्यायों से भक्ति-सांख्य-ज्ञान और योग इन चार का कथन है। देवहूति का भक्ति में अधिकार न होने से उसके लिये सांख्य आदि तीन का कथन है, योग में कृति की आवश्यकता रहती है ॥१६२॥

---

* चार अध्यायों से आशय है तीसरे स्कन्ध के २५, २६, २७ और २८ अध्याय इनमें प्रथम (२५वें अध्याय) में भक्ति, २६वें में सांख्य, २७वें में ज्ञान और २८वें में योग कहा है।

प्रकाशार्थ—प्रथम अध्याय में भक्ति कही है, सांख्य ज्ञान और योग आगे कहे हैं। शंका होती है कि भक्ति के असहाय शूर होने से इन चार के निरूपण की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर भक्तावनीधकारित्वम्' इससे दिया है देवहूति स्त्री है अतः उसका भक्ति में अधिकार न होने से सांख्य आदि का निरूपण देवहूति के लिये नहीं किया है देवहूति स्त्री है उसे संग की प्राप्ति हो नहीं सकती अतः 'अथते संप्रक्ष्यामि' इस भिन्न क्रम से देवहूति के हो लिये सांख्य आदि कहे गये हैं। उनमें भी सांख्य और योग में प्रकार भेद से देवहूति को क्या और कौनसा मार्ग सिद्ध है इस आकाङ्क्षा पर 'कृतियोगे प्रतिष्ठिता ऐसा कहा जिस तरह भक्ति मार्ग देवहूति के लिये उपयुक्त नहीं है उसी तरह योग का भी उपयोग उसके लिये नहीं है। यह तो निरूपण से ही जाना जाता है अतः देवहूति के लिये सांख्य का निरूपण किया है ।।१६१-१६२।।

आभासार्थ— यहाँ केवल भक्ति के स्वरूप का ही निरूपण नहीं है किन्तु सारे भक्ति मार्ग का निरूपण है—

कारिका—भक्तिमार्गस्य निर्धारस्त्रयोदशाभिरीर्यते ।
द्वाभ्यां त्रिभिस्तथा चाऽग्रे त्रयमेकैकतस्तथा ।।१६३।।
सफले लक्षणे मोक्षे लोकेष्वैहिकवस्तुषु ।
हेतौ च सम्मतौ सर्वनिर्धारे क्रमतो मतः ।।१६४।।

कारिकार्थ—तरह श्लोकों से भक्ति मार्ग का निर्धार किया गया है दो से, तीन से तथा आगे दो दो से तीन (अर्थात् तीन दो) फिर दो एक एक (इस प्रकार १३ श्लोकों से) सफल लक्षण मोक्ष में लोकों में ऐहिक वस्तुओं में हेतु में और सम्मति में सर्व निर्धार में इस तरह क्रम से माने गयों से ।।१६३-१६४।।

प्रकाशार्थ—'देवानां— (२५ वें अध्याय के ३२ वें श्लोक से लेकर) तेरह श्लोकों में सम्पूर्ण भक्ति मार्ग का निरूपण किया है। इन तेरह श्लोकों का अवान्तर विनियोग कहते है। यहाँ सात पदार्थों का निरूपण किया है। भक्ति का स्वरूप उसका फल मोक्ष, लोकों में भय के अभाव का निर्धारण, 'ऐहिक वस्तुषु' यह लोकों का विशेषण है ज्ञान विषय में यह विशेषण नहीं है। हेतु महत् पुरुषों की सम्मति और सर्वानिर्धारि। उनके श्लोकों का विभाग बताते हैं। 'दो श्लोकों से भक्ति के स्वरूप का निरूपण है। 'नैकात्मताम्' इत्यादि तीन श्लोकों से उस भक्ति का गौण फल बताया है। 'अतोविभूतिम्' इन दो श्लोकों से सालोक्य लक्षण मोक्ष कहा है तथा 'चाऽग्रे' इसमें द्वाभ्याम् ऐसा जोड़ना फिर दो श्लोकों से मोक्ष का निर्धार इस तरह मोक्ष में सर्वभाव से भजन तथा वैराग्य इस तरह दो भेद हो गये। वैसा होने से दो श्लोकों से प्रत्येक तीन सिद्ध होते हैं। अग्रिमाणमैएकैकत ! ऐसा कहने से एक-एक से निरूपण है। इस तरह सात अथवा आठ अर्थ निरूपित होते हैं। इस तरह मुक्ति के साथ भक्ति मार्ग का निरूपण किया ।।१६४।।

आभासार्थ—देवहूतिजी का भक्ति में अधिकार नहीं है इसे कहते हैं—

कारिका—**सङ्गाभावान्मुमुक्षुत्वात्त्यागाशक्तेरशक्तितः ।**
अयुक्तो मुख्यभक्तौ हि तेनार्थान्तरमुच्यते ।।१९५।।

कारिकार्थ—स्त्री होने से सङ्ग का अभाव था तथा देवहूतिजी को मोक्ष की इच्छा थी, त्याग की शक्ति न होने से और अशक्ति के कारण मुख्य भक्ति में वह अनुपयुक्त थीं, अतः उनके लिये सांख्य आदि कहे गये हैं ।।१९५।।

प्रकाशार्थ—सङ्ग का अभाव तथा मोक्ष की इच्छा होना ये भक्ति में बाधक हैं। भक्ति में बाधक रूप होने से ही स्त्रियों का त्याग किया जाता है। वैराग्य भी देवहूतिजी में असम्भव है क्योंकि देवहूतिजी स्त्री थीं अतः मुख्य भक्ति में वह अयोग्य थीं इसलिये सांख्य आदि का निरूपण है ।।१९५।।

आभासार्थ—सांख्य निरूपण के प्रस्ताव में ज्ञान के निरूपण की भी प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् सांख्य के साथ ज्ञान का भी निरूपण किया जायगा—

कारिका—**द्वयं तत्र प्रतिज्ञातं हेतुः षड्भिर्द्वितीयके ।**
सर्वभिन्नतया ज्ञानं खण्डं स्त्रीणां तदेव हि ।।१९६।।
वेदानधिकृतनां च सांख्यं तस्मान्निरूप्यते ।।१९६½

कारिकार्थ—सांख्य और ज्ञान इन दोनों के निरूपण की प्रतिज्ञा की है दूसरे (ज्ञान) के लिये छ श्लोकों से हेतु बताया है। सबसे भिन्नरूप से खण्डज्ञान का निरूपण है। स्त्रियों के लिये यही ज्ञान उपयुक्त है जो वेद के अधिकारी नहीं है उनके लिये सांख्य है अतः सांख्य का निरूपण है ।।१९६½।।

प्रकाशार्थ—'अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि' इससे तथा 'ज्ञान निःश्रेयसार्थाय' इन दो श्लोकों से सांख्य तथा ज्ञान के निरूपण की प्रतिज्ञा है। ज्ञान के लिये जो अध्यास है उसका छः श्लोकों से निरूपण है। इससे 'अनादिरात्मा' इत्यादि की असंगति का परिहार किया है। शङ्का होती है कि सब ब्रह्म है ऐसा ही ज्ञान बोधनीय है फिर संघात से विलक्षण आत्मज्ञान की क्या आवश्कता है इसका उत्तर सर्वभिन्नतया से देते हैं यह खण्ड ज्ञान स्त्रियों के लिये है क्योंकि मुख्य ज्ञान में स्त्रियों का अधिकार नहीं है यह पहले कहा जा चुका है। वेद में उनका अधिकार नहीं है अतः वे मुख्य ज्ञान की अधिकारिणी नहीं है। अध्यास के समर्थन के लिये सांख्य का निरूपण है। वास्तव में देखा जाय तो भेद में अध्यास होता है इसलिये 'सांख्य तस्मान्निरूप्यदे' ऐसा कहा है ।।१९६ ।।

आभासार्थ—वहां जो कहा है उसे कहते है—

कारिका—**उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वभेदो निरूपितः ।।१९७।।**
तदर्थमेव सम्प्रश्नो भेदात्संसारभिन्नता ।।१९७½

कारिकार्थ—उत्पत्ति और मुक्ति इन दोनों से ही सर्वभेद का निरूपण है उसी के लिये प्रश्न

है तथा भेद से संसार की भिन्नता है ।।१९७½।।

प्रकाशार्थ—ज्ञान के लिये सांख्य का निरूपण है इसमें 'तदर्थ मेव संप्रश्नः' यह हेतु दिया है । भेद ज्ञान बाधक होगा ऐसा मानकर समाधान के लिये भेदात्संसारभिन्नता ऐसा पद दिया है । अनर्थ रूप संसार से स्वयं भिन्न है इस रूप से जो ज्ञान है वह मुख्य ज्ञान में जो अधिकारी है उनमें बाधक नहीं है ।।१९७½।।

आभासार्थ—'प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषः' इस अध्याय (२७) का आधी कारिका से अर्थ कहते हैं–

कारिका—**साधानन्युपपत्तिश्च स्वरूपार्थं तथोच्यते ।।१९८।।**
अष्टाङ्गश्च तथा योगः कर्त्तव्यत्वाच्च विस्तृतः ।।१९८½

कारिकार्थ—स्वरूप के लिये साधन और उपपत्ति (युक्ति) कही जाती है । और अष्टाङ्ग-योग को कर्त्तव्य रूप होने से उसका विस्तार किया है ।।१९८½।।

प्रकाशार्थ—उपपत्ति पहले कही है और 'यमादिभिः' इससे साधन कहे हैं । विचार भी साधन है ये 'च' का अर्थ है । इससे 'पुरुष प्रकृति ब्रह्मन्' इत्यादि उपपन्न होते हैं । 'योगस्य लक्षणम् इससे अध्याय का अर्थ कहा है । अष्टाङ्ग योग उसके लिये कर्त्तव्य है इसलिये उसका वर्णन विस्तृत रूप से किया है ।।१९८½।।

आभासार्थ—देवहूतिजी के लिये योग कर्त्तव्य है उसका वर्णन विस्तृत रूप से कर दिया तो फिर वैराग्य और भक्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता ऐसी आशङ्का कर उसका उत्तर देते हैं—

कारिका—**वैराग्यभक्त्योः सम्प्रश्नः साधनत्वाद्विशेषतः ।।१९९।।**
तत्त्वैर्द्वितीयनिर्धारो दशभिः कारणं परे ।।१९९½

कारिकार्थ—योग का विशेष रूप से साधन वैराग्य और भक्ति है अतः वैराग्य और भक्ति का प्रश्न किया ।।१९९½।।

प्रकाशार्थ—वैराग्य और भक्ति के बिना योग की सिद्धि नहीं होती इसलिये भक्ति का जिस अध्याय में वर्णन है उस अध्याय में भय का हेतु जो काल है उसके माहात्म्य का निरूपण है तथा भक्ति से भी माहात्म्य अङ्ग है इसका बोध करने के लिये उसका निरूपण है । उसमें भक्ति योगश्र्य योगश्र्य यहाँ तक साढे अट्ठाईस श्लोको में भक्ति के माहात्म्य का निरूपण है ।।१९९½।।

आभासार्थ—वैराग्य को दो अध्यायों से कहा गया है—

कारिका—**मृत्युजन्मविभेदेन दोषो वैराग्यबोधकः ।।२००।।**
तेनाऽध्यायद्वयं प्रोक्तं यच्छ्रुत्वाऽभयमाप्नुपात् ।२००½

कारिकार्थ—मृत्यु और जन्म के भेद से जो दोष हैं वह वैराग्य का बोधक है इसलिये उसके

लिये दो अध्याय कहे हैं जिसको सुनकर अभयता को प्राप्त हो जाता है ॥२००½॥

प्रकाशार्थ—भय से वैराग्य होता है। दो अध्यायों में प्रथम अध्याय में मृत्यु का निरूपण किया वह मृत्यु जब तक जन्म होता रहेगा तब तक होती रहेगी मरने के बाद भी फिर यहाँ मृत्युलोक में आ जाता है' ऐसा कहा है २००½॥

आभासार्थ—गर्भ स्तुति का उपयोग कहते हैं—

कारिका—**सङ्गत्यागं विना ज्ञानं नोपयोगाय कल्पते ॥२०१॥**
इति दर्शयितुं स्तोत्रं यतः सर्वोपि तादृशः ।२०१½

कारिकार्थ—सङ्ग त्याग के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं होता है इसको समझाने के लिये गर्भस्तुति है क्योंकि सबको गर्भ में ज्ञान होता है ॥२०१½॥

प्रकाशार्थ—सब को गर्भ में ही ज्ञान होता है अन्यथा उसके लिये संसार का कथन युक्ति-युक्त नहीं हो सकता। इसलिये वैराग्य प्रकरण मे ज्ञान अप्रयोजक (अनुपयुक्त) है ऐसा निरूपण किया ॥२०१½॥

आभासार्थ—दो अध्यायों से जो सिद्ध हुआ उसे कहते हैं—

कारिका—**तस्मात्सर्वपरित्यागाद् भ्रमणं साधनं महत् ॥२०२॥**
एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्तं सर्वनिर्धारकं परम् ।२०२½

कारिकार्थ—इसलिये सबका परित्याग करके भ्रमण करना यह ही उत्तम साधन है इस तरह मृत्यु-जन्म और स्तुति इन तीन तथा वैराग्य और भ्रमण रूप इन दो साधनों का कथन है। फिर सबका निर्धारण एक अध्याय है ॥२०२½॥

प्रकाशार्थ—'अथयो गृहमेधीयान्' इस अध्याय आ अर्थ 'सर्व निर्धारक परम्' इससे कहा है। इस अध्याय में राजस, सात्त्विक और तामसों का निर्धार निरूपण किया है। सात्त्विकों के निरूपण में ब्रह्मा आदि का भी निरूपण है। येत्विहाऽऽसक्तमनसः से तामसों का और तस्मात्व इससे निर्गुणावस्था का निरूपण है। इस तरह सबका निर्धारण विस्तृत रूप से एक ही अध्याय में कहा है। संक्षेप से निरूपण करने के लिये ही यह अन्तिम अध्याय का अर्थ है ॥२०२½॥

आभासार्थ—'नैतत्खलाय' इत्यादि श्लोकों का इस प्रकरण में क्या उपयोग है उसे कहते हैं—

कारिका—**भविता सर्वथैवैतत्संवादस्य निबन्धनम् ॥२०३॥**
गुणदोषास्त्वतस्तस्य विविच्यन्ते ह्यनेकधा ।२०३½

कारिकार्थ—सब प्रकार से इस संवाद का निरूपण होगा, तब उसमें गुण और दोष होंगे जिनका अनेक प्रकार से विवेचन है ॥२०३½॥

प्रकाशार्थ—इस संवाद का निरूपण व्यास आदि के द्वारा भागवत आदि में अवश्य होगा ही इसलिये गुणों का और दोषों का वर्णन है। भले ही प्रकृत में उसका उपयोग नहीं है तथापि संगति का अभाव दोषजनक नहीं है ॥२०३½॥

आभासार्थ...आठ अध्यायों के अर्थ का उपसंहार करते हैं—

कारिका—**एवं व्यासप्रकारेण तत्त्वमुक्तं विभागशः ॥२०४॥**

समासेन तथैकस्मिन् सफलं पूरणं तथा ।२०४½

कारिकार्थ—इस तरह विस्तार के प्रकार से अलग अलग तत्व को कहा तथा एक अध्याय म संक्षेप से उसको पूर्ण किया जिससे शीघ्र फलसिद्धि हो ॥२०४½॥

प्रकासार्थ—विस्तार प्रकार से सब वस्तुओं के निर्धार के लिये तत्व कहा और सहज में समझ में आ सके इसके लिये एक अध्याय में इसे संक्षेप में कहा। संक्षेप में जो कथन है वह निष्फल नहीं है ऐसी आशङ्का करके कहा कि सफलं उसमें सब सार (निचोड़) है अतः शीघ्र ही उससे फल सिद्धि होती है ॥२०४½॥

आभासार्थ—अवान्तर अध्यायों का अर्थ कहते हैं—

कारिका—**गुरुप्रसादसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं वागेव स स्मृतः ॥२०५॥**

प्रतिपत्तिमकृत्वा चेल्लीना को वेद किं भवेत् ।

कारिका—**इत्यब्धारणया देहं जलं चक्रे महामतिः ॥२०६½**

अवतारचरित्रत्वाच्छ्रवणे फलमुच्यते ॥२०६½

कारिकार्थ—गुरु प्रसन्न हो इसके लिये स्तुति की क्योंकि कपिलदेवजी वाणीरूप हैं अतः स्तुति से ही वे प्रसन्न होते हैं यदि देह का संस्कार न करके वह लीन हो जाती तो कौन जानता कि क्या होता इसलिये जल की धारणा से उस महाबुद्धिमती ने अपने देह को जल बना दिया। यह अवतार चरित्र है इसलिये इसके सुनने का फल कहा है ॥२०६½॥

प्रकाशार्थ—स्तुति देवहूतिजी ने की थी। स्तुति मात्र से ही उनके प्रसन्न होने में तो कारण यह है कि कपिलदेवजी ने ज्ञान कला से अवतार लिया इसलिये वे सरस्वती रूप थे और सरस्वतो वाणीरूपा है। देवहूतिजी ने अपने देह का संस्कार उस तरह क्यों किया इसका उत्तर यह है कि देह संस्कार न करके लीन होने पर न जाने क्या होता। स्वयं तो स्त्री थी और गुरु सरस्वती रूप थे इसलिये तिर्यग्गति समुद्रगामिनो होने पर भी जल धारणा ही की। अग्निभाव होने पर भी गुरु के सानिध्य से ऊर्ध्वगति हो जाती इसे जानकर ही उसने वैसा किया अर्थात् अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है इसे वह जानती थी अतः जलरूप हो गई इस सबको वह जानती थी क्योंकि वह अत्यन्त बुद्धिमती थी। इस कथा के सुनने से भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति होती है यह फल बताया है ॥२०५-२०६½॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के २५ से ३३ अध्याय का श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित भागवतार्थ प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥श्री हरिः॥

संस्था के संरक्षक महानुभाव

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज	नाथद्वारा (राज०)
गो. श्री व्रजरत्नलालजी महाराज	सूरत
,, श्री गोविन्दरायजी महाराज	पोरबन्दर
,, श्री रणछोड़ाचार्यजी महाराज	कोटा
,, श्री व्रजरायजी महाराज	राजनगर (अहमदाबाद)
,, श्री घनश्यामजीलालजी महाराज	कामवन
,, श्री व्रजभूषणलालजी महाराज—अध्यक्ष महोदय	चोपासनी (जोधपुर) जामनगर
,, श्री श्याम मनोहरजी महाराज	बम्बई

निम्न प्रत्येक महानुभाव से रु० १००१) की प्रत्येक से सेवा प्राप्त

प. भ. ठाकुरदासजी हरिदासजी श्रोफ	पूना
,, ,, रामदासजी कृष्णदासजी मांडी वाले	पूना
,, ,, श्रीमती प्रेमा बाई किशनचन्दजी भाटिया डेरे वाले	कानपुर
,, ,, रुकमणी बाई बिन्नाणी	कलकत्ता
,, ,, मुन्नी बाई (शान्ता देवीजी) शर्मा एवं उनके सुपुत्र अशोक कुमारजी .सी.ए.	दिल्ली
,, ,, अमिता बहिनजी पटेल	बडोदरा
,, ,, श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी गांधी	बीकानेर
,, ,, श्री केदारनाथजी दम्माणी	मद्रास
,, ,, श्री विजयकुमारजी दम्माणी	कलकत्ता
,, ,, श्रीमती विमला बाई सिंघी	कलकत्ता
,, ,, श्रीमती काशीबाई बिन्नाणी	बम्बई
,, ,, श्रीमती सूरजबाई कोठारी	कलकत्ता
,, ,, श्री उद्धवदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी काशीबाई मूंधड़ा	कलकत्ता
,, , श्री चत्रभुजदासजी माहेश्वरी एवं उनकी धर्मपत्नी कृष्णाबाई	मुरैना मंडी
,, ,, श्रीमती निर्मलादेवीजी अरोड़ा	इलाहाबाद
,, ,, श्रीमती चन्द्रकान्ताजी आनन्दकुमारजी कर्वा	उदयपुर
,, ,, श्रीमती गंगाबाई गोपालदासजी मोहता	आकोला
,, ,, श्रीमती रतनबाई मोहता (हरदा) एवं उनकी बहिन श्रीमती रंभाबाई राठी	कटक
,, ,, श्री दामोदरदासजी एवं उनकी धर्मपत्नी सूरजबाई मूंधड़ा	कलकत्ता
,, ,, श्री गग्गुभाईजी खुशहालभाईजी सोनी	राजकोट
,, ,, विठ्ठलदासजी वल्लभदासजी कराणी	बम्बई
,, ,, श्रीमती मोहनीबाई माहेश्वरी	कलकत्ता
,, ,, ,, राधादेवीजी लोहिया	मिरजापुर
,, ,, एक भगवदीया वैष्णव बहन	हैदरारा‍द
,, ,, इन्द्रबदनजी ईश्वरलालजी शाह	अहमदाबाद
,, ,, हंसराजी गोकुलदासजी वेद	कोल्हापुर

।। श्री हरिः ।।

निम्न प्रत्येक भेंटकर्त्ता महानुभाव से अपने स्वजन गोलोकवासी महोदय की स्मृति में रु० १००१) को आर्थिक सेवा प्राप्त हुई है

स्मृति में	भेंटकर्ता का शुभ नाम व सम्बन्ध
नि. ली. श्रीमतीकृष्णाप्रिया बेटीजी महोदया	पूजनीया अम्माजी काशी (माताजी)
प. भ. प्रेमलता बाई, बलदेवदासजी डागा	पिता उद्धवदासजी एवं माता काशीबाई मून्धड़ा कलकत्ता
प. भ. गोकुलदासजी एवं सरस्वती बहन	(सुपुत्र) पुरुषोत्तमदासजी पूना
प. भ. द्वारकादासजी श्यामदासजी	(सुपुत्र) कृष्णदासजी पूना
प. भ. दिलसुखरायजी राठी	(धर्मपत्नी) श्यामाबाईजी एवं सुपुत्र लक्ष्मी नारायणजी दिल्ली
प. भ. चन्द्रप्रकाशजी	(माता) जमुनाबाई (अनुज)आत्म प्रकाशजी दिल्ल
प. भ. राधाबाई रामनारायणजो	(सुपुत्र) नन्ददासजी (रामचन्द्रजी पुरुषोत्तम दासजी एवं देवकीनन्दनजी वर्मा जोधपुर
प. भ. पन्नालालजी फूमड़ा	(धर्मपत्नी) सूरजबाईजी सुपुत्र चुन्नीलालजी कलकत्ता
प. भ. घनश्यामदासजी मून्धड़ा	सुपुत्र श्रीदासजी एवं (पुत्र वधु, लक्ष्मीदेवजी मद्रास
प. भ. जीवनदासजी मून्धड़ा	(सुपुत्र) ठाकुरदासजी कलकत्ता
प. भ. पारवतीबाईजी जीवनदासजी	(सुपुत्र) चेतनदासजी मून्धड़ा कलकत्ता
प. भ. मुकुन्ददासजी एवं काशीबाईजी मून्धड़ा	(सुपुत्र)ब्रजगोपालदासजी बृजमोहनदासजी और गिरधरदासजी हैदराबाद
प. भ. धन्नावतीबाईजी	(पतिदेव) मूलचन्दजी कुमार इन्दौर
प. भ. हरकिशनदासजो हरलोचनदासजी शाह	सुपुत्र घनश्यामजी एवं पुत्र वधु डॉ. गोकुलकुमारीजी एम.ए.पी.एच.डी. बम्बई
प. भ. श्री मंगतरायजो चावला मुल्तानी	(सुपुत्र) श्री आसकरणदासजी एवं पुत्र वधु रामप्यारीबाईजी बम्बई
प. भ. जमुनादासजो एवं शान्तिदेवीजी अग्रवाल	(सुपुत्र) गिरधारीलालजी विठ्ठलदासजी व्रजरत्न-दासजी पद्मनाभदासजो नागरीदासजो काशी
प. भ. प्रहलाददासजी एवं चन्द्रमणिजी	(सुपुत्र) कृष्णगोपालदासजो अग्रवाल काशी
प. भ. मदनमोहनदासजी मऊ वाले	(धर्मपत्नी) इन्द्रमणि देवीजी एवं सुपुत्र राधा कृष्णदासजी अग्रवाल काशी
प. भ. शक्तिदेवीजी शर्मा	सुपुत्र प.भ. गोपेशशरणजी एम.ए.बी.एड एवं पुत्र-वधु प.भ. उर्मलादेवीजी बी.ए.बी.एड. भरतपुर

श्री सुबोधिनी पुष्पवाटिका में से चुनी हुई सोरभपूर्ण कुछ कलियां

३६५	स्वभावतोऽपि भगवान् स्वभृत्यानां संसारं दूरी करोति, शरणागताश्च भृत्य तुल्याः । ३-२५-११	स्वभाव से ही भगवान् अपने सेवकों का संसार मिटाते हैं और शरण में आये हुए सेवकों के समान ही हैं
३६७	यथा भगवति स्नेहो मुक्तये, तथा सत्संगो मोक्षद्वारम् । ३-२५-२०	जैसे भगवान् में स्नेह मुक्ति देता है वैसे ही सत्संग मोक्ष का द्वार है ।
३६८	दुःखेषु भगवांश्चापि नित्यं साक्षात् क्रियेत वै । देहादिविषयांस्त्यक्त्वा चित्तं तद्गतमेव यत् ।। ३-२५-२३	दुःखों में भी भगवान् का नित्य साक्षात्कार होता है । क्योंकि देहादि विषयों को छोड़कर चित्त भगवान् में जाता है ।
३७३	(भक्तेः) फलरूपता तदैव भवति, यदा भजना-द्रसोऽभिव्यक्तो भवति बहुधा । ३-२५-३८	जब भजन (सेवा) से सब प्रकार से रस प्रकट होता है तब ही भक्ति फल रूप होती है ।
३७४	परलोकार्थं, भगवत्कृपार्थं अन्यार्थं, भक्ति व्यतिरेकेण, भगवद् व्यतिरेकेण वा येषान्यनास्ति (तेऽनन्याः) ३-२५-४०	वे ही भक्त अनन्य हैं जिनका परलोक के लिये भगवान् की कृपा के लिये या और किसी काम के लिये भगवान् की भक्ति या भगवान् के सिवाय अन्य साधन न होवे ।
३७८	स्नेहेन सर्वं कालेषु सर्वं दोषाभावेन भगवत्सेवायां मनोदोषा निवर्तन्ते ।। ३-२६-५८	स्नेह से सब समय में सब दोषों की निवृत्ति होने से भगवान् की सेवा में मन के दोष मिट जाते हैं ।
३९०	यथा तापेन हि मघृतादिकं द्रवति, तथा भक्त्या हृदयम् ।। ३-२८-३४	जिस तरह ताप (गरमी) से बर्फ और घी आदि पिघल जाते हैं वैसे ही भक्ति से हृदय पिघल जाता है ।
३९३	व्यर्थं त्यागापेक्षया भगवति समर्पण मुत्तमम् ।। ३-२९-३३	व्यर्थ में त्याग करने की तुलना में भगवान् को समर्पण करना उत्तम है ।
३९८	भक्त्यर्थमेवैषा शरणागतिश्चरण निरूपणात् । युक्तमेव यद्भीताः रक्षकस्य चरणशरणं गच्छन्तीति ।। ३-३१-१२	,, ,,
४००	भगवत्स्तोत्रस्य फल चोक्तम् यत्र क्वचित् स्थित्वा भगवच्चरणोपसादन कर्तव्यमिति ।। ३-३१-२१	भगवान् के स्तोत्र का यह फल कहा गया है कि जहां तहाँ रहकर भगवान् की सेवा करनी ।
४०२	भगवद्धर्मेषु भगवानेव सेव्यः, न त्वन्यः ३-३२-३	भगवद्-धर्म में भगवान् की ही सेवा करनी अन्य की नहीं ।
४०५	भगवानेव सर्वं करोतीत्युक्तेऽपि भजनाभावे न सिध्यतीति भजनमवश्यं कर्तव्यम् ३-३२-२२	भगवान् ही सब (कुछ) करते हैं ऐसा कहा गया है तो भी भजन बिना सिद्ध नहीं होता (कुछ मिलता नहीं) इसलिये भजन (भगवत्सेवा) अवश्य करनी चाहिये ।

॥ श्री हरि: ॥

भूमिका

(तृतीय स्कन्ध के २५ से ३३वें अध्याय तक का संक्षिप्त विवरण)

पुरुष की मुक्ति गत चार अध्यायों से कह कर स्त्री की मुक्ति २५ वें अध्याय में आरम्भ करके ३३ वें अध्याय तक कही गई हैं। चार पुरुषार्थों में से धर्म, अर्थ और काम स्त्री और पुरुषों का एक साथ ही सिद्ध हो जाता है। पुरुष की मुक्ति के बाद स्त्री की मुक्ति नौ अध्यायों से कही जा रही है। पुरुषों की तुलना में लौकिक पदार्थों में स्त्रियों को मोह अधिक होता है अत: वैराग्य के साधन उनको अधिक करने पड़ते हैं। उपनिषदों में और श्री मद्भागवत में बताया गया ज्ञान ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पुरुषों से ही होता है शूद्रों और स्त्रियों को प्राप्त नहीं होता इसलिये कपिलदेवजी ने सांख्य शास्त्र में बताये हुए ज्ञान का उपदेश देवहुतिजी को दिया।

इस प्रकरण में विदुरजी मुख्य श्रोता हैं जिनको मैत्रेयजी ने इस सांख्य ज्ञान का ही अधिकारी मानकर इसका उपदेश दिया है। किसी भी प्रकार से आत्म ज्ञान प्राप्त करने का है और उसको प्राप्त करने के लिये दृढ़ साधन (योग) है। उसके आचरण से अथवा भक्ति से सम्पूर्ण प्रकार से प्राप्त होता है इसलिये इस प्रकरण में सांख्य, योग और भक्ति (योग) इन तीन का उपदेश है, इनमें से योग के आचरण से देवहूति जी को भगवान् की प्राप्ति हुई उनको योग मार्ग से भगवान् की प्राप्ति होने से भगवान् (कपिलदेवजी) माता की सम्मति से उनके पास से चले गये। (अध्याय ३३ श्लोक १२) और देवहूतिजी को कपिलदेवजी के ऊपर पुत्र का स्नेह होने पर भी दोष नहीं लगा।

२५ वें अध्याय में यह कथा है कि देवहूतिजी कपिलदेवजी को अपना पुत्र जानते हुए भी कर्दम ऋषि और ब्रह्माजी की दी हुई आज्ञा (सूचना) के अनुसार कपिलदेवजी को वह ईश्वर ही मानती थी और इसलिए जिस प्रकार एक जिज्ञासु भक्त संसार से तंग आकर उससे मुक्त होने के लिए किसी उत्तम गुरु के पास श्रद्धा युक्त प्रश्न करता है उसी प्रकार से देवहूतिजी कपिलदेवजी को संसार से मुक्त होने का उपाय पूछती है।

सामान्यतया कर्दमजी ने देवहूतिजी को सांख्य का प्रकार बताया था कि तुम देह को आत्मा मानती हो इसलिए देह के प्रति तुमको मोह होता है परन्तु वास्तव में देह से आत्मा बिलकुल अलग है। देह का नाश हो जाता है जबकि आत्मा अजर और अमर है। जन्म मरण का कारण मोह ही है, सांख्य ज्ञान से वह मोह हट जाता है और उस सांख्य की रचना करने वाले तुम्हारे सुपुत्र कपिलदेव जी ही हैं जो तुमको इसका उपदेश देंगे। इसलिए देवहूतिजी ने प्रकृति और पुरुष के भेद को जानने का प्रश्न किया तब कपिलदेवजी ने उनको योग का उपदेश दिया। योग प्रकृति

ग्रौर पुरुष के भेद को जानने में उपयोगी है । चित्त को ग्रात्मा का साक्षात्कार हो इसके लिए दोषों को दूर करने के वास्ते योग का ग्राचरण करना चाहिए ग्रौर जब चित्त सर्वत्र समदृष्टि हो जाये तब ही उसे दोष रहित मानना चाहिए परन्तु केवल योग से ही कार्य सिद्धि नहीं हो सकती इसलिए कपिलदेवजी ने देवहूतिजी को भक्ति का भी उपदेश दिया क्योंकि भक्ति रहित योग चित्त को शुद्ध करने में ग्रसमर्थ है बिना भक्ति के योग में भ्रम होने की सम्भावना रहती है इसलिए भगवान् की भक्ति सर्व प्रकार से कार्य को सिद्ध करती है । भक्ति योग, सत्पुरुषों के सत्संग के बिना सिद्ध नहीं होता क्योंकि साधन करने में जो सन्देह होवें उनकी निवृत्ति सत्पुरुषों के द्वारा की जा सकती है इसलिए कपिलदेवजी ने देवहूतिजी को इस प्रकार के सत्पुरुषों का संग करना चाहिए यह समझाने के लिए उनको चिन्हों से पहचानने की युक्ति भी बताई है ऐसे सत्पुरुषों का भी केवल भगवान् की कथा श्रवण एवं प्रार्थना करने के निमित्त ही संग करना चाहिए कपिल-देवजी ने पदार्थों का भी वर्णन किया जिससे भगवान् का साक्षात्कार सिद्ध होता है भगवान् की कथा के श्रवण से ग्रौर इसमें बताये गए साधनों के ग्राचरण से चित्त निर्मल होता है जिससे भगवान् के गुणों में प्रेम की उत्पत्ति होती है उस उत्तम प्रेम के होने से भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होता है ।

जब कपिलदेव ने कहा कि सांख्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए भक्ति मुख्य है क्योंकि वह उसका ग्रंग है ग्रौर भक्ति प्राप्त करने के लिए सत्पुरुषों का संग होना ग्रावश्यक है । यह सोचकर मुझे सत्पुरुषों का संग कपिलदेवजी ने प्रसंग वश कहा है इसलिये देवहूतिजी ने सत्पुरुषों का संग करने का प्रयास नहीं किया ग्रौर इसलिए उनने भक्ति ग्रौर योग के सम्बन्ध में ग्रन्य प्रश्न किये जिससे प्रसन्न होकर कपिलदेवजी ने उनकी भक्ति ग्रौर ज्ञान का उपदेश दिया (१) भक्ति (२) ग्रात्मा ग्रौर ग्रनात्मा (जड़ पदार्थ) का भेद (३) ज्ञान (४) योग इन चार पदार्थों को समझाया इससे पूर्व ग्रात्मा ग्रौर ग्रनात्मा का भेद ज्ञान का ग्रंग होने से उन्होंने तीन पदार्थों को कहने का निश्चय किया ।

तीन पदार्थों से तात्पर्य सांख्य, भक्ति ग्रौर योग है सांख्य, ज्ञान को कहने से पूर्व भक्ति योग का निरूपण किया यदि ग्रौर कोई प्रकार का भी साधन प्राप्त न हो तो भी भक्ति चार पुरुषार्थों को सिद्ध कर देती है तो फिर सांख्य ज्ञान के देने की क्या ग्रावश्यकता थी इस शंका का समाधान है कि देवहूतिजी को भक्ति करने का ग्रधिकार नहीं था क्योंकि वे सत्पुरुषों का संग नहीं कर सकती थी इसलिए सांख्य ग्रौर योग का भी निरूपण किया । योग से ही देवहूतिजी को फल की प्राप्ति हुई इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य भी उनके लिए उपयोगी नहीं था । भक्ति मार्ग के सात विषयों का निरूपण है जिसमें (१) भक्ति का स्वरूप (२) भक्ति से ग्रवश्य होने वाला फल (३) मोक्ष (४) लोक में ग्रौर परलोक में निर्भय होने का निश्चय (५) भय रहित होने का कारण (६) इस विषय में महान् पुरुषों की सम्मत्ति (७) कर्त्तव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण निश्चय ।

इस भक्ति मार्ग में देवहूतिजी का ग्रधिकार नहीं था क्योंकि उनको सत्पुरुषों का संग नहीं था यद्यपि उनकी मोक्ष प्राप्ति करने की इच्छा थी जो कि भक्ति मार्ग में बाधक है : भगवान् की प्राप्ति में स्त्रियों को भी सब प्रकार का त्याग होना जरूरी है परन्तु देवहूतिजी की सेवा में ग्राभूषित स्त्रियाँ रहती थीं इस प्रकार त्याग का ग्रभाव था ।

देवहूतिजी स्त्री जाति थी और संसार से उनका अनुराग हटना सम्भव नहीं था इसलिये कपिलदेवजी ने उनको सांख्य का ही उपदेश दिया।

२६वें अध्याय में 'तत्वानां लक्षणान्यत्र' अथवा आत्मा और अनात्मा का भेद का निरूपण किया गया है जिसमें बताया है कि आत्मा प्रकृत्ति से जुदा (अलग) है तो भी उसको प्रकृति से सम्बन्धित होने से संसार की प्राप्ति होती है। आत्मा का साक्षात्कार करना भी साधन में। विचार साधन होने से पुरुष प्रकृति से कैसे छूटे इस सम्बन्ध में विचार किया गया है। आत्मा के स्वरूप के ज्ञान के सम्बन्ध में निरूपण है।

२८वें अध्याय में योग का निरूपण है। (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) धारणा (६) प्रत्याहार (७) ध्यान (८) समाधि यह मुख्य अंग योग के विस्तार पूर्वक बताये गये हैं क्योंकि देवहूतिजी को येही साधन करने के थे।

२९वें अध्याय में देवहुतिजी ने भक्ति और वैराग्य के सम्बन्ध में प्रश्न किये हैं क्योंकि इन दोनों के बिना योग का आचरण अशक्य है इसलिए इस अध्याय के अन्दर भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान, भय के कारण रूप काल का निरूपण किया है, भगवान् का माहात्म्य भी भक्ति का ही एक अङ्ग है। वैराग्य होने के लिए भगवान् (काल) का माहात्म्य बताया गया है।

३० वें और ३१ वें अध्यायों में वैराग्य का निरूपण है दोष मृत्यु और जन्म कराने वाले इन दो का भेद वैराग्य के उपदेश से जाना जाता है इसलिए वैराग्य का निरूपण दो अध्यायों से किया गया है, जन्म और मरण का भय जाने बिना वैराग्य सिद्ध नहीं होता है, संग का त्याग किये बिना ज्ञान उपयोगी नहीं होता इस अभिप्राय से ३१ वें, अध्याय में गर्भ स्तुति का वर्णन किया गया है, ज्ञान, वैराग्य को सिद्ध नहीं करता है इसलिए सब पदार्थों का त्याग करके वैराग्य को प्राप्त करने के लिए भूमि पर भ्रमण करना ही उत्तम साधन। है ३२वें अध्याय में सब गुण वाले अर्थात् सात्विक राजस और तामस जीवों को पालने के साधन और तदनुसार फल की प्राप्ति करने का निर्णय हैं।

३३ वें अध्याय में पिछले सब अध्यायों का सार दिया गया है कि जिससे वह तुरन्त ही फल को प्राप्त कराने वाला है और (सर्ग को पूर्ण करने वाला है) देवहूतिजी ने गुरु कपिलदेवजी की कृपा प्राप्त करने के लिए स्तुति की है जिससे कपिलदेवजी प्रसन्न हुए क्योंकि कपिलदेव भगवान् की वाणीरूप माने गये हैं सो. भगवान् की ज्ञान कला के अवतार होने से सरस्वती रूप हैं। इसलिए बुद्धिमान् देवहूतिजी ने जल धारण कर अपनी देह को जलरूप बना लिया देवहूतिजी स्वयं स्त्री थी और गुरु कपिलदेवजी सरस्वती रूप थे इसलिए देवहूतिजी ने जल ही धारण कर देह को जल, स्वरूप किया और इस प्रकार सरस्वती नदी में मिल गई।

इस कथा में भगवान् के अवतार कपिवदेवजी के चरित्र का वर्णन होने से इसका श्रवण श्रवण-फल प्राप्ति कराने वाला है।

श्री सुबोधिनी

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी मेघन

प० भ० श्रीदामोदर-दासजी हरसानी

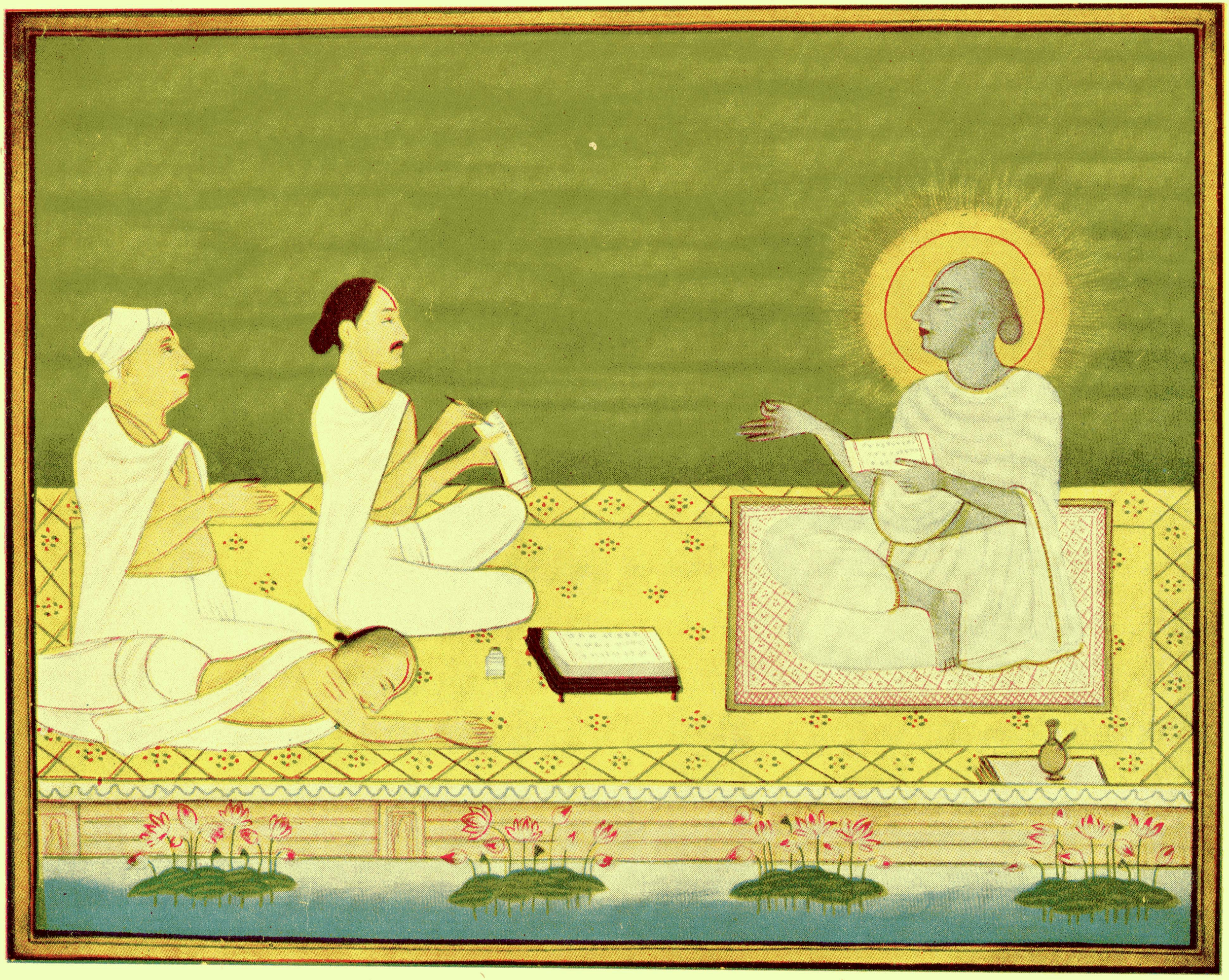

अखण्ड भूमण्डलचार्य चक्र चूडामणी

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (काल मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—२५

कपिलदेवजी द्वारा देवहूतिजी को कहा हुवा भक्ति योग

कारिका—**उक्तश्चतुर्भिरध्यायैः सप्रसङ्गो हरेर्भवः ।**
ज्ञानरूपं चरित्रं तु नवभिः स्वस्य वर्ण्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इक्कीस से चौबीस चार अध्यायों में प्रसङ्ग सहित भगवान् की उत्पत्ति कही गई। अब आगे नौ अध्यायों में उनके (भगवान् के) ज्ञान रूप चरित्र का वर्णन किया जाता है ॥१॥

कारिका—**प्रकाराः सगुणाः सर्वे नवाऽध्यायास्ततोऽत्र हि ।**
नवभावं गता साऽपि तदन्ते त्वभवो भवेत् ॥२॥

कारिकार्थ—वर्णन किये जाने वाले प्रकार सब सगुण हैं। अतः यहाँ नौ अध्याय हैं। भक्ति के नौ प्रकार हैं उस (नवधा भक्ति) के अनन्तर मुक्ति होती है ॥२॥

कारिका—**भगवद्रूपनिष्पत्तौ भक्तिर्भूतानि सर्वथा ।**
मात्रास्तत्त्वानि सर्वाणि भुङ्क्ते सर्वं यतो हरिः ॥३॥

कारिकार्थ –भगवान् का अवतार जब होता है तब भक्ति, पञ्चमहाभूत, तन्मात्रा, तत्व इन सबका सब प्रकार से भगवान् उपभोग करते हैं ।।३।।

कारिका—**आत्मा तस्येन्द्रियं प्रोक्तं येन सर्वं स पश्यति ।**
योग एवं हरेर्बुद्धिस्तस्मात्सर्वं प्रकाशते ।।४।।

कारिकार्थ - वे भगवान् सब को जिससे देखते हैं वह आत्मा उनकी इन्द्रिय कही गई है । योग ही भगवान् की बुद्धि है उसी योगरूपी बुद्धि से सब ज्ञान होता है ।।४।।

कारिका—**पञ्चविंशे तथाऽध्याये भक्तियोगो निरूप्यते ।**
वैतृष्ण्यं तस्य चाऽङ्गं हि इतरज्ञानमेव च ।।५।।

कारिकार्थ– पच्चीसवें अध्याय में भक्ति योग का निरूपण है । उस भक्ति योग के वैराग्य का होना तथा आत्म ज्ञान होना ये दो फलोपकारी अङ्ग हैं अर्थात् दो अङ्गों वाली भक्ति जो केवल भगवान् ही के लिये है जो आधिदैविक संस्काररूपा है उसका यहाँ निरूपण किया जाता है ।।५।।

कारिका—**परमं साधनं भक्तिर्यथा भवति मुक्तये ।**
यथाशास्त्रस्य कथनं सन्तो भक्तेश्च साधकाः ।।६।।

कारिकार्थ—जब भक्ति योग का विभाग हो गया तब इस अध्याय में धर्माध्यायता आ गई उसका वर्णन करते हैं मुक्ति के लिये भक्ति ही परमसाधन है जिस प्रकार से उसका शास्त्रानुसार कथन इस अध्याय में है । सन्त ही भक्ति के धर्म साधक हैं ।।६।।

कारिका—**वंश एव मनोः पृष्टस्तेन ज्ञानं न वर्णयेत् ।**
अतः शौनकसंप्रश्नश्चरित्रत्वं च बुध्यते ।।७।।

कारिकार्थ - शौनकजी का प्रश्न मनुवंश के वर्णन करने मात्र का नहीं है यदि ऐसा होता तो ज्ञान का वर्णन नहीं होता । अतः यह ज्ञात होता है कि शौनकजी के प्रश्न में चरित्र विषयक प्रश्न भी है ।।७।।

आभास—पूर्वाऽध्याये कपिलोत्पत्तिर्निरूपिता, तस्य चरित्रं ज्ञानरूपं न निरूपितमिति शौनकस्तत्पृच्छति–**कपिल** इति त्रिभिः—

आभासार्थ–पूर्व (२४ वें) अध्याय में कपिलजी की उत्पत्ति का निरूपण किया, परन्तु उनके ज्ञान रूप चरित्र का निरूपण नहीं किया इसलिये 'कपिलस्तत्वसंख्याता' इत्यादि तीन श्लोकों से शौनकजी ज्ञानरूप चरित्र के विषय में पूछते हैं—

शौनक उवाच—श्लोक—**कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवान् स्वाऽऽत्ममायया ।**
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ।।१।।

श्लोकार्थ—तत्वों की संख्या करने वाले भगवान् कपिल स्वयं अजन्मा हैं, किन्तु मनुष्यों को आत्मज्ञान का उपदेश देने के लिये अपनी माया से उत्पन्न हुए थे ।।१।।

कारिका—**चरित्रकथनप्रश्नस्तत्राऽतृप्तिस्तथात्मनः ।**
सामान्यतोऽप्यतृप्तिश्च प्रकृतौ साधिका मता ।।१।।

कारिकार्थ—चरित्र कथन के प्रश्न से भी आत्मा की तृप्ति नहीं सर्व प्रथम चरित्र कथन का प्रश्न किया उससे तृप्ति नहीं हुई, आत्मज्ञान विषयक प्रश्न से भी सामान्यतः तृप्ति नहीं हुई यहां तो और भी अधिक उत्कण्ठा हो गई ।

सुबोधिनी—प्रथमं चरित्रं पृच्छति । **तत्त्वसङ्ख्याता** तत्वसङ्ख्यानकर्ता । तत्त्वानां संदिग्धत्वान्नान्यो वक्तुमिहाऽर्हतीति **भगवान्** । ज्ञानस्य स्वगुणत्वात्स्वावतारव्यतिरेकेण न प्रकटं भवतीति, **स्वात्ममायया** सर्वभवनसामर्थ्येन, कपिलरूपेण जात आविर्भूतः **साक्षात्** । **स्वयमजोऽ**पि सन्, स्वसजातीयत्वेनाऽपरिज्ञाने लोको न मन्यत इति **नृणामात्मप्रज्ञप्तय** आत्मनः सम्यक् ज्ञानाय, स्वयं मनुष्यरूपेण जात इत्यर्थः । अनेन तेन जीवानामात्मज्ञानार्थं किञ्चित् कृतवानिति निश्चितम्, तद्वक्तव्यमित्यर्थः ।।१।।

व्याख्यार्थ—तत्वों की संख्या करने वाले कपिल के चरित्र को पहले पूछते हैं । तत्वों के संदिग्ध होने से उन्हें अन्य कोई कह नहीं सकता इसलिये कपिल को भगवान् कहा है । ज्ञान भगवान् का गुण है । अतः विना भगवद्वतार के वह (ज्ञान) प्रकट नहीं होता इसलिये सर्वभवन सामर्थ्य रूप अपनी माया से भगवान् ही कपिल रूप से प्रकट हुए यह साक्षात् शब्द से सूचित होता है । भगवान् स्वयं अजन्मा है किन्तु लोग भगवान् को जब तक स्वसजातीय नहीं जानते तब तक उन्हें नहीं समझते अतएव मनुष्यों को अच्छे प्रकार से आत्मा का ज्ञान कराने के लिये स्वयं मनुष्य रूप से प्रकट हुए । अतः जीवों को आत्मज्ञान हो इसके लिये भगवान् कपिल ने कुछ किया है यह निश्चित है, वह आप हमें सुनाईये ? ।।१।।

आभास—उक्तमुपपत्त्या साधयति—

आभासार्थ—ऊपर कही गई बात को हेतु द्वारा सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम् ।**
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ।।२।।

श्लोकार्थ—योगी प्रवर पुरुष श्रेष्ठ कपिलजी की कीर्त्ति को निरन्तर सुनते रहने पर भी मुझे तृप्ति नहीं हो रही हैं ।।२।।

सुबोधिनी—न ह्यस्येति । पुंसां वर्ष्मणः श्रेष्ठस्य **सर्वयोगिनां वरिम्णो** वरणीयस्य, **विश्रुतौ** कीर्तौ निरन्तरं श्रूयमाणायामपि । श्रुतावेव देवः प्रकाशते, श्रुतेन दीव्यतीति वा; कीर्तिप्रियस्य, कीर्तिगम्यस्य वा । **मे असवः** प्राणा भूरि न तृप्यन्ति । अतः सामान्यतो वर्णितमपि विशेषाकारेण वर्णनीयमिति भावः ।।२।।

व्याख्यार्थ—पुरुषों में श्रेष्ठ सब योगियों के स्पृहणीय कपिलजी की कीर्ति को निरन्तर सुनते रहने पर भी कपिलजी को श्रुतदेव कहा है जिसका आशय यह है कि वे श्रुति (वेद) में प्रकाशमान हैं या वेद से प्रकाशित हैं अथवा कीर्तिप्रिय किंवा कीर्त्तिगम्य हैं । मेरे प्राण (इन्द्रियां) पूर्ण रूप से तृप्त नहीं हुए हैं । अतः सामान्य रूप से वर्णित चरित्र का विशेष रूप से वर्णन करिये ।।२।।

आभास—सामान्यतः सर्वमेव भगवच्चरित्रं पृच्छति—

आभासार्थ—सामान्य रूप से पूरे भगवच्चरित्र को पूछते हैं—

श्लोक—**यद्यद्विधत्ते भगवान् स्वच्छन्दात्माऽऽत्ममायया ।**
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ।।३।।

श्लोकार्थ—भगवान् भक्तों की इच्छा के अनुसार भगवान् अपनी माया के द्वारा जिन जिन चरित्रों को करते हैं, उन्हें आप मुझे सुनाईये, उनके सुनने में मेरी बड़ी श्रद्धा है ।।३।।

सुबोधिनी—यदिति । स्वानां भक्तानां **छन्द** इच्छा, तदनुसारी **आत्मा** यस्य । चरित्रकरणेऽपि स्वात्ममायाकरणम् । **यद्यदिति** ज्ञानक्रियादिविशेषो नाऽपेक्षितः । **तानि** सर्वाण्येव सर्वथा कीर्तनीयानीति कथने तवाऽऽवश्यकानि । **श्रद्दधानस्येति** श्रवणे ममाऽऽवश्यकानि । मच्छ्रद्धाऽपि तव कथने हेतुः ।।३।।

व्याख्यार्थ—स्वच्छन्दात्मा में स्व शब्द भक्तवाचक है अर्थात् भक्तों की इच्छा के अनुसार जिनकी आत्मा है, चरित्रों के करने में अपनी आत्ममाया कारण है । ज्ञानरूप चरित्रों का ही वर्णन करें अथवा क्रियारूप चरित्रों का वर्णन करें ऐसी कोई विशेष अपेक्षा नहीं है । किन्तु सभी प्रकार के भगवच्चरित्रों का वर्णन करें इसको बताने के लिये यद्यत् पद दिया है । उन सब चरित्रों को आप सब प्रकार से कहें यह आपके लिये आवश्यक है । सुनना मेरे लिये आवश्यक है क्योंकि मेरी उन चरित्रों के सुनने में श्रद्धा है । मेरी श्रद्धा भी आपके लिये चरित्र वर्णन में कारण है ।३।

आभास—यथा शौनकः पृच्छति तथैव विदुरः पृष्टवानिति वदन् मैत्रेयद्वारैवेतच्चरित्रं कथयति—

आभासार्थ—जिस प्रकार शौनक ने पूछा उसी प्रकार विदुरजो ने भी पूछा था । इसको कहते हुए मैत्रेयजी के द्वारा इस चरित्र को कहलवाते हैं—

सूत उवाच—श्लोक—**द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।**
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ।।४।।

श्लोकार्थ—जिस प्रकार आपने प्रश्न किया है उसी तरह आत्मज्ञान के विषय में विदुरजी ने प्रश्न किया था । तब प्रसन्न होकर व्यासजी के सखा भगवान् मैत्रेयजी ने इस प्रकार कहा ।।४।।

सुबोधिनी—**द्वैपायनसख इति** । आन्वीक्षिक्यां विदुरेण प्रचोदितो मैत्रेयो विदुरं प्रत्याहेति संबन्धः । विदुरप्रश्ने अवश्यकथनार्थं मैत्रेय धर्मत्रयमाह–पितृमित्रत्वात्, जगन्मित्रत्वात्,भगवत्वाच्च । विदुरो हि द्वैपायनपुत्रः, प्राणी भक्तश्चेति । **आन्वीक्षिकी** आत्मविद्या, मननरूपा विद्येत्येके ।।४।।

व्याख्यार्थ—आन्वीक्षिकी के विषय में विदुरजी से प्रेरित हो मैत्रेयजी ने विदुरजी के प्रति कहा इस प्रकार यहाँ सम्बन्ध है । विदुरजी के प्रश्न का उत्तर देना मैत्रेयजी के लिये आवश्यक इसलिये है कि मैत्रेयजी में तीन धर्म हैं – (१) विदुरजी के पिता के मित्र हैं (२) जगत् के मित्र हैं (३) भगवान् हैं । विदुरजी द्वैपायनजी के पुत्र हैं, प्राणी हैं और भक्त हैं । आन्वीक्षिकी से आत्मविद्या ली गई है । कुछ लोग मननरूपा विद्या को आन्वीक्षिकी कहते हैं ।।४।।

आभास—मैत्रेयो देवहूतिकपिलयोः संवादं वक्तुं कर्दमगमनान्तरं कपिलस्तत्रैव स्थित इत्याह—

आभासार्थ—मैत्रेयजी देवहूति और कपिलजी के संवाद को कहने के लिये कर्दमजी के चले जाने पर कपिलजी वहाँ ही रहे यह कहते हैं—

मैत्रेय उवाच—श्लोक—**पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।**
तस्मिन्बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान् कपिलः किल ।।५।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं कि पिता के वन में चले जाने पर कपिलजी माता को प्रसन्न करने की इच्छा से उसी बिन्दुसर पर रहने लगे ।।५।।

सुबोधिनी—**पितरीति** । महतां गृहे स्थितिः पित्रोरर्थं इति ज्ञापयितुम्; **पितरि अरण्यं प्रस्थिते** सति **मातुः प्रियचिकीर्षया तस्मिन्नेव बिन्दुसरेऽवात्सीत्** । बिन्दुः सरसि यस्मिन्निति डच् समासान्तः । वासमेव कृतवान्, जिज्ञासानन्तरमेव वक्तव्यमिति । क्षुधितायैव ह्यन्नदानम् । भावार्थज्ञानार्थम्—**भगवानिति कपिल** इति तदर्थमेवाऽवतारः सूचितः । **किलेति** भगवतः सापेक्षतया क्वचिदपि स्थितिरयुक्तेति । **किलेति** प्रसिद्धया स्वदोषो निवारितः ।।५।।

व्याख्यार्थ—महत् पुरुष घर में माता पिता के लिये ही रहते हैं यह बताने के लिये पिता के वन में चले जाने पर माता को प्रिय (प्रसन्न) करने की इच्छा से (कपिलजी) उसी बिन्दुसर पर रहने लगे ऐसा कहा। 'बिन्दुसर' पद में बिन्दुः सरसि यस्मिन् स ऐसा बहुव्रीहि समास है और समासान्तः डच् प्रत्यय हुआ है। कपिलजी वहाँ केवल रहने ही लगे। उपदेश तो बिना जिज्ञासा के नहीं देना चाहिये इसलिये नहीं दिया। अन्नदान जैसे भूखे के लिये ही दिया जाता है कपिलजी को भावी अर्थ का ज्ञान था इसीलिये उन्हें भगवान् कहा। कपिल पद से यह सूचित होता है कि भावी अर्थ का ज्ञान कराने के लिये ही उनका अवतार है। भगवान् अपेक्षा से कहीं रहे यह अनुचित है यह किल शब्द से बताया, किल शब्द प्रसिद्धि अर्थ में है इससे स्वदोष का भी निवारण हो गया।५

श्लोक—**तमासीनमकर्माणं तत्त्वग्रामाग्रदर्शनम्।**
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः॥६॥

श्लोकार्थ—तत्व मार्ग के पारदर्शी कपिलजी जब शान्ति से बैठे थे उस समय देवहूति ने ब्रह्माजी की बात को याद करके उनसे कहा॥६॥

सुबोधिनी—तदा देवहूतिर्भर्तरि निर्गत उत्कट-शोका पगमानन्तरं **तं पुत्रमासीनमाहेति** संबंधः। प्रसिद्धिर्ज्ञानोपदेशसमर्थने। **आसीनमि**त्यव्यग्रत्वाय। **अकर्माण**मिति तपोयोगादिरूपे कस्मिन्नपि कर्मण्यप्रवृत्तम्, अन्यथा तादृशे प्रश्नो न युक्तः। प्रश्ने योग्यं रूपमाह—तत्त्वग्रामस्याऽग्रं पर्यवसानं तस्य दर्शनं यस्य। **स्वसुत**मिति विश्वासो निर्भयत्वम्, दोषाभावश्चोक्तः। भर्त्रा यद्यप्युक्तम्, तथाप्याश्वासनार्थमपि तद्भवतीति ब्रह्मोक्तमेव प्रमाणीकरोति **धातुः संस्मरती वच इति**। स हि विधाता सर्वेषां पितृस्थानीय इति न तत्र कश्चिद्धेतुः सम्भवति **एष मानवि ते गर्भम्'** इति वचः॥६॥

व्याख्यार्थ—अपने पति के चले जाने का उत्कट शोक जब दूर हुआ तब देवहूति ने आसन पर बैठे हुए अपने पुत्र से कहा इस प्रकार यहाँ सम्बंध है। ज्ञानोपदेश के समर्थन में ऐसी ही प्रसिद्धि है। उनमें किसी प्रकार की व्यग्रता नहीं थी उसके लिये आसीन ऐसा कहा 'अकर्माणं' पद का तात्पर्य यह है कि वे तपोयोगादिरूप किसी भी कर्म में उस समय नहीं लगे थे। यदि वैसा होता तो उस समय प्रश्न नहीं होता। प्रश्न के विषय में उनका रूप योग्य था उसको तत्वमार्गाग्रदर्शनं पद से बताया है तत्वग्राम जहाँ पूर्ण होता है उसका जिन्हें ज्ञान है। विश्वास, निर्भयता एवं दोषाभाव बताने के लिये स्वसुतं यह कहा। यद्यपि भर्ता (कर्दमजी) ने यह कहा था कि तुम्हारे गर्भ से भगवान् का जन्म होगा किन्तु पति का ऐसा कहना आश्वासन भी हो सकता है इसलिये ब्रह्माजी की कही हुई बात को यहाँ उसने प्रमाण माना यह 'धातुः संस्मरती वचः' से बताया है। ब्रह्माजी सबके पिता थे अतः उनकी कही हुई बात में किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती है उन्होंने देवहूति को स्पष्ट कहा था कि 'एष मानवि ते गर्भम् प्रविष्टः कैटभार्दनः' हे मनु पुत्रि! तुम्हारे गर्भ में स्वयं भगवान् ने प्रवेश किया है॥६॥

आभास—तस्याः प्रार्थनां वक्तुं स्वस्य प्रश्नकर्तृत्वं तस्य चोत्तरदानार्थमेवाव-

तीर्णत्वं समर्थयन्ती भगवन्तं स्तौतत्रिभिः स्तौति त्रिभिः । तत्र प्रथमं स्वस्य वैराग्यमाह—

आभासार्थ - देवहूति अपनी प्रार्थना को कहने के लिये स्वयं को प्रश्न करने वाली तथा आपका अवतार उत्तर देने के लिये हुआ है इसका समर्थन करती हुई भगवान् की स्तुति तीन श्लोकों से करती है । उसमें भी पहले अपने वैराग्य को कहती है—

देवहूतिरुवाच श्लोक—**निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्पणात् ।**
येन संभाव्यमानेन प्रविष्टाऽन्धं तमः प्रभो ।।७।।

श्लोकार्थ—देवहूति कहती है–हे भूमन्! हे प्रभो! इन दुष्ट इन्द्रियों को तृप्त करने में मैं बहुत ही खिन्न हूँ इनकी इच्छाओं को पूरी करने के कारण अज्ञानरूप अन्धकार में पडी हूं ।।७।।

सुबोधिनी—निर्विण्णेति । भूमन्निति । सर्वसामर्थ्यं सूचितम् । **असदिन्द्रियतर्पणादहं निर्विण्णा ।** इन्द्रियाणि स्वार्थं नोपयुज्यन्ते । सर्वात्मको भगवानिति यदि भगवद्बुध्याऽपि पोष्यन्ते, तदाऽप्येते स्वगुणं कुर्वन्त्येव,असत्त्वात् । सत्स्वेव भगवद्भजनमिति हि सिद्धान्तः । अत एवाऽसत्स्वपरिचितभगवच्चरणसेवां न कुर्यात्, अनभिव्यक्ते भगवत्याश्रयधर्माणां बलिष्ठत्वात्। अत आह—**असदिन्द्रियतर्पणात् निर्विण्णा ।** निर्वेदेकारणमिन्द्रियकृतमपराधमाह—**येनेति ।** येनेन्द्रियतर्पणेन निरन्तरं **संभाव्यमानेन ।** संभावनाऽऽदरपूर्वकं तत्पूरणम् । असतां कार्यं पोषकनाशनमित्य**न्धं तमो** महामोहं **प्रविष्टा । प्रभो** इति क्रोशनम्, यथाऽन्यैः पीडितः प्रभोः स्थाने आक्रोशनं करोति ।।७।।

व्याख्यार्थ -भूमन् ऐसा सम्बोधन देकर कपिलजी में सर्वसामर्थ्य सूचित किया । दुष्ट इन्द्रियों को तृप्त करने में मैं दुःखी हो गई हूं । इन्द्रियों का उपयोग स्वयं के लिये नहीं करना चाहिये । भगवान् सर्वात्मा हैं इसलिये यदि भगवद्बुद्धि से भी इनका पोषण किया जाय तो भी ये अपना गुण दिखाये बिना नहीं रहती क्योंकि ये दुष्ट हैं । इन्द्रियां दुष्ट न हो तब भगवद्भजन होता है ऐसा सिद्धान्त है । अतएव असत् (दुष्ट) इन्द्रियों से अपरिचित भगवच्चरण सेवा न करे । भगवान् की अभिव्यक्ति न होने पर आश्रय धर्मों में बलिष्ठता होती है । इसी हेतु से कहती है कि 'असदिन्द्रियतर्पणात् निर्विण्णा' दुष्ट इन्द्रियों को तृप्त करते करते थक गई । निर्वेद में कारण इन्द्रियों का अपराध है । यह येन संभाव्यमानेन इससे बताती है अर्थात् इन इन्द्रियों को मैंने निरन्तर आदरपूर्वक तृप्त किया । दुष्टों का काम ही यह है कि पोषण करने वाले का नाश करना । अतएव मैं महामोह में पड़ गई । जो किसी से सताया जाता है वह दुःखी होकर स्वामी के पास जाकर पुकारता है देवहूति भी इन इन्द्रियों से पीड़ित होकर कपिलजी को पुकारती है यह प्रभो ! इस सम्बोधन से बताया है ।।७।।

आभास—त्वं त्येतदर्थमेवाऽवतीर्ण इत्याह—

आभासार्थ—आपका अवतार अज्ञान को दूर करने के लिये ही हुआ है यह कहती है—

श्लोक—**तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।**
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥८॥

श्लोकार्थ—उस अपार अज्ञानान्धकार से पार लगाने वाले आप ही हैं। आपको मैंने आपकी कृपा से सुन्दर नेत्रों के रूप में जन्म परम्पराओं की समाप्ति होने के कारण ही प्राप्त किया है ॥८॥

सुबोधिनी–तस्येति । इन्द्रियादिभिः कृतस्याऽन्धस्य तमसः, देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नस्य, अलोकिकसामर्थ्ये न यच्चक्षुस्तस्य पारं गच्छतीति तदेव भवान् । बहूनां **जन्मना मन्ते मे** मया लब्धम् । तत्रापि करणं त्वदनुग्रह एव ॥८॥

व्याख्यार्थ– इन्द्रियों ने जिसे अन्धा बना दिया है उस अज्ञान का जो देश एवं काल से भी परे है उसे आप अलौकिक शक्ति से दूर करते हैं। वे नेत्र अज्ञानरूपी अन्धकार को पार करते हैं वे नेत्र स्वयं आप ही हैं। उन नेत्रों (आप) को मैंने अनेक जन्मों के अनन्तर प्राप्त किया है। उस नेत्र (आप) को प्राप्त करने में भी मेरी सामर्थ्य नहीं है केवस आपकी ही कृपा है ॥८॥

आभास—किञ्च, साक्षाद्भगवान् भवानित्याह—

आभासाथ—आप स्वयं भगवान् ही हैं इसे कहती हैं—

श्लोक—**य आद्यो भगवान्पुंसामीश्वरो वै भवान्किल ।**
लोकस्य तमसोऽन्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥९॥

श्लोकार्थ—आप सब जीवों के आदि पुरुष भगवान् हैं। आप ही अज्ञानान्धकार से अन्धे पुरुषों के लिये नेत्र स्वरूप सूर्य के रूप में आपका अवतार हुआ है ॥९॥

सुबोधिनी–य आद्य इति । **आद्यः** पुरुषः । सर्वेषां ब्रह्मादीनां पुंसां त्वमेवाद्यः, कारणम् । कारणमेव च ब्रह्म । कालादिव्यावृत्त्यर्थमाह–**भगवानिति** । केवलजनकत्वे ब्रह्मत्वं न सेत्स्यतीति नियामकत्वमप्याह–**पुंसामीश्वरो वै भवानिति किलेति** प्रमाणम् । किञ्च, पालनार्थं भवानवतीर्णश्च । यतस्त**तमसोऽन्धस्य लोकस्य चक्षू**रूपः सूर्यरूपश्च भवा**नुदितः** । तमसः सकाशादन्धस्य चक्षुः प्रकाशकः, सूर्यो भवानिति वा। ममापि भवान् चक्षुः, लोकानां चक्षुरित्यपौनरुक्त्यम् आत्मानं प्रति चक्षुष्ट्वम्, सर्वान् प्रति सूर्यत्वमिति वा ॥९॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्मा आदि जितने भी पुरुष है उन सब के कारण आप हैं जो सबका कारण होता है वही ब्रह्म (भगवान्) होता है। आप कालादि रूप नहीं हैं किन्तु भगवान् हैं यह भगवान् से बताती है। यदि सबको उत्पन्न करने वाले ही हो तो उनमें ब्रह्मता सिद्ध नहीं होती अतः कपिलजी को 'पुंसामिश्वरो वै' भगवान् कहकर उन्हें नियामक भी नियन्त्रण करने वाला भी बताया और यह सर्वथा सत्य है इसके लिये ऐसा कहा और पालन के लिये भी आपने अवतार लिया है। इसीलिये अज्ञानरूप अन्धकार से अन्धे लोगों के लिये चक्षुरूप और सूर्य रूप में (आप) उदय हुये हैं। अन्धकार से अन्धा है उसके लिये नेत्र प्रकाश है अथवा सूर्यरूप आप उसके प्रकाशक हैं। मेरे लिये भी आप चक्षु हैं और लोगों के लिये भी आप चक्षु हैं ऐसा मानने से पुनरुक्ति दोष नहीं होता। अथवा मेरे लिये आप चक्षु रूप में हैं और सब लोगों के लिये सूर्य रूप में हैं ।।९।।

आभास—एवं भगवन्तं स्तुत्वा विज्ञापनामाह—

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की स्तुति करके अपनी निवेदन प्रस्तुत करती है—

श्लोक—**अथ मे देव ! संमोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि ।**
योऽवग्रहोऽहंममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया ।।१०।।

श्लोकार्थ—हे देव ! यह जो मैं और मेरेपन का दुराग्रह है यह भी आपही का कराया हुआ है। अतः आप अब इस महामोह को दूर कीजिए ।।१०।।

सुबोधिनी-अथेति। हे **देव** ! मोहनाशक, **मे मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि**। तवैव चाऽत्र सामर्थ्यम्। यतस्त्वयैव **अहंममेत्यस्मिन्** शरीरे, **अवग्रह** आग्रहो योजितः। अतस्त्वयैव दूरीकर्तव्यः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—हे देव ! मोहनाशक मेरे मोह को दूर करने में आप समर्थ हैं क्योंकि आप ही ने इस शरीर में अहंता ममता का आग्रह कराया है अतः आप ही से यह दूर किया जायेगा ।।१०।।

आभास—ननु सर्वेष्वेव मया युज्यते, न तु दूरीक्रियत इति चेत्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—यदि ऐसी शंका हो कि मैं अहंता ममता करा सकता हूँ, दूर नहीं कर सकता तो इसके लिये कहती है—

श्लोक—**तं त्वा गताऽहं शरणं शरण्यं स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।**
जिज्ञासयाऽहं प्रकृतेः पूरुषस्य नमामि सद्धर्मभृतां वरिष्ठम् ।।११।।

श्लोकार्थ—आप अपने भक्तों के संसारूपवृक्ष को काटने के लिये कुठाररूप हैं। मैं प्रकृति और पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से शरणागतवत्सल आपकी शरण

में आई हूं । आप भगवद्धर्म जानने वालों में सर्वश्रेष्ठ हैं । मैं आपको नमन करती हूँ ।।११।।

सुबोधिनी–तं त्वा गताऽहमिति । शरणागतस्य तु दूरीक्रियते । **त** मोहदूरीकरणसमर्थं त्वां दैवात्प्राप्तम् । अतोऽहं शरणं गता । शरणार्हश्च भवान् ।

व्याख्यार्थ—शरणागत की अहंता ममता को तो दूर करनी ही चाहिये । उस मोह के दूर करने में समर्थ आपको मैंने भाग्य से प्राप्त किया है । अतएव मैं आपकी शरण आई हूँ । आप शरण देने में समर्थ हैं ।

कारिका—**यथा विद्यासु या विद्या यस्य तत्रैव सा भवेत् ।**
शरणागतधर्मोऽपि शरण्ये सोऽपि कश्चन ।
स्वस्वामी हरिरेवैकः शरण्य इति तद्वचः ।।१।।

कारिकार्थ—जिस प्रकार विद्याओं में जो विद्या जिसकी होती है वह विद्या उसी में रहती है । इसी तरह किसी भी शरणागत का जो कोई धर्म है वह भी शरण्य में रहता है । अपना स्वामी एक हरि ही हमारा शरण्य (रक्षक) है ऐसा उनका कहना है ।।१।।

सुबोधिनी–किञ्च, स्वभावतोऽपि भगवान् स्वभृत्यानां संसारं दूरीकरोति, शरणागताश्च भृत्यतुल्याः । अतः शरणागतौ संसारदूरीकरणं स्वयमेव करिष्यतीत्याह–**स्वभृत्यसंसारतरोः** कल्पादारभ्य मोक्षपर्यन्तमनुवर्तमानस्य, अनादिसान्तस्य वा, कर्मकालनियतान्तरहितस्य **कुठारं** छेदकम् । तस्मिन् संसारे भगवांश्चेत् प्रविशेत् तदा स नश्येत्; यथा कुठारे प्रविष्टे । स हि भक्तानामेव संसारं प्रविशति नाऽन्यस्य पतिपुत्रादिरूपेण । अतः **स्वभृत्ये**त्युक्तम् । ते हि भरणीयाः । कालः, कर्म वा तान् न बिभर्ति, अतः संसारप्रवेशोऽद्भुतकर्मत्वाच्च छेदकः संपद्यते । **तरो**रित्येकवचनं सर्वेषां भक्तानां भगवदीयत्वेन भावाद्वैतादिधर्मवत्त्वात् एक एव संसार इति सूचितम् । यद्यपि स्वप्रयत्नव्यतिरेकेणैव स्वयमेव करिष्यत्यन्तः प्रविष्टः, प्रवेशनप्रयत्नश्च नाऽयम्, तथाप्यौत्कण्ठयात् सर्वतत्त्वपरिज्ञानार्थं यत्नः क्रियत इत्याह–**नमामीति । प्रकृतेः पुरुषस्य** च ज्ञानेच्छया गुरुत्वेन त्वां नमामि । मातुरपि नमस्कार उपाधिभेदात् न दोषाय । यथा देहस्तत उत्पन्नः, पुष्टो वा, तथा ज्ञानं, गतिर्वा यस्मादुत्पद्यते, स सेवकः, पुत्रोऽन्यो वा नमस्करणीय एव भिन्नोपाधित्वादिति । प्रकृतिपुरुषविवेको हि सर्वथा कर्तव्यः, पुरुष एव सेव्यो न प्रकृतिरिति ज्ञानार्थम् । गुरोर्लक्षणमाह–**सद्धर्मभृतां वरिष्ठमिति** । सद्धर्मा ब्रह्मधर्माः शमादयः, तान् ये बिभ्रति, न तु केवलं कदाचित् कुर्वन्ति; येषु शमादयो नियता इत्यर्थः । तेषां श्रेष्ठः । त एव गुरवो भवितुमर्हन्ति, किं पुनस्तेषां गुरुः ।।११।।

व्याख्यार्थ—स्वभाव से ही भगवान् अपने सेवकों के संसार को दूर करते है, शरणागत भृत्यों के समान है इसलिये शरणागतो का संसार दूरी करण स्वयं ही करेंगे । यह स्वभृत्य संसारतरोः' से बताया है । यह संसार कल्प से प्रारम्भ होकर मोक्षपर्यन्त बराबर रहता है अथवा यह अनादि सान्त है कर्म अथवा काल से नियत जो अन्त उससे रहित इस संसार रूप वृक्ष के लिये आप कुठार (कुल्हाड़ी) रूप हैं । जो कल्प से आरम्भ होकर मोक्षपर्यन्त रहता है एवं जो अनादि-

सान्त है तथा जिसका कर्म तथा काल से अन्त नहीं होता उस संसार में यदि भगवान् प्रविष्ट हो जाते है तब संसार नष्ट हो जाता है जैसे लकड़ी में जब कुठार प्रविष्ट होता है तो लकड़ी नष्ट हो जाती है। वह भगवान् भक्तों के ही संसार में प्रविष्ट होता है पति पुत्रादिरूप से भक्तातिरिक्त के संसार में प्रविष्ट नहीं होता इसीलिये 'स्वभृत्यसंसारतरोः' कहा। भृत्य (दास) पोषण के योग्य होते है। काल अथवा कर्म उनका पोषण नहीं करता इसलिये संसार प्रवेश अद्भुत कर्मत्व होने से छेदक होजाता है तरोः इस प्रकार का एक वचन यह सूचित करता है कि सभी भक्तों के भगवदीय होने से उनमें भावाद्वैतादि धर्म होने से एक ही संसार है यद्यपि भगवान् भक्तों के प्रयत्न के बिना ही अन्दर प्रवेश करके स्वयं ही संसार का नाश करते हैं नमन करना यह प्रवेशन का प्रयत्न नहीं हैं किन्तु उत्कण्ठा से सर्व तत्व परिज्ञान के लिये यत्न किया जाता है इसे नमामि यह पद प्रकट करता है। प्रकृति और पुरुष के ज्ञान की इच्छा से गुरु रूप से आप को मैं नमन करती हूँ। माता का पुत्र को नमन करना अनुचित है किन्तु उपाधिभेद से माता का नमस्कार करना भी दोष रहित है। जिस प्रकार माता से देह उत्पन्न हुई है और पुष्ट हुई है उसी तरह ज्ञान अथवा गति जिससे उत्पन्न हो वह भले ही सेवक हो पुत्र हो अथवा अन्य कोई हो वह नमस्करणीय होता है क्योंकि ज्ञान दाता होने से उसकी उपाधि अन्य हो जाती है। प्रकृति पुरुष का विवेक अवश्य करना चाहिये क्योंकि पुरुष ही सेव्य है प्रकृति सेव्य नहीं है इसका ज्ञान आवश्यक है। गुरु का लक्षण "सद्धर्मभृतां वरिष्ठम्" से कहती है। शम दम आदि ब्रह्मधर्म सद्धर्म कहे जाते हैं उनको वे धारण करते हैं। बिभ्रति का तात्पर्य हैं शमादिक जिनमें नियतरूप से रहते है उनका पालन कदाचित् नहीं किया जाता है। जो शमादि को नियतरूप से धारण करते हैं वे गुरु बनने के योग्य होते हैं जो उनके भी गुरु हैं उनके लिये तो कहना ही क्या ॥११॥

आभास—एवं युक्तिपूर्वकं मातृवचनं श्रुत्वा पृष्टमात्रस्वरूपे कथिते ज्ञातुं न शक्यत इति सर्वमेव शास्त्रार्थमाहे-त्याह—

आभासार्थ— इस प्रकार युक्तिपूर्वक माता के वचन सुनकर जितना पूछा उतना मात्र उसका स्वरूप कह देते तो उससे उसका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये पूरे शास्त्रों के अर्थ को कहते हैं—

मैत्रेय उवाच—

श्लोक—**इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं निशम्य पुंसामपवर्गवर्द्धनम् ।**
धियाऽभिनन्द्याऽऽत्मवतां सतां गतिर्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥१२॥

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी कहते हैं—इस प्रकार माता देवहूति ने जो अपनी पवित्र इच्छा को प्रकट की जो मनुष्यों के मोक्ष मार्ग में अनुराग उत्पन्न करने वाली है उसे सुन कर आत्मज्ञानी सत्पुरुषों की गति का मन ही मन अभिनन्दन कर मुस्कराते हुए कपिलजी बोले ॥१२॥

सुबोधिनी–इतीति । स्वमातृत्वाद्गुरुत्वेन तद्वच आदरणीयम् । निरवद्यं च तस्येप्सितम्, संसारातीतविषयत्वात् । यदर्थमवतीर्णः, तद्द्वयमपि एकरूपमेव जातमिति संतोषादपि कथनं बोधयति–**पुंसामपवर्गवर्द्धनमिति** । यद्येकः साधनेन मुच्यते, तदाऽन्योऽपि तं दृष्ट्वा साधने प्रवर्तत इत्यपवर्गं वर्द्धयतीति । मुखेनाऽभिनन्दने कृते स्त्रीत्वात्कदाचिदभिमानमवलम्बेत । अतो धियाऽभिनन्द्य प्रष्टुर्धर्मविचारेण कथनं निरूप्य स्वधर्मविचारेणाऽपि निरूपणमावश्यकमित्याह–**आत्मवतां सतां गतिरिति** । आत्मवन्तः सकृष्णाः, तस्यैव बहिर्ज्ञापकं जितेन्द्रियत्वम् । सन्तस्तद्धर्मवन्तः । भगवद्धर्मैर्धर्मिवतां पूर्णसाधनानां यो गतिः प्राप्यः । तेन फलरूपोऽयम्, तत्साधने सिद्धे प्राप्य इति स्वरूपदानौपयिकं साधनमवश्यं वक्ष्यतीत्युक्तम् । ईषत्स्मितेन शोभितमाननं यस्येति संतोषो ज्ञापितः । प्रसन्नोक्तमेव हि फलायेति मन्दहासस्याऽपि मन्दत्वमल्पमोहकत्वम्, यतः पुत्रत्वं स्थापयति ।।१२।।

व्याख्यार्थ - देवहूति माता है अतः गुरुत्वरूप से उसके वचनों का आदर करना चाहिये । प्रकृति पुरुष का ज्ञान जो अत्यन्त पवित्र है उसी को वह चाहती है जो संसारातीत विषय है । जिसके लिये कपिलजी ने अवतार लिया वे दोनों ही कार्य एकरूप ही हो गये इसलिये उन्होंने संतोष के साथ 'पुंसामपवर्गवर्द्धनम्' ऐसा कहा । यदि एक साधन के द्वारा मुक्त होता है तो दूसरा भी उसे देख कर साधन में प्रवृत्त होता है इससे मोक्ष की अभिवृद्धि होती है । यदि मुख से प्रश्न का अभिनन्दन करते तो स्त्री होने के कारण देवहूति को अभिमान आ जाता इसलिये बुद्धि से (मन ही मन) उसका अभिनन्दन किया । पूछने वाले के धर्म का विचार करके अभिनन्दन कर स्व (अपने) धर्म के विचार से भी उसका निरूपण आवश्यक है यह 'आत्मवतां सतां गति' से प्रकट किया जो श्रीकृष्ण के सहित हो वे आत्मवान् होते हैं जितेन्द्रिय होना यह आत्मवान् की बाह्य-परीक्षा है, सज्जन आत्मवान् होते हैं । भगवद्धर्म एवं भगवद्धर्म वाले जो पूर्ण साधन वाले हैं उनके द्वारा जो प्राप्य है । इसी हेतु से यह फलरूप है, उस साधन के सिद्ध होने पर वह प्राप्त होने योग्य है इससे यह ज्ञात होता है कि स्वरूपदान में उपायभूत साधन अवश्य कहेंगे । मन्दमुस्कान से शोभित मुख होने से संतोष प्रकट होता है । प्रसन्न होकर जो कहा जाता है वह सफल होता है । मन्दहास में भी मन्दता एवं अल्पमोहकता है । इसीलिये तो देवहूति इतना ज्ञान होते हुए भी कपिलजी को पुत्र ही समझती है ।।१२।।

आभास—साङ्ख्ये परित्यागो नित्य इति तदनुक्त्वा अङ्गत्वेन च तद्वक्ष्यामीति विचार्य, योगानुसारेणैव शास्त्रार्थमाह–योग इत्यादि पञ्चदशभिः ।

आभासार्थ–सांख्यशास्त्र में परित्याग नित्य है इसलिये उसे न कहकर अङ्गरूप से उसे कहूँगा ऐसा विचार कर योग आध्यात्मिक इत्यादि श्लोकों से योग के अनुसार शास्त्रार्थ कहते हैं—

कारिका—**योगः प्रशंसारूपेण प्रमाणेनाऽपि वर्ण्यते ।**
चित्तालम्बनरूपो हि योगस्तत्र प्रतिष्ठितः ।।१।।

अन्तरात्मा स्वयं चित्तमिन्द्रियाणि तथा तनुः ।
वेदे साङ्ख्ये च योगे च शैवे वैष्णव एव च ।।२।।

मूलरूपाणि शास्त्राणां नियमार्थं निरूपणात् ।
आत्मशेषो ह्यहङ्कारः स साङ्ख्ये विनिरूप्यते ।।३।।

एकीकृत्य मनश्चित्तं योगो ह्यत्र प्रवर्त्तते ।
ज्ञानक्रियारूपभेदाच्छास्त्रार्थे ज्ञानमुख्यता ।।४।।

अतश्चित्तं पुरस्कृत्य योगमाह हरिः स्वयम् ।
चित्तस्य रूपभेदश्च यच्च रूपमिहोचितम् ।।५।।

तादृशस्य फलं चाऽपि साधनानि बहूनि च ।
तत्राऽप्येकस्य निर्धारस्तस्य साधनमेव च ।।६।।

तस्याऽपि विषयः प्रोक्तश्चतुर्भिः षोडशात्मकः ।
तस्य साधनतारूपं तथात्वं मोक्षसाधने ।
बलिष्ठात्तु फलं सिध्येत्तस्मादिति विनिर्णयः ।।७।।

कारिकार्थ—पन्द्रह श्लोकों का तात्पर्य साढ़े सात कारिकाओं में कहते हैं। योग का प्रशंसा-रूप से एवं प्रमाण से भी वर्णन है वह वर्णन दो श्लोकों में है। कपिलजी का अवतार सांख्य शास्त्र के वर्णन करने के लिये हुआ तो वे योग का उपदेश क्यों देते हैं? इस आशंका का उत्तर यह है कि देवहूति में चित्तालम्बनरूप योग प्रतिष्ठित है अर्थात् 'अथ मे देवसंमोहम' इत्यादि दो पद्यों से वह प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है और अधिकारवश से स्थिर है इसलिए चित्त को मुख्य मान कर देवहूति के अधिकार का विचार कर कपिलजी ने योग का उपदेश दिया। यद्यपि माता के अधिकार के अनुसार योग का उपदेश कपिलजी ने दिया परन्तु योग तो अनेक हैं उन्होंने में आध्यात्मिक योग का ही उपदेश क्यों दिया इसमें क्या बीज है इस आशंका का उत्तर यह है कि कपिलजी का अवतार ही इसमें बीज है इस उद्देश्य अंश को कहने के लिये सर्वप्रथम उपदेश के द्वारा जानने योग्य सर्वमोक्ष शास्त्र सम्मतगण को बताते हैं। अन्तरात्मा (अहंकार), स्वयं (जीव), चित्त, इन्द्रियाँ शरीर इन गणों का वेद में, सांख्य में, योग में, शैवशास्त्र में, वैष्णव शास्त्रों में मूलरूप (जानने योग्य) का शास्त्रों के नियमनार्थ निरूपण है। अथात् वेद, सांख्य, योग, शैव शास्त्र, वैष्णव शास्त्र इन पांचों शास्त्रों का अपनी अपनी रीति से नियमन के लिये निरूपण है इसलिये पूर्वोक्त ज्ञान के लिये इनका ज्ञान आवश्यक है। सांख्य शास्त्र में आत्मशेष बाधक रूप से आत्मार्थ अहङ्कार का विशेष रूप से नियम्यता से निरूपण है। सांख्य और योग में फलतः कोई भेद नहीं है अतः मन और चित्त को एक करके इस उपदेश में निश्चय रूप से योग प्रकर्षरूप से रहता है। इसका कारण यह है कि ज्ञानरूप और क्रियारूप इन दो भेदों में विभक्त शास्त्रार्थ में ज्ञान की मुख्यता है ज्ञान के होने पर अहङ्कार का निग्रह होता है और अहङ्कार का निग्रह चित्तनिग्रह के अधीन है चित्त का निग्रह होता है योग से इसलिये आध्यात्म योग का उपदेश है। इस तरह योगोपदेश के तात्पर्य का निरूपण करके आगे के तेरह श्लोकों का तात्पर्य "चित्तस्य रूपभंदश्च" इत्यादि कारिकाओं से बताते हैं। चित्त का रूप भेद, तथा जो रूप यहाँ उचित है उसका निरूपण एवं उसका फल, अनेक साधनों का निरूपण उन साधनों में भी भक्ति रूप एक साधन का निर्धार (निश्चय) एवं भक्ति के सङ्गरूप साधन का चार श्लोकों में सोलह प्रकार से वर्णन है उस सङ्ग

का मोक्षसाधन में साधनता प्रकार से यत्नरूप से उपयोग है । उसी बलिष्ठ हेतु से फल सिद्ध होता है ऐसा निर्णय है ।।७½।।

आभास—आदौ योगप्रशंसामाह–द्वाभ्याम् । तत्र प्रथमं स्वरूपेणोत्कर्षमाह—

आभासार्थ—आदि में योग की प्रशंसा दो श्लोकों में कहते हैं उनमें पहले योग का स्वरूप से उत्कर्ष कहते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।**
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ।।१३।।

श्लोकार्थ—भगवान् कपिल ने कहा—हे माता ! आध्यात्मिक योग ही मनुष्यों के लिये कल्याणकारी है ऐसा मैं मानता हूँ । इसमें दुःख और सुख का अत्यन्त उपराम हो जाता है ।।१३।।

सुबोधिनी—**योग इति** । योगो हि बहुविधः । भगवत्साक्षात्कारे य उपयुज्यते स आधिदैविकः, आत्मसाक्षात्कारे आध्यात्मिकः । आधिभौतिकस्त्रिविधः, अणिमादिसाधकः, शरीरसाधकः, प्राणसाधकश्च । आद्यस्तु शास्त्रान्तराङ्गम्, द्वितीयोऽत्र मुख्यः । तमाह–**आध्यात्मिक इति** । अतः **पुंसां निःश्रेयसाय मतः** । ये स्वरूपं प्रकृतितो भिन्नं ज्ञातवन्तः, ते लब्धविषया आध्यात्मिकयोगेऽधिकारिणः, स योगस्तेषां फलं साधयति । अतस्तेषां निः श्रेयसाय **मतः** संमतः । आध्यात्मिकयोगस्य तथात्वे हेतुमाह–**अत्यन्तोपरातिरिति। यत्र** योगे **दुःखस्य सुखस्य** चात्यन्तमुपरतिर्निवृत्तसजातीयस्य पुनरनुत्पादः । चकारादुभयत्र साधनानाम् । आत्मातिरिक्तसर्वनिवृत्तिर्यत्रेत्यर्थः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—योग अनेक प्रकार का है । भगवत्साक्षात्कार में जिसका उपयोग होता है वह आधिदैविक योग है, आत्म साक्षात्कार में जिसका उपयोग हो वह आध्यात्मिक योग है । आधिभौतिक योग अणिमादि साधक शरीर साधक, प्राण साधक भेद से तीन प्रकार का है । पहला आधिदैविक योग भक्तिज्ञान शास्त्र का अङ्ग है दूसरा आत्मकल्याणकारी माना है । जिन्होंने प्रकृति से भिन्न स्वरूप को जान लिया है वे ही लोग लब्ध-विषय आध्यात्मिक योग के अधिकारी हैं । वह आध्यात्मिक योग ही उनके लिये फल साधक है । इसीलिये यह आध्यात्मिक योग उनके लिये कल्याणकारी माना गया है । आध्यात्मिक योग कल्याणकारी है इसमें हेतु है 'अत्यन्तोपरतिः' जिस योग में दुःख एवं सुख की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है जिससे वे फिर कभी उत्पन्न नहीं होते । 'चकार' का तात्पर्य है कि दुःख सुख जिन साधनों से उत्पन्न होते है उनकी भी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् आत्मा से अतिरिक्त सब की निवृत्ति हो जाती है ।। १३ ।।

आभास—योगान्तरेभ्यो व्यावृत्य तमेव तेऽभिधास्यामीत्याह—

आभासार्थ – अन्य सब योगों को छोड़कर उसी आध्यात्मिक योग को मैं तेरे लिये कहूँगा यह कहते हैं—

श्लोक—**तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुराऽनघे ! ।**
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगमुर्वङ्गनैपुणम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—हे अनघे ! अनेक अङ्गों से युक्त जिस योग को मैंने पहले जिनकी सुनने की इच्छा थी उनको कहा था उसी योग को तुम्हें सुनाता हूँ ।।१४।।

सुबोधिनी—तमिममिति । अस्याऽनादित्वमाह—**यमवोचमिति** । **अनघे इति** निष्पापानामेवाऽयं फलतीति ज्ञापयितुम् । ऋषीणामेवाऽत्र विश्वासो भवतीति ऋषिग्रहणम् । **श्रोतुकामानामिति** । तेषामप्यपेक्षितम् । उरुभिरङ्गैर्निपुणता यत्र, तदैव स्थिरो भवति ।।१४।।

व्याख्यार्थ – जिस योग को मैंने कहा ऐसा कहने से इस योग की अनादिता सिद्ध होती है। अनघे सम्बोधन निष्पाप लोगों को ही यह फलप्रद होता है इसको समझाने के लिये है । 'ऋषीणां' ऐसा कहने का तात्पर्य है कि ऋषियों को ही इसमें विश्वास होता है उनको भी यह अपेक्षित है यह 'श्रोतुकामानां' से बताया है । अनेक अङ्गों से निपुणता जहाँ होती है तभी यह स्थिर होता है ।। १४ ।।

आभास—ननु भगवदिच्छया ज्ञानाद्वा संसारः, तत्र योगेन किमित्याशङ्क्य **'चित्ताधीनः संसारः'** इति शास्त्रार्थं निरूपयति । **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** इति हि योगलक्षणम् । यदि संसारश्चित्तमूलक एव स्यात्, तदा योग उपपद्येत, नाऽन्यथेति चित्तं बन्धमोक्षहेतुत्वेन निरूपयति—

आभासार्थ – जब भगवान् की इच्छा से अथवा अज्ञान से संसार होता है तो वहाँ योग से क्या होगा ऐसी आशंका में 'चित्ताधीनः संसारः' इस शास्त्रार्थ का निरूपण करते हैं । चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है 'योगा श्चित्तवृत्ति निरोधः' यदि संसार चित्तमूलक ही हो तब योग का निरूपण युक्त है अन्यथा नहीं इसलिये चित्त बन्ध तथा मोक्ष का कारण है ऐसा निरूपण करते हैं—

श्लोक—**चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।**
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ।।१५।।

श्लोकार्थ—इस जीव के बन्ध और मोक्ष का कारण चित्त है । विषयों में जब चित्त आसक्त होता है तो वह बन्धन का कारण बनता है एवं भगवान् में जब आसक्त होता है तब मुक्ति का कारण बन जाता है ।।१५।।

सुबोधिनी–चेत इति । खल्विति सर्वलोकप्रसिद्धमनुभवं प्रमाणयति । **अस्यैकस्यैव** बन्धाय मुक्तये च स्वस्यैव चेतो मतम् । तत्र रूपभेदमाह–**गुणेषु सक्तं बन्धायेति । गुणेषु** विषयेष्वासक्तं रतं वा बन्धाय, **पुंसि** भगवत्यासक्तं, रतं वा मुक्तये भवति । स्वभावत एकरूपमपि करणं स्वधर्मविषयभेदात् बन्धमोक्षौ साधयति ।।१५।।

व्याख्यार्थ— सर्व लोक प्रसिद्ध अनुभव को प्रमाणित करने के लिये 'खलु' शब्द है। इस एक ही के बन्ध और मुक्ति के लिये अपना ही चित्त कारण है। गुणेषु सक्तं आदि से उसके रूप भेद कहते हैं। गुणों अर्थात् विषयों में आसक्ति या अनुराग बन्धन के लिये होता है भगवान् में आसक्ति या अनुराग मुक्ति के लिये होता है। स्वभाव से एकरूप कारण भी अपने रति, आसक्ति रूप धर्मों के विषय भेद से बन्ध मोक्ष को करते हैं। यहाँ शंका होती है कि लोक में रति एवं आसक्ति दोनों का एक ही अर्थ है यहाँ इन दोनों को अलग बताने का प्रयोजन क्या है अतः इनका स्वरूप निम्न लिखित कारिका से बताते हैं ।। १५ ।।

कारिका—**चित्तस्वभाव आसक्तिर्यस्त्यक्तुं नैव शक्यते ।**
स्नेहो रतिरिति प्रोक्तः संस्काराच्छास्त्रतश्च सः । १।।

कारिकार्थ— आसक्ति चित्त का स्वभाव है जिसे चित्त कभी छोड़ नहीं सकता। रति का अर्थ है स्नेह वह उसका स्वभाव नहीं है वह स्नेह तो संस्कार से या शास्त्र से होता है ।।१।।

आभास—लोके विषयोऽनुभवसिद्ध इति तमसाधयित्वाऽऽत्मनि शुद्धेरत्यर्थमनुभवं साधयति–**अहंममेति** त्रिभिः । यादृशं मन आत्मानं गृह्णाति । तादृशत्वसिद्धर्थं साधनान्याह—

आभासार्थ— लोक में विषय अनुभव से ही सिद्ध है इसलिये उसे सिद्ध न कर अहं ममेति इन तीन श्लोकों से आत्मा में शुद्धि का अधिक अनुभव सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार का मन आत्मा को ग्रहण करता है मन को उस तरह का बनाने के लिये साधन कहते हैं—

श्लोक—**अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।**
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—जब यह मन अहंता ममता से उत्पन्न होने वाले काम लोभ आदि विकारों से रहित एवं शुद्ध हो जाता है तब उस मन में सुख दुःख की स्फूर्ति नहीं होती वह सम अवस्था में आ जाता है ।।१६।।

सुबोधिनी–अहमिति । निर्मलमेव मन आत्मानं गृह्णाति । मलानि च मनसः कामलोभादीनि, तानि च देहादावहंममाऽभिमानात् । तैर्यदा वीतं भवतीति साधनानामावृत्तिः सूचिता । तानि च साधनान्यग्रे वक्ष्यति '**लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम्**' इति फलम् । **हंसे गुरौ**' इत्या-

दिसाधनानि, **असङ्कल्पाज्जयेत्कामम्**' इत्याद्युपायाश्च वक्ष्यन्ते । तैरुपायैर्यदा मलानि नश्यन्ति, तदा तैर्वर्ति मनः शुद्धं भवति । शुद्धस्याऽभिज्ञानम्—**अदुःखमसुखमिति** । तस्मिन् मनसि वैषयिके सुखदुःखे न स्फुरतः । तदेव कथं भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—**सममिति** । यदा विषयगत वैषम्यं न गृह्णाति सर्वत्र ब्रह्मभावनया, तदा समं मनो भवति । तत एव सुखदुःखे न गृह्णाति ।।१६।।

व्याख्यार्थ— निर्मल मन ही आत्मा को ग्रहण करता है मन के मल हैं काम लोभ आदि देह आदि में अहंता एवं ममता के अभिमान से ही ये काम लोभादि मल होते हैं इन मलों से रहित जब मन होता है इससे साधनों की आवृति सूचित होती है । उन साधनों को आगे कहेंगे । 'लिङ्ग व्यपोहेत् कुशलोऽहमारव्यम्' यह फल है । 'हंसे गुरो' इत्यादि साधन हैं, 'असंकल्पाज्जयेत्कामम्' इत्यादि उपाय भी आगे कहेंगे । इन उपायों के द्वारा जब मल नष्ट होते हैं तब उनसे रहित ये मन शुद्ध होता है । शुद्ध मन की पहचान है 'अदुःखमसुखम्' अर्थात् उस मन में विषय जन्य सुख दुःखों की स्फूर्ति नहीं होती । वह कैसे होती है ? इस शंका का समाधान करते हैं 'समम्' जब 'विषयगत' विषमता को मन ग्रहण नहीं करता सर्वत्र ब्रह्मभावना होती है तो उसके द्वारा मन सम हो जाता है । जब सम हो जाता है तो सुख दुःख को ग्रहण नहीं करता ।। १६ ।।

आभास—तादृशेन मनसा आत्मानं पश्यतीत्याह—

आभासार्थ— ऐसे ही (सम) मन मे आत्मा को देखता है यह कहते हैं—

श्लोक—**तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।**
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ।।१७।।

श्लोकार्थ—तब पुरुष प्रकृति से परे केवल आत्मा को भेद शून्य, स्वयं प्रकाश, अतिसूक्ष्म, अखण्ड देखता है ।।१७।।

सुबोधिनी—तदा पुरुष इति । विविक्तात्मसाक्षात्कारस्तदैव भवति, अन्यदा सङ्घाते प्रविष्ट आत्मा प्रतीयते । केवलं सङ्घाताद्विनिर्मुक्तम् । स्वभावोऽत्र प्रकृतिशब्देनोच्यते । प्राकृतेषु प्रसक्त आत्मा प्रकृतिस्वभावो भवति तस्य यदा नियन्ता भवेत् स्वभावजयो भवेदित्यर्थः, अन्यथा पूर्वमेव केवलत्वं निरूपितं पुनरुक्तं स्यात् । नियामकत्वे च प्रकृतिपरत्वं स्यात् । भगवता सह निरन्तरं जीवब्रह्मविभागशून्यम्, नाऽपि सायुज्येन, किन्तु ब्रह्मभावेनेत्याह—**स्वयंज्योतिरिति** । स्वयमेव स्वप्रकाशो जातोऽस्ति । **अणिमानम**तिसूक्ष्मम् । प्रतीतावहङ्कारादीनां सहस्फुरणाभावात् सूक्ष्ममुच्यते; यथा विरलत्वेनाऽऽकाशम्, नत्वणुपरिमाणमपि । सर्वत्र देवतिर्यङ्मनुष्यादीनामात्मभूतं केनाप्यंशेन न खण्डितं सर्वात्मकमात्मानं पश्यति ।।१७।।

व्याख्यार्थ — जब मन सम हो जाता है तब केवल आत्मा का साक्षात्कार होता है अन्य समय में संघात से प्रतिष्ठ आत्मा प्रतीत होती है । केवल का अर्थ है संघात से नियुक्ति । प्रकृति शब्द का अर्थ यहां स्वभाव है । प्राकृतों में जब आत्मा प्रसक्त होतो है तब आत्मा प्रकृति स्वभाव

हो जाती है। प्रकृति स्वभाव व आत्मा का जब नियन्ता होता है तब स्वभाव जोता जाता है, ऐसा न होता तो पहले श्लोक में आत्मा का केवलत्व वर्णित हो चुका तब पुनः इस श्लोक में उस का निरूपण पुनरुक्त दोष दूषित होगा। नियामक होने पर तो प्रकृति परत्व होगा। भगवान् के साथ निरन्तर आत्मा तब होती है जब जीव व ब्रह्म एक हो जाते हैं, यह एकता सायुज्य से नहीं होती किन्तु ब्रह्मभाव से होती है अतएव स्वयं ज्योतिः ऐसा कहा है अर्थात् जीव स्वयं ही स्वप्रकाश हो गया है। अणिमा कहते हैं अति सूक्ष्म को प्रतीति के समय अहङ्कारादि के साथ उसकी स्फूर्ति नहीं होती इसीलिये उसे सूक्ष्म कहते हैं जैसे विरलता (निर्लिप्तता) के कारण आकाश को सूक्ष्म कहते हैं आकाश की सूक्ष्मता अणुपरिमाण से नहीं। अखण्डितम् का आशय यह है कि सर्वत्र देवता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि का वह आत्मभूत होता है किसी भी अंश से खण्डित नहीं होता अर्थात् आत्मा को सर्वात्मक देखता है ॥ १७ ॥

आभास—एतादृशात्मस्वरूपसाक्षात्कारे मनसो न शुद्धत्वमात्रं प्रयोजकम्, किन्तु कारणत्रयमपीत्याह—

आभासार्थ— इस प्रकार के आत्म साक्षात्कार में केवल की शुद्धि ही कारण नहीं है किन्तु तीन कारण और भी हैं यह कहते हैं—

श्लोक—**ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चाऽऽत्मना ।**
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—ज्ञान वैराग्य और भक्ति युक्त मन से आत्मा को प्रकृति पर उदासीन देखता है और प्रकृति को शक्ति रहित देखता है ॥१८॥

सुबोधिनी—ज्ञानवैराग्येति । ज्ञानवैराग्ये भक्तेरङ्गभूते,ते च फलोपकार्यङ्गे ; न तु भक्तिजनके । भक्तिरपि योगरूपा साधनत्वेन निरंतरं क्रियमाणा । चकाराद्भक्तिसाधनैरन्यैरपि युक्तेन । **आत्मना** मनसा, आत्मैक्यं प्राप्तेन, विषयाभिलाषया ततो न निर्गतेन, आत्मानं परिपश्यति । जाते ज्ञाने प्रकृतिप्रेरणसामर्थ्यं भवति, तदा महाभोग उपपद्येते अतः प्रकृतिपूर्वकत्वं सम्भवति । तन्निषेधार्थमाह—**उदासीनमिति** । प्रकृतेस्तु न किञ्चिद्बलमित्याह—**हतौजसं प्रकृतिं च पश्यति** । **वासनामात्रेण** प्रकृतिस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ— ज्ञान और वैराग्य भक्ति के अङ्गभूत हैं वे दोनों फलोपकारी अङ्ग हैं भक्तिजनक नहीं है। भक्ति भी योगरूपा हैं। साधनरूप से निरन्तर क्रियमाणा (की जाती) है। 'च' इसलिये कहा गया है कि भक्ति के अन्य साधनों से युक्त आत्मा से। आत्मा से यहां मन लिया गया है। अर्थात् आत्मा के साथ एकता को प्राप्त हुए मन से जो विषयों की अभिलाषा से आत्मा से अलग नहीं होता उस मन से आत्मा को यथावत् देखता है। ज्ञान होने पर प्रकृति को प्रेरित करने की सामर्थ्य हो जाती है तब महाभोग उत्पन्न होते हैं अतएव प्रकृति ज्ञान के अनन्तर आत्म ज्ञान सम्भव है उसका निषेध उस उदासीनं से करते हैं प्रकृति का तो किचिन्मात्र भी बल नहीं

रहता इसके लिये 'हतौजसं प्रकृतिं पश्यति' जिसका बल नष्ट हो चुका है ऐसी प्रकृति को देखता है। प्रकृति केवल वासना मात्र से ही रहती है ।। १८ ।।

आभास—एवमात्मज्ञानं सपरिकरमुपपाद्य तत्र रतिरासक्तिर्वा चित्तस्य चेद्भवति, तदा तन्मनो मुक्तये भवतीत्युक्तम् । इदं परम्परया साक्षाच्च बहुसाधनसाध्यमिति एकमेव साधनं सर्वसाधनरूपं, सर्वफलसाधकं च सौकर्यार्थं निरूपयति—

आभासार्थ— इस प्रकार परिकर आत्मज्ञान का उपपादन (निरूपण) करके उसे आत्म ज्ञान में चित्त की रति अथवा आसक्ति यदि हो तव वह मन की मुक्ति का कारण होता है यह कह दिया, परन्तु यह आत्मज्ञान परम्परा से अथवा साक्षात् बहुसाधन साध्य हैं ऐसा विचार कर एक ही साधन जो सर्वसाधन रूप है और सर्वफल साधक है जिस का करना भी सरल उसका निरूपण करते हैं —

श्लोक—**न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।**
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ।।१६।।

श्लोकार्थ—सर्वात्मा भगवान् में की गयी भक्ति के समान योगियों के लिये भक्ति प्राप्ति का कल्याणकारी कोई मार्ग नहीं है ।।१६।।

सुबोधिनी– न युज्यमानयेति । भगवति युज्यमानया भक्त्या सदृशः पन्था नाऽस्ति । सिद्धान्तान्तरत्वात् भगवन्मार्गेण सह विरोधः । पूर्वं योगाभ्यासपराणां ब्रह्मभावार्थं साधनप्रेप्सूनां भक्तिरेव साधनम् । **अखिलात्मनीति** चिद्रूपे नारायणे सर्वात्मकत्वे ज्ञाते पश्चाद्भक्तिः कर्तव्येति केचित् । सर्वत्र भगवतो भक्तिः कर्तव्येत्यपरे । स्पर्द्धासूयादिव्यावृत्त्यर्थं तथा ज्ञात्वा कर्तव्यम् । भगवानत्र ब्रह्मैव, सत्त्वमूर्तिर्वा । **ब्रह्मसिद्धि**-र्ब्रह्मप्राप्तिः ।।१६।।

व्याख्यार्थ— भगवद्विषयक भक्ति के समान कोई मार्ग नहीं है । सिद्धान्तान्तर होने से भगवन्मार्ग के साथ विरोध होगा जो योगाभ्यास में लगे है और साधन की अपेक्षा रखते हैं उनकी ब्रह्म सिद्धि के लिये भक्ति ही साधन है । कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि चिद्रूप नारायण को सर्वात्मक भाव से जानने के अनन्तर भगवद्भक्ति की जाती है । अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि भगवान् की भक्ति सर्वदा करने योग्य है । स्पर्धा, असूया आदि न हो इसीलिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके भक्ति करनी चाहिये । यहाँ, भगवान् से 'ब्रह्म' अथवा सत्व मूर्त्ति लिया गया है । ब्रह्म सिद्धि का अर्थ ब्रह्म प्राप्ति है ।। १६ ।।

आभास—तस्या भक्तेः कारणमाह—

आभासार्थ— उस भक्ति का कारण कहते हैं ।

श्लोक—**प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।**
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ।।२०।।

श्लोकार्थ—ज्ञानी 'सङ्ग' को आत्मा का कभी न खुलने वाला (छुटने वाला) बन्धन जानते हैं यदि वही 'सङ्ग' संतों के साथ हो तो मोक्ष का खुला द्वार बन जाता है ।।२०।।

सुबोधिनी–प्रसङ्गमिति । नहीयं भक्तिस्त्यागे भवति, किन्तु चित्तवत् सङ्गो यदा विषयभेदेन भिद्यते, तदा भक्ति जनयति । तस्य चित्ततुल्यतामाह–**प्रसङ्गमिति** । **अजर** जरारहितम् । **पाशं** बन्धकम्, न तु देहादेः, किन्तु आत्मनो विदुः । प्रकृष्टः सङ्गो यस्मिन् कस्मिंश्चित् । **कवयो विदुरिति** प्रमाणम् । स एव प्रसङ्गः साधुषु चेत् कृतः, तदा **मोक्षद्वारमपावृतं** भवति । यथा भगवति स्नेहो मुक्तये,तथा सत्सङ्गो मोक्षद्वारम्। यथा ज्ञानादिषु सहजः सङ्गादिः कपाटरूपः तदुद्घाटने ज्ञानादिभिर्मोक्षो भवतिः, नैवं सत्संगे सहजः कश्चन संसर्गदोषोऽस्ति । तदाह–**अपावृतमिति** ।।२०।।

व्याख्यार्थ— यह भक्ति, त्याग के द्वारा नहीं होती, किन्तु चित्त की तरह सङ्ग जब विषय भेद से भिन्न भिन्न होता है तब भक्ति को उत्पन्न करता है प्रसंग को चित्त के तुल्य कहा है । अजरं का अर्थ है कभी जीर्ण नहीं होने वाला, पाश कहते है बन्धन को, यह सङ्गरूप बन्धन देहादि का नहीं है किन्तु आत्मा का है अत्यधिक आसक्ति जिस किसी में भी हो उसे प्रसंग कहते हैं । कवयोविदुः समझदार लोग प्रसंग को अच्छेद्य करने वाले बन्धन जानते हैं ऐसा कहने से इस कथन से प्रमाणिकता भी आ गई । यदि वही प्रसंग आसक्ति साधुसंतों के साथ की जाये तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है । जिस तरह भगवान् में स्नेह मुक्ति का कारण होता है उसी तरह सत्संग मोक्ष का द्वार है जैसे ज्ञानादि में सहज सङ्गादि किंवाड़ रूप है उन किंवाड़ों को खोलने पर ज्ञानादि के द्वारा मोक्ष होता है वैसे ही सत्सङ्ग में सहज कोई संसर्ग दोष नहीं है यह अपावृतम् से बताया है ।।२०।।

आभास—सतां लक्षणान्याह

आभासार्थ— सज्जनों के लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।**
अजातशत्रवः शान्ता साधवः साधुभूषणाः ।।२१।।

श्लोकार्थ—जो सहनशील, दयालु सब प्राणियों के अकारण हितैषी, किसी से शत्रुता न रखने वाले शान्त, वे सज्जनों के भूषण साधु होते हैं ।।२१।।

कारिका—सन्तः षोडशधर्मा वै धर्मास्ते त्रिविधा मताः ।
भौतिकादिविभेदेन एकस्तु सहजः स्मृतः ॥१॥
उपयोगी तथा चैको भौतिकास्त्रय एव हि ।
आध्यात्मिकास्तु चत्वारः सप्त चवाधिदैविकाः ॥२॥
पञ्चधा चेद्गुणा न स्युः सर्वेषां सिद्धयो न हि ।
भौतिकानामभावे तु लौकिकास्ते न संशयः ॥३॥
अलौकिका हि ते सेव्या निदुष्टास्तदनन्तरैः ।
सप्तभिस्ते महात्मानस्तदभावे न तै फलम् ॥४॥

कारिकार्थ— सन्त सोलह धर्म वाले होते हैं वे धर्म भौतिक आदि भेद से तीन प्रकार के होते हैं। यहाँ शंका होती है कि गुणों के भौतिकादि भेद से तीन प्रकार या नौ प्रकार होते हैं सोलह भेद कैसे होंगे इसीलिये उनके भेद 'एकस्तु' इत्यादि कारिका से बताते हैं। एक भेद तौ सर्वसंग विवर्जित रूप है जिसे धर्मों के कहने के बाद स्मरण करके कहा इसी तरह दूसरा भेद है 'उपयोगी' अर्थात् इस प्रकरण में सङ्गदोष को दूर करना उपयुक्त है उसे भी बाद में याद करके कहा है भौतिक भेद तीन ही हैं, आध्यात्मिक तो चार हैं, आधिदैविक सात हैं। इस तरह सब मिलाकर सोलह भेद हो जाते हैं। पाँच प्रकार के गुण यदि नहीं हो तो सबकी सिद्धि नहीं होती भौतिक आदि का अभाव हो तो वे सन्त निःसन्देह लौकिक कहे जायंगे। अलौकिक संत हो सेव्य और दोषरहित होते हैं, अजातशत्रुत्वादि चार धर्मों से संख्यत्व होता है अतः चार प्रकार के धर्म वाले आध्यात्मिक एवं सात प्रकार के धर्म वाले आधिदैविक धर्म वाले महात्मा हैं उक्त धर्म जिनमें नहीं हैं उनकी सेवा से कोई फल नहीं।

सुबोधिनी—तितिक्षव इति। आदौ भौतिकांस्त्रीन् गुणानाह—सर्वेषां प्राणिनामपराधं सहन्त इति **तितिक्षवः**। तेषु कृतापराधेष्वपि करुणावन्तो भवन्तिः, तद्दुःखदूरीकरणाय यत्नं कुर्वन्ति। किञ्च, तेषामन्येषां च सुहृदो मित्राणि, सर्वदा हितमाचरन्ति भावयन्ति च। लोके मित्रदेवतागावश्च सुहृदो भवन्ति, न हि सर्वेषां दुःखाभावार्थं यतन्ते। लौकिकाश्च दयालवो हेत्वर्था वा कारुणिका भवन्ति, निवृते तु दुःखे न तेषां हितं भावयन्ति। मातापितरौ ? बालेषु **तितिक्षवो** भवन्ति, न तु ते कारुणिकाः, न वा सर्व सुहृदः। तस्मात् त्रितयधर्मयुक्ता अलौकिका एव। तादृशेषु दोषाभावमाह—**अजातशत्रव इति**। गुणास्त्रयो विपरीतरूपाः सन्तो दोषाः, ते कामक्रोधलोभात्मका भवन्ति। तत्र क्रोधो बहुविधः प्रकटाप्रकटधर्मादिविभेदेन। स्वक्रोधः स्वरूपेण, साधनरूपेण वा परक्रोधे निमित्तत्वमापद्यते, तदा स शत्रुर्भवति। तस्याऽपि च धर्मः स्वस्य क्रोधहेतुर्भवेत्, तदाऽन्योन्यं शत्रवो भवन्ति। ते च पश्चात् रागादिजनकधर्मैर्बाधिताश्चेत् निवर्तन्ते। येषां तु शत्रवो नोत्पन्ना एव जन्मान्तरीयाणामपगतदोषाणां नोत्पत्तिः, अस्मिंस्तु जन्मन्यनिष्पत्तिः। अनेन पूर्वमनेकजन्मस्वपि। निवृत्तक्रोधास्त इत्युक्तम्। राजसो दोषः कामादिः, सोऽपि नास्तीत्याह—**शान्ता इति**। लयविक्षेपरहिता चेतसोऽवस्था **शान्तिः**, तया सहाऽभेदं स्वभावतः प्राप्ताः शान्ताः। एतदपि बहुजन्मसाधनैरेव भवति। एवमन्तःकरणजीवयोर्दोषाभावो निरूपितः। दैहिकं दोषाभावमाह—**साधव इति**। **साधवः** सदाचाराः। स एव सन् आचारः, य आत्मानं परं च न खेदयति। आत्मात्वतःकरणजीवा-

त्मक:। शारीरस्तु वेदमय:, परोऽपि तथा। सर्वथा वा येषामाचारेण न कोऽपिकस्याप्यपकार:, स सदाचारो भवति। तेनाऽपि धर्मेण देहस्वभावत ऐक्यं प्राप्ता: साधव:। तादृश एव धर्मो येषामलङ्करणे हेतुर्भवति। लोके तेनैव प्रतिष्ठा भवति। अनेन सर्वोऽपि परिकर: तेषां साधुरूपो भवति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—सबसे पहले भौतिक तीन गुणों को कहते हैं—सब प्राणियों के अपराध को सह लेते हैं इसलिये उन्हें तितिक्षु कहते हैं। केवल अपराध को ही सहन कर लें ऐसा नहीं किन्तु अपराध करने वालों के ऊपर भी दया करते हैं और उनके दु:ख को दूर करने का प्रयत्न करते हैं इसलिये उन्हें कारुणिक कहा है और जो अपराधियों एवं निरपराधियों के मित्र हैं, सदा उनका हित करते हैं तथा हित की भावना करते हैं इसलिये वे सुहृद हैं। 'सर्वदेहिनां' पद का सम्बन्ध तीनो के साथ हैं अर्थात् सभी देहधारियों के अपराधों को सहन करते हैं, उनके ऊपर दया करते हैं और उनके हितैषी हैं। लोक में मित्र, देवता और गायें सुहृद होती है किन्तु वे सबके दु:खों को दूर करने का प्रयत्न नहीं करती। लौकिक दयालु किसी कारण से अथवा करुणा से दयालु होते हैं परन्तु दु:ख दूर होने के अनन्तर उनके हित की भावना नहीं करते। परन्तु माता पिता अपने बालकों के अपराध को सहन करते हैं वे कारुणिक अथवा सर्व सुहृदय नहीं होते इसलिये तीनों धर्मों से युक्त तो अलौकिक ही होते हैं जो इस प्रकार के सन्त होते हैं उनमें सब प्रकार के दोषों का अभाव होता है इसलिये उन्हें अजातशत्रु कहते हैं। तितिक्षु आदि तीनों गुण विपरीत रूप हो तो वे काम, क्रोध, लोभात्मक दोष हो जाते हैं इनमें क्रोध प्रकट अप्रकट धर्मादि भेद से अनेक प्रकार का है। स्वक्रोध स्वरूप से अथवा साधनरूप से परक्रोध में जब निमित्त बन जाता है तब वह शत्रु हो जाता है और उसका भी क्रोध अपने क्रोध का कारण हो जाय तो एक दूसरे के शत्रु हो जाते हैं। वे अनेक प्रकार के क्रोध बाद में राग आदि को उत्पन्न करने वाले धर्मों से बाधित हो जाय तो निवृत्त हो जाता है। अजातशत्रु का अर्थ है जिनके शत्रु उत्पन्न ही नहीं हुए हो जिनके दोष दूर हो चुके हैं इसलिये उनके जन्मान्तरीय शत्रुओं की उत्पत्ति नहीं हुई तथा इस जन्म में तो शत्रु उनके कोई होते ही नहीं, इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि उनके पूर्व के अनेक जन्मों में भी उनमें क्रोध नहीं रहा। कामादि राजस दोष है वह भी उनमें नहीं है इसलिये उन्हें शान्त कहा है। लय विक्षेप से रहित चित्त की अवस्था की शान्ति है उस चित्त की अवस्था के साथ स्वभाव ने ही जो अभेद को प्राप्त हो जाते हैं वे शान्त कहे जाते हैं। ऐसी स्थिति भी अनेक जन्मों के साधनों से ही होती है इस प्रकार अन्त:करण और जीव में दोष का अभाव निरूपित हुआ। यहाँ जीव पद से जीवलिङ्गभूत अहङ्कार मानना चाहिये। दैहिक दोष का भी उन में अभाव है यह साधव: से ज्ञात होता है। अच्छे आचरण वाले ही साधु होते हैं। सदाचार उसे ही कहते हैं जो अच्छा आचरण आत्मा को तथा पर को पीड़ाजनक न हो। अखेदन रूप क्रिया के कर्मभूत जो आत्मा एवं पर है उनके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं आत्मा तो अन्त:करण जीवात्मक आत्मा है, शरीर आत्मा तो वेदमय है, 'पर' भी इसी प्रकार है। सब प्रकार से जिनके आचरण से किसी का कोई भी अपकार न हो वह सदाचार होता है उस सदाचार धर्म से और देह स्वभाव से एकता को प्राप्त साधु होते हैं वैसा धर्म जिन के अलङ्कार में कारण होता है लोक में उसी से प्रतिष्ठा होती है। इससे उनका सारा परिवार उनके साधुरूप हो जाता है ॥२१॥

आभास—एवं सर्वदोषपरिहारमुक्त्वा तेषां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वसिध्यर्थं स्वस्मिन्नाधिदैविकान् गुणानाह–

आभासार्थ—इस प्रकार सब दोषों का परिहार कह के उन सन्तों में सर्वपुरुषार्थ साधकता है इसकी सिद्धि के लिये अपने में आधिदैविक गुणों को कहते हैं—

श्लोक—**मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।**
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥२२॥

श्लोकार्थ—जो अनन्यभाव से मेरे में दृढ़ भक्ति करते हैं । मेरे लिये सब कर्मों का तथा अपने कुटुम्बियों का एवं स्वजनों का जिन्होंने त्याग किया है ।२२॥

सुबोधिनी–मयीतो । भक्तिरग्रे वक्तव्या, सर्वेन्द्रियाणां मनसा सह अहमहमिकतया भगवत्कार्यपरत्वमिति । इन्द्रियाणि च निर्दुष्टानि, सगुणानि चेति । न विद्यते अन्यस्मिन् यो भावः । भावो नामाऽन्तःकरणधर्मोऽभिप्रायापरनामा सर्वत्र हेतुः । स भक्तिजनकोऽपि भवति, भावान्तरेणाऽपि भक्तिं जनयति । तत्फलविषयकमेव भवति । भावान्तरसहितो वा । स हि देवतान्तरविषयः, पदार्थान्तरविषयः, मार्गान्तरविषयो वा । तत्सहभावोऽत्र निषिध्यते फलभावश्च । अत एव मार्गान्तरेण न चाल्यत इति दृढा । यस्यां भक्तौ प्रमाणादि चतुर्द्धाऽपि बाधा नास्ति । सा दृढा । तदर्थमेव पूर्वसिद्धपदार्थानां त्यागः कर्तव्यः, ते च वेदलोकात्मकाः । तदाह–**मत्कृते** भगवत्कार्यार्थमेव **त्यक्तानि** विहितानि **कर्माणि** यैः । निरन्तरभगवत्स्मरणे, सेवायां च सर्वाण्येव कर्माणि बाधकानि, ज्ञानपूर्वकं सेवमानानामनन्यभावप्रतिबन्धकानि च । **मत्कृत** इति नाऽऽलस्यादिना तत्परित्यागः । लौकिकाः स्त्रीपुत्रादयः **स्वजनाः,** बान्धवास्त्वन्ये सजातीयाः । त उभये त्यक्तव्याः । तेषामपि सत्त्वे तु न स्वजनबन्धुत्वम् । परित्यागलक्षणमेकमपि साधनं लौकिकवैदिकभेदेन द्विधा परिगणितम् । लौकिकानां परित्यागाऽसामर्थ्यबोधनार्थं वा ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ— भक्ति आगे कही जायेगी, सब इन्द्रियों की मन के साथ अहमहमिका से (होड किसी काम को करना) भगवत्कार्य-तत्परता को अनन्यता कहते हैं । इन्द्रियाँ भी निर्दुष्ट और सगुण होनी चाहिये । अनन्यभाव उसे कहते हैं कि वैसा दूसरे में न हो । भाव कहते हैं अन्तः करण के धर्म को जिसका दूसरा नाम अभिप्राय भी है जो सबका कारण है वही अन्तः करण धर्म अथवा अभिप्राय भक्ति को उत्पन्न करता है तथा भावान्तर से भी वह भक्ति को उत्पन्न करता है। वह भावान्तर फल विषयक ही होता है अथवा भावान्तर रहित होता है वह भाव देवतान्तर विषय, पदार्थान्तर विषय अथवा मार्गान्तर विषयक होता है उसके सहभाव का यहां निषेध है और भक्ति का फलाभाव भी कहा गया है । इसलिये वह अन्य मार्गों से विचलित नहीं होता ऐसी भक्ति ही दृढ कही जाती है । जिस भक्ति में प्रमाणादि चार प्रकार की बाधा नहीं है वह दृढ है उसके लिये ही पूर्वसिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिये वे पदार्थ है लौकिक एवं

वेदिक । उसी के लिये कहते है 'मत्कृतेत्यक्त कर्माण: । मेरे लिये ही अर्थात् भगवत्कार्यार्थ ही सब कर्मों का जिनने त्याग किया है क्योंकि निरन्तर भगवत्स्मरण करने में अथवा सेवा करने में सब कर्म बाधक हैं ज्ञानपूर्वक भी उनका सेवन किया जाय तो भी वे कर्म अनन्य भाव के प्रतिबन्धक हैं 'मत्कृते' का आशय यह है कि आलस्य आदि से उन कर्मों का परित्याग नहीं है । किन्तु मेरे कारण उनका परित्याग है । त्यक्तस्वजनबान्धवा: में स्वजन से लौकिक स्त्रीपुत्र लिये गये हैं और बान्धव शब्द से दूसरे सजातीय लिये गये है ये दोनों ही त्याग के योग्य है । स्वजन बान्धवों के रहने पर भी उनमें स्वजन बंधुत्व नहीं रहता । अर्थात् जब भगवान् में दृढभक्ति होने के कारण जिनमें साधुता होती है तो उन्हें स्वजन और बन्धुओं का परित्याग नहीं करना पड़ता वे तो स्वयं छूट जाते हैं । परित्याग लक्षण एक ही साधन लौकिक एवं वेदिक भेद से दो प्रकार का गिना गया है अथवा लौकिकों के परित्याग की असमर्थता बताने के लिये कहा है ।।२२।।

आभास—एवं रूपासक्तौ त्रयौ गुणा उक्ता:, नाम्नि त्रयमाह—

आभासार्थ– इस प्रकार रूपासक्ति में तीन गुण कहे नाम में तीन गुण कहते हैं—

श्लोक—**मदाश्रया: कथामृष्टा: शृण्वन्ति कथयन्ति च ।**
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतस: ।।२३।।

श्लोकार्थ—मुख्यरूप से मेरी कथाओं को सुनते हैं तथा कहते है और मेरे में ही चित्त को लगाये रहते हैं उन्हें अनेक प्रकार के कोई कष्ट नहीं पहुंचाते ।।२३।।

कारिका—**भगवद्गतचित्तेन ये श्रुता भगवद्गुणा: ।**
ये वा संकीर्तिता नित्य यावत्ते रसतां ययु: ।
तावत्त्यक्तैस्तदीयैश्च बाधा भवति सर्वथा ।।१।।
त्रिविधा अपि ते तापा: सोढव्यास्तापसत्वत: :
बलात्कृत्वा तपस्यन्ते तत: प्राप्ता: स्वतो वरा: ।।२।।
भजनापेक्षया ते वै भगवत्प्रीतिहेतव: ।
दु:खेषु भगवांश्चाऽपि नित्यं साक्षात्क्रियेत वै ।
देहादिविषयांस्त्यक्त्वा चित्त तद्गतमेव यत् ।।३।।

कारिकार्थ—शंका करते हैं कि जो भगवान् की कथा सुनते हैं और जिनमें तितिक्षु आदि धर्म रहते है उनमें ताप की सम्भावना ही नहीं होती तो फिर उनके लिये ऐसा कहना कि उन्हें विविध तापपीड़ा नहीं पहुंचाते 'तपन्ति विविधास्तापान' तो इस शंका का उत्तर देते हैं । भगवान् में ही जिनका चित्त लगा है ऐसे भगवद्भक्त सर्वदा भगवान् के जिन गुणों को सुना है अथवा जिन गुणों का कीर्तन किया है वे गुण जब तक रसता को प्राप्त नहीं होते तब तक परित्यक्त स्वजन बान्धवों से सब प्रकार से बाधा होती है, वे विविध ताप सहन करने चाहिये अर्थात् वे ताप जब सहने ही हैं तो दु:ख नहीं होगा । भजन की अपेक्षा से प्राप्त वे ताप निश्चित रूप से भगवान् की

प्रीति में कारण बनते हैं। दुःखों में सदा भगवान् का साक्षात्कार होता है। देहादिविषयों को छोड़कर चित भगवन्मय हो जाता है ।।२३।।

सुबोधिनी—मदाश्रया इति । याः कथा भगवन्तमेवाऽऽश्रित्य वर्तन्ते, न तु प्रसंङ्गाद्भगवद्विषयाः । **मृष्टा** उज्ज्वला निर्दोषपूर्णरूपाः । भाववर्णनेन वा भक्तैरुज्ज्वलीकृताः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—मदाश्रयाः का अर्थ है कि जो कथा मुख्यरूप से भगवत्परक हो, न कि प्रसंग से भगवद्विषयक हो। जो कथा उज्ज्वल निर्दोषपूर्ण हो उसे मृष्टा कहते हैं अथवा भक्तों के द्वारा भाववर्णन से उज्ज्वल की गई को ही मृष्टा कहते है ।।२३।।

आभास—एवं तेषां लक्षणान्युक्त्वा तादृशेषु साधुत्वं विधत्ते—

आभासार्थ—इस प्रकार उन साधुओं के लक्षण कह कर इस प्रकार के साधुओं में ही साधुत्व कहते हैं।

श्लोक—**त एते साधवः साध्वि ! सर्वसङ्गविवर्जिताः ।**
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ।।२४।।

श्लोकार्थ—हे साध्वि ! सर्वसंग का परित्याग करने वाले हो साधु होते हैं। उनके सङ्ग की तुम्हें इच्छा रखनी चाहिये क्योंकि वे संग के सब दोषों को दूर करने वाले होते हैं ।।२४।।

सुबोधिनी—त इति । ननु केऽपि स्वभावतः, साधवः, तेऽपि भगवन्निकटे वर्तन्त इति **एत** इत्युक्तम् । त एव प्रसिद्धा एते । विश्वासार्थं **साध्वीति** संबोधनम् । ननु तादृशाश्चेत् सन्ति बहवः ? कथं जगदमुक्तं तिष्ठतीत्याशङ्क्याऽऽह—**सर्वसङ्गविवर्जिता इति** । लौकिकास्तु स्वतो न तान् जानन्ति, तें तु सर्वापेक्षारहिता इति न केनापि प्रकारेण कस्यचित्संशयोऽपेक्षितः । अतस्तेषां योगाऽभावादेव न मुच्यन्ते, किं तेषां निरूपणेनेत्याशङ्क्याऽऽह—**सङ्गस्तेष्विति** । तेषु संगस्ते प्रार्थ्यः । संगस्त्यक्तव्यो भवति, स त्वया न शक्य इति संगजनितदोषनिवर्तकम्, संगत्यागजनितगुणजनकं च किञ्चिदपेक्ष्यते, अन्यथा-संगत्यागस्य कारणता न स्यात् । शास्त्रान्तरेऽपि संगत्यागानुकल्पत्वेन सत्संगो निरूपितः पूर्वोक्तोभयसाधकाः (?) तेऽपि तवाऽशक्यसंगा इति तेषां संगप्रार्थनैव कर्तव्या । प्रार्थनाऽपि तावत् करिष्यतीति तद्धर्माणां तथात्वं वक्तुं संगदोषदूरीकरणं तेषां सहजो धर्म इत्याह—**सङ्गदोषहरा इति** । संगस्य हि कामजनकत्वम्, संगेन हि कामादिदोषा जन्यते, तांश्च दोषान् सन्तो दूरीकुर्वन्ति । तदाह—**हीति** । तथा सामर्थ्यं तेषामाह—**त इति** । ते हि भगवदीयाः प्रसिद्धाः ।२४।

व्याख्यार्थ—जो कोई स्वभाव से साधु होते हैं वे भगवान् के निकट ही होते हैं इसलिये 'एते' ऐसा कहा है। वे ही साधु प्रसिद्ध हैं इसको 'ते' पद से बताया है। साध्वि संबोधन स्वयं तुमको भी इसका विश्वास है यह बताने के लिये दिया है। शंका करते हैं कि यदि वैसे साधु

बहुत हो तो जगत् अमुक्त कैसे रहा इसका उत्तर देते हैं । 'सर्वसङ्ग विवर्जिता' लौकिक पुरुष स्वतः उनको नहीं जानते क्योंकि ऐसे साधुओं को किसी से कोई अपेक्षा नहीं है । उनको किसी प्रकार से कोई संशय ही नहीं है अतः लौकिक पुरुष उन साधुओं का संग नहीं करते इसलिये मुक्त नहीं होते तो फिर उनके निरूपण से क्या लाभ ? इसका उत्तर देते हैं कि उनका सङ्ग तुम्हें करना चाहिये । यद्यपि सङ्ग का तो परित्याग करना चाहिये किन्तु वह तुम से हो नहीं सकता अतः संग-जनित दोष को दूर करने वाला और संगत्याग जनित गुण का जनक कोई अपेक्षित है ऐसा न होता तो संगत्याग का कारण क्या है अन्य शास्त्रों में भी संगत्याग के अनुकल्प में सत्संग का निरूपण किया है । ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में मदालसा के उपाख्यान में कहा है कि 'सङ्ग सब प्रकार से छोड़ देना चाहिये वह यदि छोड़ा न जा सके तो सज्जनों का ही संग करना चाहिये । सङ्ग ही संग की औषधि है, 'सङ्ग सर्वात्मना त्याज्य संचेत्यक्तु ं न शक्यते । स एव सत्सु कर्त्तव्यः सङ्ग सङ्गस्य भेषजामं सत्संग दोनों कार्यों को सिद्ध करता है (?) उन साधुओं से भी तुम्हारा सङ्ग होना कठिन है इसलिये तुम्हें उन के सङ्ग की प्रार्थना करनी चाहिये । वह प्रार्थना भी संगदोष को दूर करेगी साधुओं में संग दोष को दूर करने का सहज धर्म है यह 'संगदोषहराः' से बताया है । सङ्ग काम को उत्पन्न करने वाला है । सङ्ग से ही कामादिदोष उत्पन्न होते हैं उन सब दोषों को संत दूर करते हैं यह 'हि' पद से बताया है । 'ते' का यह आशय है कि उनमें सङ्ग दोष दूर करने की शक्ति है तथा वे भगवदीय संग दोष दूर करने में प्रसिद्ध हैं ।।२४।।

आभास—एवं भक्तिसाधकत्वेन सन्तो निरूपिताः । कथं तेषां साधकत्वमित्याशङ्क्य तं प्रकारमाह—

आभासार्थ - सन्तों का निरूपण भक्ति के साधक रूप से किया है । वे भक्ति के साधक कैसे हैं ऐसी शंका करके उसका प्रकार तीन श्लोकों से बताते हैं—

श्लोक—**सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।**
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ।।२५।।

श्लोक—**भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुतान्मद्रचनाऽनुचिन्तया ।**
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ।।२६।।

श्लोकार्थ—सज्जनों के समागम से ही मेरे पराक्रमों का ज्ञान कराने वाली हृदय एवं कानों को प्रिय लगने वाली कथाएँ होती हैं । उनके सेवन करने से शीघ्र ही मोक्ष मार्ग में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति अनुक्रम से विकसित होती है ।।२५।।

श्लोकार्थ—मेरी सृष्टि का अनुचिन्तन करने से प्राप्त भक्ति द्वारा जब मनुष्य लौकिक और पारलौकिक सुखों से विरक्त हो जाता है तब योग से युक्त मनुष्य सरल-योग मार्ग से मन को निग्रह करने का यत्न करेगा ।।२६।।

सुबोधिनी—सतां प्रसङ्गादिति । सतां संबंधी यः प्रकृष्टः संगः, तस्माद्धेतोर्मम वीर्यज्ञापिकाः कथा भवन्ति । तासां प्रीतिपूर्वकसेवया क्रमेण श्रद्धा, रतिः, भक्तिश्च भवति भक्त्या च वैराग्यम् । ततोऽपि निरन्तर स्मृतिः । ततो योगप्रवृत्तिः । एवं परित्यागज्ञानवैराग्ययोग-भक्तिभिर्विद्याङ्गभूताभिर्भगवत्स्वरूपप्राप्तिरिति ससाधनं फलम् । साधनसाधिकाऽपि भक्तिर्निरूप्यत इति न विरोधः । **सतामिति** बहुवचनं सत्त्वे प्रमाणम् । सतां सद्भिरेब सङ्गो भवति । द्वितीयः सन् तदैव युज्यते, यदि प्रथमः सन् भवति । तेषां प्रकृष्टः सङ्गः सजातीय एव भवति । एकमतनिविष्टानामेकस्वभावानां वा । प्रसङ्गपदेन चैतत्सूचयतितेषामन्योन्यं प्रकृष्टः सङ्गः, अन्यस्य प्रासङ्गिक इति । संसारिणामपि तेषां प्रसङ्गात् कथान्तरेषु वक्तव्यत्वेनोपस्थितादपि भगवत्कथा भवन्तीति च ज्ञापितम् । यद्यपि भगवत्कथाः सर्वत्र भवन्ति, तथापि न ता भगवत्पराक्रमप्रतिपादिकाः, तेषां मुखाद्भगवतः सामर्थ्यं लौकिकं निर्गतं भवति । सतामेव तु प्रसङ्गाद्भगवत्पराक्रमप्रतिपादिकाः, भवन्ति । तैरेव वीर्याणि ज्ञायन्ते । स्वाभाविककथानां निरन्तरं श्रवणात्तत्संस्काराभिनिविष्टं हृदयं, श्रोत्रं च जातं न भगवत्कथां गृह्णाति । न हि हिमालयस्थिताः प्राणिन आतपं ग्रहीतुं शक्नुवन्ति । ते च पुनर्देशान्तरं गताः, यथाऽऽतपप्रेप्सवो भवन्ति, तद्देशस्वभावापन्नाः तद्देशस्थद्रव्यैः; तथा भगवत्कथा अपि हृत्कर्णयोः पूर्वस्वभावोपमर्दनेन रसोत्पादिका भवन्तीत्यर्थः । प्रथमतः श्रुता हृदये रसमुत्पादयन्ति, पुनः पुनः श्रुताः कर्णयोः । यथा कामाभिनिविष्टस्य चक्षुः कामिन्यां रसाविष्टं सत् बलान्निवर्त्यमानमपि न निवर्तते, किन्तु दिदृक्षैव निरन्तरं भवति । तथा कथा एव बलादपि भावयति । शुश्रूषाऽपि निरन्तरमुत्पद्यत इत्यर्थः । अतस्तासां प्रीत्या श्रवणं भवति । आवृत्त्या प्रीतिरुत्पद्यते । तदा लोकान्निवृत्तं मनोऽपहतपापं सन्मार्गे निविशते । तदा आशु सर्वलोकनिवृत्तिरूपे आत्मनि, मोक्षाख्ये भगवति वा, तन्मार्गे वा, प्रथममास्तिक्यबुद्धिर्भवति । ततो रतिः स्नेहो भवति, सर्वथैतत्प्राप्तव्यमिति । ततो वक्ष्यमाणा भक्तिर्भवतीत्यर्थः । विषयास्त्यक्ता अपि वासनया हृदि स्थिता रागापगम एव गच्छन्ति । स च भगवति स्नेहेन संजातया सेवया, फलरूपं प्राप्तया, इतररसविस्मारिकया निवर्तते । तदा जातविरागो भवति । **ऐन्द्रियादिति** विरागे हेतुः । न ते विषया आत्मपर्यवसिताः । ऐन्द्रियत्वे प्रमाणमपि वदन् विषयाणां भेदमाह—**दृष्टश्रुतादिति । दृष्टा** राज्यादयः **श्रुताः**, स्वर्गादयः । तस्या भक्तेरनुवृत्त्यर्थं साधनमाह—**मद्रचनानुचिन्तयेति** । भगवत्कर्तृका या **रचना** कृतिः । रचनाशब्देनाऽलौकिकं निर्माणमुच्यते । तेनाऽलौकिकभगवच्चरित्रश्रवणेन भक्तिस्तिष्ठति । तदा चित्तस्य ग्रहणे यत्नो भवति । चित्तं हि चञ्चलस्वभावं न स्वतोऽवतिष्ठते, प्रयोजकं चोपेक्षायां न गृहीतं भवति । अतो **यत्तः** सावधानः सन्, चित्तस्य ग्रहणार्थं योगयुक्तो भवति, योगस्य चित्तवृत्तिनिरोधरूपत्वात् । योगेन चित्तनिरोधः कर्तव्य इति निश्चितार्थो भवतीत्यर्थः । तदा **ऋजुभिरेव योगमार्गैः** । हठक्लेशादिरहितैर्भगवद्ध्यानरूपैः, अचिन्तनदशायां प्राणायामादिरूपैर्वा । अतो भक्तौ सिद्धायामितरत्सुलभमिति भक्तिरेव पञ्चमी विद्या मोक्षेऽन्तरंतमा ॥२५॥२६॥

व्याख्यार्थ सज्जनों से सम्बन्ध रखने वाला जो उत्कृष्ट (उत्तम) सङ्ग उसी के कारण मेरे वीर्य पराक्रम को बताने वाली कथा होती हैं उन कथाओं का प्रीति पूर्वक सेवन करने से क्रमशः सर्वप्रथम श्रद्धा, श्रद्धा के अनन्तर रति, रति के बाद भक्ति होती है। निरन्तर वैराग्य से

मेरी स्मृति होती है तदनन्तर योग में प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार परित्याग, ज्ञान, वैराग्य, योग, भक्ति जो विद्या की अङ्गभूत हैं उनसे भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होती है यह ससाधन फल है । यहां शंका होती है कि पहले सज्जनों के सङ्ग से सुनी गई कथाओं से उत्पन्न भक्ति का फल भगवद् अवरोध है तो भक्ति भगवद् अवरोध का ही कारण होगी वैराग्य का कारण कैसे होगी ? इसका समाधान करते हैं कि साधन साधिका भक्ति का भी यहाँ निरूपण है अतः कोई विरोध नहीं है । अर्थात् भक्ति असहाय शूर है (बिना किसी की सहायता से कार्य करना) इस को बताने के लिये ऐसे कहा है इसलिये निम्न श्रेणी में उसका प्रवेश न होने से भक्ति शास्त्र का विरोध नहीं हैं । सतां यह बहु वचन सत्व में प्रमाण है । सज्जनों का सङ्ग सज्जनों से होता है जब पहला सज्जन होता है तभी दूसरे का सज्जन होना संगत होता है । उनका प्रकृष्ट सङ्ग सजातीय ही होता है अथवा जिनका एक ही मत हो एवं एक ही स्वभाव हो । उन्हीं का प्रकृष्ट संग होता है । प्रसंग पद से यह सूचित करते है कि उन्हों में एक का दुसरे के साथ प्रकृष्ट सङ्ग हो एवं अन्य से प्रासंगिक संग हो । सांसारिक लोगों का संग होने पर एवं अन्य कथाओं के कथन का प्रसंग उपस्थित होने पर भी उनके द्वारा भगवत् कथा ही होती है यह भी इससे जताया है । यद्यपि भगवत्कथाएं सब जगह होती हैं परन्तु वे भगवान् के पराक्रम का वर्णन करने वाली नहीं होती उनके मुख से भगवान् की लौकिक सामर्थ्य का वर्णन होता है । सज्जनों के प्रसङ्ग से तो भगवान् के पराक्रम का प्रतिपादन करने वाली कथाएँ होती है। सज्जनों के द्वारा ही भगवान के पराक्रम जाने जाते हैं । जो लोग स्वाभाविक कथाओं को निरन्तर सुनते हैं तो उन कथाओं का संस्कार ही हृदय में जम जाता है तथा कान भी वैसे ही हो जाते हैं इसलिये वे कान एवं वैसा हृदय भगवत्कथा को ग्रहण नहीं करता । जो प्राणी हिमालय में रहते हैं वे धूप को ग्रहण नहीं कर सकते । और जब वे दूसरे देश में चले जाते हैं तब वे धूप को चाहने वाले हो जाते हैं जिस देश में जैसा द्रव्य (पृथिवी-जल-तेज आदि) होता है उसके अनुसार ही वहां के निवासियों का स्वभाव हो जाता है । उसी तरह भगवत्कथा भी हृदय और कानों के पूर्वस्वभाव का उपमर्दन हो जाने पर रस को उत्पन्न करने वाली हो जाती है । पहले तो सुनने पर हृदय में रस को उत्पन्न करती हैं और बार बार सुनने पर कानों में रस उत्पन्न करती है । जैसे कामाभिविष्ट (कामी) के नेत्र कामिनी के रस में आविष्ट हो जाते हैं तो वे हठात् हठाये जाने पर भी नहीं हटते सदा उन (नेत्रों) को कामिनी के देखने की ही इच्छा होती रहती है । इसी तरह यह कथा भी रसोत्पादन करने वाली होने से भावित करती है । अर्थात् निरन्तर सुनने की इच्छा उत्पन्न होती है । इसीलिये उन कथाओं का निरन्तर प्रेम से श्रवण होता है । सुनने की आवृत्ति होने पर कथाओं में प्रीति उत्पन्न होती है । ऐसी प्रीति होने पर मन लोक से विरक्त हो कर निष्पाप हो जाता है जिससे मन का सन्मार्ग में आग्रह हो जाता है । तब शीघ्र ही सर्वलोक निवृत्ति रूप आत्मा में अथवा मोक्षनामक भगवान् में यद्वा भगवन्मार्ग में प्रथम आस्तिक्य बुद्धि होती है । तब रति अर्थात् स्नेह होता है अर्थात् सर्वथा मेरे लिये यह ही प्राप्त करने योग्य है तब आगे कही जाने वाली भक्ति होती है ।

विषयों का त्याग करने पर भी वे वासना से हृदय में स्थित रहते हैं इसलिये विषयों का राग जब हृदय से हट जाता है तब विषय हृदय से हटते है । भगवद् विषयक स्नेह से होने वाली सेवा से या फलरूपता को प्राप्त हुई सेवा से यद्वा जिस सेवा में भगवान् के अतिरिक्त किसी का स्मरण ही न हो ऐसी सेवा से विषयों में होने वाला अनुराग निवृत हो जाता है तभी वह जात विराग होता है । विषयों का सम्बन्ध इन्द्रियों से है आत्मा तक उनकी पहुँच नहीं है इसीलिये एन्द्रियात् यह हेतु है ।

विषयों का सम्बन्ध इन्द्रियों से है इसमें प्रमाण बताते हुए विषयों का भेद भी दृष्टात् श्रुतात् इनसे बताते हैं। लोक में प्रत्यक्ष दीखने वाले राज्य आदि दृष्ट हैं जो प्रत्यक्ष नहीं है केवल सुने जाते हैं ऐसे स्वर्गादि श्रुत हैं। भगवद्भक्ति की अनुवृत्ति के लिये साधन बताया है मदर्चनानुचिन्तया। भगवान् के द्वारा की गई कृति को रचना कहते हैं यहां रचना शब्द से अलौकिक निर्माण कहा गया है। उस अलौकिक भगवच्चरित्र के सुनने से भक्ति स्थिर होती है तब चित्त (मन) को काबू में करने का यत्न होता है। चित्त चञ्चल स्वभाव वाला है वह स्वतः कभी स्थिर नहीं रहता। चित्त सब का प्रेरक है उपेक्षा करने पर वह कभी काबू में नहीं आता अतः सावधान होकर चित्त को काबू में करने के लिये योग युक्त होता है। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। अर्थात् योग से चित्त की वृत्ति का निरोध करना चाहिये, यही निश्चित अर्थ इसका है हठ योग में अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं इसलिये उस योगमार्ग को यहां न लेकर ऋजुभिर्योगमार्गैः कहा है अर्थात् क्लेश रहित भगवद्ध्यान रूप सरल योग मार्गों से अथवा अचिन्तनदशा में प्राणायामादिरूप योग मार्गों से चित्त के ग्रहण करने का यत्न करता है। भक्ति जब सिद्ध हो जाती है तो अन्य सब सुलभ हो जाते हैं इसीलिये मोक्ष में भक्ति ही पांचवीं विद्या है ॥२५-२६॥

आभास—एवं ससाधनं शास्त्रार्थमुक्त्वा साधनपरम्परां निरूपयन् फलकीर्तनेनोपसंहरति—

आभासार्थ—इस प्रकार साधन के सहित शास्त्र का अर्थ कह कर साधन परम्परा का निरूपण करते हुए फल कथन से उसका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—असेवयाऽयं प्रकृतेर्गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानमिहाऽवरुन्धे ॥२७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार प्रकृति के गुणों का त्याग करने से वैराग्य से युक्त ज्ञान से, योग से और मेरे लिये की गई दृढ भक्ति से पूर्वोक्त अधिकारी अन्तरात्म रूप मुझको इसी जन्म में प्राप्त कर लेता है ॥२७॥

सुबोधिनी—असेवयेति। **अयं** पूर्वोक्तोऽधिकारी। **मां प्रत्यगात्मानमिहैव** देहे जन्मनि, ब्रह्माण्डभेदनादिकमकृत्वा, **अवरुन्धे**; सद्यो मुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः। तस्य प्रथमं प्रकृतेर्गुणानामसेवा, प्राकृतविषयाणां बन्धकानामसकृदनुभवाभावः। ततो विषयाभिनिवेशाभावे अन्तर्मुखं चित्तमात्मानं गृह्णाति। तदा ज्ञानं भवति, आत्मकामश्च। तदा विषयगतो रागो निवर्तते, तेन च पुनर्ज्ञानमुल्लसितं भवति। त्रयमेतदेकम्। योगः स्वतन्त्रश्चाञ्चल्यनिवृत्तिहेतुः। मय्यर्पिता च भक्तिः विषयवशीकर्त्री। विषयेभ्य आत्मानं विमुच्य, भक्त्या च भगवन्तं वशीकृत्य, लक्ष्यमिव स्थापयित्वा, तत्र सर्वमेव प्रकारं ज्ञात्वा, जीवं च सङ्घाताल्लक्ष्यप्रापणयोग्यं च ज्ञात्वा, योगारूढं विधाय, लक्ष्ये योजनं युक्तमेव। अतो विषयभेदात् पञ्चानामुपयोगः। मामितिप्राप्यरूपोऽहमेव। तव तु सिद्ध इति शास्त्रार्थज्ञापनमात्रं क्रियत इति बोधितम्। बहिः प्रवेशशङ्कां वारयितुमाह—**प्रत्यगात्मानमिति**। प्रत्यगन्तर्मुखतया परिस्फुरन्। नाऽपि स्वात्मनी भिन्नम् ।२७।

व्याख्यार्थ—यह पूर्वोक्त अधिकारी मुझ अन्तरात्मा को इसी देह (जन्म) में ब्रह्माण्ड भेदन आदि न करके शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। पूर्वोक्त अधिकारी पहले सर्वतः प्रथम बन्धन करने वाले प्राकृत विषयों का अनुभव नहीं करता है तब विषयों के अभिनिवेश (आग्रह) के अभाव से अन्तर्मुखचित्त आत्मा को ग्रहण कर लेता है तब ज्ञान हो जाता है और आत्मकाम हो जाता है। तब विषयगत राग निवृत होता है उससे फिर ज्ञान उल्लसित होता है ये तीनों ही एक है। योग स्वतन्त्र है और चित्त की चञ्चलता को दूर करने में कारण है। मेरी दृढ भक्ति विषयों को वश में करती है। विषयों से आत्मा को छुड़ाती है अर्थात् अलग करती है। भक्ति से भगवान् को वश में करके लक्ष्य की तरह स्थापित कर उसमें सब प्रकार को जानकर जीव को संघात से लक्ष्य तथा प्राप्त करने योग्य जानकार उसे योगारूढ बनाकर लक्ष्य में लगाना उचित ही है। इसलिये विषय भेद से पाँचों का उपयोग है। माता का अभिप्राय है प्राप्यरूप मैं ही हूँ। तुम्हें तो मैं प्राप्त ही हूं इसलिये तुम्हारे लिये तो केवल शास्त्रार्थ ही ज्ञापन किया है यह भी माता को सम्बोधित किया। बाहर प्रवेश की आशंका को दूर करने के लिये प्रत्यगात्मानम् कहा अर्थात् अन्तर्मुखता से स्फुरित तथा आत्मा से अभिन्न ॥२७॥

आभास—पूर्वमत्र भक्तिर्भजनमात्रमुक्तम्, न विशेषत इति विशेषतो भक्तिं पृच्छति—

आभासार्थ—यहाँ पहले भजन मात्र को ही भक्ति कहा है। विशेषरूप से उसका उसको नहीं कहा इसलिये विशेषरूप से भक्ति को पूछती है।

श्लोक—**देवहूतिरुवाच—काचित्त्वय्युचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा।**
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसैवाऽश्नवा अहम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—देवहूति जी ने कहा आपकी समुचित का स्वरूप क्या है? और मेरे लिये कैसी भक्ति उचित है जिस भक्ति से मैं सहज में ही निर्वाण पद को प्राप्त कर सकूं ॥२८॥

सुबोधिनी—काचिदिति। श्रद्धा, आराध्यत्वेन ज्ञानम्, सेवा, माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहश्च। तेषु त्वयि युक्तः को भक्तिशब्दार्थ इति प्रश्नः। यद्यपि क्रमाच्चत्वारोऽपि युक्ताः, तथापि यः साक्षात्त्वां विषयीकरोति सा वक्तव्येति सप्तम्या सूचितम्। भक्तियोगोऽपि बहुविध इति जीवाधिकारमपुरस्कृत्य त्वद्योग्या केति प्रश्नः। **उचितेत्य**विहिता भक्तिर्व्यावर्तिता। **कीदृशी** सगुणा, अगुणा वा? तत्रापि मम योग्या कीदृशीत्याह—**मम गोचरेति**। गोचरशब्दो विशेष्यनिघ्नोऽपि भवति। त्वयैव सर्वे मार्गाः प्रवर्तिताः। भवांश्च सर्वरूपः, अतः सर्व एव भक्तिमार्गा यद्यपि त्वयि युज्यन्ते, तथापि यया भक्त्या निर्वाणरूपं ते पद**मञ्जसा**ऽनायासेनैव **अहमश्नवं**। **अश्नवानीति** वा पाठः। दैवगत्या सर्वेऽपि मार्गाः कदाचित्सुगमा भवन्ति। तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**एवेति। निर्वाणाख्यं पदं** व्यापिवैकुण्ठम्, तत्र या भक्तिः सर्वाधिकारशून्यमपि पुरुषं नयति। गतश्च तल्लोके आनन्दाऽनुभवसमर्थो भवति, तत्रत्यैस्तादृशी वक्तव्येत्यर्थः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—आराध्यरूप से होने वाले ज्ञान को श्रद्धा कहते हैं और माहात्म्यज्ञान पूर्वक स्नेह को सेवा कहते हैं। इन्हीं में से आप में किस प्रकार के योग को भक्ति शब्द से कहा जाता है यह प्रश्न है। यद्यपि क्रम से श्रद्धा, रति, भक्ति वैराग्य ये चारों ही युक्त हैं तथापि जो साक्षात् आपको प्राप्त कराती है उसे आप कहें यह त्वयि इसकी सप्तमी से सूचित हुआ। भक्ति योग भी अनेक प्रकार का है इसलिये जीव के अधिकार सामने न रखकर तुम्हारे योग्य भक्ति कौनसी है यह प्रश्न है। उचिता इस पद से अविक्षित भक्ति का निषेध किया है। कीदृशी का अर्थ है कि वह भक्ति सगुण है अथवा निर्गुण है उनमें भी मेरे योग्य भक्ति कैसी है इसे, ममगोचरा से बताया है। गोचर शब्द विशेष्यनिध्न भी है अर्थात् गोचर शब्द यहाँ भक्ति का विशेषण होने से विशेष्य के अनुसार इसमें स्त्रीलिंग हो गया है। आप ही ने सब मार्ग चलाये हैं और आप सर्वरूप हैं इसलिये सब भक्ति मार्ग यद्यपि आप में युक्त है तथापि जिस भक्ति से निर्वाण रूप आपके चरणारविन्द को सहज ही प्राप्त कर सकूँ। अश्नवैं की जगह अश्नवान् ऐसा भी पाठ है। दैव गति से सभी मार्ग कभी सुगम हो जाते हैं इस आशंका को दूर करने के लिये एवं पद दिया है अर्थात् जो कदाचित् सुगम नहीं किन्तु सर्वदा ही सुगम हो। निर्वाण नाम का पद व्यापि वैकुण्ठ है सब प्रकार के अधिकारों से हीन पुरुष को भी जो भक्ति उस व्यापि वैकुण्ठ में ले जाय और वहाँ गया हुआ पुरुष उस लोक के वहाँ रहने वालों के साथ आनन्द का अनुभव करने में समर्थ हो ऐसी भक्ति आप कहें ॥२८॥

आभास—योगं च पृच्छति—

आभासार्थ—योग को पूछती हैं—

श्लोक—**यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः।**
कीदृशः कति चाऽङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—निर्वाणस्वरूप प्रभो जिसके द्वारा तत्व ज्ञान होता है और लक्ष्य को वेधने वाले बाण के समान भगवान् की प्राप्ति करने वाला है वह आपका कहा हुआ योग कैसा है और उसके कितने अङ्ग हैं ॥२९॥

सुबोधिनी–यो योग इति। भगवल्लक्षणलक्ष्ये आत्मनो योजनार्थं यो बाणरूपो योगः सोऽपि वक्तव्यः। भगवान् सर्वत्र नयेदित्यत्र भक्तिर्हेतुः। स्वतो गमने सामर्थ्यहेतुर्योगः। **त्वयोदित** इति **योगेन मामवरुन्ध'** इत्यत्र। तस्य स्वरूपमङ्गानि च वक्तव्यानि, शास्त्रे नानाविधानां निरूपणात्। स्वतन्त्रतया योगस्य कारणत्वाभावात्, भक्तेश्च पृष्टत्वात्, किं योगेनेत्याशङ्कयाऽऽह–**यतस्तत्त्वावबोधनमिति**। ज्ञानसाधनं योगः। अनेन चत्वारोऽर्थाः पृष्टाः–भक्तिः; योगः, स्वरूपतस्तदङ्गानि; फलसाधकत्वेन तदङ्गं साङ्ख्यम्: ज्ञानं च। योगो योगाङ्गानि चैकम्, अन्यानि त्रीणि ॥२९॥

व्याख्यार्थ—भगवद् लक्षण रूप लक्ष्य में आत्मा को योजित करने के लिये जो योग बाणरूप है उसे भी आप कहें। भगवान् सब जगह ले जाय इसमें भक्ति कारण है और अपने आप जाने की

सामर्थ हो इसमें कारण योग है । त्वयोदित से सत्ताईसवें श्लोक में 'योग' के द्वारा सद्यो मुक्ति को प्राप्त करता है । यह कहा था उस योग का स्वरूप तथा उसके अङ्ग आप कहें क्योंकि शास्त्र में अनेक प्रकार के योगों का निरूपण है इसलिये आपने जिस योग का उपदेश दिया है उसी के स्वरूप एवं अङ्गों का निरूपण करें । यहां यह शंका होती है कि स्वतन्त्र रूप से योग निर्वाण पद को प्राप्त नहीं करता और प्रश्न भी भक्ति का है तो यहाँ योग की चर्चा क्यों की इसका उत्तर देते हैं कि यतस्तत्त्वावबोधनम् अर्थात् योग ज्ञान का साधन है । यहां चार अर्थ पूछे गये हैं (१) भक्ति (२) योग, योग का स्वरूप और उनके अङ्ग (३) फल साधक रूप से उसका अङ्ग सांख्य और (४) ज्ञान । योगाङ्ग में मिलकर एक तथा अन्य तीन हैं ।।२९।।

आभास—एतत्सर्वं वक्तव्यमिति निरूप्योपसंहरत्यावश्यकत्वाय—

आभासार्थ—यह सब आपको कहना है ऐसा निरूपण कर उपसंहार की आवश्यकता के लिये कहती है—

श्लोक—**तदेतन्मे विजानीहि यथाऽहं मन्दधीर्हरेः ।**
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ।।३०।।

श्लोकार्थ—हे हरे ! यह सब आप मुझे इस प्रकार समझाईये जिससे कि आप की कृपा से मैं मन्दमति स्त्री भी दुर्बोध विषय को सहज ही जान सकूं ।।३०।।

सुबोधिनी-तदेतन्म इति । शास्त्रप्रसिद्धमनुभवारूढपर्यन्तं वक्तव्यम् । **विजानीहि** ज्ञापय । ज्ञापने प्रयत्नाधिक्यार्थं स्वस्य निकृष्टाधिकारमाह–**मन्दधीरहम्** । **हरेः सुखं स्वरूपं** सर्वैरेव दुर्बोधम्, **भवदनुग्रहाद्बुद्ध्येय**, हरेः संबन्धि वा पूर्वोक्तम्, सुखं यथा भवति तथा बुद्ध्येय नापि वचनमात्रेण बुद्ध्यते, किन्त्वनुग्रहादेवेति तथोक्तम् ।।३०।।

व्याख्यार्थ—शास्त्र प्रसिद्ध एवं अनुभव में आ सके ऐसे प्रकार से कहिये 'विजानीहि' का अर्थ है समझाइये । समझाने में आपको अधिक प्रयत्न करना होगा इसके लिये अपना निकृष्ट अधिकार बताती है 'अहं मन्दधीः ! अन्य कारण यह भी है कि भगवान् का स्वरूप सभी के लिये दुर्बोध है 'भगवदनुग्रहाद् बुध्येय' यह इसलिये कहा कि भगवत्सम्बन्धी अथवा पूर्वोक्त ज्ञान सरलता से जिस प्रकार मैं जान सकूं, कहने मात्र से उसका ज्ञान नहीं होगा किन्तु आपकी कृपा से ही वह ज्ञान प्राप्त हो सकेगा इसलिये उक्त पद दिया है ।।३०।।

आभास—यद्यपि मात्रा गूढतया निर्दिष्टं चतुष्टयम्, तथापि ज्ञात्वा तन्निरूपयतीत्याह—

आभासार्थ—यद्यपि माता ने गूढ़ रूप से चारों का निर्देश किया था परन्तु उन्हें जानकर उनका निरूपण करते हैं—

मैत्रेय उवाच ।

श्लोक—**विदित्वाऽर्थं कपिलो मातुरित्थं जातस्नेहो यत्र तन्वाऽभिजातः ।**
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति साङ्ख्यं प्रावोचद्वै भक्तिवितानयोगम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी ने कहा-हे विदुरजी ! जिसके शरीर से उन्होंने जन्म लिया था उस अपनी माता का ऐसा अभिप्राय जानकर कपिलजी के हृदय में स्नेह उत्पन्न हो गया और उन्होंने तत्वों का निरूपण करने वाले शास्त्र का जिसे सांख्य कहते हैं उपदेश किया एवं भक्ति विस्तार तथा योग का भी वर्णन किया ।।३१।।

कारिका—**योगो भक्तिः क्रियारूपा ज्ञानं साङ्ख्यं च वेदनम् ।**
तेषां यत्रोपयोगः स्यात्तदग्रे वक्ष्यते स्फुटम् ।।१।।

कारिकार्थ—योग क्रियारूप (सेवारूपा) भक्ति, ज्ञान और साङ्ख्य ज्ञान इन्हों का जहां उपयोग होता है वह सब आगे स्पष्ट कहा जायेगा ।।१।।

आभास—चतुर्णां यत्प्रयोजनं सोऽर्थः ।

आभासार्थ इन चारों का जो प्रयोजन है वह बताते हैं—

कारिका -**विवेचनं तु सङ्घातात् सांख्यकार्यं प्रचक्षते ।**
विविक्तस्य तु विज्ञानं ज्ञानकार्यं निरूपितम् ।
भक्त्या प्रसन्ने तु हरौ तं योगेनैव योजयेत् ।।२½।।

कारिकार्थ—संघात से विवेचन करना यह सांख्य का कार्य है, संघात से अलग जो आत्मा है उसको जानना यह ज्ञान का कार्य है । भक्ति से जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब उस आत्मा को योग के द्वारा योजित करे इस तरह सांख्य, ज्ञान, भक्ति और योग इन चारों का प्रयोजन बताया ।।२½।।

सुबोधिनी—विदित्वेति । एतज्ज्ञाने सामर्थ्यम्- **कपिल इति । मातुरिति** कथनावश्यकत्वम् । **जातस्नेह** इति गुप्तकथने हेतुः । **यत्र** मातरि, **तन्वा** कपिलदेहेनाऽ**भिजातः** । अधिकस्नेहे हेतुः । यद्वक्ष्यति तत्परिगणयति । **तत्त्वाम्नायं** तत्त्वाना**माम्नाय** आवृत्तिर्यत्र । उद्देशलक्षणभेदेन, कारणत्वेन, कार्ये चानुप्रवेशेन, बहुधा आम्नातम्, तस्य लोके साङ्ख्यमिति प्रसिद्धिः । **वदन्तीति** प्रमाणम् । भक्तिवितानो योगश्च । **प्रावोचदिति** ज्ञानं प्रार्थः ।।३१।।

व्याख्यार्थ— आप कपिल हैं इसलिये इन सब को जानने की आपकी सामर्थ्य है । मातुः पद इसलिये है कि उक्त प्रश्नों का उत्तर देना कपिलजी के लिये आवश्यक है अर्थात् बाकी प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक होता है । जातस्नेहः का तात्पर्य है कि जब अधिक स्नेह होता है तो गुप्त बातें भी कही जाती है । जिस माता से कपिल देह से आपने जन्म लिया । यही अधिक स्नेह का कारण है । जो कहेंगे उन्हें गिनाते है 'तत्वाम्नायं' तत्वों की जिसमें आवृति है उद्देश्य लक्षण भेद

से, कारण रूप से, कार्य में अनुप्रवेश से अनेक प्रकार से आवृत्ति है उसकी लोक में साङ्ख्य नाम से प्रसिद्धि है उसमें प्रमाण बताने के लिये वदन्ति पद दिया। भक्ति बितान और योग तथा 'प्रावोचत्' में आये हुए 'प्र' शब्द से ज्ञान इस तरह इन चारों को कहा ।।३१।।

आभास—तत्र भक्तिं लक्षयति–**देवानामिति** द्वयेन—

आभासार्थ—देवानां इत्यादि दो श्लोकों से भक्ति का लक्षण बताते हैं—

श्री भगवानुवाच—श्लोक—देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।।३२।।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ।।३३।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—माता जिसका चित्त भगवान् में ही लग गया है ऐसे मनुष्य की वेद विहित कर्मों में लगी हुई तथा विषयों का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों की जो सत्वमूर्त्ति श्री हरि के प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है वही भगवान् की अहैतुकी भक्ति है। वह मुक्ति से भी बढ़कर है क्योंकि जठराग्नि (पेट की अग्नि) जिस प्रकार खाये हुए अन्न को पचाती है उसी प्रकार यह भक्ति कर्मजनित लिङ्ग शरीर को तत्काल भस्म कर देती है ।।३२।।३३।।

सुबोधिनी—तस्य च परिकरः सर्वोऽप्यग्रे वक्ष्यत एकादशभिः। एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः, सा भक्तिरिति। इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः '**या ह प्राजात्पयाः**' इत्यत्र निरूपितानि। एकानि देवरूपाणि, एकान्यसुररूपाणि। यान्यलौकिकं वेदोक्तमेव कर्म ज्ञानं वा जनयन्ति, तानि देवरूपाणि; यानि लौकिकं कर्मादि जनयन्ति, तान्यासुराणि। तेषामन्योन्यं स्पर्द्धा। तत्र बलिष्ठान्यासुराणि तैर्देवरूपाणि न स्वकार्ये प्रवर्तितुं शन्कवन्ति। तानि वेदासन्योपासनादिना आसङ्गा (?) दिदोषान्निवृत्तानि स्वस्य देवभावं प्राप्नुवन्ति, तदा कार्यतोऽपि देवरूपाणि भवन्ति। तत्र ऋषीणां बहुजन्माभ्यासादिन्द्रादिदेवानां च देवरूपाण्येवेन्द्रियाणि भवन्ति; ये वा दैव्यां संपदि जाताः, तेषामपि देवरूपाणि भवन्ति, आसुराण्यपि भवन्ति। एकस्मिन्नेव गोलक उभयमपि तिष्ठति यानि निषिद्धाद्विचिकित्सन्ते, यथाऽमेध्यं दृष्ट्वा तथा कामिन्यामपि दृष्टायाम्। यानि पुनर्निषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते, तानि बलाद्विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्तीत्यासुराणि। तत्र भक्तिर्देवैरेव भवति, नासुरैरिति देवपदेन करणानि निर्मितानि। तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणमाह–**गुणलिङ्गानामिति**। गुणा रूपादयः, तैर्लिङ्ग्यन्ते, गुणा लिङ्गानि येषामिति। देवरूपाणामिन्द्रियाणामेतल्लक्षणम्, तानि लयविक्षेपशून्यानि। ततो विक्षेपाभावात् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टमुपलभ्यन्ते, नापि लयाभावात् मूढानि पदार्थमपि न गृह्णन्तीत्यपि। किन्तु रूपमात्रं चक्षुर्गृह्णाति पश्यतीति कृत्वा चक्षुरस्तीति ज्ञायते। एवमन्यानि तादृशानि कथं

भवन्तीत्याकाङ्क्षायामाह– **आनुश्रविककर्मणामिति** । गुरोरुच्चारणानन्तरं श्रूयत इत्यनुश्रवो वेदः, तेन प्रोक्तानि कर्माणि आनुश्रविकाणि; तान्येव कर्माणि येषाम् । लोके दर्शनादिमात्रम्, कार्याणि तु वैदिकान्येव तेषाम् । दैवात् येषामेतादृशानीन्द्रियाणि भवन्ति, तेषां भक्तिर्भवतीत्युक्तम् । किञ्च, तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिबहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनयाऽभ्यासात् भवन्ति । तेषामपि यदि फलावस्था भवति, तदा सत्त्व एव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति । **सत्त्व इति** साङ्ख्यमतनुसारेणोक्तम् । वस्तुतस्तु गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिरिति भगवच्छास्त्रम् । **मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्'** इत्यादिवाक्यैः सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा । **एवकारो** राजसतामसव्युदासार्थः । **एकमनस इति** । एकमेव मनो यस्य । मनोऽपि द्विविधम्, दैवासुरविभेदेन । तत्रासुरं सङ्कल्पविकल्पात्मकं नानाभावापन्नं गुणैश्च क्षोभमेति । दैवं तु एकस्वभावापन्नं मननात्मकमेव । इन्द्रियाणि तूभयविधान्येव भवन्तु नाम । कार्यमेवासुराणां बाध्यते । मनसा तु द्वितीयेन न भाव्यमेव, तथा सतीन्द्रियाणां पूर्वोक्ता वृत्तिर्न स्यात् । अत एकमेकस्वभावापन्नं मनो यस्य तस्यैव भक्तिः । अन्येषां तु यथाकथञ्चिन्क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिरक्षयत्वात् बहुभिर्जन्मभिः पुष्टिं गता, अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपां वृत्तिं जनयिष्यतीति, न काऽप्यनुपपत्तिः । **वृत्तिस्त**न्निष्टता, नतु ग्रहणमात्रम् । साऽपि वृत्तिरौत्पत्तिकी; यथा प्रल्हादस्य, अन्येषां वा भक्तानाम् । एतावद्दूरे नाऽस्मिन् जन्मनि साधनसाध्यता, किन्तु पूर्वजन्मवशादेवैवंभूतो भवति । अग्रे विशेषं वक्तुं शब्दमाह । जन्मान्तरेण व्यवधानात्पूर्वजन्मवृत्तिर्यच्छब्देन परामृश्यते । फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति, स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा । भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि । याऽनिमित्ता सा भक्तिर्भवतीत्युत्तरेण संबन्धः । किञ्च, सा चेद्भागवती भवति, साक्षाद्भगवन्तं विषयीकरोति, भगवद्भावं वा षड्गुणरूपतामापद्यते । पूर्वं सत्त्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः, सैव जन्मान्तरे भागवती भवतीति वा । पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिर्निरूपिता, तस्मिन् देहे ज्ञाने जाते मुक्तिर्भवतीति तस्य च ब्रह्मविदो जीवतो, म्रियमाणस्य, गच्छतः, सङ्गतस्य च व्यापारा निरूपिताः । सद्योमुक्तावपि सायुज्यं निरूपितम् । तद्वस्तुतो भक्तानामेव भवतीति सिद्धान्तः, प्रकारान्तरेण प्राप्याऽभिव्यक्त्यभावात् । तथापि **मुक्तेः** सायुज्यादपि इयं भक्तिर्गरिष्ठेत्याह–**सिद्धेर्गरीयसीति** । सिद्धिः पूर्वोक्ता । गरीयस्त्वं निरूपयति–**जरयतीति** । या **कोशं** लिङ्गशरीरं जीर्णं करोति । बीजात्मकमित्यन्ये । यद्यपि सिद्धावपि कोशजीर्णता वर्तते, तथापि आशु जरयति । अनायासार्थं दृष्टान्तः–**निगीर्णमनलो यथेति** । न हि भुक्तकवलस्य परिपाकार्थमौदर्यादग्नेरन्यत्साधनं विधीयते, औषधादिकमप्यग्निमेव बोधयति । एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः ।।३२।।३३।।

व्याख्यार्थ—उस सांख्य का सारा परिकर ग्यारह श्लोकों से आगे कहा जायेगा । एकाग्रमन पुरुष की सब इन्द्रियों की सत्वमूर्त्ति भगवान् में जो स्वाभाविकवृत्ति है वह भक्ति कही जाती है । ऐसे स्वभाव से ही इन्द्रियां दो प्रकार की है एक देवरूप और एक आसुर रूप है 'या ह प्राजापत्याः' मंत्र के अनुसार यहां निरूपति है । जो इन्द्रियां अलौकिक वेदोक्त ही कर्म एवं ज्ञान को उत्पन्न करती हैं वे देवरूप इन्द्रियां हैं और जो लौकिक कर्मादि को उत्पन्न करती हैं और वे आसुरी इन्द्रियां है । इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों में आपस में स्पर्धा (होड) रहती है । जब आसुरी इन्द्रियां बलवान् होती है तब देवरूप इन्द्रियां अपने कार्य में प्रवृत नहीं हो सकती । वे ही

इन्द्रियां जब आसन्य (प्राण) की उपासना आदि से आसङ्गादि दोष से निवृत्त हो जाती है तब वे अपने देवभाव को प्राप्त हो जाती हैं तब कार्य से भी वे देवरूप होतो हैं। अनेक जन्मों के अभ्यास से ऋषियों की और इन्द्रादि देवताओं की इन्द्रियां देवरूप ही होती हैं। अथवा जो दैवी संपत्ति में उत्पन्न हुए हैं उनकी इन्द्रियां देवरूप भी होती हैं और आसुररूप भी होती हैं। एक ही गोलक में दोनों ही रहते है। जो इन्द्रियां निषिद्ध से ग्लानि करती हैं अर्थात् जिस तरह अपवित्र वस्तु को देखकर ग्लानि करती हैं उसी तरह कामिनी को देखकर भी ग्लानि करती है और जो इन्द्रियां निषिद्ध में अथवा लौकिक में अनुराग करती हैं उन्हें वे हठात् (जबरदस्ती) विहित कर्म में प्रवृत्त होती हुई भी ठीक तरह से पुष्ट नहीं होती हैं इसलिये वे इन्द्रियां आसुर हो जातो हैं। उनमें भी भक्ति देव इन्द्रियों से होती है आसुर इन्द्रियों से नहीं होती इसलिये देव पद से निर्मित इन्द्रियां ली गई हैं। गुणलिङ्गानां इस पद से उनको समझाने के लिये उनका लक्षण कहते हैं गुण जो रूपादि हैं वे जिन के द्वारा जाने जाते हैं गुण हैं चिह्न जिनों का। देवरूप इन्द्रियों का यह लक्षण है कि वे लय विक्षेप से रहित होती हैं अतः विक्षेप के अभाव से उनकी कार्यों में प्रवृति नहीं होने से उनकी स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती है। लय का अभाव होने से मूढ़ इन्द्रियां पदार्थों को भी ग्रहण नहीं करती हैं किन्तु चक्षु रूपमात्र का ग्रहण करती है अर्थात् देखती है इसलिये आंख है ऐसा जाना जाता है। इसी तरह अन्य वैसी इन्द्रियां कैसे होंगी। इस आकांक्षा में कहते है कि आनुश्रविक कर्मणाम् गुरु के उच्चारण के अनन्तर जो सुना जाता है उसे अनुश्रव कहते हैं अर्थात् अनुश्रव हुआ वेद इस वेद के द्वारा कहे गये कर्म आनुश्रविक हैं और आनुश्रविक कर्म, जिनके हैं उन्हें आनुश्रविक कर्म कहा जाता है आशय यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियां लोक में केवल दर्शनादि मात्र ही कर्म करती है कार्य तो उनके वेदिक ही होते हैं भाग्य से वैसी इन्द्रियां जिन्हों के होती है उन्हों को ही भक्ति होती है। और यदि वे ही इन्द्रियां कर्म योग ज्ञानादि अनेक रूप वाले वेदिक कर्म में अपनी पूर्व वासना के अभ्यास से प्रवृत होती है उनकी भी यदि फलावस्था होती है तो शुद्ध तत्वरूप भगवत्-स्वरूप में ही स्वभाव से प्रवृत होती हैं यह सत्वे पद मे बताया है। यह सांख्य मत के अनुसार कहा है। वास्तव में तो इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति गुणातीत भगवान् में होती है यह भगवच्छास्त्र में बताया है 'मन्निष्ठ निर्गुण स्मृतम्' 'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्' इत्यादि वाक्यों से भगवान् की सारी ही सामग्री निर्गुण है। सत्व एव यहां एव का तात्पर्य राजस एवं तामस को हटाने के अभिप्राय से है। एकमनसः का अर्थ है एक ही है मन जिसका। मन भी दैव आसुर भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें आसुर मन सङ्कल्पविकल्पात्मक नाना प्रकार के भावों से युक्त होता है और गुणों से वह क्षोभ को प्राप्त होता है। दैव मन एकस्वभाव वाला और मनन करने वाला ही होता है। इन्द्रियां भले ही दैव अथवा आसुर हों परन्तु उनमें आसुर कार्य होना अच्छा नहीं। परन्तु मन तो दैव के सिवाय दूसरा नहीं होना चाहिये वैसा होने से इन्द्रियों की पूर्वोक्त प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये जिसका मन एकस्वभावापन्न होगा उसी की भक्ति होगी। दूसरों में तो यथा कथांचित् की गई भगवान् में खण्डशः वृत्ति जिसका कि क्षय नहीं होता है इस कारण अनेक जन्मों में जब वह पुष्ट हो जाती है तब अन्तिम जन्म में भक्ति रूप वृत्ति को उत्पन्न करती है इसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। तन्निष्ठता को वृत्ति कहते हैं। केवल ग्रहण मात्र को वृत्ति नहीं कहते और वह वृत्ति भी औत्पत्तिक (सहज) होनी चाहिये जैसे प्रह्लाद में अथवा अन्य भक्तों में थी। दूर के जन्मों की वृत्ति (तन्निष्ठता) से इस जन्म में साधन साध्यता नहीं होती किन्तु पूर्व जन्म की वृत्ति के द्वारा ही ऐसा होता है। आगे विशेषता बताने के लिये 'यत्' शब्द दिया है। अर्थात्

स्वाभाविकीतु या यहाँ का 'यत्' शब्द इस बात को बता रहा है कि जन्मान्तर का व्यवधान होने से पूर्वजन्म की वृत्ति ही यहाँ ली गई है फलरूप जन्म में वह अनिमित्त होती है, स्वतन्त्र अथवा भगवन्निमित्तक होती है। भगवान् से प्राप्त होने वाले फल उसमें निमित्त होते हैं। इसलिये जो अनिमित्त (फलाकांक्षा से रहित) हो वह ही भक्ति होती है ऐसा आगे इस का सम्बन्ध है। और एक यह भी है कि वह भक्ति भागवती हो अर्थात् साक्षात् भगवान् ही उस भक्ति के विषय हों अथवा भगवद्भाव षड् गुणरूपता को प्राप्त हों अथवा पहले सत्वरूप देव जो विष्णु हैं उनमें वृत्ति हो वही वृत्ति जन्मान्तर में भगवत्सम्बन्धी हो जाय। पञ्चाग्निविद्या में ज्ञानोपयोगिक देह की सिद्धि का निरूपण किया गया है उस देह में जन्म ज्ञान हो जाता है तो मुक्ति हो जाती है उस मुक्त ब्रह्मज्ञानी का जीवित का, मृत का, चलने का, मिलने का इत्यादि का व्यापार वर्णित है। सद्योमुक्ति में भी सायुज्य का निरूपण किया गया है। वास्तव में यह मुक्ति भक्तों की ही होती है ऐसा सिद्धान्त है प्रकारान्तर से मुक्ति प्राप्त होती हो ऐसा कहीं देखा नहीं गया तथापि सायुज्य मुक्ति से भी यह भक्ति अतिश्रेष्ठ है इसी के लिये 'सिद्धेर्गरीयसी' ऐसा कहा है। सिद्धि का तो पहले निरूपण कर दिया अब गरीयरूप अर्थात् श्रेष्ठता का निरूपण करते हैं यह भक्ति कोश (लिङ्ग शरीर) को जीर्ण कर देती है किसी के मन में कोश का अर्थ बीजात्मक शरीर है उसको भक्ति जीर्ण कर देती है। यद्यपि सिद्धि में भी कोश की जीर्णता है परन्तु शीघ्रता से कोश की जीर्णताभक्ति से ही होती है। बिना ही किसी प्रयत्न के भक्ति से कोश शीघ्र जीर्ण हो जाता है इसमें दृष्टान्त देते हैं 'निगीर्ण मनलो' जैसे खाये हुए ग्रास को जीर्ण करने के लिये औदर्य (पेट की) अग्नि के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं किया जाता है अन्न को जीर्ण करने के लिये औषधि आदि का प्रयोग करते है वह औषध भी अग्नि को ही प्रज्वलित करती है उक्त सबका अभिप्राय यह है कि इस भक्ति के द्वारा मेरा पद प्राप्त होता है ।।३२।।३३।।

आभास—तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिवाऽग्रिमकृत्यमाह प्रकारद्वयेन। तत्र प्रथममाह–त्रिभिर्नैकात्मतामित्यादिभिः।

आभासार्थ—ऊपर बताये गये भक्तों का ज्ञानियों की तरह अग्रिम कृत्य ऐहिलौकिक भोग और पारलौकिक भोग ऐसे दो प्रकार से कहे जाते हैं। उनमें ऐहिलौकिक भोग का वर्णन नैकात्मतां इत्यादि तीन श्लोकों से करते हैं इच्छा के अभाव का निरूपण करने वाले इन तीन श्लोकों का तात्पर्य आचार्यचरण कारिका से बताते हुए उक्त प्रकार के भक्तों का सद्योमुक्ति से भिन्न होने का कारण इच्छाओं का अभाव ही है।

कारिका—**जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परा।**
सायुज्यं च तृतीयं स्यादतो नोत्क्रान्तिप्रापणे ।।१।।

कारिकार्थ–प्रथम साधनावस्था द्वितीय फलरूपावस्था तृतीय सायुज्य इस तरह भक्तों की तीन अवस्था होती है अतः उनकी इन्द्रियों का देह से उत्क्रमण अथवा देवतात्व की प्राप्ति नहीं कही गई है ।।१।।

आभास—तत्र प्रथमं भक्तानां साधनावस्थामाह—

आभासार्थ पहले भक्तों की साधनावस्था कहते हैं—

श्लोक—**नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्ज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ।।३४।।**

श्लोकार्थ—कितने ही भक्त मेरी चरण सेवा में आसक्त होते हैं और मेरी सेवा में तत्पर रहते हैं ऐसे भक्त आपस में मिलकर, मेरे पराक्रमों की चर्चा करते हैं, मेरे गुण गान सर्व स्तुति करते हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—नैकात्मतामिति । इयं हि फलरूपा भक्तिर्ज्ञातव्या । ते भक्ता यावज्जीवन्ति च तावत्फलरूपां भक्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः । फलरूपता तदैव भवति, यदा भजनाद्रसोऽभिव्यक्तो भवति बहुधा । तस्या अभिव्यक्तेर्निदर्शनम्, भगवत एकात्मतां सायुज्यरूपं फलं न स्पृहयन्ति । प्रार्थना दूरे । ते भक्तेषु विरलाः प्रसङ्गात् निरूप्यन्ते । **केचिदिति** दुर्लभाः । तेषां कायवाङ्मनोवृत्तिः स्वभावत एव भगवति भवतीत्याह—**मत्पादेत्यादिना** । मम पादसेवायामेव अभिरतिर्मनोवृत्तिर्येषाम् । सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यमिति पद्भ्यां सेवेत्यर्थः । अन्यत्तु सुखं गमनानन्तरसाध्यम् । इयं मनोवृत्तिर्निरूपिता । कायिकीमाह—**मदीहा इति** । मत्संबन्धिन्येव ईहा चेष्टा येषाम् । तेषां वाचनिकीमाह—**अन्योन्यत इति** । सर्वे **भागवता** एकरूपा भगवदीयाः **प्रसज्ज्या**सक्तिं कृत्वा, **मम** भगवतः, पौरुषाणि समाजयन्ते । **अन्योन्यमुक्तान्यतिपौरुषाणि संमानयन्ति प्रकटं सुहृष्टाः । स्वकार्यनिर्धारविचारहेतौ प्रमाणमेतग्दणयन्ति नाऽन्यत्** ।।३४।।

व्याख्यार्थ—इस फलरूपा भक्तिको जानना चाहिये । तात्पर्य यह है कि वे भक्त जब तक जीवित रहते हैं तब तक फलरूप भगवद् भक्ति को करते हैं । फलरूपा भक्ति तभी होती है जब भजन से उसमें बहुधा रस अभिव्यक्त होता है । फलारूपा भक्ति की अभिव्यक्ति की पहचान यह है कि भगवान् के साथ एकात्मता रूप सायुज्य फल को वे नहीं चाहते । सायुज्य की प्रार्थना करना तो दूर रहा । ऐसे लोग भक्तों में विरले ही होते हैं प्रसङ्ग से उनका निरूपण करते हैं किञ्चित् का अर्थ है ऐसे लोग दुर्लभ हैं । ऐसे लोगों की कायिक, वाचिक मानसिक वृत्ति स्वभाव से ही भगवान् में होती है इसके लिये 'मत्पादसेवाभिरता' यह पद दिया है । अर्थात् मेरे चरणों की सेवा में ही जिनकी मनोवृत्ति रहती है । सब ओर से हट कर भगवत्कार्य करना चाहिये । पाद सेवा अर्थात् पैरों से जाकर सेवा करना आगे होने वाला सुख भी जाने के अनन्तर ही होगा । यह मनोवृत्ति का निरूपण हुआ । अब कायिकी (शारीरिक) वृत्ति का निरूपण करते हैं । 'मदीहाः' पद से कहते हैं मेरे (भगवान्) से सम्बन्ध रखने वाली ही जिनकी चेष्टा है । अब उन भक्तों की वाचनिकी वृत्ति का वर्णन 'अन्योव्यतः' आदि से करते हैं— सब भगवदीय मेरे में आसक्ति करके मेरी (भगवान् की) लीलाओं का वर्णन करते हैं ।

**कारिका—अन्योन्यमुक्तान्यतिपौरुषाणि संमानयन्ति प्रकटं सुहृष्टाः ।
स्वकार्यनिर्धारविचारहेतौ प्रमाणमेतग्दणयन्ति नाऽन्यत् ।।३४।।**

कारिकार्थ इस कारिका से स्पष्ट किया है कि मेरे भक्त आपस में मिलकर मेरी अमानुषिक लीलाओं का वर्णन करते हैं और प्रसन्न होते हैं। अपने कार्य के निर्धारण में एवं विचार में भी मेरी लीलाओं को ही प्रमाण रूप में मानते हैं अन्य को नहीं।

आभास—तेषां फलावस्थामाह—

आभासार्थ - उन भक्तों की फलावस्था को कहते हैं—

श्लोक—**पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।**
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ।।३५।।

श्लोकार्थ—हे माता ! वे साधु पुरुष मेरे कर्णाभरण (कान के भूषण) और अरुणनयन (लालनेत्र) से युक्त प्रसन्न मुख वाले वरदायक दिव्यरूपों के दर्शन करते हैं तथा इसी शरीर से भगवान् के साथ सप्रेम संभाषण भी करते है ।।३५।।

सुबोधिनी—पश्यन्तीति । ते मे रूपाणि पश्यन्ति, निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति । यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति प्रथमतः पश्यन्ति । भगवतो रूपाणि वर्णयति—रुचिराणि **अवतंसानि** कर्णाभरणानि येषाम् । अनेन वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवतीत्युक्तम् । प्रसन्नानि वक्त्राणि, अरुणानि लोचनानि येषामिति राममिव नृसिंहमिव पश्यतीत्यर्थः । तेषामिष्टोत्पादनार्थं राजसभावमिष्टानां स्थित्यर्थं च सात्त्विकभावं प्रकटयन्तीति वा । **रूपाणीति** परमोपासकानामेकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति, तेषां तु बहूनि । तानि च दिव्यानि, लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि । अलौकिकभावं वा प्रकटयन्ति, तान् प्रत्येव प्रकटानीति । तथा सति नातिप्रसक्तिः । तेषामन्यदीयव्यावृत्त्यर्थं निदर्शनान्तरमाह—**वरप्रदानीति** । न ह्यन्येन वरं दातुं शक्यते । प्रसन्नाद्रूपादेतेषां वैलक्षण्यमाह—**साकं वाचमिति** । जीवन्त एवैते एतस्मिन्नेव लोके भगवता सह स्पृहणीयां वाचं वदन्ति, यथा मित्रैः सह इष्टालापाः क्रियन्ते ।।३५।।

व्याख्यार्थ—वे साधुपुरूष मेरे रूपों का दर्शन करते हैं निरन्तर उन्हें भगवान् का साक्षात्कार होता है। जैसे मित्रों के साथ खेलते हैं वैसे सब से पहले भगवान् के दर्शन करते है। भगवान् के रूपों का वर्णन करते हैं – सुन्दर है कर्णाभरण जिनके इससे यह सूचित होता है कि वृन्दावन आदि में भगवान् का साक्षात्कार होता है। प्रसन्न मुख और अरूण लोचन हैं जिनके ऐसे राम तथा नृसिंह की तरह भगवान् के दर्शन करते हैं। उनकी इष्टसिद्धि के लिये राजसभाव तथा इष्ट की स्थिति के लिये सात्विक भाव को प्रकट करती है यह भी अर्थ है। मेरे उपासक किसी एक रूप का ही कदाचित् साक्षात्कार कर सकता है परन्तु मेरे तो अनेक रूप हैं और वे रूप भी कोई सामान्य नहीं हैं दिव्य हैं अर्थात् लौकिक बुद्धि से नहीं गाने जा सकते हैं अथवा अलौकिक भाव को प्रकट करते हैं। शंका हो सकती है कि जब भगवान् ने अवतार लिया है तो उनका दर्शन तो सब कर सकते हैं अतः अतिप्रसक्ति हो जायेगी तो फिर उन रूपों को दिव्य कैसे कहा जाय ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् के जो दिव्यरूप हैं वे ही तो भक्तों के लिये पृथ्वी पर प्रकट होते हैं इसलिये दर्शन तो केवल भक्तों

को ही होते हैं वे दिव्यरूप तो भक्तों के ही लिये प्रकट हैं तो अतिप्रसक्ति (अतिव्याप्ति) दोष नहीं होगा। रूपों में दिव्यता है इसकी पहचान 'वरप्रदाति' से होती है। बिना दिव्यता के वर देने में समर्थ नहीं हो सकते? प्रसन्नरूप से इनको विलक्षणता बताते हैं कि वर्त्तमान शरीर से ही ये इस लोक में भगवान् के साथ बातचीत करते हैं। ऐसी बातचीत के लिये सब लालायित रहते हैं। जैसे मित्रों के साथ प्रेमभरी बातें की जाती हैं ।।३५।।

आभास—ततस्तेषां सायुज्यमाह—

आभासार्थ—इसके बाद उनका सायुज्य बताते हैं—

श्लोक—**तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।**
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ।।३६।।

श्लोकार्थ—दर्शनीय अङ्गप्रत्यङ्ग उदार हास विलास मनोहरचितवन और मधुर वाणी से युक्त मेरे उन सुन्दर रूपों में उनका मन और इन्द्रियाँ फँस जाती है। ऐसी मेरी भक्ति न चाहने पर भी उन्हें परमपद की प्राप्ति कराती है ।।३६।।

सुबोधिनी-तैरिति । तैः पूर्वोक्तरूपैरनुभवसमय एवानन्दजनकैः । दर्शनीया अवयवा येषाम् । उदारो विलासः, हासपूर्वकमीक्षितम्, **वामं** मनोहरं **सूक्तं** वाक्यं च येषाम । तैर्हृतांतःकरणानां वशीकृतेन्द्रियाणां च सा पूर्वोक्ता भक्तिः, तामनिच्छतोऽप्यण्वीं गतिं सायुज्यं प्रापयति । भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिध्यर्थं चतूरूपत्वं च साध्यते । तत्र दर्शनीया अवयवाः कामपूरकाः, उदारो विलासोऽर्थजनकः, हासपूर्वकमीक्षितं धर्मजनकम्, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि । कामो हि विषयसौन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिद्धचति, अतो **दर्शनीयेति** विशेषणं बहिरलौकिकसौन्दर्यार्थम् । विलासो ह्यर्थस्य नानाप्रकारत्वाय । उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय । भगवतो हि लीला सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनीति भगवत्त्वम् । हासो देहादावध्यासजनकः, अन्यथा निरन्तरं धर्मो न सिद्धचेत । हासपूर्वकं च ज्ञानं धर्मजनकमेव । सूक्तं हितकारि, अविद्यानाशकम् । वामं परमानन्ददायकमिति । सूक्ष्मा हि गतिरेकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि चाऽनन्तानन्दरूपाणि, अतएवाऽनिच्छा अत एवाऽन्तःकरणेन्द्रियाणां च तैराकर्षणम्, सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात् । स भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति । ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनामगम्यमतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति ।।३६।।

व्याख्यार्थ—वे मेरे पूर्व में बताये गये सुन्दर रूप के अनुभव के समय में ही आनन्द को उत्पन्न करते हैं। दर्शनीय हैं अवयव जिनके तथा उदार विलास, हासपूर्वक अवलोकन और मनोहर वचन जिनके हैं ऐसे मेरे रूपों से जिनका अन्तःकरण विवश हो गया है तथा जिनकी इन्द्रियाँ उन रूपों के वश में हो गई है ऐसे भक्तों को मेरी भक्ति उनके न चाहने पर भी सायुज्य गति देती है। भक्त के चारों प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये भगवान् के चार रूप इस में सिद्ध किये गये हैं।

भगवान् के अङ्गप्रत्यङ्ग अत्यन्त सुन्दर हैं अतः तृतीय पुरुषार्थ काम की उस से सिद्धि होती है। उदार विलास द्वितीय पुरुषार्थ अर्थ का देने वाला है हासपूर्वक देखना प्रथम पुरुषार्थ धर्म का उत्पन्न करने वाला है। मधुरवाणी मोक्ष देने वाली है काम विषय की सुन्दरता से और अन्तःशक्ति से सिद्ध होता है इसलिये उसके लिये दर्शनीय अवयव ऐसा विशेषण है यह विशेषण बाहर भी अलौकिक सुन्दरता को बताता है। विलास, अर्थ की अनेक प्रकारता के लिये है। सर्वोपकारता ही विलास की उदारता है इसलिये विलास के लिये उदार ऐसा विशेषण दिया हैं। भगवान् की लीला सबों के लिये सब पुरुषार्थों को देने वाली है इसलिये लीला में भी भगवत्व है। हास देह आदि में अध्यास को उत्पन्न करता है यदि ऐसा न होता तो निरन्तर धर्म की सिद्धि न होती। हास-पूर्वक ज्ञान धर्म का उत्पन्न करने वाला है। 'सूक्त'–अच्छा बोलना हितकारी है व अविद्या को नष्ट करता है। 'वाम'का अर्थ है परम आनन्ददायक अण्वी गति(सूक्ष्म गति)एक रूप है आनन्दरूपाहै। भगवान् का रूप अनन्तानन्द रूप है इसलिये भक्तों को किसी की इच्छा ही नहीं होती भगवान् का रूप अनन्तानन्द रूप होने से वह सब इन्द्रियों का सुखरूप है अतः अन्तःकरण की इन्द्रियों को वह अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। वे भगवान् जब अपने धाम को पधारते हैं तो उन भक्तों को भी अपने साथ ले जाते हैं वे भक्त तो इन्द्रियाँ और मन को अपने साथ ले जाते हैं। भक्ति जिसका फल अवश्य ही होता है वह भक्ति भक्तों के लिये काल आदि से भी अगम्य अतिसूक्ष्म भगवत्प्राप्ति रूप फल को देती है ।।३६।।

आभास—एवं सायुज्यरूपं फलमुक्त्वा सालोक्यादिरूपं फलमाह—

आभासार्थ इस तरह सायुज्यरूप फल कहकर सालोक्यादि रूप फल कहते हैं।

श्लोक—**अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रविष्टाम्।**
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोके ।।३७।।

श्लोकार्थ—मध्यम भक्ति होने पर मुझ मायापति की पुत्रधनादि रूपा अथवा स्वर्गादिरूपा विभूति को जिसके आठ अङ्ग हैं ऐसे ऐश्वर्य को और श्री तथा भगवत्-कृत सम्पत्ति को यहाँ तक कि मोक्ष सम्पत्ति को भी नहीं चाहते वे यद्यपि वैकुण्ठ में इन विभूति आदि सबको स्वयं ही प्राप्त कर लेते हैं ।।३७।।

सुबोधिनी–अथो इति। सा चेद्भक्तिर्मध्यमा भवेत्, ततोऽयं भिन्नप्रक्रमः। अथो मम मायाविनो **विभूतिं** पुत्रधनादिरूपां स्वर्गादिरूपां च। न तत्र भोग्यमस्तीति **मायाविन** इत्युक्तम्। सर्वस्याऽपि विषयस्य भगवदीयानां भगवदधीनत्वाय षष्ठी। **ताम्**इत्यलौकिकीं, सर्वलोकप्रसिद्धां वा। **ऐश्वर्यम**णिमादि। अष्टाङ्गानि यस्येति सर्वैश्वर्यप्राप्तिः। भगवद्भजनमनु, भगवन्तमनु, वा, **प्रविष्टां श्रियं** सर्वामेव सम्पत्तिं मोक्षपर्यन्ताम्। **भागवतीं** च भगवत्कृतसम्पत्तिं च। **वे**त्यनादरे। सर्वमेव वा अस्पृहयन्ति **भद्रां** मोक्षसम्पत्तिमपि। मध्यमा भक्तिः फलमवश्यं प्रयच्छतीति, यद्यन्यत्र तेषां भोगो न रोचते, तदा वैकुण्ठ एव तेभ्यो भोगं **प्रयच्छती-**

त्याह–**परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोक इति परस्य** कालादक्षराच्च । **लोके व्यापिवैकुण्ठे** । सर्वमे-वैश्वर्यादिकमश्नुवत इत्यर्थः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—वह भक्ति यदि मध्यम हो तो ऐसा यहाँ इस श्लोक में भिन्न क्रम है उसको बताने के लिये 'अधो' पद है। 'मायाविन' पद सूचित करता है कि मुझ मायापति की ऐहिक पुत्रधनादि रूपा विभूति और पारलौकिकी स्वर्गादिरूप विभूति इन्द्रजालवत् है उसमें कोई भोग्य है ही नहीं। मायाविनः में षष्ठी इसलिये है कि भगवदीयों के सब विषय भगवान् के ही आधीन है। 'ता' का अर्थ है अलौकिक अथवा सर्वलोक प्रसिद्ध। ऐश्वर्य से अणिमा आदि आठ जिसके अङ्ग हैं ऐसी सर्वेश्वर्य की प्राप्ति को भगवद्भजन के अनन्तर अथवा भगवत्प्राप्ति के अनन्तर प्रविष्ठ 'श्री' को अर्थात् मोक्ष पर्यन्त सम्पूर्ण सम्पत्ति को यद्वा भगवत्कृत सम्पत्ति का भी वे अनादर करते है यह 'वा' से बताया है अथवा अस्पृहयन्ति उक्तविध सब विभूत्यादि को वे नहीं चाहते । भद्रा कल्याणकारिणी मोक्ष सम्पत्ति को भी नहीं चाहते। मध्यमा भक्ति फल तो अवश्य देती है इसलिये यदि उन्हें उक्त भोगरुचिकर नहीं होते हैं तो वैकुण्ठ में ही उनके लिये वह भोगों का दान करती है उसे 'परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोके' से बताया है यहाँ 'पर' शब्द से काल और अक्षर से भी 'पर' मुझ से है लोक से यहाँ व्यापिवैकुण्ठ लिया गया है सभी ऐश्वर्यादिका(वहां व्यापि वैकुण्ठ में)उपभोग करता है।।३७।।

आभास—ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात् **'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'** इति स्वस्थानत्यागात्, किं वैकुण्ठलोके विषयाऽनुभावेनेत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि वैकुण्ठ में सब प्रकार के भोगों की प्राप्ति होने पर भी उनको काल का भय तो लगा ही रहता है 'जब पुण्य पूरा हुआ और मनुष्य लोक की प्राप्ति हो जायेगी' तब अपने स्थान के त्याग से और वैकुण्ठ में विषयों के अनुभव से क्या फल होगा—

श्लोक—**न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।**
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ।।३८।।

श्लोकार्थ—जिनका केवल मैं ही प्रिय, आत्मा, पुत्र मित्र, गुरु सुहृद देव, इष्ट हूँ ऐसे मेरे आश्रय में रहने वाले भक्तों के सर्वदोष वर्जित वैकुण्ठ में कालचक्र उन्हें ग्रसित नहीं कर सकता है ।।३८।।

सुबोधिनी–न कर्हिचिदिति । हे **शान्तरूपे** मातः । शान्तं रूपं यस्येति सर्वदोषविवर्जिते वैकुण्ठे वा । अहमेव परो येषां ते न नङ्क्षयन्ति । क्षीणपुण्या नश्यन्ति पतन्ति वा । न वा **हेतिः** कालचक्रं तान् **लेढि**, कालोऽपि तान् न भक्षयति । तत्र हेतुः–**येषामहमिति** । कालस्य यत्र विषयस्तत्र प्रवर्तते । तस्याऽष्टौ विषयाः–विषयाः, देहः, पुत्राः, मित्राणि, गुरवः, संबन्धिनः, इष्टदेवता, कामश्चेति । तस्मिन् लोके न एते सन्ति; किन्त्वेतेषां कार्यमहमेव करोमि । अत एव तेषामहमेवाऽष्टविधः । न हि कालो मां विषयीकरोति । तेषां मदन्यः कोऽपि नास्ति देहादिः । **प्रियो** हि विषयो भवति । वैकुण्ठस्तु मद्रूप इति तत्राहमेव विषयः । सारूप्यस्य च प्राप्तत्वात्

देहोऽप्यहमेव । देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृतिः सूयत इति सुता भवन्ति । तत्र विषयभोगेनाऽप्यहमेव भवामि, पुत्रस्नेहस्तत्रत्यैर्मय्येव क्रियये । तत्र बाह्योऽपि सखा अहमेव, तत्रत्यानां पुरुषाणां मद्रूपत्वात् । एते चत्वार ऐहिकाः । पारलौकिकाश्चत्वारः । तत्र गुरुरुपदेष्टा वैकुण्ठे त्वहमेव । गुरोरुपदेशानन्तरं ये तत्र हितार्थं यतन्ते, ते बान्धवाः सुहृदः; सुहृत्कार्यं तु तत्रत्यैरेव क्रियत इति । दैवं देवता, पूज्यः; फलदाने स प्रयोजकः । फलं चेष्टम् । अतस्तेषां नाशाभाव उचित एव ।।३८।।

व्याख्यार्थ—शान्त है रूप जिसका इसे जब सम्बोधन रखेंगे तो माता का विशेषण हो जायेगा और जब इसे सप्तम्यन्त रखेंगे तो वैकुण्ठ का विशेषण हो जायेगा अर्थात् शान्त रूप वाली है माता या शान्त रूप वाले वैकुण्ठ में । मत्पराः का अर्थ है मैं ही जिनका सब कुछ हूँ उनके न क्षीण पुण्य नष्ट होते हैं और न वे गिरते हैं और 'हेति' कालचक्र उनको ग्रसता नहीं है । उसका कारण यह है कि मैं ही उनका प्रिय आत्मादि सब हूँ । काल का विषय जहाँ होता है वहीं उसकी प्रवृत्ति होती है । काल के आठ विषय हैं १-विषय २-देह ३-पुत्र ४-मित्र ५-गुरु ६-सम्बन्धी ७-इष्टदेवता ८-कामना । उस लोक में ये आठ हैं ही नहीं तब काल वहां क्या कर सकता है किन्तु इन आठों का काम केवल मैं ही करता हूं इसलिये उनके लिये आठ प्रकार का मैं ही हूँ । काल का विषय हो नहीं सकता । मेरे से अतिरिक्त उनके देह आदि कोई भी है ही नहीं । सबको विषय (उपभोग के साधन) प्रिय होते हैं परन्तु वैकुण्ठ तो मेरा ही रूप है तो मैं ही उनका प्रिय (विषय) हुआ । जब मेरे समान रूप को प्राप्त हो जाते हैं तो यह भी मैं ही होता हूँ । पुत्रस्नेह भी वहाँ के रहने वाले मेरे में ही करते हैं । वहाँ पर बाहरी मित्र भी मैं ही हूँ । क्योंकि वहाँ के पुरुष तो सब मेरे ही रूप वाले हैं । ये चार तो हुए ऐहिक और चार हैं पारलौकिक । उनमें गुरु उपदेश देने वाला होता है । वैकुण्ठ में तो मैं ही उपदेश देता हूँ इसलिये मैं ही गुरु हूँ । उपदेश के अनन्तर जो हित के यत्न करते हैं वे बान्धव सुहृद् हैं सुहृत् का कार्य तो वहाँ के रहने वाले ही करते हैं । दैव का अर्थ है देवता अथवा पूज्य फल को देने में तो वह ही कारण है और जो अपना इष्ट है वह ही फल है इस तरह उनका मैं ही सब कुछ हूँ और मेरे ऊपर काल का अधिकार है नहीं अतः उन मेरे भक्तों का विनाश नहीं होता ।।३८।।

आभास—ततोऽपि प्रथमां भक्तिं सफलां निरूपयति—

आभासार्थ—सफल प्रथमा भक्ति का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**इमं लोकं तथैवाऽमुमात्मानमुभयायिनम् ।**
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ।।३९।।

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ।।४०।।

श्लोकार्थ—जो लोग इस लोक को तथा परलोक को और दोनों लोकों में साथ

रहने वाले आत्मा को तथा देह से सम्बन्ध रखने वाले पुत्रादि एवं और भी जो ममता के आस्पद हैं जैसे धन पशु, घर इनको और भी जिनको यहाँ नहीं गिनाया है उन सबको छोड़कर अनन्य भक्ति से सब प्रकार से मुझे ही भजते हैं उन्हें मैं मृत्युरूप संसार से पार कर देता हूँ ॥३९–४०॥

सुबोधिनी–इम लोकमिति । ये पूर्वोक्ताधिकाररहितास्तादृशशरीरादिरहिताश्च, केवलं पुण्यपरिपाकवशादेवंभूताः, वक्ष्यमाणप्रकारेणोपासते, तेषां भक्त्यभावात् अहं तान् मृत्योरतिपारय इति द्वयोः संबन्धः । साङ्ख्यसिद्धान्तत्वात् परित्यागोऽत्र मुख्यः । मुख्ये सिद्धान्ते त्विह लोकादिषु अपेक्षाभाव एव हेतुः । त्याज्यान् गणयति । इह लोकस्त्याज्यश्चतुर्द्धा प्रमाणप्रमेयसाधनफलभेदेन । ऐहिकानां प्रमाणानि न प्रमाणानि; यदेषां प्रमेयम्, विषया ज्ञेया ग्राह्या वा, ते न ग्राह्याः; यदेषां फलसाधनम्, यद्वा फलम्, तदुभयमपि न तेषाम् । यस्त्वेवं करोति, स इमं लोकं त्यजति । तथैवाऽमुं चतुर्धा लोकं त्यजति । उभयलोककामी लौकिको वैदिकश्चोभयस्वभावापन्न आत्मा देहादिचतुर्विधः । सर्वत्र त्याग औदासीन्यम् । **आत्मानं** देहादिक**मनु** ये पुत्रादयः, चकाराग्दृहपरिच्छदादयश्च । इहेति सर्वमेव ममतास्पदाः प्रत्यक्षत एव उपलभ्यन्त इति सूचितम् । **रायो** धनानि **पशवो** गवादयः । एतान् विसृज्य । **अन्यांश्च** अनुक्तान् प्रतिष्ठादीन् धर्मान् । **सर्वानिति** । सर्वत्र विशेषणम् । **च**कारादभिमानादि । ननु सर्वत्यागे सर्वैः क्रियमाणानामुपकाराणामपेक्षितत्वात् कथं निस्तारो भविष्यतीत्याह–**मामेव विश्वतोमुखमिति** । अहं हि सर्वात्मा, मदर्थे यावत् त्यजन्ति तेषामर्थे तावद्रूपो भवामीति । एवं रूपं मां ये भजन्ति । **विश्वतोमुखमिति** । नूतनया भगवतो न किञ्चित्कर्त्तव्यमस्तीति सूचितम् । तत्र भजने साधनं भक्तिरेव । तत्राऽनन्यताऽपेक्ष्यते । परलोकार्थम्, भगवत्कृपार्थम्, अन्यार्थम्, भक्तिव्यतिरेकेण, भगवद्व्यतिरेकेण वा, येषामन्यन्नास्ति । मृत्योरतिपारणं पुनस्तस्याऽऽत्मनो मृत्युग्रस्तदेहसम्बन्धाभावः । न मुक्तिर्नापि मृत्युरिति सनकादय इव तिष्ठन्ति । एवं भेदत्रयं निरूपितम्, सायुज्यम्, वैकुण्ठः, जीवन्मुक्तिश्चेति ॥३९॥४०॥

व्याख्यार्थ—जो पूर्वोक्त अधिकार से रहित हैं और इस प्रकार के शरीर आदि से रहित हैं केवल पुण्य के परिपाक के कारण ही जो इस तरह के हैं व आगे कहे जाने वाले प्रकार से उपासना करते हैं उनमें भक्ति का अभाव होने पर भी उनको मैं मृत्यु से पार कर देता हूँ इस तरह दोनों का सम्बन्ध हैं । यह सांख्य का सिद्धान्त है इसमें परित्याग ही मुख्य है मुख्य सिद्धान्त में इस लोक आदि में अपेक्षा का अभाव ही हेतु है । त्याग करने योग्यों की गिनती करते हैं। प्रमाण–प्रमेय–साधन और फल इस भेद से चार प्रकार का यह लोक त्याज्य है । एहिक प्रमाण तो प्रमाण ही नहीं है जिससे कि इनका कोई प्रमेय हो यहाँ तो केवल विषय ही या तो जानने या ग्रहण करने योग्य होते है उनका ग्रहण नहीं करना चाहिये । जो इनका फल साधन है अथवा फल है ये दोनों ही उनके लिये नहीं है । जो ऐसा करता है वह इस लोक को परित्याग करता है उसी तरह से चार प्रकार से परलोक का भी परित्याग करता है । उभय लोक का भी लौकिक और वैदिक उभय स्वभावापन्न आत्मा जो देह इन्द्रिय-प्राण और अन्तः करन इनके अध्यास से अलग है । ऐसी चार प्रकार की आत्मा । इनका सर्वत्र त्याग अथवा उससे उदासीनता । 'आत्मानमनु' से देहादिक से सम्बंधित पुत्रादि लिये जाते है 'च' से घर तथा घर से सम्बंधित सभी उपयोगी साहित्य लिया जाता है ।

इह से यह सूचित होता है कि प्रत्यक्षरूप से ये सब ममता के ग्रास्पद (स्थान) रूप से उपलब्ध हैं। राम : से धन पशव: से गाय ग्रादि इन सब को छोड़कर ग्रन्यान् से जिनको यहाँ नहीं गिनाया है प्रतिष्ठा ग्रादि धर्मों को छोड़ कर सर्वान् यह सब का विशेषण है। 'ग्रन्यांश्च के 'च' से ग्रभिमान ग्रादि का भी परित्याग करना। शंका होती है कि सब का जब त्याग किया जाता है तो सबने जो हमारे साथ उपकार किया है उसकी उपेक्षा होने से कैसे निस्तार होगा इस शंका का निवारण 'मामेवं विश्वतो मुखम्' से किया है। मैं विश्वतो मुख हूँ ग्रर्थात् में सब की ग्रात्मा हूँ इसलिये मेरे लिये जितने का परित्याग करता है मैं उनके लिये उतने रूप वाला हो जाता हूँ। इस प्रकार के रूप वाले मुझ को भजते हैं। ग्रर्थात् भगवान् के लिये नयी बात कोई करनी नहीं है यह इससे सूचित होता है। वहाँ भजन में साधन तो भक्ति ही है। केवल उस भक्ति में ग्रनन्यता की ग्रावश्यकता है। परलोक के लिये, भगवत्कृपा के लिये ग्रथवा ग्रन्य किसी के लिये भक्ति के बिना ग्रथवा भगवान् के बिना जिनके लिये दूसरा कोई नहीं है। 'मृत्योरतिपारये' का ग्राशय यह है कि पुन: इस ग्रात्मा का मृत्यु से ग्रस्त होने वाले देह से उसके सम्बन्ध का ग्रभाव होना। ग्रर्थात् उनकी न तो मुक्ति होती है ग्रौर न मृत्यु ही होती है सनकादिक की तरह रहते हैं। इस तरह सायुज्य, वैकुण्ठ ग्रौर जीवन्मुक्ति इन तीनों प्रकार के भेदों का निरूपण किया। ।।३९-४०।।

ग्राभास—मार्गान्तरेणाऽप्येतत् भविष्यतीत्याशङ्क्य निराकरोति—

ग्राभासार्थ-भक्ति से ग्रतिरिक्त ग्रन्य किसी मार्ग से भी ऐसा हो सकता है या नहीं ऐसी ग्राशंका करके उसका निराकरण करते हैं—

श्लोक—**नाऽन्यत्र मद्भगवत: प्रधानपुरुषेश्वरात् ।**
ग्रात्मन: सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ।।४१।।

श्लोकार्थ—मैं भगवान् हूँ प्रकृति ग्रौर पुरुष का स्वामी हूँ ग्रौर सब प्राणियों की ग्रात्मा हूँ मेरे सिवाय ग्रन्य किसी से मृत्यु रूप यह तीव्र भय निवृत्त नहीं हो सकता है।।४१।।

कारिका—**भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नाऽन्येन केनचित् ।**
स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम् ।।१।।

कारिकार्थ—विष्णु भगवान् भक्ति के सिवाय दूसरे किसी से प्रसन्न नहीं होते हैं। वे ही मुक्ति देने वाले हैं ग्रौर इसमें भक्ति ही कारण है।

सुबोधिनी—नाऽन्यत्रेति । मत् मत्तोऽन्यस्मात्, **तीव्रं** संसारात्मकं **भयं न निवर्तते** । संसारनिवृत्तिर्ज्ञानादिना, ते च भगशब्दवाच्या भगवत्येव भवन्ति । तदाह—**भगवत इति** । किं च, संसारो जायते प्रकृतिपुरुषाभ्याम्, तयोर्यो नियामक:, तस्मादेव निवर्तत इति युक्तम् । किञ्च—**ग्रात्मन:**

सर्वभूतानामिति। आत्मैव तादृशमुपकारं करोति, नह्यन्योऽन्यस्मा उपकरोति स्वार्थव्यतिरेकेण। अतो ज्ञानादिरूपत्वात् निवर्तकरूपत्वम्, प्रकृत्यादिनिवारकत्वात् पुनः संसाराजननम्, आत्मत्वादवश्यं हितकारित्वं च भगवत एवेति अन्यस्माद्भयं न निवर्तत इति युक्तम्। **तीव्रमिति** शीघ्रमागन्तृ, निकटस्थितादेव नियामकान्निवर्तत इति। निकटस्थितत्वमात्मत्वात्सिद्धम् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—'मत्' का अर्थ है मेरे सिवाय तीव्र जो यह संसार रूप भय है वह अन्य से निवृत्त नहीं होता। संसार की निवृत्ति ज्ञान आदि से होती है वे सब भगवत् शब्द से वाच्य हैं इस लिये ये भगवान् ही में होते हैं। उसी को बताने के लिये भगवतः पद दिया है। यदि विचार किया जाय तो संसार होता है प्रकृति और पुरुष से उन दोनों का जो नियामक होता है उसी से ये निवृत्त हो सकते हैं। ऐसा ही उचित है। भगवान् सब प्राणियों की आत्मा है तो आत्मा ही वैसा उपकार कर सकती है। आत्मा से अतिरिक्त अन्य कोई बिना स्वार्थ के उपकार नहीं कर सकता है। इसलिये ज्ञानादि रूप होने से उसमें निवर्त्तक रूपता है। जब प्रकृति का वह निवारक है तो फिर संसार उत्पन्न ही नही होगा। भगवान् आत्मा है इसलिये उसमें अवश्य ही हितकारिता होगी अन्य से भय की निवृत्ति न होना ठीक ही है। तीव्र का अर्थ यह है कि संसार शीघ्रता से आता है तो उसकी निवृत्ति पास में रहने वाले नियामक से ही हो सकती है आत्मा होने से उसकी निकट से स्थिति तो सिद्ध ही है ॥५१॥

आभास—नियामकत्वं साधयति—

आभासार्थ—भगवान् नियामक हैं इसे सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।**
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥४२॥

श्लोकार्थ—मेरे भय से यह वायु चलती है, मेरे भय से सूर्य तपता है, मेरे भय से इन्द्र वर्षा करता है, अग्नि जलाती है और मेरे भय से मृत्यु अपना कार्य करती है ॥४२॥

सुबोधिनी–मद्भयादिति। इति श्रुत्यर्थमाह। मद्भयादेवाऽयं वातो वाति, अन्यथा तस्य गमने प्रयोजनाभावात् सर्वत्र सर्वदा न वायात्। सूर्योऽपि मद्भयादेव तपति। श्रुतावुदेतीत्युक्तम्; तत्रोदयशब्देन तपनमेवोच्यते। अन्यथा ज्योतिश्चक्रगत्याऽप्युदयो भवतीति व्यर्थं भयं स्यात्। अग्नीन्द्रयोः क्रिया नोक्तेदि स्वयमाह–**वर्षतीन्द्र** इति। अन्यथा स्वगृहस्थं जलमिन्द्रः कथं व्ययीकुर्यात्। **दहत्यग्निरिति**। सर्वानेवाऽशुचिपदार्थानसम्मतानपि कथं दहेत्। मृत्युरपि दयालुः मद्भयादेव चरति, मारयितुं यतते। वाय्वाद्युपासनया मृत्युर्दूरीकर्तव्य इति मतमपास्तम्। अन्येन निवार्यमाणोऽपि मृत्युर्न निवर्तत इत्यपि सूचितम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—उक्त श्लोक में "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषादेति सूर्यः, भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति । पञ्चमः" इस श्रुति के अर्थ को कहा है । मेरे भय से यह वायु चलती है अन्यथा उसके चलने में कोई कारण न होने से सब जगह तथा सर्वदा कभी न चलती । सूर्य भी मेरे भय से ही तपता है । श्रुति में सूर्य के लिये उदेति पद आया है वहाँ भी उदय शब्द से तपना ही कहा गया है अन्यथा तो ज्योतिश्चक्र की गति से उदय तो होता ही उसमें भय व्यर्थ होता है । अग्नि और इन्द्र की क्रिया श्रुति में नहीं कही थी उसे यहाँ वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निः से बतादी है । यदि इन्द्र को भय न होता तो वह अपने घर के जल को क्यों खर्च करता । इसी तरह यदि भय न होता तो अग्नि सब अपवित्र पदार्थों को तथा उसको जो अच्छे नहीं लगते हैं उन्हें क्यों जलाती । मृत्यु भी दयालु है उसे यदि भय न होता तो प्राणियों को मारने का प्रयत्न क्यों करती । इसलिये बायु-सूर्य-इन्द्र-अग्नि-मृत्यु इन की उपासना से मृत्यु को दूर करना चाहिये यह मत 'सिद्धांत' निरस्त हो जाता है । और इससे यह भी सिद्ध होता है कि अन्य से निवारण करने पर भी मृत्यु निवृत्त नहीं होती है ।।४२।।

आभास—एवमितरनिषेधेन स्वसिद्धान्तं निरूप्य तत्र पूर्वाचारं प्रमाणयति—

आभासार्थ—इस तरह इतर (अन्य) के निषेध से अपने सिद्धांत का निरूपण करके इसमें पूर्वोपचारों को प्रमाणित करते है—

श्लोक—**ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।**
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ।।४३।।

श्लोकार्थ—योगी लोग ज्ञान वैराग्य से युक्त भक्ति योग से अपने कल्याण के लिये मेरे निर्भय चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करते हैं ।।४३।।

सुबोधिनी–ज्ञानेति । ज्ञानवैराग्ये भक्तेः सहकारिणी । योगोऽधिकारिविशेषणम् । भक्तिरेव करणम् । **क्षेमाय** मोक्षाय, स्वरूपसंरक्षार्थं वा, मे **पादमूलं** पादपीठमक्षरं प्रविशन्ति । न विद्यते कुतश्चिद्भयं यस्मात् । प्रवेशे हेतुः ।४३।

व्याख्यार्थ—ज्ञान और वैराग्य भक्ति के सहकारी हैं । योग यह अधिकारी का विशेषण है । भक्ति ही असाधारण कारण है । क्षेम का अर्थ मोक्ष है अथवा स्वस्वरूपरक्षा भी अर्थ है । पादमूल का अर्थ है पादपीठ अक्षर ब्रह्म उसमें प्रवेश करते हैं । किसी से भी जहाँ भय न हो उसे अकुतो भय कहते । अकुतो भय ही तो प्रवेश में कारण है ।।४३।।

आभास—एवं सर्वं शास्त्रार्थं निरूप्य स्पष्टपरिज्ञानार्थं कर्तव्यमनुवदन्नुपसंहरति–

आभासार्थ—इस तरह पूरे शास्त्र के अर्थ का निरूपण करके स्पष्ट परिज्ञान के लिये कर्तव्य का अनुवाद करते हुए उपसंहार करते हैं—

श्लोक—एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—इस मनुष्य लोक में मनुष्यों के लिये सबसे अधिक कल्याण की प्राप्ति यही है कि उनका चित्त तीव्र भक्ति योग के द्वारा मुझमें अर्पित होकर स्थिर हो जाय ॥४४॥

सुबोधिनी–एतावानेवेति । **पुंसां** परलोकार्थं यततामस्मिन् लोके **एतावानेव निः श्रेयसोदयः** । निःश्रेयसस्योदयो यस्मात् । मोक्षहेतुरेतावानेव । पूर्वं मनोमूलकः संसार उक्तः, मोक्षेऽपि तदेव निमित्तमुक्तमिति तच्चेद्भगवति स्थिरीभवति, तदा कृतार्थतेति, तत्स्थिरीकरणार्थं भक्तिरेवेत्याह–**तीव्रेणेति** । शीघ्रं फलसाधकेन भक्तियोगेन सर्वप्रतिबन्धकरहितेन मनश्चेन्मय्यर्पितं सत् स्थिरं भवेत् । एतावानेव निःश्रेयसोदयः । केनाऽपि प्रकारेण भगवति स्थिरं मनः परमपुरुषार्थसाधकमिति योगसिद्धान्तः । तत्र भक्तिरेव स्थिरीकरणहेतुरिति स्वसिद्धान्तानुसारेणाऽपि भक्तिर्निरूपिता । भागवताऽनुसारेणाऽपि । तस्माद्भक्तिः सर्ववादिसम्मतेति सैवकर्तव्येति सिद्धम् ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे पञ्चविंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ– पुंसां का अर्थ है परलोक की प्राप्ति के लिये यत्न करने वालों का इस लोक में मोक्ष का कारण इतना ही है यह 'एतावानेव निःश्रेय सोदयः' से बताया है । पहले मन ही जिसका मूल है ऐसा संसार कहा है मोक्ष में भी वह ही निमित्तकारण है यदि वह मन किसी तरह से भगवान् में स्थिर हो जाय तो कृतार्थता हो जाती है । उसके स्थिर करने का साधन भक्ति ही है यह तीव्रेण पद से बताया है अर्थात् शीघ्र फल को सिद्ध करने वाले भक्ति योग से सब प्रकार के प्रतिबन्धकों से रहित हैं उससे यदि मन मेरे में अर्पित तथा स्थिर हो जाता है तो यही निःश्रेयस का उदय कहा जाता है । योगियों का सिद्धान्त है कि किसी भी प्रकार से भगवान् में स्थिर किया गया मन परमपुरुषार्थ का साधक होता है । मन को भगवान् में स्थिर करने वाली भक्ति ही है इसलिये उनके सिद्धान्त के अनुसार भी भक्ति का ही निरूपण है । और भागवत के अनुसार भी भक्ति का ही निरूपण है इसलिये भक्ति सर्ववादिसम्मत है इसलिये भक्ति ही करनी चाहिये ।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के पच्चीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (गुणातीत मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—२६

कपिलदेवजी का माता देवहूति को सांख्य तत्वों का उपदेश देना

कारिका—**आत्मानात्मविवेकाय षड्विंशे सांख्यमुच्यते ।**
तत्वानां लक्षणान्यत्र निरुक्तिश्चेयमत्र च ।।१।।

कारिकार्थ—आत्मा और अनात्मा का भेद समझने के लिये छब्बीसवें अध्याय* में सांख्य शास्त्र कहा जाता है इसमें तत्वों के लक्षण और उनके नाम कहे गये हैं ।।१।।

गोस्वामि श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कृत 'प्रकाश' का अर्थ—

(१) छब्बीसवें अध्याय का विवरण (व्याख्या) करने की इच्छा से इसकी संगति तो पहले कही जा चुकी है अतः उसे यहाँ न कहकर भगवान् के द्वारा विचारित 'अर्थ' नाम के दूसरे पुरुषार्थ को स्पष्ट करने के लिये ही यह सारा विचार है इसे बताने के लिये मुख्य रूप से प्रयोजन ही 'आत्मानात्म' इस कारिका से कहते हैं। आत्मा और अनात्मा भेद भगवाद्विचारित 'अर्थ' है वह यहां मैत्रेयजी की उक्ति में अध्याय का अर्थ है उसके लिये यहाँ तत्वों के लक्षण और उनकी निरुक्ति (नाम) का कथन है और फिर यहां

(२) जीवब्रह्म के विभाग के लिये बन्ध मोक्ष रूप प्रक्रियाएँ कपिलदेवजी ने स्मरण करके कही है यदि बन्ध मोक्ष रूप से प्रक्रियाएँ न होती तो विभाग

(आगे का भाग पृष्ठ ५० में "पाद टिप्पणी" में पढें)

कारिका—**जीवब्रह्मविभागार्थं प्रक्रियाद्वितयं स्मृतम् ।**
संसारे मूलभावे च पुरुषः प्रकृतिर्मता ।।२।।

कारिकार्थ—जीव और बह्म का भेद जानने के लिये दो प्रक्रिया कही गई है । संसार की प्राप्ति तथा मूल स्थिति की प्राप्ति के लिये पुरुष और प्रकृति का निर्णय किया गया है ।।२।।

आभास—पूर्वाध्याये उत्तमभक्त्या हृदयप्रविलापनमुक्त्वा, अन्यासां च फलं निरूप्य, ताः सत्सङ्गादेव भवन्तीति देवहूतेस्तदसम्भवात् शास्त्रार्थपरिज्ञानार्थमेव तन्निरूपितमिति मत्वा सांख्यं तदर्थमेव कथयितुमाह—

आभासार्थ—पहले के अध्याय में उत्तम भक्ति के द्वारा हृदय का विलय कहा गया तथा अन्य भक्तियों के फल का निरूपण करके वे सब भक्ति सत्संग से ही होती है देवहूति के लिए सत्संग का होना संभव न होने से देवहूति को केवल शास्त्रार्थ का ज्ञान हो जाय उसके लिये ही उनका निरूपण है ऐसा मान कर उसके लिये सांख्य को कहने के लिये 'अथ ते' यह श्लोक कहा गया है ।

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—**अथ ते संप्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।**
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।।१।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हे माता ! अब मैं तुम्हें प्रकृति आदि सब तत्वों के लक्षण अलग-अलग बताता हूँ जिन्हें जानकर मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है ।।१।।

सुबोधिनी—अथेति । अथेत्यपराधीनत्वाय भिन्नः प्रक्रमः । साङ्ख्यं **ते** तुभ्यमेवाऽभिधास्यामि । साङ्ख्यस्वरूपमाह–**तत्त्वानां लक्षणं पृथगिति ।** यथाऽन्योन्यसंश्लेषो न भवति तथा तत्त्वानि लक्षणीयानि । लक्षणैरेवेतरभेदपरिज्ञानमित्यवोचाम । अतस्तत्त्वानां लक्षणं पृथक् पृथक् प्रवक्ष्यामि । नन्वन्तःस्थितसंसारस्य बहिःस्थितैस्तत्त्वादिपदार्थैर्ज्ञातैरपि किं स्यात्तत्राऽऽह–**यद्विदित्वेति** । पृथक् पृथक् लक्षणं विदित्वा स्वयं पुरुषः, **प्राकृतैर्गुणै**राध्यात्मिकतत्त्वैर्विमुच्यते । सङ्घाते विद्यमानस्तत्तल्लक्षणैस्तं तं पृथक्कृत्य केवलो भवितुं शन्कोति ।।१।।

अनुसंधान—पिछले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी के आगे

जाना ही नहीं जाता उसे कहते हैं—संसार का कारण प्रकृति हैं और मूलभाव अर्थात् पूर्व रूप की प्राप्ति में पुरुष कारण है यहां 'संसारे प्रकृति मताः मूलभावे पुरुषोमत' ऐसा अन्वय करना । पूर्व अध्याय में भक्ति कही गयी है । किन्तु जिनका भक्ति में अधिकार नहीं है उनके लिये यहां भक्ति के अंग रूप से भक्ति के अनुरूप ही फल देने वाले सांख्य को कहा है । सांख्य विचार में भक्ति के साथ इसकी अङ्गाङ्गिभाव संगति होगी अथवा एक कार्यतारूप संगति होगी । शास्त्रार्थ का विचार करने पर तो भगवद्भोग्य तत्वों का यहाँ निरूपण होने से यह मात्राध्याय है इसमें किसी प्रकार का कोई भी सन्देह नहीं है इस प्रकार सब व्यवस्थित है ।

व्याख्यार्थ—पूर्व अध्याय में उत्तम भक्ति से लय तथा अन्य भक्ति का फल निरूपण किया था, भक्ति सत्संग के बिना होती नहीं । देवहूति सत्संग कहाँ करने जाये इस सांख्य में इस प्रकार की पराधीनता नहीं है । इस भिन्न क्रम को बताने के लिये यहाँ अर्थ शब्द का प्रयोग किया है सांख्य मैं तुम्हारे लिये ही कहूँगा । सांख्य का स्वरूप बताते हैं—सांख्य शास्त्र में तत्वों के अलग अलग लक्षण हैं एक तत्व का लक्षण दूसरे तत्व से मिल न जाये । इस तरह तत्वों के लक्षण बताऊँगा । उन तत्वों के लक्षण ऐसे कहूँगा, जिससे दूसरे के साथ उसका भेद समझ में आ जाये । इसलिये तत्वों के लक्षण अलग अलग कहूँगा । शंका होती है कि संसार तो अन्दर स्थित है बाहर रहने वाले तत्व आदि पदार्थों के जानने से भी क्या होगा । उसका उत्तर देते हैं कि अलग-अलग तत्वों के लक्षण को जानकर पुरुष स्वयं आध्यात्मिक* तत्वों से प्राकृत्त गुणों से मुक्त हो जाता है संघात में रहते हुऐ भी पुरुष तत्वों के लक्षणों से उन्हें अलग-अलग समझकर मुक्त हो सकता है ।।१।।

आभास—एतदात्मानात्मविवेचनं यदर्थं तच्च ज्ञानं तुभ्यं कथयिष्यामीत्याह—

आभासार्थ—यह आत्मा और अनात्मा का भेद जिसके लिये है वह ज्ञान तुम्हें कहूँगा ।

श्लोक—**ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्याऽऽत्मदर्शनम् ।**
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ।।२।।

श्लोकार्थ—आत्मा का साक्षात्कार ही पुरुष के मोक्ष का कारण है । आत्म-साक्षात्कार से ही हृदय का मोह नष्ट हो जाता है ऐसा विद्वान् कहते हैं । उस ज्ञान को मैं तुम्हारे आगे वर्णन करता हूँ ।।२।।

सुबोधिनी-ज्ञानमिति । यज्ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्य मोक्षं साधयति, तत्ते वर्णयिष्यामीति संबन्धः । नन्वात्माज्ञानात् संसार इति आत्मज्ञानमेव वक्तव्यं किमन्येन ज्ञानेनेत्याशङ्क्याऽऽह—**आत्मदर्शनं यदाहुरिति ।** आत्मनो दर्शनं यस्मात्, आत्मसाक्षात्कारहेतुः, साक्षात्कार एव वा । तत्स्वरूपतः कारणतश्च **ते** तुभ्यं वर्णये । एतदपि भक्तिवत् हृदयप्रविलापकमित्याह—**हृदयग्रन्थिभेदनमिति ।** हृदये चिदचितोर्ग्रथनं यस्मात् स हृदयग्रन्थिः, मोहः, कोशो वा । तस्य भेदनं यस्मादिति । साङ्ख्येन सहितं ज्ञानं स्वतन्त्रं साधनमित्युक्तम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—जो ज्ञान मोक्ष के लिये है और पुरुष को मोक्ष देता है । उस ज्ञान का वर्णन मैं करूंगा ऐसा सम्बन्ध है । शंका होती है कि आत्मा के अज्ञान से संसार होता है इसलिये आत्म ज्ञान ही कहना चाहिये । दूसरे ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा का दर्शन होता है अर्थात् जो ज्ञान आत्म-साक्षात्कार का कारण है अथवा आत्म-साक्षात्कार ही है उसे मैं स्वरूप से और कारण से तुम्हें कहूँगा । यह आत्मसाक्षात्कार भी भक्ति की तरह

* शरीर में रहने वाले और वासनामय तत्वों से

हृदय का लय करने वाला है। यह 'हृदयग्रन्थि भेदनम्' से बताया है हृदय में चित्त-अचित्त दोनों गुंथे हुए हैं अर्थात् इनकी गांठ पड़ गई है। इसे हृदय ग्रन्थि, मोह या कोश[1] कहते हैं उसका भेदन इससे होता है। सांख्य के सहित जो ज्ञान है वह स्वतन्त्र साधन है यह इसका तात्पर्य है ॥२॥

आभास—तत्र प्रथमं पुरुषस्य लक्षणमाह—

आभासार्थ—उनमें पहले पुरुष का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।**
प्रत्यग्धाम्मा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥३॥

श्लोकार्थ—यह सारा जगत् जिससे व्याप्त होकर प्रकाशित होता है वह आत्मा ही पुरुष है। वह अनादि निर्गुण प्रकृति से पर अन्तःकरण में स्फुरित होने वाला और स्वयं-प्रकाश है ॥३॥

सुबोधिनी—यस्मिन् ज्ञाते इतरभिन्नतया ज्ञानमिति तल्लक्षणं यत्रैव न भविष्यति, तदेव दूरीकर्तुं शक्यत इति मुख्यतयाऽऽत्मलक्षणम्। पुरुषो लक्ष्यः, आत्मेति लक्षणम्। योऽयमहंप्रत्ययवेद्यः, देहेन्द्रियान्तःकरणानि लोका ममतास्पदाः, यागादिसाध्याः परलोकाश्च। सो (स्वो)पकारि सर्वमेवातति व्याप्नोतीति आत्मा, अस्मत्प्रत्ययवेद्यः, स एव पुरुष इति। तस्य देहाद्युत्पत्त्या जीवभावापन्नस्योत्पत्तिर्भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**अनादिरिति**। जननसमागमाविर्भावविभेदेन भिन्ना काप्युत्पत्तिर्यस्य नास्ति सोऽनादिः। तस्योत्पत्यभावे हेतुमाह—**निर्गुण इति**। निर्गता गुणा यस्मात्। सर्वोत्पादका गुणाः, ते चेत्तत एवोत्पन्नाः, कस्तस्योत्पत्ति साधयिष्यति। सुतरामेव निवृत्तिपक्षे गुणसंबन्धरहित इत्यर्थः। स्वस्य गुणहेतुत्वे, स्वतो वा गुणसंबन्धाभावे, प्रकृतेरेव वा गुणा आत्मन्यादिमत्त्वं साधयिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**प्रकृतेः पर इति**। न हि प्रकृतिनियन्ता प्राकृतैर्गुणैः संबध्यते, प्रकृतेरन्यः प्रकृतिसंबन्धरहितो वा। तत्र प्रमाणमाह—**प्रत्यग्धामेति**। **प्रत्यक्** अन्तर्मुखतया **धाम** स्फूर्तिर्यस्य। अहंवित्तिवेद्य इत्यर्थः। नन्वहङ्कारोऽपि तादृशो भवतीति चेतत्राऽऽह—**स्वयंज्योतिरिति**। स्वयमेव ज्योतिः प्रकाशरूपम्। अनेन प्रमाणान्तरं तत्र नास्ति, नापेक्ष्यत इत्यप्युक्तम्। अहङ्कारस्तु स्वप्रकाशो न भवति, तदुत्तराध्याये वक्ष्यते। आत्मनोऽसाधारणं धर्मान्तरमाह—**विश्वं येन समन्वितमिति**। येनाऽऽत्मना सर्वमेव विश्वं समन्वितम्। तत्त्वानामन्योन्यव्यभिचारित्वात्, स्वभावकालकर्मणां नानात्वात्, एकेन सर्वजगतः सम्यक् संबन्ध आत्मनैव भवति, नाऽन्यस्येति। सम्यगन्वयश्च तद्गतगुणदोषसंबन्धाभावेन समन्वितमित्येव संसर्गः। अत्र पुरुषस्य आत्मेत्येव लक्षणम्, आत्मनः सङ्घातव्यावृत्त्यर्थमन्यानि लक्षणानि। अनादिपदेन देहो व्यावर्तितः; निर्गुणपदेन

---

1 कोश का अर्थ है लिङ्ग शरीर।

प्राकृताः सर्वे, प्रकृतेर्नियामकत्वेन प्रकृतिर्व्यावर्तिता, प्रत्यग्धामत्वेन कालो व्यावर्तितः । एवं चत्वारि पदान्येकं लक्षणं लौकिकम् । **स्वयंज्योति**रित्यलौकिकं लक्षणम् । ज्ञाने साक्षादुपयोगिलक्षणं **विश्वं येन समन्वितमिति** । एवमात्मनस्त्रीणि लक्षणानि । प्रत्यग्धामत्वं देहात्मविवेकात्पूर्वं देहेऽपि भवतीति प्रत्यग्धामेति न देहव्युदासः । तथा प्रकृतेः परे कालादयश्च न व्यावर्तिता भवन्ति, शास्त्रसहकृतबुद्धेरपि स्वभावनियामकत्वदर्शनात् ॥३॥

व्याख्यार्थ—जो इतर (अन्य) से भिन्न है वह उसका लक्षण होता है जैसे गन्ध पृथ्वी से अतिरिक्त में नहीं हैं । अतः गन्धवत्व पृथिवी का लक्षण है इसको जान लेने पर जिसमें वह नहीं होगी उसी को उससे अलग किया जा सकता है इस प्रकार मुख्य रूप से आत्मा का लक्षण है । पुरुष लक्ष्य है और आत्मा का यह लक्षण है जो यह (आत्मा) 'मैं हूँ' इस प्रकार के ज्ञान से जाना जाता है अर्थात् जैसे किसी से आप शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि के विषय में प्रश्न करेंगे तो वह कहेगा कि यह मेरा शरीर है ये मेरी इन्द्रियाँ हैं ऐसा मेरा मन है, ऐसी मेरी समझ है इससे स्पष्ट है कि इन सबसे परे जिसे 'मैं' शब्द से कहा जाता है वह ही आत्मा है इसी को 'योऽयमहं प्रत्ययवेद्यः' कहा जाता है । देह इन्द्रियां अन्तःकरण लोक जिनमें अपनी ममता होती है और जो यज्ञ आदि से सिद्ध होने वाले परलोक (स्वर्गादि) अपने उपकारी जितने भी पदार्थ हैं उन सब में जो व्याप्त है, उसे आत्मा[1] कहते हैं और वह 'यह मैं हूं' इस प्रकार की समझ से जाना जाता है और वह ही पुरुष है जीवभाव को प्राप्त उस आत्मा की देह आदि की उत्पत्ति से उस(आत्मा) की उत्पत्ति होगी इस शंका के समाधान के लिये आत्मा को अनादि बताया है । अनादि उसे कहा जाता है जो जन्म समागम आविर्भाव[2] भेद से भिन्न ऐसी कोई उत्पत्ति जिसकी नहीं हो वह अनादि है आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है । उसमें निर्गुणता कारण है आत्मा से गुण निकल गये हैं सबको उत्पन्न करने वाले तो गुण ही हैं । वे गुण ही जब आत्मा से उत्पन्न होते हैं तो आत्मा की उत्पत्ति करेगा कौन? निवृत्ति पक्ष में आत्मा सुतरां गुण सम्बन्ध से रहित है । यह इसका आशय है शंका होती है कि जब आत्मा से गुणों की उत्पत्ति होती है इससे अथवा आत्मा का स्वतः गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है इससे आत्मा निर्गुण और अनादि है परन्तु प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुण ही आत्मा में आदिता सिद्ध कर देंगे इसका उत्तर देते हैं "प्रकृतेः परः" जो प्रकृति के ऊपर अपना नियन्त्रण रखता है वह प्रकृति के गुणों से कैसे बन्ध सकता है ? जो कि प्रकृति से अलग है अथवा प्रकृति के सम्बन्ध से अलग है इसमें प्रमाण है 'प्रत्यग्धामा' यह विशेषण प्रत्यग् (अन्तर्मुख) रूप से है । धाम (स्फुर्ति) । जिसकी उसको प्रत्याग्धामा कहा जाता है अर्थात् जो अहं में इस प्रकार के ज्ञान से समझा जाता है । शंका होती है कि 'मैं' शब्द से आत्मा ही जाना जाता है । ऐसा तो नहीं है अहंकार भी तो 'मैं' शब्द से जाना जाता है उसका उत्तर देते हैं अहंकार अज्ञान रूप है और आत्मा स्वयं ज्योति है । स्वयं ही प्रकाश रूप है अतः आत्मा के लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है प्रमाण की अपेक्षा नहीं है ऐसा भी कहा है । अहंकार

---

(१) आत्मा ही पुरुष है ऐसा पुरुष का लक्षण है । यहाँ आत्मा 'अहमात्मा गुडाकेशः' इस गीता वाक्य में बताया हुआ विभूतिरूप आत्मा ही जानना ।

(२) आविर्भाव पद से बाहर प्रकट होना जानना चाहिये ।

तो स्वप्रकाश नहीं हो सकता। यह आगे के अध्याय में कहा जायेगा। आत्मा का एक और असाधारण धर्म (लक्षण) कहते हैं 'विश्वं येन समन्वितम्।' जिस आत्मा से यह सारा विश्व ओतप्रोत है तत्व तो एक दूसरे से भिन्न है। स्वभाव, काल और कर्म भी अनेक हैं[1] अत: एक से सारे जगत् का सम्यक् सम्बन्ध है तो आत्मा से ही है अन्य से नहीं। समन्वित का अर्थ है कि सम्यक् अन्वय अर्थात् जिनमें आत्मा सम्यक् रूप से अन्वित है, ओत प्रोत है। उनमें होने वाले गुण दोषों का इसके साथ कोई सम्बन्ध[2] नहीं हैं केवल समन्वित सम्बन्ध ही है यहां पुरुष का लक्षण है आत्मा। आत्मा को संघात से व्यावृत्त (अलग) करने के लिये अन्य लक्षण हैं जैसे आत्मा को अनादि कहा तो देह की व्यावृत्ति (निवृत्ति) हो गई। देह अनादि नहीं है अत: आत्मा नहीं हो सकता है। निर्गुण पद से प्राकृत[3] सब पदार्थ निवृत्त हो गये आत्मा प्रकृति का नियामक है अत: प्रकृति से भिन्न हो गया। प्रत्यग्धाम पद से काल की व्यावृत्ति हो गई। इस प्रकार इन चार[4] पदों से आत्मा का एक लक्षण लोकिक हुआ और 'स्वयं ज्योति' यह अलोकिक लक्षण हुआ ज्ञान में साक्षात् उपयोगी लक्षण है 'विश्वयेन समन्वितम्' इस प्रकार आत्मा के तीन लक्षण हुए। शंका होती है कि 'प्रत्यग्धामा' पद से ही देह की व्यावृत्ति हो जायेगी तो फिर 'अनादि' पद क्यों दिया इसका उत्तर देते हैं कि प्रत्यग्धामा अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार की समझ से जाना जाये ऐसा ज्ञान देह और आत्मा का जब भेद ज्ञान नहीं हुआ था उस समय भी था इसलिये इससे देह की व्यावृत्ति नहीं होती। इसी तरह 'प्रकृते: पर:', इस विशेषण से कालादि की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि शास्त्र सहकृत बुद्धि भी स्वभाव को नियन्त्रित करती है ऐसा देखा गया है ।।३।।

---

(१) नाना प्रकार के (अनेक प्रकार के)

(२) इस प्रकार के सम्बन्ध को समन्वित शब्द से कहा जाता है।

(३) प्राकृत (महत्तत्व आदि) हमारे देह की अपेक्षा उनमें अनादिता है उसकी व्यावृत्ति के लिये निर्गुण पद का प्रयोग किया है। निर्गुण पद में गुण को उत्पन्न करना ऐसा अर्थ यदि लेंगे तो प्रकृति में उसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी। उसको दूर करने के लिये 'प्रकृतेर्नियामकत्वेन' ऐसा कहा।

(४) शंका होती है कि प्रथम लक्षण में चार पद का क्या प्रयोजन है ?

(१) केवल अनादिपद ही देते तो अनादि तो काल भी है। और

(२) अनादित्व और गुणजनकत्व ये दोनों प्रकृति में हैं। इसलिये अनादि और निर्गुण पद से इन दोनों को हटाया। 'प्रकृते: पर:' और 'प्रत्यग्धामा' इन दो पदों के कहने से विशेषण दल से कालबुद्धि और प्रकृति आदि का तथा विशेषण दल से देह का निराकरण हो जाता है इसलिये अनादि और निर्गुण पद यद्यपि अत्यन्त आवश्यक नहीं हैं फिर भी अनादि पद अविकार में और निर्गुणपद का अनञ्जन में उपयोग होता है यह अग्रिम अध्याय के आरम्भ में उपपादन किया जायेगा यहाँ केवल उनका स्वरूपमात्र कहा गया है। प्रत्यग्धामत्व की देह में भी अतिव्याप्ति बताई है। परन्तु मेरी आत्मा है ऐसा पराक्प्रत्यय भी विवेक के अभाव से किया गया है उससे आत्मा में प्रत्यग्धामता की क्षति नहीं है यह भी ज्ञापित होता है।

आभास—तस्याऽऽत्मरूपस्य पुरुषस्य वस्तुतो निर्लेपत्वात् प्रकृतिनियामकत्वाच्च जीवत्वं सहजं न भवतीति वक्तुं जीवोपाधिमाह—

आभासार्थ—वह आत्मरूप पुरुष वास्तव में निर्लिप्त है और प्रकृति का नियामक है अतः उसमें जीवत्व सहज नहीं होता है इसको कहने के लिये जीव[1] की उपाधि को कहते हैं।

श्लोक—**स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥४॥**

श्लोकार्थ—उस सर्वव्यापक पुरुष ने अपने पास आई हुई दुर्ज्ञेय **गुणमयी** प्रकृति का उपभोग करने के लिये एकता को प्राप्त हो गया ॥४॥

सुबोधिनी—स एष इति । स एव लक्षितः कारणत्वेनोक्तः पुरुषः, एष आत्मा अहंप्रत्ययवेद्यः । तस्य कथमेवंविपर्यय इत्याशङ्क्य प्रकृतिरात्मव्यतिरिक्ता साङ्ख्यैकदेशिनो मते पुरुषवन्नित्या, भगवदीयसाङ्ख्ये तु भगवतः शक्तिः; साङ्ख्यशास्त्रं तु न भगवन्तं विषयीकरोति, तत्प्रवर्तकत्वात्तन्नियामकत्वाच्च, अक्षरादर्वागेव तच्छास्त्रप्रवृत्तेः, पञ्चधा भगवाननादिरिति । **पुरुषोत्तमोऽक्षरं कालः प्रकृतिपुरुषाविति ।** इदं मतमाश्रित्य यत्र साङ्ख्यसिद्धान्तप्रवृत्तिः, न तु प्राकृतम् । तत्र पुरुषस्यैव प्रकृतिनियमनावस्थां परित्यज्य प्रकृत्यधीनावस्थया जीवत्वं तदुच्यते—**प्रकृतिमिति । सूक्ष्मा** दुर्ज्ञेया कोमलाङ्गी । **एष** इत्यनेन कामोऽप्यस्य प्रथमं भगवदिच्छया संजात इति ज्ञातव्यम्, अन्यथा तस्यामासक्तिर्न स्यात् । '**काममय एवाऽयं पुरुषः**' इति श्रुतेश्च । अतः कामवशात्तां भगवच्छक्तिरूपां प्रकृतिम्, देवस्य संबन्धिनीम्, मोहिकां बन्धनहेतुभूतगुणमयीमादौ । **विभुः** समर्थः तां भोक्तुम् । **यदृच्छयेति** । सापि भगवत्प्रेरणया स्वयमेव भोग्यत्वेन समागता भोक्तुम् । प्रभोः सा लीलोचितेति **तामभ्यपद्यत** । उपभोक्तुं तया सहैक्यं प्राप्तवानित्यर्थः ॥४॥

व्याख्यार्थ—जिसे पहले लक्षित किया जा चुका है और जिसे कारण[2] बताया है वह पुरुष हो आत्मा है और 'मैं हूँ इस प्रकार से जाना जाता है । उसमें ऐसी विपरीतता कैसे आ गयी इस शंका का समाधान करते हैं । सांख्य के[3] एक देशी मत में प्रकृति आत्मा से अलग है और वह पुरुष की तरह नित्य है । जो भगवदीय सांख्य है उसमें तो प्रकृति को भगवान् की शक्ति माना है । सांख्य शास्त्र भगवान् तक पहुँचता ही नहीं हैं । भगवान् ही[4] प्रकृति के प्रवर्तक और प्रकृति के

---

(१) जीवोपाधि का अर्थ है जीवपन का प्रयोजक धर्म । (२) कारणत्वेन का अर्थ है गुणजनकता होने से (३) सांख्य के एक देशी से निरीश्वर सांख्यवादी लिये गये है । (४) तत्प्रवर्तकत्वात् का अर्थ है भगवान् ही सांख्यमत के प्रवर्त्तक है । सांख्यशास्त्र की पहुँच यदि भगवान् तक हो तो फिर वह (सांख्य) ब्रह्मवाद से अलग नहीं होगा । ऐसा होने पर उस सांख्य में और ब्रह्मवाद के फल में भी कोई भेद न होगा इसलिये भगवान् ने जब सांख्य मत को प्रकट किया है तो वह ब्रह्मवाद से अलग ही है । इस सांख्यशास्त्र में पुरुष को संसार के लिये प्रकृति के अधीन बताया है वह भगवान् प्रकृति नियामक होने से असंगत होगा ।

नियामक होने से अक्षर ब्रह्म से पहले तक ही सांख्य शास्त्र की प्रवृति है। भगवान् पांच[1] प्रकार के हैं अनादि हैं। (१) पुरुषोत्तम (२) अक्षर (३) काल (४) प्रकृति और (५) पुरुष। इस मत को लेकर जहाँ सांख्य सिद्धान्त की प्रवृत्ति होती है।..............। वहाँ पुरुष जो प्रकृति का नियमन करता था वह उस अवस्था को छोड़कर प्रकृति के अधीन रहने की अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो उसी पुरुष की जीव संज्ञा हो जाती है वह जीव कहा जाता है। सूक्ष्म, दुर्ज्ञेय, कोमलाङ्गी 'एषः' का तात्पर्य यह है कि प्रकृति में जो कामना हुई वह भी भगवान् की इच्छा से ही हुई ऐसा जानना चाहिये। ऐसा न होता तो भगवान् की आसक्ति उसमें नहीं होती। श्रुति से भी यह बात स्पष्ट है 'काममय एवाऽयं पुरुषः'। अतः कामनावश से उस भगवच्छक्तिरूपा प्रकृति को जो देवी अर्थात् देव सम्बन्धिनी तथा मोहिका बन्धन को करने वाला गुणमयी है उसका आदि में विभु–भगवान् उपभोग करने में समर्थ है। वह प्रकृति भी भगवान् की प्रेरणा से स्वयं ही भोग्यरूप से भगवान् के पास आई जब भोग के लिये आई तब भगवान् ने भी उसे लीला के उचित समझ कर उसका उपभोग करने के लिये उसके साथ एकता को प्राप्त हो गये ॥४॥

आभास—तयोप भुज्यमानस्याऽवस्थामाह—

आभासार्थ—उस प्रकृति के द्वारा उपभुज्यमान (भोगे जाते हुए) पुरुष की अवस्था को कहते हैं—

श्लोक—**गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।**
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥५॥

श्लोकार्थ—प्रकृति अपने सत्व आदि गुणों के द्वारा उन्हीं गुणों के अनुरूप प्रजा की सृष्टि करने लगी। यह देखकर पुरुष ज्ञान को आच्छादित करने वाली उसकी आवरण शक्ति से मोहित हो गया, अपने स्वरूप को भूल गया ॥५॥

सुबोधिनी–गुणैरिति। सा हि गुणैः कृत्वा नित्यनूतना विचित्रा भवति वशीकर्तुम्। **सरूपाः प्रजाः सृजतीमिति**। पुरुषान्तरङ्गभूतानंशान् स्वसदृशान् करोतीति अंशद्वारा पुरुषे स्वरूपापादनम्। अत एव सर्वेष्वेवांशेषु तद्भावापन्नेषु सत्सु स्वयमपि तद्भावापन्नो जात इत्याह–**विलोक्य मुमुह इति**। नन्वस्य भगवद्रूपत्वेन नित्यसिद्धज्ञानशक्तिमत्त्वात् कथं तस्या दर्शने मोहः? तत्राऽऽह–**ज्ञानगूहयेति**। ज्ञानं हि गूहते आच्छादयति। **सद्य** इति विचारास्फुरणम्। **स** इति विभुरपि, **इहा**ऽस्यां प्रविष्टः। मोहः स्वरूपविस्मृतिः ॥५॥

---

(१) अन्य सांख्य से इस सांख्य में विशेषता है इसे समझाने के लिये यहाँ की शास्त्र मर्यादा बताते हैं। कालादित्रय अर्थात् काल, प्रकृति और पुरुष इन तीनों को अनादिता यहाँ स्पष्ट है। पुरुषोत्तम और अक्षर की गीता में सिद्ध है उसे ही यहाँ लिया है। प्रकृति शक्ति मानी गई है इसीलिये उसके लिये दैवी पद दिया है। अतः यह मत अन्य सांख्य से अलग ही है इसीलिये तो कहा है 'नतु प्राकृतम्' तत्र का अर्थ है प्रस्तुत (इस) सांख्य में।

व्याख्यार्थ—वह प्रकृति गुणों से पुरुष को वश में करने के लिये नित्य नवीन और विचित्र होती है तथा पुरुष के अन्तरङ्गभूत अंशो को अपने समान कर देती है अर्थात् अंशो के द्वारा पुरुष में अपने स्वरूप को प्राप्त करा देती है। अतएव सभी अंशों में जो प्रकृति के भाव को प्राप्त हो चुके हैं तो स्वयं पुरुष भी प्रकृतिभाव को प्राप्त हो जाता है। शंका होती है कि पुरुष तो भगवद्-रूप है नित्य सिद्धज्ञान शक्ति वाला है फिर वह प्रकृति को देख कर मोह को कैसे प्राप्त होता है? इसका उत्तर है 'ज्ञानगूहया' प्रकृति पुरुष के ज्ञान को ढक देती है और पुरुष के ज्ञान को इतनी शीघ्रता से ढकती है कि पुरुष किसी प्रकार का विचार तक नहीं कर सकता। सः (वह) विभु होते हुए भी, इह (इसमें) प्रविष्ट होने पर उसे मोह हो जाता है अपने स्वरूप को भूल जाता है ॥५॥

आभास—मोहानन्तरं पूर्णो जीवभावो जात इत्याह—

आभासार्थ—मोह के अनन्तर वह पूर्ण होते हुए भी जीव भाव को प्राप्त हो जाता है—

श्लोक—**एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।**
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥६॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार अपने से भिन्न प्रकृति को ही अपना स्वरूप समझ लेने से पुरुष प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाने वाले कर्मों में अपने को ही कर्त्ता मानने लगता है ॥६॥

सुबोधिनी-एवमिति। **परा** स्वतो भिन्ना या प्रकृतिः, तस्या अभिध्यानेन, तामेवात्मत्वेन मन्यत इति। आत्मत्वेन ज्ञानमभिध्यानम्। सा हि सर्वं करोति, क्रियाशक्तिस्तदीयेति। पुरुषस्य तु ज्ञानशक्तिरेव, सा मोहेन कृशरीभूता। प्रकृतेः कर्तृत्वमात्मनि मन्यते, यतोऽयं **पुमान्**। लोकेऽपि पुरुषः स्त्रीकृतमात्मकृतमेव मन्यते। सा हि गुणैः कृत्वा कर्माणि करोति। तत्फलमुखं कर्तृत्वमात्मनि मन्यत इत्यर्थः ॥६॥

व्याख्यार्थ—'परा' अर्थात् अपने से भिन्न जो प्रकृति है उसके अभिध्यान (आत्मरूप) से अपने को प्रकृति मानने लगता है अर्थात् पुरुष स्वयं को प्रकृतिरूप समझने लगता है। अभिध्यान का अर्थ है आत्मारूप से समझना। वह प्रकृति ही सब कुछ करती है क्रिया शक्ति सब उस प्रकृति की है। पुरुष की तो ज्ञान शक्ति ही है वह प्रकृति मोह से खिचडी की तरह इकट्ठी हो जाती है। प्रकृति के द्वारा किये हुए कर्मो को वह अपना कहता है क्योंकि वह पुरुष है। लोक में भी देखा गया है कि स्त्री के द्वारा किये गये कार्य को पुरुष अपने द्वारा किया हुआ मानता है। वह प्रकृति गुणों से कर्म करती है परन्तु पुरुष फल ही है मुख्य जिसमें, ऐसे कर्तृत्व को अपने में मानता हैं ॥६॥

आभास—आत्मनि कर्तृत्वाभिमान एव संसारमूलमित्याह—

आभासार्थ—आत्मा में कर्तृत्व का अभिमान ही संसार का कारण है यह कहते है—

श्लोक—**तदस्य संसृतिबन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।**
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥७॥

श्लोकार्थ—इस कर्तृत्वाभिमान (कर्त्तापन के अभिमान) से ही अकर्त्ता, स्वाधीन, साक्षी और आनन्दरूप पुरुष को जन्म मृत्युरूप बन्धन एवं परतन्त्रता की प्राप्ति होती है ॥७॥

सुबोधिनी–तदस्येति । तत् कर्तृत्वमेवाऽस्य जीवस्य **संसृतिः** संसरणम् । ततः कर्मभिर्बन्धः, प्रकृतिपारतन्त्र्यं च । तदपि कर्तृत्वाभिमानकृतमेव, न तु केवलं प्रकृतिकृतम् । तत्सर्वं तस्य स्वाभाविकं न भवतीति वक्तुमात्मनो विशेषणानि चत्वारि । स हि चिदानन्दरूपः, भगवदंशरूपत्वात् ऐश्वर्यादियुक्तश्च । दोषाभावार्थमकर्तुरिति । **ईशस्येति** भगवत्संबन्धात् । **साक्षिण** इति चिद्रूपत्वात् । **निर्वृतात्मन** इत्यानन्दरूपत्वात् । अकर्तुः संसारः, ईशस्य बन्धः, साक्षिणः पारतन्त्र्यम्, निर्वृतात्मनस्त्रितयम् । **च**कारादुक्तं दुःखित्वं वा ॥७॥

व्याख्यार्थ—कर्त्तापन के अभिमान से ही उस जीव को संसार होता है । तब उन कर्मों से बन्धन और प्रकृति के अधीन हो जाता है । वह सब भी कर्त्तापन के अभिमान से ही होता है केवल प्रकृति से उसे संसार, कर्म बन्धन नहीं होता । वह सब उसका स्वाभाविक नहीं है ऐसा कहने के लिये आत्मा के चार विशेषण दिये हैं । वह आत्मा भगवान् का अंशरूप होने से चिदानन्दरूप है और ऐश्वर्य आदि से युक्त है । उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है यह 'अकर्तुः' विशेषण से सिद्ध है अर्थात् जो कुछ कोई करता ही नहीं उसमें दोष कहां से होंगे ? भगवान् के सम्बंध के कारण वह भी 'ईश' हैं । चैतन्यरूप होने से साक्षी है । आनन्दरूप होने से वह 'निर्वृतात्मा' है । इस तरह उस निर्वृतात्मा को अकर्त्ता होने पर भी संसार ईश होते हुए भी बन्धन और साक्षी होते हुए भी परतन्त्रता ये तीनों होते हैं । 'च' शब्द बनाता है उक्त तीनों बातें होती हैं अथवा मैं दुःखी हूँ यह भी (भान) होता है ॥७॥

आभास—ननु ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामेकाश्रयत्वात्, उपादानगोचरापरोक्षज्ञानवत एव कर्तृत्वात्, कथमन्यगतं कर्तृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि एक ही में रहते हैं अतः उपादानगोचर प्रत्यक्ष ज्ञान वाले में ही कर्तृत्व होता है अन्य में कर्तृत्व कैसे हो सकता है इस आशङ्का का समाधान करते हैं—

श्लोक—**कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।**
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥८॥

श्लोकार्थ—कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रियाँ तथा कर्त्तारूप अन्तःकरण इनमें

पुरुष अपनेपन का आरोप कर लेता है उसमें विद्वान् लोग प्रकृति को ही कारण मानते हैं और प्रकृति से पर पुरुष का सुख दुःखों के भोग करने में कारण मानते है ।।८।।

सुबोधिनी—कार्येति । यद्यपि कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यं प्रतीयते, तदुभयोर्मिलितत्वात् कस्य किमिति निश्चेतुं न शक्यते, भगवति तु सर्वमूलभूते कर्तृत्वं भोक्तृत्वं सहजमेव; तथापि कर्तृत्वं प्रकृतिगतं भोक्तृत्वं पुरुषगतमेव । तत्र वृद्धाः प्रमाणम् । कर्तृत्वस्य प्रकृतिधर्मत्वे हेतुः—**कार्यकारणकर्तृत्व इति** । कार्यमधिभूतं देहः, कारणानीन्द्रियाण्याध्यात्मिकानि, कर्ता अन्तःकरणमाधिदैविकम् । चिद्रूपस्य पुरुषस्य त्रिविधजडभावापत्तौ प्रकृतिरेव कारणम् । न हि निष्कारणमन्योऽन्यद्भवति । भगवदिच्छा कारणत्वेन कल्प्येत यदि त्रिविधा धर्माः प्राकृताः न स्युः । प्राकृतत्वे स्वरूपापत्तौ स्वयमेव हेतुरस्तु किं विशेषकल्पनया ? भोगस्तु सुखदुःखसाक्षात्कारात्मकः । तत्र '**सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्**' इति ज्ञानमपि प्रकृतिगतं कल्प्येत यदि पुरुषो ज्ञानरूपो न स्यात् । अतः पुरुषसंबन्धादेव प्राकृतमपि ज्ञानमित्याह—**भोक्तृत्व इति** । सुखदुःखानां भोक्तृत्वे पुरुषमेव कारणं विदुः, ज्ञानरूपत्वात् । '**सत्त्वात्संजायते**' इति तु सत्त्वोपाधौ पुरुषस्य ज्ञानमुदेतीत्युच्यते, न तु ज्ञानं प्रकृतेः स्वरूपं धर्मो वा । न तु प्रथमतः कर्तृत्वम्, तत् प्रकृत्यध्यासेन । प्रकृतिविशिष्टश्चेत् पुनः प्रकृतावध्यस्यते, तदा भोक्तृत्वम् । तथा सति न ज्ञायते किं गतं भोक्तृत्वमिति । '**स्वकृतं भुङ्क्ते**' इति वाक्याच्च प्रकृतिगतमेव युक्तमित्याशङ्क्याऽऽह—**प्रकृतेः परमिति** । न हि भोग्यापत्तौ भोक्तृत्वं भवति । अतो भोगदशायां प्रकृतिनियन्तैव भवति । न हि स्वात्मनो भोगो भवति, अन्यं प्रत्येव रसत्वात् । एवं कर्त्री व्यामोहिका प्रकृतिः, भोक्ता भोगदशायां प्रकृतिनियामकः, कर्तृत्वे प्रकृतिमुग्धो देहादिभावापत्तौ च पुरुष इत्युभयोर्लक्षणमुक्तं भवति ।।८।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि कर्तृत्व और भोक्तृत्व एक में ही प्रतीत होते हैं अर्थात् पुरुष और प्रकृति दोनों जब मिले हुए हैं तो करने वाले का और भोगने वालों का अलग अलग निश्चय नहीं हो सकता । जो सब के मूलभूत भगवान् हैं उनमें तो कर्त्तापन और भोक्तापन सहज ही है । तथापि कर्त्तापन प्रकृति का है और भोक्तापन पुरुषगत ही है । इस विषय में प्राचीन आचार्य प्रमाण हैं । कर्त्तापन प्रकृति का धर्म क्यों है ? इसको बताते है 'कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृति' विदु कार्य हैं आधिभौतिक देह और कारण हैं आध्यात्मिक इन्द्रियाँ तथा कर्त्ता है आधिदैविक अन्तःकरण । चैतन्यरूप पुरुष उक्त तीन प्रकार के जड़भाव को प्राप्त हुआ इसमें कारण तो प्रकृति ही है बिना कारण के कोई अन्य अन्यभाव को प्राप्त नहीं हो सकता अर्थात् चैतन्य ब्रह्म बिना किसी कारण के जड़भाव को प्राप्त नहीं हो सकता अतः जड़भाव की प्राप्ति में कारण प्रकृति ही है । भगवान् की इच्छा को इसका कारण तब माना जाय, जब तीन प्रकार के धर्म प्राकृत (प्रकृति के) नहीं हों तो जब धर्म प्राकृत हैं तो उन्हें स्वस्वरूप प्राप्ति में स्वयं को ही कारणता हो जायगी विशेष कल्पना की आवश्यकता क्या है । सुखः दुःख के साक्षात्कार का नाम ही भोग है । 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्' इस गीता के वाक्य के अनुसार सत्त्व से ज्ञान होता है अतः वह प्रकृतिगत है ऐसी कल्पना भी तब की जा सकती है जब कि पुरुष ज्ञानरूप न हो । अतः पुरुष के सम्बन्ध से ही प्राकृतज्ञान भी होता है । पुरुष ज्ञान रूप होने में ही सुखदुःख के भोग में उसको कारण समझते हैं । 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्' इसका तात्पर्य तो यह है कि सत्वोपाधि में ही पुरुष का ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा कहा है

न कि ज्ञान प्रकृति का स्वरूप है अथवा धर्म है। पुरुष में प्रारम्भ से कर्त्तापन नहीं है वह कर्त्तापन तो प्रकृति के अध्यास से होता है। प्रकृति का सम्बन्ध होने पर जब पुनः प्रकृति का अध्यास होता है तब उसमें भोक्तृत्व (भोक्तापन) आता है। इसलिये समझ में नहीं आ सकता कि दोनों में से भोक्ता कौन है 'स्वकृतं भुङ्क्ते' इस वाक्य से जब कार्य कारण की करने वाली प्रकृति है तो भोक्ता भी उसे ही मानना उचित होगा इस आशंका का उत्तर देते हैं 'प्रकृतेः पर पुरुषं भोक्तत्वे कारणं विदुः' प्रकृति से पर पुरुष ही सुखदुःखों के भोगने में कारण है। जो (प्रकृति) भोग्य है वह भोक्ता कैसे होगी। इसलिये भोगदशा में पुरुष प्रकृति का नियन्ता ही रहता है। स्वयं का भोग तो हो नहीं सकता, अन्य के भोग में रस आता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रकृति कर्त्ता है व्यामोहिका है और भोग दशा में प्रकृति नियामक पुरुष भोक्ता हैं। पुरुष अपने को कर्त्ता इसलिये मानता है कि वह प्रकृति से मुग्ध हो जाता है तब अपने को देह आदि मानने लगता है इस तरह प्रकृति और पुरुष के लक्षण कहे गये हैं ॥८॥

आभास—तत्र देवहूतिराशङ्कते—

आभासार्थ—देवहूति शंका करती है—

देवहूतिरुवाच—श्लोक—प्रकृतेः पुरुषस्याऽपि लक्षणं पुरुषोत्तम ! ।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥६॥

श्लोकार्थ—देवहूति ने कहा—पुरुषोत्तम ! इस विश्व के स्थूल, सूक्ष्म कार्य जिनके स्वरूप हैं तथा जो इसके कारण हैं उन प्रकृति और पुरुष का लक्षण भी आप मुझसे कहिये ॥६॥

सुबोधिनी–प्रकृतेरिति। देहभावे निष्पन्ने पश्चात्कर्तृत्वम्, देह एव तु कथं निष्पद्येत? नानात्वाच्च जीवाना स्वतःकरणे जगदानन्त्यम्, हिताद्यकरणम्, असंबद्धकरणं चापद्येत। अत एतदुक्तं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च प्रकृतिपुरुषांशयोरेव, न तु मूलभूतप्रकृतिपुरुषयोः। अतस्तयोर्लक्षणप्रश्नः। उभयोरपि भगवद्रूपत्वात् न संबन्धो विचारणीयः। **पुरुषोत्तमेति** तस्मादपि भगवन्तं परमाह परिज्ञानार्थम्। **अस्य** जगतः **कारणभूतयोः**। उपादानभूतावपि तावेवेत्याह–**सदसच्च यदात्मकमिति**। कार्यं, कारणं, मोक्षहेतुर्बन्धहेतुर्वा; अलीकं, सद्वा; सर्वमेव–**यदात्मकं** मूलभूतप्रकृतिपुरुषात्मकम्। अतस्तयोर्ज्ञाने सर्वं ज्ञातं भवतीत्याशयः। पुरुषस्त्वेक एव। **पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि**' इति, '**तदन्यकल्पनापार्था**' इत्यतो जीवेश्वरावस्थाभेदे नैव भिन्नौ, न तु स्वत इति। यदेव पुरुषलक्षणं तदेव लक्षणं प्रकृतेरपि। सैव यदि भवेत्, अवस्थाभेदो न स्यात्। सा हि व्यामोहिकैव। भेदे तु यदा तामभिमन्यते, तदा जीवावस्थां प्राप्नोति। यदा तु मूलभूतां प्रकृतिम्, तदा स्वरूपस्थित एव जगत्कारणं भवति; प्रदेशभेदेन वा। ते उभे पुरुषसंगते। यथा आकाशे क्वचित् ग्रहादि, क्वचिन्नेति। अतस्तस्यापि मोहकप्रकृतिव्युदासे कारणतुल्यतैव भवति। परं मूलभूतप्रकृतिसंबन्धाभावान्न कर्तृत्वम्। उभयोः संबन्धो यथैवोपपद्यते, तादृश एव पुरुष इति मन्तव्यम्। उभयोर्दृष्टत्वात् "जीवानां पशक्तवे श्रुतिस्मतिविरोध

आपद्यत। प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे शास्त्रविरोधः, अनिर्मोक्षः, एकमुक्तौ च सर्वमुक्तिः, अविश्वासश्च स्यात्। अत उभयं यत एवोपपद्यते तथा मूल-पुरुषः प्रकृतिः द्वयं गृह्णातीति मन्तव्यम्।।६।।

व्याख्यार्थ—देह भाव को प्राप्त होने पर ही पुरुष में कर्त्तापन होता है परन्तु यह देह कैसे उत्पन्न होती है यह विचारणीय है। जीव ने स्वयं ही अपने लिये इस जगत् को रचा है ऐसा कहोगे तो जीव अनेक हैं तो उनके द्वारा अनन्त जगत् की उत्पत्ति होगी और यदि मूलपुरुष जीवों के लिये जगत् की रचना करता है तो हित आदिक नहीं करना तथा असम्बद्ध करना सर्वदा प्रकृति के सम्बंध बिना ही करना ये दो दोष आयेंगे। अतः यह कहा गया कर्त्तापन और भोक्तापन प्रकृति तथा पुरुष के अंशों में ही हैं, मूलप्रकृति और मूल पुरुष में नहीं हैं। इसलिये प्रकृति और पुरुष के लक्षणों का यहाँ प्रश्न है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही भगवद्रूप हैं अतः उनके सम्बन्ध का विचार नहीं करना है। हे पुरुषोत्तम इस संबोधन से ज्ञात होता है कि भगवान उससे भी उत्तम है और उसी को जानने के विषय में पूछा है। अस्य (इस जगत् के)। 'कारणयोः' अर्थात् कारण भूत वे दोनों हैं और उपादानकारण भी वे दोनों ही हैं। सत् और असत्, कार्य तथा कारण अथवा मोक्ष का कारण और बन्धन का कारण सत्य, असत्य सब कुछ मूलभूत प्रकृति पुरुषात्मक है। इसलिये उन दोनों का ज्ञान होने पर सब समझ में आता है यह इसका आशय है। पुरुष तो एक ही है। पुरुष और ईश्वर में अणुमात्र भी भेद नहीं है अतः इसमें भेद कल्पना वास्तविक नहीं है इसलिये

सुबोधिनीजी की कठिन पंक्तियों एवं शब्दों का स्पष्टीकरण—'प्रकाश'

(१) 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इस श्लोक में कहे गये कर्त्तापन में शंका करते हैं यद्यपि यहाँ आक्षेप बोधक पद मूल में स्पष्ट नहीं है तथापि 'कारणयोरस्य' इस द्विवचन से पुरुष में कारणता के आरोप से प्रकृति बोधित होती है (समझी जाती है) उसी का विवरण 'देहभावे' इससे किया गया है।

जब तक देह भाव पुरुष में नहीं होता तब उसके पहले ही पुरुष में कर्त्तापन कैसे होगा और प्रकृति तो जड़ है अतः पुरुष और प्रकृति दोनों ही देह को उत्पन्न नहीं करेंगे तो कर्त्तापन के अभिमान को उत्पन्न करने वाला पुरुष देह हेतु (कारण) के अभाव से निष्पन्न नहीं हो सकता यह प्रश्न का बीज है यदि ऐसा देह प्रकृति की अपेक्षा के बिना ही जीव के द्वारा किया जाता है ऐसा यदि अभिप्राय हो तब तो तीन दूषण होते हैं उन्हे बताते हैं जीव अपने ही लिये करते हैं ऐसा मानने पर अनन्त जगत् की उत्पति होगी क्योंकि जीव अनेक हैं। यदि मूलपुरुष जीवों के लिये करता है तो आगे कहे हुए दो दोष होते हैं।

इस तरह तीन दोषों की आपत्ति होने से और जो परा (स्वतः) भिन्न जो प्रकृति उसके अभिध्यान–आत्मरूप ज्ञान से बताया गया कर्त्तापन किसी तरह मूलपुरुष में योग्य नहीं है इसलिये उसे जीव कहना भी उपयुक्त नहीं होगा इसलिये जगत् के कारण भूत इन दोनों का कोई अलग ही लक्षण कहना होगा यह प्रश्न है। शंका हो सकती है जिस तरह लक्षण का प्रश्न किया उस तरह सम्बन्ध का प्रश्न क्यों नहीं किया। उसका उत्तर है कि दोनों ही भगवद्रूप हैं अतः सम्बन्ध

(आगे का भाग पृष्ठ ६२ में "पाद टिप्पणी" पढ़ें)

जीव और ईश्वर इस अवस्था भेद[२]से ही भिन्न है स्वतः कोई भी भेद उनमें नहीं है। जो पुरुष का लक्षण है वह ही प्रकृति का भी लक्षण है। यदि प्रकृति ही केवल होती तो अवस्था भेद नहीं होता। प्रकृति तो केवल मोह करने वाली ही है। प्रकृति पुरुष का भेद होने पर ही तो जब पुरुष अपने को प्रकृतिरूप मानता है तब जीव अवस्था को प्राप्त होता है। जब प्रकृति को इसका मूल मानता है तब स्वरूप में ही स्थित रहते हुए जगत् का कारण होता है अथवा प्रदेश भेद से कारण होता है। मूलप्रकृति और व्यामोहक प्रकृति दोनों ही पुरुष से सम्बन्धित है। जैसे आकाश में कहीं ग्रह दिखाई देते हैं कहीं नहीं दीखते इसलिये उस मोहकप्रकृति में से भी जब मोहकता दूर हो जाती है तो वह मूल पुरुष के तुल्य ही हो जाती है। परन्तु मूलभूत प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध नहीं रहता है तो उसमें कर्त्तापन नहीं होता है। दोनों का सम्बन्ध जिस तरह से घटित हो वैसा ही पुरुष है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि दोनों ही अवस्था देखी गई है। आशंका हो सकती है कि जीवों को मूलपुरुष से भिन्न ही क्यों न माना जाय ? ऐसा मानने पर श्रुतिस्मृति का विरोध आता है। प्रपञ्च (जगत्) को मिथ्या (असत्य) मानने पर शास्त्रविरोध होता है, जीवों का मोक्ष नहीं होगा। जीव एक है ऐसा मानने पर एक जीव की मुक्ति होने पर सब जीवों को मुक्ति हो जायेगी और अविश्वास होगा। अतः दोनों जिस तरह से घटित हों उस तरह मूलपुरुष और प्रकृति दोनों को ग्रहण करते हैं ऐसा मानना चाहिये ॥ ६ ॥

का प्रश्न नहीं किया। इस प्रकार प्रश्न ग्रन्थ का तात्पर्य कहकर अब अन्य सांख्य से यह सांख्य अलग है इस का विवेचन करने के लिये उत्तर ग्रन्थ की प्रणाली कहते हैं। पुरुष एक ही है अन्य सांख्यों में पुरुष बहुत हैं जैसा कि पुरुष बहुत्वव्यवस्थातः' इस प्रवचन सूत्र से जाना जाता है अन्यत्व ऐसा भी कहा है कि पुरुषों से ईश्वर अन्य है। उनका कहना है कि पुरुषों को मोक्ष देने वाला ज्ञान है वह ज्ञान स्वतः घटित हो नहीं सकता इसलिये ज्ञान देने वाले (ईश्वर) की अपेक्षा (आवश्यकता) रहती है। उक्त दोनों सांख्य कहने योग्य नहीं हैं इस आशय से एकादश स्कन्ध में कहे गये एक मत को ही यहाँ कहते हैं।

(२) लक्षण कहने का तात्पर्य है जीव और ईश्वर का स्वरूप लक्षण तो फिर अवस्था भेद कैसे होगा।

(३) उभे का अर्थ है मूलप्रकृति और व्यामोहकप्रकृति

(४) तस्यापि—जीवभावापन्न प्रदेश का भी।

(५) कारणतुल्यता—मूलपुरुषतुल्यता।

(६) उभयोर्दृष्टाचात्—दोनों ही अवस्था देखी गई है

(७) जीवों का मूलपुरुष से भेद क्यों नहीं मानते ऐसी शंका है

(८) 'सवा एष महान आत्मा' और 'यस्यात्मा शरीरम्' इन श्रुतियों से विरोध होता है। 'अध्यात्मा गुडाकेशः' इस गीता स्मृति का भी विरोध होता है। तो फिर मोक्ष के लिये सुकर होने से मायावाद का ही आदर क्यों नहीं करते इसके लिये कहते हैं।

(९) शास्त्र विरोध अर्थात् सत्कार्यवाद का यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है उसका विरोध होगा। शेष सब स्पष्ट है। यहाँ 'पुरुषस्वेकः' यहाँ से आरम्भ कर 'मन्तव्यमृ' यहाँ तक शास्त्र प्रणाली का निरूपण किया है।

आभास—मूलभूतां प्रकृतिं लक्षयति—

आभासार्थ—मूलभूत प्रकृति का लक्षण कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ।।१०।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा जो त्रिगुणात्मक, अव्यक्त, नित्य और कार्यकारण रूप हैं तथा स्वयं निर्विशेष होकर भी सम्पूर्ण विशेष धर्मों का आश्रय है उसे प्रधान नामक तत्व को ही प्रकृति कहते हैं ।।१०।।

सुबोधिनी-यत्तदिति । यत्पूर्वमुक्तम्, तदेवैताद्दशगुणविशिष्टं मूलप्रकृतिर्भवति । यत्त्रिगुणम्, सा प्रकृतिः, सत्त्वरजस्तमोगुणाः यस्य मूलभूताः । यथा सच्चिदानन्दं ब्रह्म, क्रियाज्ञानानन्दा धर्मा अपि भवन्ति । तथा सच्चिादानन्दरूपं प्रधानम्, उद्गतास्त्वंशतो गुणा अपि भवन्ति । **अव्यक्तम्**, न केनापि प्रकारेणाऽभिव्यक्तम्, कार्यमेव तस्याऽभिव्यक्तम्, न स्वयमिति । **नित्यं** सदैकरूपम् । **सदसदात्मकं** कार्यकारणरूपम् । **प्रधानं** मुख्यम् । **प्रकृतिमिति** लक्ष्यम् । **प्राहुरिति** प्रमाणम् । ब्रह्मवद**विशेषम्** । विशेषाः सर्वे गुणकृताः तस्या एवाऽतो **विशेषवत्** । **प्रधानमिति** लक्षणमेकमेव । प्रधानमिति मुख्यं भगवता जगत्कारणत्वेन निर्मितम्, तद्रूपं वा । तस्य जगत्कर्तृत्वनिर्वाहार्थं भगवत इव षड्गुणानाह–त्रिगुणादिषट्पदैः । त्रिविधा हि सृष्टिरन्यथा न भवेत्, यथा भगवत ऐश्वर्यम्; अन्यथा समानेऽपि कर्मण्युच्चनीचगतयो न स्युः । मूलधर्मा एते सच्चिदानन्दाभासा भगवत उत्पन्नायां प्रतिष्ठिताः । एवं सत्येव मुख्यं भवति । यद्यप्येकैकमेव लक्षणम्, तथापि भगवत्त्वाय षड्च्यन्ते । **अव्यक्तमिति** द्वितीयम् । तस्य हि एवं सामर्थ्यं न केनाप्यभिव्यक्तं भवति, अन्यथा कालादिनाऽभिव्यक्तावनित्यतायां पुनः सृष्टिर्न स्यात् । **सदैकरूपमिति** कीर्तिस्तस्य । यज्जीवप्रकृतिव्युदासार्थमिति केचिदाहुस्तदुत्तराध्यायेन विरुध्यते; नित्यत्वादुभयोरिति । **सदसदात्मकमिति** श्रीः, तस्यैषा शोभा यत्सर्वात्मकमिति । **अविशेषमिति** ज्ञानहेतुः, अन्यथा संसारिणो मुक्ता न स्युः, तस्य सर्वकारणत्वात् । **विशेषवदिति** सर्वे विशेषास्तदीयाः, न तस्य किञ्चिदाश्चर्यकरमिति वैराग्यहेतुः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—जो[1] पहली कही है वह ही इस प्रकार के गुणों से विशिष्ठ मूल प्रकृति है । जो त्रिगुण है । वह प्रकृति है सत्व, रज, तम ये गुण जिसके मूलभूत हैं । जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म है उसके क्रिया, ज्ञान और आनन्द धर्म भी होते है । वैसे ही सच्चिदानन्दरूप प्रधान है उसके अंश से गुण भी उद्गत होते (निकलते) है 'अव्यक्तम्' का अर्थ है वह स्वयं किसी भी तरह प्रकट नहीं होती केवल उसका कार्य ही प्रकट रूप में दीखता हैं । नित्यां से जो सदा एक-

---

१ पहले कहा इसका तात्पर्य है, 'स एष प्रकृति सूक्ष्माम्' इत्यादि ।

रूप है। 'सदसदात्मकम्' जो कार्यकारण रूप है प्रधानम् (मुख्य प्रकृति) यहाँ लक्ष्य है 'प्राहुः' कहते हैं। यह ही यहां प्रमाण है। यह प्रधान (प्रकृति) ब्रह्म की तरह अविशेष होते हुए भी विशेषता वाली है इसके जितने भी विशेष हैं वे गुणकृत हैं इसलिये सब विशेष उसी के हैं ऐसा माना जाता है। यहाँ प्रकृति लक्ष्य है और प्रधान यह एक ही लक्षण है। इसको प्रधान (मुख्य) इसलिये कहते हैं कि भगवान ने जगत् के कारण रूप से इसका निर्माण किया है अथवा यह प्रधान ही जगद्रूप है। वह प्रधान (प्रकृति) जगत् का करने वाला है इसके निर्वाह के लिये; भगवान् की ही तरह इसमें भी छः गुण उनको कहते है (१) त्रिगुणम् (२) अव्यक्तम् (३) नित्यम् (४) सदसदात्मकम् (५) अविशेषम् (६) विशेवत् यदि ये छः गुण प्रधान (प्रकृति) में नहीं होते तो त्रिविध सृष्टि नहीं हो सकती। जिस तरह भगवान में ऐश्वर्य है उसी तरह प्रधान (प्रकृति) में त्रिगुण[1] है यदि ऐश्वर्य के सदृश ये तीन गुण न होते तो समान कर्म के होते हुए भी ऊँच नीच गतियां नहीं होती। ये मूलधर्म सच्चिदानन्द के समान[2] भगवान से उत्पन्न होने वाली प्रकृति में भी विद्यमान है। ऐसा होने से ही तो वह मुख्य है। यद्यपि ये एक-एक लक्षण है। परन्तु भगवत्व के लिये छः कहे जाते हैं। उसमें अव्यक्त यह दूसरा गुण है। उसकी ऐसी सामर्थ्य है कि वह किसी से प्रकट नहीं है अन्यथा काल आदि से अभिव्यक्ति होजाती तो उसमें अनित्यता हो जाती और वह अनित्यता होने पर फिर सृष्टि नहीं होती। सदैक रूप होना यह उसकी कीर्ति है। सदैक रूपता का प्रयोजन जीव व प्रकृति से इसे अलग करने के लिये ऐसा कोई[3] कहते है यह उत्तराध्याय (आगे के अध्याय से) विरुद्ध पड़ता है क्योंकि जीव प्रकृति और मूल प्रकृति दोनों[4] ही नित्य हैं 'सदसदात्मकम्' से 'श्री' का ग्रहण होता है। सर्वात्मक होना यह उसकी शोभा (श्री) है। 'अविशेषम्' यह ज्ञान का हेतु है अन्यथा संसारी मुक्त न होते ज्ञान का कारण न होता तो सर्वकारण कैसे होता। विशेषवत् आशय है सब विशेष उसके है उसमें कोई आश्चर्यकर नहीं है ये वैराग्य का कारण है ।।१०।।

आभास—प्रधानं लक्षयित्वा प्राधानिकं निर्दिशति—

आभासार्थ— प्रधान का लक्षण करके प्राधानिक का निर्देश करते हैं—

श्लोक—**पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।**
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ।।११।।

श्लोकार्थ—पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रियाँ इन चौबीस तत्वों के समूह को विद्वान् लोग प्रकृति का कार्य मानते हैं ।।११।।

---

१ यहाँ पर ऐश्वर्य स्थानापन्न त्रिगुण हैं। २ सच्चिदानन्द का आभास ऐसा कहने का भाव यह है कि 'प्रजायेय' ऐसी जो इच्छा हुई इससे उनसे कुछ निम्नभाव को प्राप्त हुए।
३ यह मत श्रीधर स्वामी का है। ४ जीव प्रकृति और मूल प्रकृति।

सुबोधिनी—पञ्चभिरिति । प्राधानिकं गणं चतुर्विंशतिकं प्राहुः । चतुर्विंशतिभेदभिन्नम् । चतुर्विंशतीनां समुदायः प्राधानिको गणः । **विदुरिति** प्रमाणम् । चतुर्विंशतिसङ्ख्यासिद्धिर्यैः, तान्याह गणशः—**पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्मेति** परिज्ञानार्थम् । एतच्चतुर्विंशतिभेदभिन्नं जगत् **ब्रह्मैव । चतुर्भिर्दशभिरिति** । चतुर्णां प्रवर्तकत्वात् प्रथमं निर्देशः । साङ्ख्यशास्त्रत्वात् सङ्ख्ययैव पूर्तिः ।।११।।

व्याख्यार्थ—प्रधान (प्रकृति) से सम्बन्धित यह चौबीस प्रकार का गण कहा गया है अर्थात् चौबीस प्रकार के भेद से अलग-अलग चौबीसों का एक प्रधानिक गण है । 'विदुः' जानते हैं यह जानना ही प्रमाण है । चौबीस संस्कार की सिद्धि जिनसे होती है उनको बताते हैं । पाँच-पाँच ऐसा कहना उनको समझाने के लिये है । इन चौबीस भेदों से भिन्न जगत् ब्रह्म ही है । चार प्रवर्तक हैं इसलिये उनका पहले निर्देश किया बाद में इसका निर्देशन है । सांख्यशास्त्र होने से संख्या से ही उसकी पूर्ति होती है ।।११।।

आभास—तानि नामतो निर्दशति—

आभासार्थ—उन्हें निर्देश नाम से कहते है—

श्लोक—**महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।**
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ।।१२।।

श्लोकार्थ—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पाँच महाभूत हैं गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्राएं मानी गई हैं ।।१२।।

सुबोधिनी—महाभूतानीति । प्रथमं पञ्चसङ्ख्यापूरकाणि महाभूतानि । **एवकारेण** दिगादीनामाकाशादिष्वन्तर्भावः सूचितः। तानि गणयति—**भूरित्यादि । अग्निस्तेजः**, अग्निरेव वा । सौरादीनि तेजांसि अग्नावन्तर्भवन्तीत्येके । भगवत्तेज इत्यपरे । **मरुद्वायुः । नभ** आकाशम् । **तन्मात्राणि** शब्दादीनि । **तावन्ति** पञ्चैव । स्वराः सर्वे शब्दमध्ये । **गन्धादीनि** गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः । **मे मतानी**त्यस्मत्सिद्धान्ते गन्धादीनां तन्मात्रत्वम्, अन्येषां मते गन्धादयो गुणाः भूतेभ्य उत्पद्यन्ते, भूतसमवेता इति ।।१२।।

व्याख्यार्थ—पहली पाँच संख्या को पूर्ण करने वाले पाँच महाभूत हैं । पञ्चैव में आये हुए 'एव' का अर्थ ही है अर्थात् पाँच ही हैं इसलिये दिशा आदि का अन्तर्भाव आकाश[1] आदि में है यह सूचित हुआ । उनको "भूरोपोऽग्निर्मरुन्नभः" से गिनाया है । अग्नि से तेज का ग्रहण करना अथवा अग्नि का ही ग्रहण करना । कुछ लोगों का कहना है कि सूर्य आदि के तेज का अग्नि

१ यह आदिशब्द दिक्कालावाकाशादिभ्यः यह प्रवचन सांख्यसूत्र को सूचित करता है ।

में ही अन्तर्भाव होता है। अन्य लोगों का कहना है सूर्य[1] सम्बन्धी तेज तो भगवत्सम्बन्धी तेज है। मारुत् (वायु) नभः (आकाश)। तन्मात्रा शब्द आदि। तावन्ति (उतनी) (पाँच) ही है स्वर[2] सब शब्द में अन्तर्भूत हैं। गन्धादि में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द मे मतानि का अर्थ है हमारे सिद्धान्त में गन्ध आदि में तन्मात्रापन है दूसरों के मत में गन्ध आदि गुण पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न होते हैं, अर्थात पञ्चमहाभूत इनका समवायि कारण है ।।१२।।

आभास—दशसङ्ख्यां पूरयति—

आभासार्थ—दस संख्या की पूर्ति करते हैं—

श्लोक—**इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिका ।**
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ।।१३।।

श्लोकार्थ—श्रोत्र, त्वचा, रसना, नासिका, वाक्, हाथ, चरण, उपस्थ, पायु (गुदा) ये दस इन्द्रियाँ है ।।१३।।

सुबोधिनी-इन्द्रियाणीति। ज्ञानेन्द्रियाणि प्रथमं गणयति। **श्रोत्रं** शब्दग्राहकम्। **त्वक्** त्वगिन्द्रियम्। **दृक् दृष्टिः, चक्षुरिति यावत्**। रसनेन्द्रियम्, घ्राणेन्द्रियञ्चेति। वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि। **मेढ्रं** गुह्यम् ।।१३।।

व्याख्यार्थ—ज्ञानेन्द्रियों को पहले गिनाते हैं। श्रोत्र (कान) यह शब्द को ग्रहण करता है। त्वक् त्वगिन्द्रियम् (चमडी) दृक् से दृष्टि अर्थात् आँखें। रसना (जीभ) घ्राणेन्द्रिय (नाक) वाक् आदि कमेन्द्रियाँ है। मेढ्र से गुप्त स्थान लेना ।।१३।।

आभास—चतुष्टयं गणयति—

आभासार्थ—चार संख्या को गिनाते हैं—

श्लोक—**मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।**
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ।।१४।।

श्लोकार्थ—मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त ये चार अन्तःकरणात्मक एक ही

---

१ सूर्य के तेज के विषय में जो दो मत हैं वे श्रीधरस्वामी के नहीं हैं क्योंकि वहाँ इनकी कोई व्याख्या नहीं की है इसलिये ये दूसरों के हैं।

२ 'स्वर' से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित अथवा निषाद आदि का ग्रहण है।

है किन्तु सङ्कल्प, निश्चय, चित्त और अभिमानरूप चार प्रकार की वृत्तियों से यह लक्षित होता है ॥१४॥

सुबोधिनी—मनो बुद्धिरिति। ननु पर्याया एते इत्याशङ्क्याऽऽह—**अन्तरात्मकमिति।** एकमेवान्तरात्मकमन्तःकरणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्द्धा लक्ष्यते। एकस्याऽनेकधा लक्षणे हेतुः—**लक्षणरूपया वृत्त्या भेदो लक्ष्यत** इति। वृत्तिभेदाद्भेदः, वृत्तिश्च लक्षणरूपा। व्यावर्तकं हि लक्षणम्, सामान्यवृत्तेर्भेदकत्वाभावात् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—मन, बुद्धि आदि चार तो पर्यायवाची हैं अर्थात् एक ही है अलग-अलग कहाँ है उसका समाधान करते हैं तो ये चारों अन्तरात्मक (अंतःकरण रूप से) एक ही हैं परन्तु मन, बुद्धि आदि भेद से चार प्रकार से लक्षित होता है। एक का अनेक प्रकार से जो लक्षण है उसमें हेतु है लक्षणरूपा वृत्ति उसी के द्वारा भेद लक्षित होता है। वृत्ति के भेद से परस्पर भेद है। वृत्ति लक्षणरूपा है। अन्य का व्यावर्तक (पृथक करने वाला) लक्षण होता है। सामान्य वृत्ति तो भेद करने वाली होती नहीं ॥१४॥

आभास—नन्वयं चतुर्विंशतिभेदभिन्नो गणितः, अपरश्च गणनीय इत्याशङ्क्याऽऽह

आभासार्थ—शंका होती है कि चौबीस भेद से भिन्न इसको तो गिना दिया दूसरा भी गिनाईये इस पर कहते हैं—

श्लोक—**एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।**
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ॥१५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार तत्व ज्ञानी पुरुषों ने सगुणब्रह्म के सन्निवेश स्थान इन चौबीस तत्वों की संख्या बतलायी है। इनके सिवाय जो काल है वह पच्चीसवाँ तत्व है ॥१५॥

सुबोधिनी—एतावानेवेति। सगुणस्य ब्रह्मण एतावत्येव सङ्ख्या। शास्त्रे एतावानेव वा सङ्ख्यातः। **सगुणस्य ब्रह्मणः सन्निवेशः।** सम्यक् निवेशो नाम असम्भावितान्यप्रवेशे स्वधर्मवत्तया निरूपणम्। नन्वस्ति कालोऽधिकस्तत्राऽऽह—**यः कालः प्रोक्तः,** स **पञ्चविंशकः।** प्राकृत एवेत्यर्थः। प्रकृतेः प्रथमो भाव कालः, अन्यानि चतुर्विंशतिरिति ॥१५॥

व्याख्यार्थ—सगुण ब्रह्म की इतनी ही संख्या है। शास्त्र में इतनी ही संख्या वाला कहा गया है। जिसमें किसी अन्य का प्रवेश संभवत हो और स्वधर्मवेत्ता से जिसका निरूपण हो उसे सन्निवेश कहते हैं यद्यपि कालः इन चौबीस से अधिक हैं अतः उसके लिये 'यः कालः स पञ्च विंशक' जो काल है वह पच्चीसवां है अर्थात् काल भी प्रकृति सम्बन्धी है प्रकृति है। प्रकृति से प्रथम काल उत्पन्न हुआ और अन्य चौबीस तत्व उत्पन्न हुए ॥१५॥

आभास—एवमेकदेशिमतेन कालं निरूप्य पुनरेकदेशमतेन निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह एक देशी मत से काल का निरूपण करके फिर एकदेश मत से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम् ।**
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः ।।१६।।

श्लोकार्थ—कुछ लोग काल को पुरुष से भिन्न तत्व न मानकर पुरुष का प्रभाव अर्थात् ईश्वर की संहारकारिणी शक्ति बताते हैं । जिससे माया के कार्यरूप देहादि में आत्मतत्व का अभिमान करके अहङ्कार से मोहित और अपने को कर्त्ता मानने वाले जीव को निरन्तर भय लगा रहता है ।।१६।।

सुबोधिनी-प्रभावमिति । केचित्पौरुषं प्रभावं कालं प्राहुः । पुरुषस्य धर्मः कश्चित्, सामर्थ्य-विशेषो वा । तथात्वे हेतुः—**यतो भयमिति** । यस्मात् कालाल्लोके भयं भवति । कस्य भय-मित्याशङ्क्याऽऽह—**अहमिति** । अहङ्कारेण यो **विमूढो** वञ्चितः, आत्मानमेवाऽहङ्कारं मन्यते । अहङ्कारविमूढत्वे हेतुः—**कर्तुरिति** । यः कर्मादि-कर्ता, सोऽहङ्कारविमूढो भवति । कर्मकर्तृत्वेऽपि हेतुः—**प्रकृतिमीयुष** इति । यस्तु प्रकृत्या सह ऐक्यं प्राप्य कर्माणि करोति, पश्चादहङ्कारेण मूढो भवति, तस्य कालाद्भयं भवतीत्यर्थः ।।१६।।

व्याख्यार्थ—कुछ लोग पुरुष के प्रभाव को काल कहते है । प्रभाव पुरुष का कोई धर्मविशेष है अथवा सामर्थ्य विशेष है । ऐसा होने में हेतु है 'यतो भयम्' जिस काल से लोक का भय होता है । भय किसको होता है उसके लिये कहा है 'अहँकार विमूढस्य' अहङ्कार से जो बेभान है ठगा गया है आत्मा को (अपने को) अहङ्कार मानता है । अहङ्कार से मूढ होने में कारण यह है कि जो कर्म आदि का करने वाला (कर्त्ता) है वह अहङ्कार से विमूढ होता है । जो प्रकृति के साथ एकता को प्राप्त हो कर कर्म करता है पश्चात् अहङ्कार से मूढ होता है उसको काल से भय होता है ।।१६।।

आभास—स्वमते कालं लक्षयति—

आभासार्थ—कपिलजी अपने मत के अनुसार काल का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ! ।**
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ।।१७।।

श्लोकार्थ—हे मनुपुत्रि ! जिसकी प्रेरणा से गुणों की साम्यावस्थारूप निर्वेश

प्रकृति में गति उत्पन्न होती है, वास्तव में वे पुरुषरूप भगवान् ही काल कहे जाते हैं ।।१७।।

सुबोधिनी–गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेः संबन्धिनो ये गुणाः सत्त्वादयः, तेषां साम्यं गुणक्षोभात्पूर्वावस्था । स च क्षोभात्पूर्वं निर्विशेषः । **मानवीति** संबोधनं महत उत्पन्ना अलौकिकं जानातीति । एतादृशस्य यतश्चेष्टा, स कालः । कालादेव गुणानां क्षोभः । स कालो भगवानेव, रूपपञ्चकमध्ये गणनात् । ननु भगवतः काल इति संज्ञा कुत इत्याकाङ्क्षायामाह– **इत्युपलक्षित इति** । कलयत्याकलयतीति । सर्वो हि प्राणी येन रूपेण कृत्वा सर्वमाकलयति, मृत्युभीत एव हि सर्वमाकलयति । अतः काल इति भगवानेवोपलक्षित उपलक्षणविधया बोधितः । न हि काल इति साक्षाद्भगवन्नाम, किन्तु प्राणिनां बोधनहेतुत्वेन निरूपित इति ।१७

व्याख्यार्थ—गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है । प्रकृति के संबन्धी जो सत्व आदि गुण हैं उनकी समानता गुणक्षोभ से पहले की अवस्था है । वह (गुण) क्षोभ से पूर्व निर्विशेष होता है । मानवि ! ऐसा सम्बोधन इस अभिप्राय से है कि आप बड़ों से अर्थात् मनु से उत्पन्न हुई है अतः अलौकिक बात को भी आप जानती हैं । निर्विशेष गुण की चेष्टा (क्षोभ) जिससे होती है वह काल कहा जाता है । काल से ही गुणों का क्षोभ होता है । वह काल भगवान् ही है रूप पञ्चक में उसकी गणना है । शंका होती है कि भगवान् को काल ऐसी संज्ञा (नाम) किसलिये है इसका उत्तर देते हैं इत्युपलक्षितः कलयति' अर्थात् प्रबुद्ध होना । सब प्राणी जिस काल रूप से ही प्रबुद्ध (ज्ञान को प्राप्त होते हैं) होते हैं मृत्यु के भय से सब प्रबुद्ध (सावधान) होते हैं । इसलिये काल यह भगवद्रूप से जाना जाता है । काल यह कोई भगवान् का नाम नहीं है किन्तु प्राणियों के बोधन (ज्ञान) का हेतु है इस रूप से इसका निरूपण है । (कल धातु गति और संख्या अर्थ में है जो गत्यर्थक होता है वह ज्ञानार्थक भी होता है) ।।१७।।

आभास—एवं कालं भगवद्रूपत्वेनोक्त्वा नस्योपलक्षणतां निरूपयति—

आभासार्थ—इस तरह काल को भगवान् का रूप बताकर उसकी उपलक्षणता का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।**
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ।।१८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जो अपनी माया के द्वारा सब प्राणियों के भीतर पुरुषरूप से और बाहर कालरूप से व्याप्त है वह भगवान् ही पच्चीसवां तत्त्व है ।।१८।।

सुबोधिनी–**अन्तः पुरुषरूपेणेति** । एक एव भगवान् सर्वप्राणिनामन्तः पुरुषरूपेण वर्तते, बहिः कालरूपेण, अन्यथा भगवतो व्याप्तिर्न स्यात् । बहिर्मुखान् कालरूपेण भक्षयति, अन्तर्मुखान् पुरुषेणाप्याययतीति । अत एव **सत्त्वानां** सर्वेषां भगवान् स्वमायया सर्वभवनसामर्थ्येनोभयविधो भूत्वा, **समन्वेति** सम्यगन्वयं प्राप्नोति । बहिः काले लयं प्राप्नोति, अन्तः पुरुष इति । कालो भयजनकः, अभयरूपश्च पुरुष इति विशेषः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—एक ही भगवान् सब प्राणियों के अन्दर पुरुष रूप से हैं और बाहर[1] काल रूप से हैं अन्यथा ऐसा न होता तो भगवान् की व्याप्ति नहीं होती। जो बहिर्मुख है उन्हें कालरूप से खा जाता है अन्तर्मुख हैं उन्हें पुरुष रूप से पोषित करता है अतएव भगवान् सब प्राणियों को अपनी माया से अर्थात् सर्वभवन सामर्थ्य से दोनों प्रकार का होकर समन्वित [व्याप्त] होता है। बाहर काल में लय को प्राप्त होता है और भीतर पुरुष में लीन होता है। काल भय को उत्पन्न करता है और पुरुष अभय रूप है यह इनमें विशेषता है ॥१८॥

आभास—एवमुद्देशेन तत्त्वानि निरूप्य उत्पत्तिपूर्वकं लक्षणान्याह—

आभासार्थ—इस प्रकार उद्देश (नाम) से तत्वों का निरूपण करके उत्पत्ति पूर्वक उनके लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।**
आधत्त वीर्यं साऽसूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—जब परमपुरुष परमात्मा ने काल के द्वारा क्षोभ को प्राप्त हुई सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति स्थानरूपा अपनी प्रकृति में चित्-शक्ति रूप वीर्य स्थापित किया तो उससे तेजोमय महत्तत्व उत्पन्न हुआ ॥१९॥

सुबोधिनी–दैवादिति । प्रथमतश्चित्तस्योत्पत्तिमुक्त्वा तस्याऽऽधिदैविकादिभेदान् निरूपयता लक्षणान्युच्यन्ते । आदावुत्पत्तिः, तत आध्यात्मिकस्य लक्षणम्, तत आधिदैविकस्य, तत आधिभौतिकस्येति । एवमेकः पदार्थश्चतुर्भिरुच्यते । तत्र प्रथमं महत्तत्त्वस्योत्पत्तिमाह—**दैवात्** कालात्, क्षुभिता धर्मा यस्याः सा पुरुषस्य योनिः क्षेत्रम्, तस्यां **परः पुमान्** प्रथमपुरुषो **वीर्यमाधत्त**; यथा स्वभार्यायां पुरुषः । तस्येन्द्रियाणि भगवत इवाऽऽनन्दमयानि, रेतस्तु सच्चिदंशः । चिदंश एवेत्येके, सदंशस्तु प्रकृतेः सकाशात् संबध्यते । ततः सा प्रकृतिः महत्तत्त्वमसूत । तस्य शरीरं हिरण्मयम्, यथा सूर्यान्तर्गतस्य नारायणस्य । आनन्दसतोरैक्ये हिरण्यरूपता भवति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—सब से पहले चित्त की उत्पत्ति को कहकर उसके आधिदैविक आदि भेदों का

---

(१) यह प्रमेय 'वीर्याणितस्याऽखिलदेहभाजाम्' इस श्लोक से दशम स्कन्ध में राजा परीक्षित ने इसका अनुवाद किया है और देवहूति ने जो 'ब्रूहि कारणयोरस्य' इस श्लोक से प्रकृति तथा जगत् के कारण रूप से जो पुरुष का प्रश्न किया था उसकी कारणता का बोधक यह श्लोक उत्तररूप है 'विश्वं येन समन्वितम्' इससे ज्ञानोपयोगी लक्षण पहले कह दिया था फिर भी लक्षण का जो प्रश्न किया इससे यह जाना गया कि पहले की बात समझ में नहीं आई है ऐसा जानकर समन्वयोपपादान से यह उत्तर दिया है ।

निरूपण करते हुए लक्षण कहते हैं । आदि में उत्पत्ति तदन्तर आध्यात्मिक लक्षण बाद में आधि-दैविक और फिर आधिभौतिक इस तरह एक ही पदार्थ चार प्रकार से कहा जा रहा है । उनमें पहले महत्तत्व की उत्पत्ति को कहते हैं । दैव अर्थात् काल से क्षोभ को प्राप्त हो गये हैं धर्म जिसके ऐसी पुरुष की क्षैत्ररूपा प्रकृति में प्रथम पुरुष ने अपने वीर्य का आधान किया जैसे पुरुष अपनी भार्या में वीर्याधान करता है । अन्तर इतना है पुरुष की इन्द्रियां भी भगवान् जैसी हैं परन्तु भगवान् की इन्द्रियां आनन्दमय हैं और भगवान् का वीर्य सच्चित् अंश है । कुछ लोगों का कहना है कि केवल चिदंश ही है सदंश तो प्रकृति के साथ संबद्ध हो जाता है । तब वह प्रकृति महत्तत्व को उत्पन्न करती है । उसका शरीर तेजोमय होता है जैसे सूर्य के अन्तर्गत भगवान् नारायण का है । आनन्द और सत् की एकता होने पर हिरण्य रूपता होती है ।।१९।।

आभास—आध्यात्मिकं लक्षयति—

आभासार्थ—आध्यात्मिक का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः ।**
स्वतेजसाऽपिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ।।२०।।

श्लोकार्थ—जगत् के अंकुररूप इस महत्तत्व ने अपने में स्थित विश्व को प्रकट करने के लिये अपने स्वरूप को आच्छादित करने वाले प्रलयकालीन अन्धकार को अपने ही तेज से पी लिया ।।२०।।

सुबोधिनी—विश्वमिति । स हि महान् सर्व-जगत्प्रसवहेतुः, विश्वाधारत्वं तस्य लक्षणम् । ब्रह्माण्डस्याऽप्यंशतो भवतीति **कूटस्थ** इत्युक्तम् । प्रकृतिव्युदासार्थम्—**जगदङ्कुर इति** । यथा वृक्षस्य प्रथमावस्था अङ्कुरः, तथा जगतः । स हि विश्वमात्मगतं व्यनक्ति । तत् किं कुर्वन्नित्याकाङ्क्षायामाह—**स्वतेजसा आत्मप्रस्वापनं तमः पिबन्निति** । येन तमसा पूर्वं महत्तत्त्वं प्रस्वापितं लयं प्रापितमासीत्, तन्मूलभूतं तमः महत्तत्त्वेन पीयते, अन्यथा जगत् केनापि प्रकारेण नाऽभिव्यक्तं स्यात् । अस्य महत्तत्त्वस्य माहात्म्यत्रयमुक्तम्—जगत्प्रकाशकत्वेन, जगज्जनकत्वेन, अतिसमर्थतमोनाशकत्वेन च । त्रीण्यप्येतानि लक्षणानि कारणगुणत्रयसूचकानि सात्त्विकराजसतामसानि क्रमेणैव ।।२०।।

व्याख्यार्थ—वह महत्तत्व सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण है विश्वाधारता यह उसका लक्षण है । अंशतः ब्रह्माण्ड का भी आधार है इसलिये उसे **कूटस्थ** कहते हैं । **यह महत्तत्व** प्रकृति नहीं है इसलिये इसे जगत् का अंकुर कहा है जैसे वृक्ष की पहली अवस्था अंकुर है इसी तरह यह महत्तत्व जगत् का अंकुर है । वह महत्तत्व विश्व को अपने अन्दर से प्रकट करता है । किस तरह यह प्रकट करता है इस आशंका को दूर करने के लिये कहते हैं । जिस अन्धकार ने पहले महत्तत्व को सुला दिया (लय को प्राप्त कर दिया) था । उस मूल भूत तम को महत्तत्व ने पी लिया ऐसा

न हो तो जगत् किसी भी तरह अभिव्यक्त (प्रकट) नहीं हो सकता। इस महत्तत्व के तीन माहात्म्य कहे हैं (१) जगत् को प्रकाशित करना (२) जगत् को उत्पन्न करना (३) अतिसमर्थ अन्धकार को नष्ट करना। ये तीन लक्षण भी हैं, कारणभूत गुणत्रय के सूचक भी हैं जिनको क्रमशः सात्विक, राजस, तामस कहते हैं ।।२०।।

आभास—आधिदैविकं लक्षयति—

आभासार्थ आधिदैविक का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—जो सत्त्वगुणमय, स्वच्छ, शान्त और भगवान् की उपलब्धि (प्राप्ति) का स्थानरूप चित्त है वह महत्तत्व है और उसी को वासुदेव कहते हैं ।।२१।।

सुबोधिनी—यत्तदिति । तस्याऽऽधिदैविकं रूपम्—**वासुदेव इति** । वासुदेवाविर्भावस्थानत्वात् । वसुदेवे आविर्भवतीति वासुदेवः । विशुद्धं सत्त्वं वसुदेवः, तदेवाऽस्याऽऽधिदैविकं रूपम्, यत्सर्वोपास्यत्वेन प्रसिद्धम् । तदेवैतत् । सत्त्वं गुणो यस्य । सत्त्वस्यापि सत्त्वम्, तस्य रूपत्रयमाह सच्चिदानन्दत्वाय । तत्र सद्रूपतामाह—**स्वच्छ**मतिनिर्मलम्, **शान्तं** चिद्रूपम्, ज्ञानमेव हि शान्तरूपम्, **भगवतः** पुरुषोत्तमस्य **पद**मानन्दरूपम् । एवं सच्चिदानन्दरूपं सत्त्वस्य सत्त्वम् ।**तच्चित्तम्**, सर्वेषु प्राणिषु चेतनारूपेण स्थितम् । तस्योपासनार्थं नामान्तरमाह—**यदाहुर्वासुदेवाख्यमिति** । वासुदेव इत्याख्या यस्य । वासुदेवशरीररूपत्वात्, वासुदेवाधारत्वाद्वा । यस्मादिति विग्रहः । **आहुरिति** प्रमाणम् । ननु चित्तस्य तादृशस्योत्पत्तिर्नोक्तेत्याशङ्क्याऽऽह—**तन्महदात्मकमिति** । महत्तत्त्वरूपमेव चित्तम्, तेन महदुत्पत्त्यैव तस्योत्पत्तिरुक्तेत्यर्थः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—उसका आधिदैविक रूप वासुदेव है। वह वासुदेव के आविर्भाव का स्थान है। वसुदेव प्रकट होता है इसलिये वासुदेव कहा जाता है। विशुद्धसत्व का नाम वसुदेव है। वह ही उसका आधिदैविकरूप है। जो सब के उपास्य रूप से प्रसिद्ध है वह ही यह है। सत्वगुण का विग्रह है 'सत्वं गुणो यस्य' सत्व है गुण जिसका। सत्व का भी सत्व उस सत्व के सच्चिदानन्द के लिये तीन रूप कहे हैं। उनमें सद्रुपता को कहते हैं 'स्वच्छ' अति निर्मल, चिद्रूपता को 'शान्त' से कहा है ज्ञान ही तो शान्त रूप होता है। 'भगवतः पदम्' से आनन्दरूप बताया है 'भगवत' का अर्थ है पुरुषोत्तम और पदम् का अर्थ है आनन्दरूप। इस तरह सच्चिदानन्द सत्व का भी सत्व है। 'तच्चित्तम्' वह चित्त सब प्राणियों मे चेतनारूप से स्थित है। उसकी उपासना के लिये अन्यनाम कहते हैं 'वासुदेवाख्यम्' वासुदेव है 'आख्यां' (नाम)है जिसका। वासुदेव शरीररूप होने से अथवा वासुदेव का आधार होने से 'वासुदेव इत्याख्या यस्मात्' ऐसा विग्रह है। कहा है यह ही प्रमाण है। उस प्रकार के चित्त की उत्पत्ति तो कही नहीं उस शंका का उत्तर देते हैं 'तन्महदात्मकम्'। वह चित्त महत्तत्वरूप है इसलिये महत् की उत्पत्ति के कहने से ही उसकी उत्पत्ति आ जायेगी ।।२१।।

आभास—आधिभौतिकं लक्षयति—

आभासार्थ—आधिभौतिक का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।**
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथाऽपां प्रकृतिः परा ।।२२।।

श्लोकार्थ—जिस प्रकार पृथ्वी आदि अन्य पदार्थों के संसर्ग से पूर्वजल अपनी स्वाभाविक फेन तरङ्गादि रहित अवस्था में अत्यन्त स्वच्छ, विकारशून्य एवं शान्त होता है उसी प्रकार अपनी स्वाभाविकी अवस्था की दृष्टि से स्वच्छत्व अविकारित्व, शान्तत्व ही वृत्तियों सहित, चित्त का लक्षण कहा गया है ।।२२।।

सुबोधिनी—स्वच्छत्वमिति । स्वच्छत्वं निर्मलत्वम्, **अविकारित्वं** सर्वविकारराहित्यम्, **शान्तत्वं** ज्ञानरूपत्वम् । बुद्धिमनोऽहङ्कारव्युदासार्थं त्रीणि विशेषणानि । बुद्धिर्ज्ञानरूपाऽपि विषयाकारेति न स्वच्छा, चित्तं तु निर्विषयं केवलात्मावबोधरूपमिति स्वच्छम् । मनस्तु विकारात्मकं स्पष्टमेव । शान्तत्वं नाऽहङ्कारस्य, सात्त्विकाहङ्कारस्य तथात्वेऽपि पदार्थस्यैकत्वात्, शान्तघोरविमूढात् केवलशान्तत्वं व्यावर्तत एव । अत एव चेतसो वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तम्, नैता वृत्तयोऽहङ्कारादेर्भवन्ति । ननु चित्तमपि बुद्ध्यादिभिर्विषयग्रहणे, कलुषितं जायते, अन्यथा तन्निरोधे यत्नो न कर्तव्यः स्यात् । अत आह—**यथाऽपामिति** । यद्यपि फेनतरङ्गादयोऽप्यपां भवन्ति, तथापि न तासां सहजस्वभावोऽयम्, किन्तु वाय्वादिकृतम्, स्वभावतो निर्मलमेव । अत एव परा प्रकृतिरपां स्वच्छैव । लक्षणं त्वकृत्रिमम्, औपाधिकास्तु कृत्रिमाः । न हि कदाचिदपि पृथिवी निर्मला भवति, वायुर्वा विकाररहितो भवति, तेजो वा शान्तं भवति । अतस्तत्सम्बन्धे अपां तत्तद्भावापत्तिः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—स्वच्छत्व[1]—निर्मलता, अविकारित्वं—सब विकारों से रहितता, शान्तत्व—ज्ञानरूपता । ये तीन विशेषण बुद्धि, मन, अहंकार से चित्त को अलग बताने के लिये दिये गये हैं । बुद्धि ज्ञान रूपा होते हुए भी विषयाकार होती है । अतः बुद्धि को स्वच्छ नहीं कहा जाता चित्त तो निर्विषय है केवल आत्मा का ज्ञानरूप है अतः स्वच्छ है । मन तो विकारात्मक है यह स्पष्ट ही है । अहंकार में शान्तता नहीं है, सात्विक अहंकार यद्यपि शान्त है परन्तु पदार्थ तो एक ही है । इसलिये केवल शान्तत्व शान्तघोरविमूढ से पृथक् हो जायगा । इसलिये ही चित्त का लक्षण वृत्तियो से कहा गया है । ये वृत्तियां अहंकार आदि में नही होती । यद्यपि चित्त भी बुद्धि आदि से विषयों का ग्रहण करता है तो वह भी कलुषित हो जायगा यदि ऐसा न होता तो चित्त के निरोध में यत्न नहीं किया जाता इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा देते है । 'यथायां प्रकृतिः परा' जैसे जल में

---

(१) स्वाभाविक स्वच्छता, अविकारिता और शान्तवृत्तिता जिसमें हो वह चित्त है यह चित्त का लक्षण सिद्ध है ।

फेन (झाग) तरङ्ग (लहर) आदि होते हैं परन्तु ये फेन तरङ्ग जल का सहज स्वभाव नहीं है किन्तु वायु आदि के द्वारा किया गया है जल स्वभाव से तो निर्मल ही है अतएव जल की पराप्रकृति स्वच्छ ही है। लक्षण तो स्वाभाविक ही होता है और कृत्रिम (बनावटी) तो उपाधि से होते हैं। कभी भी पृथ्वी निर्मल नहीं हो सकती, वायु विकार रहित नहीं होता, तेज शान्त नहीं होता इसलिये जल में जो कृत्रिमता (बनावटीपन) है वह इन पृथ्वी आदि के सम्बन्ध से ही होती है इसी तरह चित्त स्वभाव से कलुषित नहीं हैं उसमें जो कलुषितता आती है वह उपाधि के द्वारा आती है ।।२२।।

आभास—अहङ्कारस्योत्पत्तिपूर्वकं पूर्ववल्लक्षणान्याह–**महत्तत्त्वादिति चतुर्भिः**—

आभासार्थ—उत्पत्ति पूर्वक अहङ्कार का लक्षण पूर्व की तरह ही 'महत्तत्वात्' आदि चार श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसंभवात् ।**
क्रियाशक्तिरहंकारस्त्रिविधः समपद्यत ।।२३।।

श्लोकार्थ—तदनन्तर भगवान् की वीर्यरूप चित् शक्ति से उत्पन्न हुए ज्ञानप्रधान महन्तत्व के विकृत होने पर तीन प्रकार का क्रिया शक्ति अहंकार उत्पन्न हुआ ।।२३।।

सुबोधिनी–विकुर्वाणात् कार्योन्मुखात् । कालेन हि गुणक्षोभे विकृतं सत् कार्यमुत्पादयति । न केवलं विकारमात्रेण, किन्त्वन्तर्भगवच्छक्तिरपि सार्वजनिकाऽपेक्ष्यते । तदाह–**भगवद्वीर्यसम्भवादिति** । भगवद्वीर्यस्य सम्भवो यस्मिन् । नहि जले मथ्यमाने तत्राऽविद्यमानं घृतमुत्पद्यते, किन्तु दुग्धे दध्नि वा । अनेनैव वैनाशिकप्रक्रिया निराकृता, अन्यथा सर्वस्मादेव सर्वं जायेत । स्वभावस्य नियामकत्वे तु स्वभावस्याऽपि तथात्वे प्रमाणं वक्तव्यम् । अचेतना हि सर्वे नियन्तुं शक्याः, ईश्वर एव केवलमनियम्यः । शाश्वतः स्वभावस्यान्यथाभावोऽपि नोपपद्येत । पटादौ तन्त्वादिसामग्री, चिन्तामण्यादयश्च कारणत्वेन कल्प्यमाना व्यभिचारिणः स्युः, अतो भगवच्छक्तिरेकैव सर्वभवनरूपा, प्रतिनियता समुदाये, प्रत्येकं वा, यत्रैवावतिष्ठते भगवन्नियमात्, तत एवोत्पाद्यत इति युक्तं भगवानेव तथाऽऽविर्भवतीति न वैनाशिकगन्धोऽपि । श्रुतिरपि संवादिन्यत्र, अन्यत्र श्रुतिविरोधश्च, तस्माद्युक्तमुक्तम्–**भगवद्वीर्यसम्भवादिति** । ज्ञानप्रधानान्महत्तत्त्वात् क्रियाशक्तिरहङ्कार उत्पन्नः । स च त्रिविधः । उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत । क्रिया हि भेदिका कारणभूतं गुणत्रयं कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती ।।२३।।

व्याख्यार्थ—काल के द्वारा गुणों में जब क्षोभ (संचलन) होता है तब महत्तत्व में विकार होता है उस विकार के होने पर ही महत्तत्व कार्य को उत्पन्न करता है विकार का तात्पर्य कार्य की ओर अग्रसर होना ही है। केवल विकार मात्र से ही कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु सार्वजनिक भगवच्छक्ति[1] की भी अपेक्षा होती है। भगवान् के वीर्य का संभव है जिसमें इस तरह 'भगवद्वीर्य

१—(फुट नोट संख्या १ पृष्ठ संख्या ७५ पर देखिये)

संभवात्' का विग्रह वाक्य है। कभी भी जल को मथने पर उसमें न रहने वाला घी उत्पन्न हो सकता हैं ? वह घी तो दूध अथवा दही में ही उत्पन्न होता है। इस कथन से वैनाशिक[२] (बोद्ध मत की) प्रक्रिया का निराकरण(खण्डन)हो जाता है। नहीं तो सब से सब की उत्पत्ति हो जाती। यदि कहो कि स्वभाव उसमें नियामक है तो स्वभाव के नियामक होने में प्रमाण[3] कहना पड़ेगा। जितने भी अचेतन (जड़) हैं वे सब नियमन करने के योग्य हैं केवल ईश्वर ही ऐसा है कि जिसके

---

२३ वें श्लोक की सुबोधिनीजी की कठिन पंक्तियों का "प्रकाश" द्वारा स्पष्टीकरण

अनुसंधान—(पृष्ठ संख्या ७४ के फुट नोट संख्या १ को यहां पर देखिये)

(१) पहले महत्तत्व की उत्पत्ति कह दी है उससे ही महत्तत्व भगद्वीर्य संभव है यह जान लिया था अब फिर उसका जो अनुवाद किया गया है उसका जो प्रयोजन है उसे कहते हैं 'न केवलम्' केवल महत्तत्व की विकृति से ही कार्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु भगवद्वीर्य भी वहाँ विद्यमान है उससे ही सारा सत, चित्, आनन्दात्मक कार्य उत्पन्न होता है यह इसका अर्थ है।

(२) भगवद्वीर्य से कार्य संभव कहने का अन्य प्रयोजन भी है उसे कहते है 'अनेनैव वैनाशिक प्रक्रिया निराकृता' ऐसा कहने से वैनाशिक प्रक्रिया (बौद्ध मत) का निराकरण (खंडन) किया गया वह कैसे किया गया इस शंका का उत्तर बाधकतर्क उक्ति के द्वारा कहते हैं।

(३) वैनाशिक प्रक्रिया आकस्मिक प्रक्रिया का एक देश है। उस आकस्मिक प्रक्रिया को चार प्रकार के विकल्प से दूषित किया है 'हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपारव्यविधिर्न च। स्वभाव वर्णना नैवमवधोर्नियततत्वत:' असत्य से सब उत्पन्न होता है ऐसी विधि को अनुपाख्यविधि कहते हैं। वैनाशिक (बौद्ध) वेद-बाह्य है (वेद को न मानने वाले हैं) उनकी यह प्रक्रिया है कि विनाशरूप जो अभाव है वह असत् है उससे ही सब उत्पन्न होता है। इसमें दूषण यह है कि अभाव अलीक असत्य है वह सर्वत्र सुलभ है उस से सब से सब की उत्पत्ति होती है परन्तु ऐसा देखा गया है कि तन्तु-सूत से कपड़ा उत्पन्न होता है, मिट्टी से घड़ा, नीम के बीज से नीम उत्पन्न होता है यह सब नियतावधिक हैं अत: भगवद्वीर्य से संभव (उत्पत्ति) कहने से उसमें नियतावधिकता का बोध होता है इससे वैनाशिक प्रक्रिया का खण्डन हो जाता है। शंका हो सकती है कि उक्त युक्ति से आपने अन्यवाद का खण्डन किया है किन्तु स्वभाववाद का खण्डन नहीं किया है। चुम्बक की सन्निधि में लोह के परिभ्रमण में मणिस्वभाव की तरह नियामकता देखी गयी है यदि अवधि नियम नहीं होता तो चुम्बक लोह से अतिरिक्त वस्तुओं को भी खीच लेता। इस तरह एक जगह स्वभाव को विधिनियामक देखने से दूसरी जगह भी उसका स्वभाव ही अवधिनियामक हो वैसा होने से सब से सब की उत्पत्ति नहीं होगी फिर किस लिये भगवद्वीर्य की यहां स्थिति कही गई है इस आशंका के उत्तर में कहते हैं। यद्यपि ऊपर कहे गये उदाहरण में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं तथापि उससे स्वभाव की अवधिनियामकता सब जगह निश्चित नहीं की जा सकती। पीपल के वृक्ष में तथा ईख के काण्ड में पुष्प कभी आते नहीं ऐसा उनका स्वभाव निश्चित है परन्तु जब देश तथा

(आगे का भाग पृष्ठ ७६ में "पाद टिप्पणी" में पढ़े)

ऊपर किसी का नियम नहीं है वह अनियम्य है। शास्त्र से स्वभाव का अन्यथा भाव जो लिखा है वह भी नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि कपड़े में तन्तु आदि सामग्री कारण है, चिन्तामणि आदि भी कारण है इस तरह इनको कारण मानने में व्यभिचार दोष आयेगा। अतः केवल एक भगवान् की शक्ति ही जो सर्वभवनरूपा है और समुदाय में प्रतिनियम अथवा प्रत्येक में भगवान् के नियम से जहां ही होती है उसी से कार्य होता है ऐसी ही युक्त है इससे भगवान् ही उस प्रकार से प्रकट

राजभङ्ग होने वाला है अथवा किसान को दारिद्र प्राप्त होने वाला होता है उस समय औत्पातिक पुष्प उनमें दीखते हैं तो यहां स्वभाव नियामक न होने से व्यभिचार आता है। यदि कहो कि वहाँ पर जीव का अदृष्ट या काल अथवा और कोई वहाँ सहकारी भाव से इष्ट हैं तब तो हेतुवाद की आपात्ति होने से आपका स्वभाववाद भग्न होगा इसलिये स्वभाव को अवधिनियामक मानने में अन्य कोई प्रमाण कहना होगा। जो जो अचेतन होता है वह वह नियम्य होता है ऐसी व्याप्ति होने से स्वभाव भी नियम्य है तो उसका (स्वभाव का) भी कोई नियामक होना चाहिये अधिक क्या कहें जो अचेतन का सहारा लेते है वे चेतन भी नियम्य हो जाते है तो जो अचेतन (स्वभाव) हैं वे नियम्य हो इसमें क्या कहना। इसलिये एक ईश्वर ही अनियम्य है अतः कहे गये प्रत्यक्ष और अनुमान (प्रमाणों) से स्वभाववाद से निर्वाह नहीं हो सकता। शंका हो सकती है कि 'यः यः अचेतनः स स नियम्यः' ऐसी जो व्याप्ति है वह सार्वत्रिक नहीं है जैसे 'यत्र यत्र पृथिवीत्वं तत्र तत्र लोह लेख्यत्वम्' जहाँ-जहाँ पृथिवीत्व होता है वहाँ वहाँ लोह लेख्यता होती है किन्तु इस व्याप्ति का व्यभिचार हीरे में देखा गया है हीरे में पृथिवीत्व है परन्तु लोह लेख्यता नहीं है। इस अरुचि से दूसरा दूषण देते है 'शास्त्र के द्वारा स्वभाव का जो अन्यथा भाव बताया गया है वह युक्ति संगत नहीं होगा' जैसे—जो वन्ध्या (बांझ) होती है उसके पुत्र नहीं होता यह स्वभाव है इसी तरह जो अवकेशी वृक्ष के (उसके) फल नहीं आते यह स्वभाव है परन्तु इस स्वभाव का परिवर्तन पुत्रेष्टि के द्वारा एवं वृक्षशान्ति के द्वारा हो जाता है और बाँझ के भी पुत्र और फल रहित वृक्ष के भी फल दिखाई देते हैं तो यहाँ स्वभाव नियामक कहाँ रहा। यदि पूर्व में बताई गई व्याप्ति नहीं होती तो शास्त्र से होने वाला वह अन्यथा भाव युक्ति बाधित हो जाता। इस अरुचि से कहते हैं कि स्वभावपाद भले ही 'न' हो तथापि जहाँ जहाँ कार्य होता है वहाँ वहाँ उस उस कार्य का प्रागभाव रहता है जैसे घड़ा जब तक उत्पन्न नहीं हुआ उसके पहले उसका अभाव था तो वह अभाव ही स्वाभाव का और अवधि का नियामक हो जायेगा ऐसा अर्धवैनाशिकों का मत हैं उसी का आदर क्यों नहीं कर लेते अर्थात् अर्धवैनाशिकमत को ही स्वीकार क्यों नहीं कर लेते इसका खण्डन करते हैं जिस प्रागभाव को अर्धवैनाशिक स्वभाव और अवधि का नियामक मानते हैं वह प्रागभाव कार्य की जो कारणावस्था है उस से अतिरिक्त वह प्रागभाव कहाँ है इसे बता सकते हो क्या? भविष्य में होने वाले कार्य से अनुभव में आने वाला अभाव कारणावस्था से अतिरिक्त हो इसमें कोई प्रमाण नहीं। अर्थात् जैसे मिट्टी से जब तक घड़ा नहीं बना तब तक घड़े का जो अभाव है जिसे प्रागभाव नाम से कहते हैं वह अभाव किस में है तो यही कहा जायेगा कि मिट्टी में है और जब घड़ा बन जाता है तो उसका प्रागभाव नहीं रहता। इसका विस्तार से उपपादन निबन्ध के आवरणभङ्ग में किया है। वास्तव में कारणता तो भगवान् की ही है सब जगह उसकी शक्ति से ही कार्य सिद्धि होती है।

(आगे का भाग पृष्ठ ७७ में "पाद टिप्पणी" में पढ़े)

होते हैं इसमें वैनाशिक प्रक्रिया का लेशमात्र भी नहीं है। इस विषय में श्रुति भी साक्षी है। अन्यत्र तो श्रुति विरोध है इसलिये उचित ही कहा है 'भगवद्वीर्य संभवात्' ज्ञान प्रधान महत्तत्त्व से क्रिया-शक्ति अहंकार उत्पन्न हुआ। और वह तीन प्रकार का है। उत्पत्ति से ही उसमें तीन प्रकार हैं। क्रिया भेद करने वाली है इसलिये उस क्रिया ने कार्य में कारणभूत जो गुणत्रय हैं उन्हें भिन्नता से ही उत्पन्न किया है ॥२३॥

आभास—आध्यात्मिकस्वरूपमिव तान् भेदान् गणयति—

आभासार्थ—आध्यात्मिकस्वरूप की तरह उन भेदों को गिनाते हैं—

श्लोक—**वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।**
मनसश्चैन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥२४॥

श्लोकार्थ—सात्विक, राजस, तामस इन तीन प्रकार के अहंकार से क्रमशः मन, इन्द्रयों और पञ्चमहाभूतों तथा तन्मात्राओं की उत्पति हुई ॥२४॥

सुबोधिनी—वैकारिक इति । वैकारिकः सात्विकः । **तैजसो** राजसस्तामसश्च । आध्यात्मिके गुणा एव सधर्मा लक्षणानि । यतस्त्रिविधान्मनस इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भवः । **महतामिति** तन्मात्राणाम् । महतामपि कार्यजननमपि लक्षणम् । मनःप्रभृतिकार्यजनकसत्त्वादिगुणवत्वं वा लक्षणमव्यभिचारात् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वैकारिक से सात्विक और तेजस से राजस तथा तामस इन गुणों से तीन प्रकार के अहंकार की उत्पत्ति हुई। आध्यात्मिक में गुण ही उत्पादकत्व धर्म (गुण) के सहित लक्षण होते हैं। उसी तीन प्रकार के अहंकार से मन की, इन्द्रियों का तथा पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति हुई। 'महतामिति' से तन्मात्राएं ली जाती हैं। पञ्चतन्मात्राओं का कार्य उत्पन्न करना भी

वह श्रुति श्वेताश्वर उपनिषद् में पढ़ी गई है 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' किं कारणं ब्रह्म, कुलः स्म जाता जीवामः, केनक्वं च संप्रतिष्ठः। अधिष्ठाताः केन सुखेतरेगुषुवर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्, इत्यृवा से प्रश्न कह कर और व्यवस्था निर्णय की प्रतिज्ञा करके आगे पढ़ते हैं। 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्। संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुख दुःखहेतोः 'इति' इस ऋचा में तो काल-स्वभाव-अदृष्ट-आकास्मिक-परमाणु-प्रकृति पुरुष वादों का 'चिन्त्यम्' ऐसा कह कर उसे दूषित कह कर सब के संयोग से कार्य की उत्पत्ति होती है इस वाद को भी आधी ऋचा से पढ़ा गया है 'ते ध्यानयोगेतु ता अपश्यन् देवात्मकशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम' इति। अतः इस श्रुति के विरोध से अन्यवादों का भी आदर नहीं किया है।

तथैव—तीन प्रकार का ही क्रिया—उत्पन्न करने वाली क्रिया ॥

(२३ वें श्लोक का 'प्रकाश' पूर्ण हुवा।)

अहंकार का लक्षण है । अथवा मनः प्रभृति कार्यों को उत्पन्न करने वाला और सत्व आदि गुणों वाला यह भी अहंकार का लक्षण है इसमें किसी प्रकार का व्यभिचार (दोष) नहीं है ।।२४।।

आभास—आधिदैविकं लक्षयति—

आभासार्थ—आधिदैविक का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते ।**
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—अनन्त सिर वाले जिन्हें अनन्त नाम से कहते हैं वे संकर्षण नामक पुरुष भूतमय, इन्द्रियमय और मनोमय है ।।२५।।

सुबोधिनी—सहस्रशिरसमिति । यथा पूर्वं वासुदेवः, तथाऽत्र सङ्कर्षणः । स्वभावतोऽयं तामसः प्रलयकर्ता च । अहङ्कारेणोत्पादितं नाशकमेव । तस्याऽनेकधोत्पत्तिज्ञापनार्थं देवताया-मनन्तानि शिरांसि निरूप्यन्ते—**सहस्रशिरसमिति** । सुखभेदा वा, '**सहस्रसंमितः स्वर्गो लोकः**' इति श्रुतेः । अत एवाऽहङ्कारेण कालनिरूपितकर्माणि सफलान्यनन्तानि । अनन्तशब्दः काले, सङ्कर्षणे, शेषे च प्रवर्तते । **प्रचक्षत** इति प्रमाणम् । सात्वतां यं सङ्कर्षणाख्यं प्रचक्षत इति सम्बन्धः । सा काचिदन्या देवता भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-**पुरुषमिति** । पुरुष एव सङ्कर्षणः, न मूलभूतः कालः । तस्य त्रिविधाहङ्काराधिष्ठातृत्वाय रूपत्रयमाह—**भूतेन्द्रियमनोमयमिति** । तत्र विद्यमानानि भूतेन्द्रियमनांसि कार्ये आविर्भवन्ति । मयट्प्रत्ययः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । प्राचुर्ये चाऽयम् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—जिस तरह पहले वासुदेव आधिदैविक था उसी तरह यहाँ संकर्षण हैं । स्वभावतः संकर्षण तामस है और प्रलय करने वाला है । जो अहंकार से उत्पन्न किया जाता है वह कालाग्नि रुद्र रूप होने से नाशक ही होता है । संकर्षण की उत्पत्ति अनेक प्रकार की होती है इस को बताने के लिये इस देवता के अनन्त सिर हैं ऐसा निरूपण है । अथवा 'शिरस' का सुख भेद अर्थ लिया गया है इसमें 'सहस्रसंमितः स्वर्गोलोकः' यह श्रुति प्रमाण है । इसलिये अहंकार से निरूपित कर्म सफल और अनन्त होते हैं । अनन्त शब्द काल संकर्षण तथा शेष के अर्थ में प्रवृत्त होता है । 'प्रचक्षते' यह प्रमाण का वाचक है । भक्त लोग जिसे संकर्षण नाम से कहते हैं ऐसा सम्बंध है । संकर्षण नाम का कोई और देवता होगा ऐसी शंका न हो इसके लिये 'पुरुषम्' पद दिया है । पुरुष ही संकर्षण है मूलभूत काल संकर्षण नहीं है । तीन प्रकार का अहंकार इसका अधिष्ठाता है अतः वह संकर्षण भी भूत, इन्द्रिय और मन रूप से तीन प्रकार का है । उस संकर्षण में विद्यमान भूत, इन्द्रिय और मन कार्य में प्रकट होते है यहाँ मयट् प्रत्यय प्राचुर्य (अधिक) अर्थ में होता हैं और उसका सम्बन्ध प्रत्येक के साथ होने से भूतमय, इन्द्रियमय तथा मनोमय ऐसा सम्बन्ध है ।।२५।।

आभास—आधिभौतिकं लक्षयति—

आभासार्थ—आधिभौतिक का लक्षण कहते है—

श्लोक—**कर्त्तृत्वं कारणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।**
शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहङ्कृतेः ॥२६॥

श्लोकार्थ—आधिभौतिक अहङ्कार का सत्व, रज और तम के अनुसार क्रम से कर्तृत्व, कारणत्व और कार्यत्व लक्षण है अथवा शान्तत्व, घोरत्व विमूढत्व इस तरह भी सत्व, रज और तम के अनुसार लक्षण है ॥२६॥

सुबोधिनी–कर्तृत्वमिति । **कर्तृत्वं** प्राणिषु विद्यमानाहङ्कारस्य सात्त्विकस्य लक्षणम्, कारणत्वं राजसस्य, कार्यत्वं तामसस्य । एतद्धर्मपुरःसरं लक्षणम् । धर्मिपुरःसरमाह–**शान्तघोरविमूढत्वमिति** । शान्तत्वं सात्त्विकस्य स्वरूपलक्षणम्, अत एवाऽहङ्कारेण शान्तिरप्रयोजिका । **घोरत्वं** राजसस्य, **विमूढत्वं** तामसस्य । निरहङ्कारस्य नैते भावा उत्पद्यन्ते । अत एव भगवत्परस्त्रितयविलक्षणो भवति । **वेति** विकल्पार्थः । अहङ्कृतेरहङ्कारस्य । भौतिकस्य दुर्बलत्वात् स्त्रीत्वम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—प्राणियों में विद्यमान सात्त्विक अहंकार का लक्षण 'कर्तृत्व' है और राजस अहंकार का लक्षण 'कारणत्व' है तथा तामस अहङ्कार का लक्षण 'कार्यत्व' है । यह लक्षण धर्म के अनुसार हैं । अब धर्मि के अनुसार भी लक्षण बताते हैं । सात्विक अहंकार का लक्षण शान्तत्व है । शान्तत्व यह स्वरूप लक्षण है अतएव अहङ्कार से शान्ति नहीं होती । घोरत्व राजस अहङ्कार का लक्षण है और विमूढत्व तामस अहङ्कार का लक्षण हैं । जो अहङ्कार से रहित होता है उसमें शान्तत्व, घोरत्व और विमूढ़त्व ये भाव उत्पन्न ही नहीं होते हैं । निरहङ्कारी इसीलिये इन तीनों से विलक्षण और भगवत्पर होता है । 'वा' विकल्प अर्थ में है अहंकृति का अर्थ अहंकार है'अहंकृति' में शब्द का यहाँ प्रयोग इसलिये किया है 'क्तिन्' प्रत्यय स्त्री लिङ्ग में होता है उसका तात्पर्य यह है कि स्त्री जैसे दुर्बल होती है उसी तरह भौतिक अहंकार में दुर्बलता है ॥२६॥

आभास—मनस उत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—मन की उत्पत्ति कहते हैं—

श्लोक—**वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।**
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः ॥२७॥

श्लोकार्थ—कालकृत गुणक्षोभ से युक्त सात्विक अहंकार से मनस्तत्त्व की उत्पति हुई । मन के सङ्कल्प विकल्प से ही काम की उत्पत्ति होती है ॥२७॥

सुबोधिनी–वैकारिकादिति । अर्द्धेनोत्पत्तिराध्यात्मिकलक्षणं चार्द्धेन । चरणत्रयेणाऽऽधिदै-

विकलक्षणम्, चरणं चाऽन्यत्। **वैकारिकात्** सात्त्विकात्, **विकुर्वाणात्** कालकृतगुणक्षोभयुक्तात्। **भगवद्वीर्यसम्भवादिति** सर्वत्राऽनुसन्धेयम्। सात्त्विकस्य विकारो न भविष्यतीत्याशङ्क्य पुनरुक्तम्–**विकुर्वाणादिति**। मनसो दुष्टत्वमन्नमयत्वं वाऽऽशङ्क्य तन्निराकरणार्थं तत्त्वपदप्रयोगः–**मनस्तत्त्वमजायतेति**। तस्याऽपि आध्यात्मिकस्य कार्यस्वरूपलक्षणे आह–**यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यामिति**। सङ्कल्पविकल्परूपत्वं स्वरूपलक्षणम्, कामजनकत्वं कार्यलक्षणमिति ।।२७।।

व्याख्यार्थ—आधे श्लोक से उत्पत्ति और आधे से आध्यात्मिक लक्षण बताया है। तीन चरणों से आधिदैविक का लक्षण और एक चरण से आधिभौतिक का लक्षण बताया है। वैकारिकात् अर्थात् सात्विक से और विकुर्वाणात् का अर्थ है काल कृतगुणक्षोभ से युक्त। भगवद् वीर्यसंभवात् इसका अनुसन्धान सर्वत्र करना। सात्विक का विकार नहीं होगा इस आशंका को दूर करने के लिये ही विकुर्वाणात् इसका पुनः कथन है। मन की दुष्टता अथवा अन्नमयता की आशंका करके उसको निराकरण करने के लिये 'मनस्तत्वमजायते' मन तत्व की उत्पत्ति हुई। उस आध्यात्मिक मन के कार्यलक्षण और स्वरूप लक्षण कहते हैं 'यत्संकल्प विकल्पाभ्याम्' सङ्कल्प विकल्प रूपता स्वरूप लक्षण है और कामजनकता कार्य लक्षण है ।।२७।।

आभास—आधिदैविकं लक्षयति—

आभासार्थ—आधिदविक का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम्।**
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ।।२८।।

श्लोकार्थ—जो इन्द्रियों का अधीश्वर है उसे अनिरूद्ध नाम से जानते हैं वह शरद् ऋतु में होने वाले इन्दीवर (कमल) के समान श्याम है और जो योगियों से शनैः शनैः आराधनीय है ।।२८।।

सुबोधिनी–यद्विदुरिति। अनिरुद्धः पालकस्तस्य देवः। यतो न केनापि निरुद्धः स एव पालको भवति। **यद्यस्मात् हृषीकाणा**मिन्द्रियाणा**मधीश्वरमनिरुद्धाख्यं** विदुरिति संबन्धः। इन्द्रियनियामकत्वं तस्य लक्षणम्। बलिष्ठत्वं प्रभुत्वं च प्रतीकारकरणार्थमाधिदैविकलक्षणम्। तत्र प्रतीकारार्थं भगवदुपासनैव कर्तव्येति–**शारदेन्दीवरश्याममि**त्युक्तम्। इन्दीवरं रात्रिविकासि, शरच्च सर्वदोषविवर्जिता, श्यामश्च गुणः शृङ्गारात्मको भवति। तेन स्नेहेन सर्वकालेषु सर्वदोषाभावेन भगवत्सेवायां मनोदोषा निवर्तन्त इत्युक्तम्। भौतिकं लक्षयति–**योगिभिः शनैः संराध्यं** वशीकरणयोग्यं मनः। देवता तु न शनकैराराध्या, दीर्घकालादरनैरन्तर्याणां सर्वत्र भजनहेतुत्वेन निरूपणात् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—अनिरुद्ध का अर्थ है पालन करने वाला यह अनिरुद्ध ही उसका देवता है। अनिरुद्ध का अर्थ है जो किसी से निरुद्ध नहीं हो सकता अर्थात् किसी से रोका नहीं जा सकता

वही तो पालक होता है। जिन इन्द्रियों के अधीश्वर (स्वामी) को अनिरुद्ध नाम से जानते हैं। इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना यह ही उस अनिरुद्ध का लक्षणहै। बलिष्टता, प्रभुता और प्रतीकार करने के अर्थ में ही उसका आधिदैविक लक्षण है। उसमें प्रतीकार के लिये भगवान् की उपासना ही करनी चाहिये यह 'शारदेन्दीवरश्याम' से बताया है। इन्दीवर रात्री में विकसित होता है और शरद् सब दोषों से रहित है तथा श्यामगुणं श्रृंगारात्मक होता है। अतः उस से स्नेह करने पर सर्वदा सब दोषों का अभाव होने से भगवान् की सेवा में होने वाले मन के दोष निवृत्त हो जाते हैं। भौतिक का लक्षण कहते हैं 'योगिभिः शनैः संराध्यं' वश में करने योग्य उस मन को योगी धीरे-धीरे आराधना करते हैं। देवता का आराधन तो शनैः (धीरे-धीरे) नहीं होता, देवता का आराधन तो दीर्घकाल तक आदर से और निरन्तर किया जाता है ॥२८॥

आभास—बुद्धेरुत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—बुद्धि की उत्पत्ति को कहते हैं—

श्लोक—**तैजसात्तु विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत् सति ।**
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे सति! तैजस् अर्थात् राजस के विकार से बुद्धितत्त्व उत्पन्न हुआ। द्रव्यस्फुरण का विज्ञान और इन्द्रियों का अनुग्रह उस बुद्धितत्व का लक्षण है ॥२९॥

सुबोधिनी—तैजसात्त्विति । **तु** शब्दः सात्त्विकोत्पत्तिपक्षं व्यावर्तयति । विकुर्वाणाद्राजसात् बुद्धितत्त्वमभूत् । **सतीति** संबोधनं तैजसत्वेऽपि सद्बुद्धिरेवोत्पद्यत इति निरूपणार्थम् । सति विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धिरुत्पद्यत इति । अत एवाऽस्या आधिदैविकं रूपं न निरूप्यते । आध्यात्मिकं लक्षयति—**द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिति** । यथेन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः, तथेन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः । बुद्ध्यैवानुगृहीतानीन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च । अत एव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययोस्तारतम्यम् । एतत् कार्यानुसारि लक्षणम् । **द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिति** स्वरूपलक्षणम् । द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा यद्विशिष्टज्ञानम् । यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात् । स्वतःस्फुरणं योगजधर्मादिभिरपि भवति, अतो द्रव्यस्फुरण एव विज्ञानं बुद्धेर्लक्षणम् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द सात्त्विक से होने वाली उत्पत्ति को व्यावर्तित करता है (हटाता है) विकृत हुए राजस से बुद्धितत्व हुआ 'सति' इस संबोधन से यह सूचित किया कि तेज (राजस) के होने पर भी सद्बुद्धि ही उत्पन्न होती है अथवा सति यह विषय में है अर्थात् सब विषय वाली बुद्धि उत्पन्न होती है इसलिये बुद्धि के आधिदैविक रूप का निरूपण नहीं किया है। आध्यात्मिक का लक्षण बताते हैं द्रव्यस्फुरण विज्ञानम् जैसे मन इन्द्रियों का प्रेरक है। उसी तरह बुद्धि में इन्द्रियों की अनुग्राहकता है। बुद्धि से अनुग्रहित ही इन्द्रियां देखती हैं (जानती हैं) और कार्य करती हैं। बुद्धि के तारतम्य (थोड़े बहुत भेद) से ही

इन्द्रियों के ज्ञान में तथा क्रिया में तारतम्य (भेद) होता है यह बुद्धि का लक्षण कार्यानुसारी है। अब बुद्धि का स्वरूप लक्षण बताते है 'द्रव्यस्फुरणम् विज्ञानम्' द्रव्य जो घट आदि का जो स्फुरण होता है उसका विशेष ज्ञान शब्द से, संस्कार से अथवा देखने से होता है। आँखों के देखने मात्र से जो ज्ञान होता है उससे तारतम्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। स्वतः स्फुरण योगजधर्म आदि से भी होता है इसलिये द्रव्य के स्फुरण में ही जो विज्ञान होता है वही बुद्धि का लक्षण है, अर्थात् यहाँ द्रव्य पद गुणों का भी उपलक्षक है क्योंकि गुण भी सूक्ष्म भूत रूप हैं अतः गुण भी द्रव्य है पट रूप कार्य की उत्पत्ति के अनन्तर तन्तु जो पहले कारण थे वे तन्तु उस कार्य रूप पटके जैसे अवयव माने जाते हैं उसी तरह गुणों में भूतसूक्ष्मत्व होते हुएभी गुणत्व अविरुद्ध हैं। स्फुरण का अर्थ है यह कुछ है इस प्रकार सत्ता मात्रका ज्ञान उसे निर्विकल्पज्ञान कहा जाता है उस निर्विकल्प ज्ञान के अनन्तर होने वाले शब्द आदि से जन्म द्रव्यादि विषयक जो विशिष्ट ज्ञान हैं वह बुद्धि है ऐसा बुद्धि का स्वरूप लक्षण फलित होता है ॥२९॥

आभास—आधिभौतिकं विभागनिरूपणेनैव लक्षयति—

आभासार्थ—विभाग के निरूपण से ही आधिभौतिक का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च।**
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक् ॥३०॥

श्लोकार्थ—संशय विपर्यास (भ्रम, भ्रान्ति) निश्चय, स्मृति और स्वाप (निद्रा) इन वृत्तियों के भेद से बुद्धि का लक्षण कहा जाता है ॥३०॥

सुबोधिनी–संशय इति। द्रव्यस्फुरणतारतम्यात् बुद्धिर्नानाविधा। संस्कारतेजसोस्तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फूर्तौसमः संशयः, अल्पविशेषस्फूर्तौ उत्कटकोटिकः। **विपर्यासः**, संस्कारप्राबल्यात्तेजस्तदनुगुणमेव धर्मं प्रकाशयति। **अथे**त्येकस्फुरणनियामकत्वाय। विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः। क्रियाज्ञानयोश्च भिन्नविषयत्वम्। अनेनाऽन्यख्यातिरेव सिद्धान्त इत्युक्तम्। अन्यथात्वे यथार्थत्वं स्यात्। रजतमहं जानामीत्येवानुभवः, न तु रजतत्वेन जानामीति। बुद्धेस्तत्त्वरूपत्वान्नाऽऽत्मख्यातिः। संस्कारशब्दयोः पदार्थमात्रापेक्षितत्वान्न देशकालादिवैशिष्ट्यं नियामकम्। रजतमनुभवामीत्यनुव्यवसायात् न प्रमुष्टतत्तारूपा स्मृतिः। एकज्ञानतुल्यत्वाच्च न ज्ञानद्वयम्। संस्कारप्राबल्यान्नाऽनिर्वचनीयरजतापेक्षा। अत एव नासत्ख्यातिः। तस्मादन्यख्यातिरेव सर्वजनीना। **निश्चयो** यथार्थाऽनुभवः। अर्थो हि ज्ञानस्याऽर्द्धमङ्गम् अत एव स्मृतिर्न निश्चयात्मिका, अर्थाभावात्। अनुमितिरपि संबन्धिव्यवधानेनाऽर्थजनितैव। सादृश्यं रूपादिवत् पदार्थो धर्मरूपः, निरूपकभेदसहिष्णुस्तद्धर्मः, तद्धर्मसजातीयो वा। स लक्षणत्वेन ज्ञातो द्रव्यस्फुरणेन स्फुरितः संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ वाक्यप्रामाण्यादध्यवसीयते गवयोऽयमिति। चक्षुः सहकारि वाक्यम्, वाक्यसहकृतं सादृश्यं वा। अनुग्राहकाणां न प्रमाणान्तरत्वम्, शब्दोऽपि निश्चय एव, धर्मसादृश्यातिरिक्तसंस्कारजनकत्वात्। शब्देन च द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषोऽपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरम्। त्रीण्येव प्रमाणानिइन्द्रियाणि, शब्दः, मनश्चेति; चक्षुः, श्रोत्रं

मनो वा। स्पर्शादीनामन्यशेषत्वम्। मनस्तु योगजधर्मसहितमेव प्रमाणम्, अन्यत्र त्वप्रमाणम्। अत एव स्मृतिरप्रमाणम्। सङ्घातात्मज्ञानं चाऽप्रमाणम्, विपर्ययरूपत्वात्। **स्मृतिः** स्वतन्त्रा, **बुद्धिः** संस्कारजनिका, **स्वापः** स्वप्नरूपः, भिन्नसृष्टिविषयत्वात् न पूर्वोक्तेष्वन्तर्भावः। सुषुप्तिस्तु न बुद्धिः, मौढ्यत्वे (?) न परं बुद्धवस्था। आत्मनः स्फुरणन्तु स्वतः, स्वप्नभेद एव वा, निद्रानिमित्तत्वात्। एवं पञ्चधा बुद्धेर्वृत्तितो लक्षणं पृथक् ज्ञेयमित्यर्थः। अनेनोभयमेकं ज्ञानमिति पक्षा निवारिताः। अत इदमंशेऽपीदं रजतमिति ज्ञानमप्रमाणम्, न हि ज्ञाने अंशोऽस्ति। सोऽयं देवदत्त इत्यनुभव एव, अभ्यासज्ञाने पूर्वज्ञानसंस्कारवत् पूर्वस्मृतिरपि चक्षुषः सहकारिणी भ्रमप्रमासमूहावलम्बनम्—**एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति** न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्यय एव, प्रमाधिक्ये निश्चयः, समानरूपत्वे तु सम्भावनावान् संशयः। सम्भावनादीनां संशयान्तःपातित्वमप्रमाणमेव। तत्सिद्धार्थवाक्ये तु प्रत्यक्षसहकारित्वात् प्रत्यक्षहेतुत्वमेव। साध्यार्थे तु लौकिके वाक्यार्थे। बुद्धिकल्पित इति प्रमाणाभावेनाऽप्रामाण्येऽपि प्रमेयबलात्प्रमाणमेव। लोके वाक्यार्थो नाऽपूर्वः वक्तृज्ञानविषयविषयित्वात्, तद्बोधनसमर्थपदसमूहस्यैव प्रयोगात्। पदेभ्यः पदसमूहो भिन्नः, स एव वाक्यार्थे करणम्; अन्यथा पदे वृत्तिद्वयमापद्येत। पदार्थकरणपक्षे तु वाक्यार्थः शाब्दो न स्यात्। सम्भावितं सर्वमेवाऽप्रमाणमित्यग्रे वक्ष्यते ॥३०॥

व्याख्यार्थ--एक ही बुद्धि के अनेक प्रकार की होने में द्रव्य स्फूर्ति का तारतम्य (थोड़ा बहुत भेद) कारण है। संशय वृत्ति 'सम' और 'उत्कट कोटिक' रूप से दो प्रकार की है संस्कार और तेज ये दोनों जब तुल्यरूप से प्रकाशक होंगे उससमय विशेष की स्फूर्ति न होने से[1] सम संशय होगा और अल्पविशेष की स्फूर्ति में उत्कट कोटिक[2] संशय होगा। संस्कार की प्रबलता के कारण तेज जब उसी के अनुगुण होकर धर्म को प्रकाशित करता है उसे विपर्यास कहते हैं 'अय' का अर्थ है कि इसमें एक ही स्फूर्ति होती है संशय की तरह दो की स्फूर्ति नहीं होती। विपर्यास भिन्न अर्थ (पदार्थ) का प्रतिपादन करता है। क्रिया और ज्ञान में भिन्न विषयता है। इससे अन्यख्याति ही सिद्धान्त है यह सिद्ध होता है। अन्यथा ख्याति मानने में उसमें यथार्थता हो जायेगी। 'सीप' को देखकर मैं 'चांदी' को जानता हूँ ऐसा ही अनुभव होता है इसको 'विपर्यास' कहते हैं सीप को मैं चाँदी के रूप में जानता हूँ ऐसा अनुभव नहीं होता यदि ऐसा अनुभव हो तो वह 'विपर्यास' नहीं रहता वह तो यथार्थ हो ही जाता है जिसकी ख्याति हो रही है उसे बुद्धि की वृत्ति के रूप में मानेंगे तो 'आत्मख्याति' हो जायेगी। संस्कार और शब्द में पदार्थ की मात्रा अपेक्षित है अतः देश काल आदि का वैशिष्ट्य उस में नियामक नहीं है। 'रजतमहमनुभवामि' इस प्रकार का अनुव्यवसाय (ज्ञान का ज्ञान) होने से 'प्रमुष्टतत्ता रूप' स्मृति भी उसे नहीं कह सकते। अर्थात् आख्याति भी

---

(१) अनेक प्रकार के विषयों की जब स्फूर्ति हो उसे समसंशय कहते हैं जैसे दूर से किसी ऊंची वस्तु को देखकर जो संशय होता है कि यह ठूँठ है या पुरुष इसे समसंशय कहते हैं। यह साधारण धर्म से उत्पन्न होता है।

(२) यह संशय विप्रतिपत्ति से उत्पन्न होता है जैसे जगत् सत्य है अथवा असत्य यह उत्कटकोटिक संशय है।

नहीं कह सकते एक ज्ञान के तुल्य होने से दो ज्ञान[1] भी नहीं हो सकते। संस्कार की प्रबलता होने से अनर्वचनीय रजत की अपेक्षा नहीं है अतः अनर्वचनीय ख्याति भी नहीं है संस्कार की प्रबलता के कारण से ही असत्ख्याति भी नहीं है। अतः 'अन्यख्याति' ही सर्वप्रसिद्ध है। 'निश्चय' कहते हैं यथार्थानुभव को। अर्थ (घट पट आदि) ज्ञान का आधा अङ्ग है इसलिए 'अर्थ' के अभाव में स्मृति निश्चयात्मिका नहीं हो सकती। अनुमिती भी सम्बंधी के व्यवधान के कारण अर्थ से ही उत्पन्न होती है अतः वह भी निश्चयात्मिका नहीं है। सादृश्य भी रूपादि की तरह से निरूप्य धर्मरूप पदार्थ है इस लक्षण में निरूपकभेदसहिष्णु रूपादि की तरह से निरूप्यधर्मरूप पदार्थ सादृश्य है यह लक्षण सादृश्य को पदार्थान्तर मानने पर होता है। यदि पदार्थान्तर नहीं मानें तो निरूपक धर्म से जातीय निरूप्य धर्म सादृश्य है ऐसा द्वितीय लक्षण करना होगा। अतः वह निश्चय लक्षण रूप से ज्ञात द्रव्य स्फुरण से स्फुरित संस्कार के द्वारा शब्दाग्नि व्यक्ति में वाक्य प्रामाण्य से निश्चित होता है जैसे यह गवय (जंगली गाय) है। चक्षुःसहकृत वाक्य अथवा वाक्य-सहकृत सादृश्य उसमें प्रमाण है। अनुग्राहकों में अतिरिक्त प्रमाणता नहीं है। शब्द भी निश्चय ही है क्योंकि वह धर्म सादृश्य से अतिरिक्त संस्कार का जनक है। शब्द को प्रमाण इसलिये मानते हैं कि शब्द से द्रव्य की स्फूर्ति होती है उसमें चक्षु की अपेक्षा न रहने से शब्द प्रमाणान्तर है। प्रमाण तीन हैं (१) इन्द्रिय (२) शब्द (३) मन अथवा (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) मन। स्पर्श आदि तो अन्य के अङ्गभूत है। मन योगज धर्म के सहित हो तब प्रमाण है अन्यत्र मन प्रमाण नहीं है। इसीलिये स्मृति अप्रमाण है सङ्कतात्मक ज्ञान (समूहालम्बनात्मक) अप्रमाण है वह तो विपर्ययरूप है। स्मृति स्वतन्त्र है, बुद्धि संस्कार को उत्पन्न करने वाली है। स्पाय तो स्वप्न (शयन) रूप है भिन्न सृष्टि का विषय होने से पूर्वोक्त सृष्टियों में अन्तर्भूत नहीं है सुषुप्ति (गाढी नींद) तो बुद्धि नहीं है। मूढता में (१) बुद्धि की अवस्था नहीं होती। आत्मा की स्फूर्ति तो स्वतः होती है अथवा यह भी स्वप्न का भेद ही है क्योंकि निद्रा ही तो सुषुप्ति में निमित्त कारण है। इस तरह वृत्ति के द्वारा पाँच प्रकार से बुद्धि का लक्षण जानना चाहिये। इससे स्मृति प्रमाण भेद से अथवा स्मृति और अनुभेद से दोनों ही एक ज्ञान होगा इत्यादि पक्षों का निवारण हो जाता है। अतः इदं इस अंश में भी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान अप्राण है तात्पर्य यह है कि बुद्धि की वृत्तियों की गणना में भ्रम को भी वृत्तिरूप से माना है 'इदरजतम्' यहाँ संस्कार की प्रबलता से बाहर होने वाले भ्रम में अनुभव सामग्री की दुर्बलता से इदं (यह) अंश भी विपर्यस्त ही (भ्रमरूप ही) भासित होता है यदि कहो कि अंशतः उसमें प्रभात्व स्वीकार कर लेंगे यह ठीक नहीं ज्ञान में अंश नहीं होता। 'सोऽयं देवदत्तः'[2] यह तो अनुभव ही है अभ्यास ज्ञान में पूर्वज्ञान का

---

(१) प्रभाकर ग्रहण और स्मरण इस तरह दो ज्ञान मानते हैं अर्थात् एक ज्ञान स्मृतिरूप और दूसरा प्रमाण रूप इस तरह ज्ञान की दो राशि हो जाती है इसमें दो अनुव्यवसाय नहीं होंगे क्योंकि स्मरणामि मानता चला जाता है अतः उसका तो यहाँ अभाव रहता है अतः अगृहीत और असंसर्गक दो ज्ञाम मानने में कोई दोष नहीं हैं किन्तु ऐसा मानने पर ज्ञानद्वय हो जाय तो एक ज्ञान तुल्यवान होने से व्यवसाय और अनुव्यवसाय में उसकी उपलब्धि नहीं होगी इस तर्क से उसके मूलभूत व्यवसाय और अनुव्यवसाय दोनों से एक ज्ञानता का निश्चय होने से ज्ञानद्वय पक्ष ठीक नहीं है। (२) वह यह देवदत्त है।

जैसे संस्कार रहता है उसी तरह पूर्वस्मृति भी नैत्र की सहकारिणी है जैसे किसी को देखकर हम कहते हैं अरे यह तो वही है यहाँ आँख जैसे उसके ज्ञान में कारण है उसी तरह पहले की स्मृति भी उसमें सहायता करती है। भ्रम और प्रभा (प्रमाण) इन दोनों का ज्ञान जहाँ समूह रूप से होगा वहाँ पर 'एक देश विकृतमनन्यवत्' एक देश में विकार होने से वह दूसरा नहीं हो जाता जैसे कुत्ते की पूंछ कट जाय तो भी वह कुत्ता ही कहा जाता हैं अन्य पशु नहीं कहा जा सकता इस न्याय से जहाँ भ्रम की अधिकता होती है वहाँ विपर्यस ही है और जहाँ प्रभा की अधिकता होगी वहाँ निश्चय होगा यदि भ्रम और प्रभा (प्रमाण) समान रूप में होंगे तो सम्भावना वाला संशय होगा। सम्भावना भी संशयान्तः पाती है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इस तरह बुद्धि की वृत्तियों का विचार करके इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान तो स्पष्ट है किन्तु शाब्दज्ञान संदिग्ध है इसलिये सर्वतः प्रथम जिस प्रकार का शब्द जिस प्रकार से प्रमाण है उसे विचार करते हुए कहते हैं। सिद्धार्थ—वाक्य में (घट पट आदि अर्थ जहाँ सिद्ध हैं वहाँ) शब्द प्रत्यक्ष सहकारी होने से प्रत्यक्ष का ही कारण होगा। जहाँ अर्थ (घट आदि) साध्य होगा ऐसे लौकिक वाक्य में (घटमानय-घड़ा लावो)यहाँ अर्थ(घट आदि)बुद्धिकल्पित ही है प्रत्यक्ष नहीं है अतः प्रमाणरूप ज्ञान का उदय न होने से प्रमाण के अभाव मे अप्रामाणिकता होने पर भी प्रमेय बल से उसमें प्रामाणिकता[1] है। लोक में वाक्यार्थ अपूर्व नहीं होता है किन्तु वक्ता के ज्ञान विशेष का विषय होता है वह ऐसे ही पद समूह का प्रयोग करता है जिससे वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान सुनने वाले को हो जाय। पदों से पद समूह भिन्न होता है पद समूह ही वाक्य के अर्थ का बोध कराने में कारण है। यदि ऐसा स्वीकार न करें तो पद में दो वृत्ति माननी पड़ेगी। पदार्थ को यदि वाक्यार्थ के करण माने तो वाक्यार्थ शब्द न होकर आर्थ हो जायगा तो फिर शाब्द प्रमाणता का भङ्ग हो जायगा। सम्भावित जितना भी है वह अप्रमाण है यह हम आगे कहेंगे ॥३०॥

आभास—एवमन्तःकरणचतुष्टयोत्पत्तिमुक्त्वा इन्द्रियोत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—इस तरह अन्तःकरण चतुष्टय की उत्पत्ति कहकर इन्द्रियों की उत्पत्ति कहते हैं—

श्लोक—**तैजसामीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।**
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥३१॥

श्लोकार्थ—कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही तैजस (राजस) हैं क्योंकि क्रिया शक्ति प्राण की है और विज्ञान शक्ति बुद्धि की है इसलिये दोनों ही प्रकार की इन्द्रियां राजस ही हैं ॥३१॥

---

(१) प्रयोजककर्त्ता प्रयोज्यकर्त्ता से 'घटमानय' घड़ा लाओ ऐसा कहता है उस समय प्रयोज्य कर्त्ता के सामने घट के न रहने से प्रमाण रूप ज्ञान का उदय नहीं होगा किन्तु केवल ज्ञान मात्र का ही उदय होगा उस समय ज्ञान जनक वाक्य के अप्रामाणिक होने पर भी प्रमेय बल से अर्थात् घड़े को लाने वाली क्रिया के द्वारा उस में प्रामाणिकता होती है। ऐसे स्थल में परतः प्रामाण्य स्पष्ट होता हैं।

सुबोधिनी–तैजसानीति । ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि चोभयविधान्यपि राजसान्येव, न तु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि, क्रियाकरणकानि तामसानि वा । ज्ञानक्रियान्यतरकरणमिन्द्रियमिति करणमतीन्द्रियमिन्द्रियमिति वा । तत्त्वानि दशाऽपि भिन्नानीति नैकं लक्षणं निर्दिष्टम् । उभयेषां राजसत्वे हेतुमाह–**प्राणस्य हीति** । क्रियायां प्राणो मूलम्, ज्ञाने बुद्धिः । उभयं राजसमित्यर्थादुक्तं भवति । प्राणो नामाऽऽसन्यः महत्तत्त्वभेदः, भगवद्रूपो वा । राजसाहङ्कारे तु तस्याऽवतार इति न तत्त्वतः, नाऽप्युत्पत्तिर्निरूपिता । मतान्तरसिद्धानां वैदिकानां वा प्राणानामत्र ग्रहणम्, इन्द्रियाणामाध्यात्मिकरूपो वा प्राणः । बुद्धौ राजसीति तदनुगृहीतानि सर्वाणि राजसानि । प्राणस्तु क्रियाप्रधान इति राजसत्वम् । प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहकः क्रियाजनिका शक्तिः । विज्ञानरूपा शक्तिर्वा यस्याः, तस्या बुद्धेर्भावो वक्षत्यग्रे । इन्द्रियाणां लक्षणानि भिन्नानि ।।३१।।

व्याख्यार्थ—ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों ही प्रकार की इन्द्रियाँ राजस ही हैं । ज्ञान कराने वाली इन्द्रियाँ सात्विक हो और क्रिया करने वाली इन्द्रियाँ तामस हो ऐसा नहीं है । ज्ञान अथवा क्रिया के करने में जो असाधारण कारण हो उसे इन्द्रिय कहते हैं । करण अतिन्द्रिय अथवा इन्द्रिय है । तत्व तो दस ही पदार्थ विभाजक उपाधिरूप अलग हैं इसलिये उनको किसी एक लक्षण का निर्देश नहीं किया । कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ राजस हैं इस में हेतु देते हैं प्राणस्यहि क्रिया में प्राण मूल है और ज्ञान में मूल बुद्धि है । ये दोनों ही राजस हैं इससे अर्थायत्ति के द्वारा सिद्ध होना है कि दोनों ही प्रकार की इन्द्रियाँ राजस ही हैं । प्राण से यहाँ आसन्य प्राण लिया जाता है जो महत्तत्व का भेद है अथवा भगवद्रूप है । राजस अहङ्कार में प्राण का अवतार होने से प्राण राजस है तत्व से वह राजस नहीं है । और न उसकी उत्पत्ति का निरूपण किया है । अथवा मतान्तर सिद्ध वैदिक प्राणों का यहाँ ग्रहण किया है अथवा इन्द्रियों का आध्यात्मिक रूप प्राण हैं जब बुद्धि राजसी है तब उस बुद्धि से अनुग्रहित सब राजस ही है । और प्राण क्रिया प्रधान होने से उसमें राजसत्व है । प्राण भी सब इन्द्रियों का अनुग्राहक है और प्राण से ही इन्द्रियों में क्रियाजनक शक्ति होती है । विज्ञानशक्तिता का अर्थ है विज्ञान रूप शक्ति है जिस की बुद्धि का भाव आगे कहा जायगा । इन्द्रियों के लक्षण अलग हैं ।।३१।।

आभास—भूतानां सृष्टिमाह—

आभासार्थ—पञ्चमहाभूतों की सृष्टि कहते हैं—

श्लोक—**तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् ।**
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ।।३२।।

श्लोकार्थ—तामस अहङ्कार से भगवान् की प्रेरणा से पूर्ववत् विकार होने से सर्वतः प्रथम शब्दमात्र उत्पन्न हुआ और उससे पीछे आकाश उत्पन्न हुआ क्योंकि शब्द मात्र ही श्रोत्रगम्य है ।।३२।।

सुबोधिनी—तामसादिति । तामसाहङ्कारात् पूर्ववद्विकुर्वाणात्तामसत्वादेव भगवद्वीर्येण प्रेर्यते, नतु भगवद्वीर्यसत्तामात्रम् । प्रथमतः **शब्दमात्रमभूत्**, तस्मात्पश्चान्नभः । शब्दे प्रमाणमाह—**श्रोत्रमिति** श्रोत्रस्य गम्यम् । श्रोत्रसमधिगम्यः शब्दः । शब्दधर्मा अपि शब्द एवेति लक्षणं नाऽतिप्रसक्तम् । श्रोत्रं गच्छतीति वा । शब्दाधाराणां न स्वतन्त्रतया गतिरिति तद्वावृत्तिः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—तामस अहङ्कार से पूर्व की ही तरह विकार होने से तथा तामस होने के कारण वह भगवान् के वीर्य से प्रेरित किया जाता है भगवद्वीर्य उसमें केवल सत्तारूप से ही नहीं रहता है किन्तु प्रेरणा करता है । सर्वतः प्रथम शब्दमात्र ही उत्पन्न हुआ उसके पश्चात् आकाश शब्द है इसमें प्रमाण देते हैं श्रोत्रं तु शब्दगम् शब्द कानों से जाना जाता है । क्योंकि शब्द कान से ही ग्रहण किया जाता है । शब्द का धर्म भी शब्द ही है इसलिये लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है । शब्द धर्म भी कान में जाता है । शब्द की धाराओं की स्वतन्त्र रूप से गति नहीं होती है इसलिये वह छूट जाती है ॥३२॥

आभास—शब्दस्य लक्षणान्याह—

आभासार्थ - शब्द के लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च ।**
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥३३॥

श्लोकार्थ—अर्थ का आश्रय शब्द (घट पट का) है अर्थात् अर्थाश्रय शब्दत्वं यह शब्द का लक्षण है । शब्द का ज्ञान देखने से स्वर से तथा दृश्य और ज्ञापक के द्वारा भी होता है अतः शब्द का लक्षण 'द्रष्टृत्वलिङ्गत्वं' यह किया गया है । इसी तरह आकाश की तन्मात्रा होने से नभसः तन्मात्रत्व, यह भी शब्द का लक्षण है ॥३३॥

सुबोधिनी—अर्थाश्रयत्वमिति । अर्थो हि शब्दमाश्रित्य तिष्ठति । अर्थस्य घटपटादे रूपत्रयम्—तत्र यदाधिदैविकं रूपम्, तच्छब्दनिष्ठं शब्दैकसमधिगम्यं शब्देन नित्यसम्बद्धम् । आधिभौतिकन्तु प्रकटरूपम्; तस्य न शब्दाश्रयत्वम्, किन्तु पृथिव्याद्याश्रितमेव । आध्यात्मिकन्तु ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रितम् । त्रितयमभेदेन सर्वत्र लक्ष्यते । शब्दस्याऽर्थाश्रयत्वं लक्षणम्, नत्वाकाशस्य । लक्षणान्तरमाह—**द्रष्टृलिङ्गत्वमेव चेति** । द्रष्टा ह्यर्थानामाध्यात्मिकं त्वर्थं संबन्धित्वेन ज्ञापयति । यथा भित्तिव्यवहितो गजं दृष्ट्वा गजोऽयमिति वदति, तदान्तः स्थितवाक्यप्रयोक्ता गजदर्शनवानिति लक्ष्यते । स्वराद्वा देवदत्तोऽयमिति धर्मतो लक्षणम् । **च**काराद्दृश्यज्ञापकत्वं च । भौतिकमपि घटादिकं बोधयतीत्यर्थः । लक्षणान्तरमाह—**तन्मात्रत्वं च नभस इति** । नभसस्तन्मात्रत्वं सूक्ष्मरूपत्वं शब्दस्य लक्षणम् । सूक्ष्मावस्था शब्दः, स्थूलावस्था नभ इति । केचिदन्यथा मन्यन्ते इति स्वोक्ते प्रमाणमाह—**कवयो विदुरिति** ॥३३॥

व्याख्यार्थ—अर्थ, शब्द के ही सहारे से रहता है अर्थात् अर्थ, शब्द के अधीन है। अर्थ जो 'घट' 'पट' आदि हैं उनके तीन रूप हैं आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक उनमें जो आधिदैविक रूप है वह शब्द निष्ठ है शब्द से ही जाना जाता है और शब्द से नित्य सम्बद्ध है। अर्थ जो घट पटादिक हैं उसका आधिभौतिक रूप तो प्रकट रूप है वो शब्द के अधीन नहीं है किन्तु पृथिवी आदि उसके आश्रय (आधार) है। आध्यात्मिक तो ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न इनके अधीन है। इस तरह इन तीनों भेदों से वह शब्द सर्वत्र लक्षित होता है। 'अर्थाश्रयत्वं शब्दत्वं यह शब्द का लक्षण है आकाश का लक्षण नहीं है। दूसरा लक्षण कहते है द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च द्रष्टा अर्थों का आध्यात्मिक अर्थ तो ज्ञापित करता है (समझाता है) जैसे भींत (दीवाल) की ओट (आड़) से हाथी को देख कर यह हाथी है ऐसा कहता है तब अन्तःस्थित वाक्य का प्रयोग करने वाला, हाथी का देखने वाला है अर्थात् हाथी को इसने देखा है ऐसा जाना जाता है जिस तरह दर्शन (देखने) से जानता है स्वर से भी (परिचित पुरुष के स्वर को सुनकर) यह देवदत्त है ऐसा जाना जाता है यह धर्म से शब्द का लक्षण है। चकार से दृश्य और ज्ञापक भी लक्षण है यह भौतिक घट आदि का बोध कराता है। शब्द का अन्य लक्षण भी बताते हैं 'तन्मात्रत्वं च नभसः' आकाश की तन्मात्रता अर्थात् आकाश की सूक्ष्मरूपता यह भी शब्द का लक्षण है। आकाश की सूक्ष्मावस्था शब्द और उसकी स्थूलावस्था आकाश है। कुछ लोग इसको विपरीत रूप से भी मानते हैं उनका कहना उचित नहीं है किन्तु पूर्वोक्त ही ठीक है इसमें कवयो विदुः यह प्रमाण है शास्त्रज्ञ लोग ऐसा कहते हैं ॥३३॥

आभास—आकाशं लक्षयति—

आभासार्थ—आकाश का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।**
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—जो प्राणियों का अवकाश देता है बाह्य और आभ्यन्तररूप है तथा प्राण इन्द्रियाँ और अन्तःकरणों का धारक है इस तरह तोन प्रकार से आकाश की वृत्ति (वर्तन) का लक्षण है। ३४॥

सुबोधिनी-भूतानामिति । **भूतानां** प्राणिनाम्, छिद्रदातृत्वम्, बहिरन्तःस्वरूपत्वम्, प्राणेन्द्रियान्तः करणाधारत्वं चेति नभसो लक्षणत्रयम् । **छिद्रमवकाशः**, बहिरन्तर्व्यवहार आकाशविषय एव । पृथिव्यादेरावरणरूपस्य न बहिरन्तर्व्यवहारविषयत्वम्, परिच्छेदकत्वं परम् । प्रदेशोऽपि न व्यवहारहेतुस्तुल्यत्वात् । विवरे च व्यवहारः, अत आकाशस्यैव । **चकारात्पृथिव्यादिसर्वाधारत्वं** च लक्षणम् । लक्षणान्तरमाह—**प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वमिति** । प्राणानामिन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च धिष्ण्यमाधारभूतं स्थानम् । धिष्ण्यशब्देन वैदिकत्वं तस्य स्थानस्य द्योतितम् । **नभसो वृत्तिलक्षणमिति** । नभो हि त्रिधा वर्तते, स्वस्याधिभौतिकं रूपं स्वयं प्रयच्छतीत्याधिदैवि-

कत्वम्, बहिरन्तर्व्यवहाराश्रयमित्याध्यात्मिकत्वम्, देहान्तःस्थितपदार्थाश्रयत्वेनाधिभौतिकत्वम् ।।३४।।

व्याख्यार्थ—भूतानां (प्राणियों के लिये) 'छिद्रदातृत्वम्' (अवकाश देने वाला) है तथा जो बाह्यरूप और आन्तररूप है एवं प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण इनका धिष्ण्य (धारण करने वाला) है इस तरह आकाश के तीन लक्षण हैं। छिद्र का अर्थ अवकाश (पोल या खाली जगह) है इसी तरह बाहर और अन्दर इस प्रकार का व्यवहार भी आकाश से होता है। पृथिवी आदि तो आवरण रूप है इसलिये उनमें बाहर और अन्दर इस प्रकार के विषय का व्यवहार नहीं हो सकता। पृथिवी आदि परिच्छेदक मात्र ही हैं। प्रदेश व्यवहार का कारण नहीं होता क्योंकि प्रदेश तो तुल्य ही होता है। विवर (छिद्र) में व्यवहार है अतः आकाश ही बाहर और अन्दर इस व्यवहार का कारण है। बहिरन्तरमेव च यहाँ के 'च' से पृथिवी आदि सब का जो आधार हो वह आकाश है यह भी आकाश का लक्षण है। आकाश का अन्य लक्षण कहते हैं 'प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वम्' आकाश प्राणों का इन्द्रियों का और अन्तःकरण का आधारभूत स्थान है धिष्ण्य शब्द से उस स्थान की वैदिकता द्योतित की है। आकाश तीन प्रकार से वर्तता है (रहता है) अपने आधिभौतिक रूप को तो वह स्वयं ही देता है इसलिये उसमें आधिदैविकता है। आकाश के बाहर और अन्दर के व्यवहार का आश्रय होने से उसे आध्यात्मिकता है और देह के अन्दर स्थित पदार्थों का आश्रय होने से आधिभौतिकता है ।।३४।।

आभास—स्पर्शवाय्वोरुत्पत्त्यादिकमाह—

आभासार्थ—स्पर्श और वायु की उत्पत्ति आदि कहते हैं—

श्लोक—**नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।**
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ।।३५।।

श्लोकार्थ—काल की गति (प्रेरणा से) गुण क्षोभ के कारण आकाश से तथा शब्द की तन्मात्रा (सूक्ष्माकाश) से स्पर्श हुआ स्पर्श से वायु और त्वगिन्द्रिय की उत्पत्ति हुई उस त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का ठीक तरह से ज्ञान होता है । ३५।।

सुबोधिनी—नभस इति । शब्दतन्मात्रादिकं न विशेषणम्, किन्तु स्थूलात् सूक्ष्मादपि नभसः स्थूलं सूक्ष्मं कार्यं च भवतीति ज्ञापनार्थम् । **कालगत्या विकुर्वत** इति कालप्रेरणया जातगुणक्षोभादित्युभयोर्विशेषणम् । प्रथमं स्पर्शतन्मात्रा अभवत् । ततो वायुः । त्वगिन्द्रियम् । स्पर्शस्य सम्यक् ग्रहो यस्मात् । त्वमेव संग्रहः । चकाराद्वायोरपि, न तु श्रोत्रवच्छब्दमात्रग्राहकम् ।।३५।।

व्याख्यार्थ—शब्द तन्मात्रा आदि शब्द विशेषण नहीं है किन्तु स्थूल आकाश से स्थूल कार्य होता है और शब्द तन्मात्रा (सूक्ष्माकाश) से सूक्ष्म कार्य होता है ऐसा ज्ञान कराने के लिये है । काल की प्रेरणा से होने वाले गुण क्षोभ से यह विशेषण नभसः और शब्दतन्मात्रात् इन दोनों में

लगता है। पहले स्पर्शतन्मात्रा की उत्पत्ति हुई उसके अनन्तर वायु और त्वचा इन्द्रिय का स्पर्शस्य संग्रहः का अर्थ है स्पर्श का ठीक तरह से ज्ञान जिस से होता है वह त्वचा है। त्वचा ही संग्रह (सम्यक् ज्ञान का) कारण है। स्पर्शस्य च के 'च' से वायु का भी ज्ञान स्पर्श से होता है। ऐसा नहीं कि जैसे श्रोत्र शब्द मात्र का ही ग्राहक है अन्य का नहीं यहाँ तो त्वचा स्पर्श के ज्ञान के साथ-साथ वायु का भी (स्पर्श के द्वारा) ज्ञान कराती है ॥३५॥

आभास—स्पर्शभेदा एव प्रत्यक्षसिद्धाः स्पर्शलक्षणानीति तान् गणयति—

आभासार्थ—स्पर्श ही है लक्षण जिनका ऐसे स्पर्श के भेद प्रत्यक्ष सिद्ध हैं इसलिये उनको गिनाते हैं—

श्लोक—**मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।**
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥३६॥

श्लोकार्थ—मृदुता, कठिनता, ठंडापन, गरमी यही स्पर्श का स्पर्शत्व है। वायु का सूक्ष्मरूप उसकी तन्मात्रा (स्पर्श) है ॥३६॥

सुबोधिनी–मृदुत्वमिति । स्पर्शश्चतुर्विधः–**मृदुत्वं** कार्पासादौ, **कठिनत्वं** पाषाणादौ, **शैत्यं** शीतलता, **उष्णत्वं** चेति । एतच्चतुर्विधकारणरूपमेव कार्ये एकैकमभिव्यक्तम् । **उष्णत्वं** तेजसि; शीतत्वं जले; पक्वपृथिव्यां कठिनत्वम्, अपक्वे मृदुत्वमिति । **एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वमिति** । **स्पर्शो** नाम स्पृश्यत इति व्युत्पत्त्या, स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यत्वे वा वायावपि स्यात् । व्याकरणादौ कादयोऽपि स्पर्शाः; संयोगोऽपि स्पर्श इति लोकः; एतदेकमप्यस्माकं विवक्षितं न भवति, किन्तु यदेवाऽस्माभिरुक्तं मृदुत्वादिकं तदेव स्पर्शस्य स्पर्शत्वम् । लक्षणान्तरमाह–**तन्मात्रत्वं नभस्वत इति** । नभस्वतो वायोस्तन्मात्रत्वं सूक्ष्मरूपत्वम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—स्पर्श चार प्रकार का है मृदु(कोमल) कपास(रुई)आदि में है, कठिनता पत्थर आदि में ठंडापन (ठंडक) और गरमी ये चार प्रकार हैं। ये चार प्रकारके स्पर्श का स्वरूप ही है कार्य मेंये एक-एक अभिव्यक्त होते हैं(प्रकाश में आते हैं) उष्णत्व तेज में शीतत्व जल में पक्की हुई पृथ्वी में कठिनता और अपक्व (कच्ची) भूमि में मृदुता यह स्पर्श का स्पर्शत्व है जो छुआ जाता है उसे स्पर्श कहते हैं इस व्युत्पत्ति से स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्यत्व में अथवा वायु में भी स्पर्श है। व्याकरणादि में 'क' से लेकर म पर्यन्त वर्ण 'स्पर्श' कहे जाते हैं। लोक में किसी से छू जाने को भी स्पर्श कहते हैं इनमें से कोई एक भी हमारे यहाँ स्पर्श नाम से नहीं कहा गया है किन्तु हमने तो मृदुत्व आदि जो कहे हैं वही स्पर्श का स्पर्शत्व है। अन्य लक्षण और कहने हैं तन्मात्रत्व नभस्वतः वायु का सूक्ष्म रूप उसकी तन्मात्रा (स्पर्श) है ॥३६॥

आभास—वायोर्लक्षणमाह—

आभासार्थ—वायु का लक्षण कहते हैं—

श्लोक—**चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।**
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—वृक्षों की डाली पत्तों आदि को चलाना, पत्र आदि को इकट्ठा कर देना, गन्ध को नाक के पास ले जाना, अन्य-देश में स्थित द्रव्य तथा शब्द को अन्य-देश में ले जाना तथा सब इन्द्रियों की आत्मापन यह वायु के कर्म के सब प्रकार से लक्षण है ॥३७॥

सुबोधिनी—चालनमिति । वायोः कर्मलक्षणम् । तत् कर्म पञ्चविधमिति पञ्चलक्षणानि । **चालनं** शाखादेः, **व्यूहनं** पतिततृणादेर्वात्ययैव मेलनम्, **प्राप्तिर्गन्धस्य**, घ्राणप्रापणम्, **द्रव्यशब्दयोर्नेतृत्वं** देशान्तरस्थितवस्त्रादेर्देशान्तरे नयनम् । शब्दश्च भेरीदण्डसंयोगे जातः कर्णशष्कुलीपर्यन्त स्वभावतो गच्छति, तत्प्रतिकूलवायौ न गच्छति, निकटेऽपि न श्रूयते । अनुकूले तु दूरादपि श्रूयत इति शब्दस्याऽपि देशान्तरप्रापणम् । सर्वेषामिन्द्रियाणामात्मा चाऽयम्, एतदभावे किमपीन्द्रियं न कार्यक्षमं भवतीति । एतत्पञ्चविधं वायोः कर्मतोऽभितो लक्षणम् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—चालन आदि पाँच प्रकार के पांच कर्म वायु के कर्म लक्षण है । चालन कहते हैं वृक्ष की डाली आदि को चलाना (हिलाना), पड़े हुए घास आदि को चक्रवातरूप से मिलाना व्यूहन कहलाता है । प्राप्ति कहते हैं गन्ध को नाक में पहुंचाना । 'द्रव्यशब्दयोर्नेतृत्वम्' का अर्थ है अन्य जगह पड़े हुए वस्त्र आदि को अन्य देश में ले जाना भेरी और दण्ड के संयोग से होने पर उत्पन्न होने वाला शब्द कान तक तो स्वभाव से ही पहुँचता है परन्तु वायु यदि विपरीत दिशा की हो तो वह शब्द पास में होते हुए भी सुनाई नहीं देता और अनुकूल वायु होने पर तो दूर से भी शब्द सुनाई देता है इसलिये शब्द को देशान्तर में ले जाना यह वायु का कार्य है और सब इन्द्रियों की आत्मा यह वायु है वायु के अभाव में इन्द्रियाँ कुछ भी कार्य नहीं कर सकती । यह पाँच प्रकार का वायु का कर्म से सब ओर से लक्षण है ॥३७॥

आभास—तेजस उत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—तेज की उत्पत्ति कहते हैं—

श्लोक—**वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।**
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—वायु की स्पर्श तन्मात्रा से काल की प्रेरणा से रूप उत्पन्न हुआ रूप से तेज की उत्पत्ति हुई । रूप की उपलब्धि (रूप का ज्ञान) नेत्रों के द्वारा होता है ॥३८॥

सुबोधिनी–वायोरिति । पूर्ववत् **स्पर्शतन्मात्रादिति** । रूपतन्मात्रम्, **दैवेन** कालेन । **ईरिता**-दित्युभयोर्विशेषणम् । प्रथमतो रूपं समुत्थितम्, ततस्तेजः । **चक्षुस्तु रूपोपलम्भनम्**, रूपमुपलभ्यतेऽनेनेति रूपे प्रमाणमुक्तम् ।।३८।।

व्याख्यार्थ—पूर्ववत् स्पर्शतन्मात्रा से रूपतन्मात्रा उत्पन्न हुई दैव से काल का ग्रहण है ईरितात् यह स्पर्श का तथा स्पर्शतन्मात्रा का दोनों-का विशेषण है । काल की प्रेरणा से पहले रूप और रूप से तेज उत्पन्न हुआ । रूप की उपलब्धि जिससे होती है वे नेत्र, रूप की सत्ता के विषय में प्रमाण है ।।३८।।

आभास— रूपस्य लक्षणान्याह—

आभासार्थ— रूप के लक्षणों को कहते हैं—

श्लोक—**द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।**
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि ! रूपमात्रस्य वृत्तयः ।।३६।।

श्लोकार्थ—द्रव्याकृतिता, गुणता, व्यक्ति संस्थात्व और तेज में तेजस्त्व ये चार रूप मात्र की चार वृत्तियाँ हैं ।।३६।।

सुबोधिनी–द्रव्याकृतित्वमिति । द्रव्यस्य घटादेर्या आकृतिःसैव रूपस्य । पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि । आतानवितानात्मकं च । द्रव्यस्येवाऽऽकृतिरिति द्रव्यस्य तु नोपमेयत्वम्, अतो रूपस्यैव लक्षणम् । **गुणता** सर्वदोपसर्जनतया प्रतीतिः । नैवं शब्दादिषु, स्वतन्त्रतयाऽपि प्रतीयमानत्वात् । व्यक्तेः संस्थैव संस्था यस्य । यदि व्यक्तिर्वक्रा भवेत्, रूपमपि वक्रं भवेदिति । उपविष्टे रूपवति रूपमुपविशति, रूपमुपविष्टं भवति । आतानवितानात्मकसंकुचीकरणयोर्भेदात् । **तेजसश्च तेजस्त्वम्**, रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्थेत्यर्थः : **साध्वीति** संबोधनं रूपस्याऽमोहार्थम् । **रूपमात्रस्य** रूपतन्मात्रस्य, सर्वगतरूपस्य वा चतस्रो वृत्तयः ।।३६।।

व्याख्यार्थ—द्रव्य जो घटादि हैं उनकी आकृति ही रूप की आकृति है उदर (मध्य) में मोटापन को लेते हुए जो आकार है वही रूप है और आतान वितानात्मक भी रूप हैं । द्रव्य की ही आकृति है ऐसा कहने से द्रव्य में उपमेयता नहीं है किन्तु उपमानता है इसलिये रूप ही का यह लक्षण है । गुणता का तात्पर्य है सर्वदा उसकी उपसर्जन (गौणरूप) से ही प्रतीति होती है । शब्द आदि में ऐसा नहीं है वे स्वतन्त्ररूप से भी प्रतीत होते हैं । व्यक्ति सस्था का 'विग्रहव्यक्तेः संस्थैव संस्था यस्य' ऐसा है यदि टेढी है तो रूप भी टेढा ही होगा रूपवान् के बैठनेपर रूप भी समीप में बैठ जाता है अर्थात् रूप बैठ जाता है । आतान और वितानात्मक सङ्कोच के भेद के कारण ही ऐसा होता है । तेज का तेजस्व रूप तन्मात्रता है जो रूप की सूक्ष्मावस्था है । साध्वि यह संबोधन इसलिये दिया है कि यह तुम्हे मोहित नहीं कर सकता है । द्रव्याकृतित्व, गुणता, व्यक्ति संस्थात्व और तेज का तेजस्त्व चार वृत्तियां रूपमात्र की अथवा रूपतन्मात्रा को तथा सर्वगत रूप की है ।।३६।।

आभास—तेजसो लक्षणान्याह—

आभासार्थ– तेज के लक्षणों को कहते हैं—

श्लोक—**द्योतनं पाचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।**
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ।।४०।।

श्लोकार्थ—प्रकाश, पाचन, पीना, भोजन, शीत को दूर करना, सुखाना, भूख और प्यास लगाना ये तेज की वृत्तिया हैं ।।४०।।

सुबोधिनी—**द्योतनमिति । द्योतनं** प्रकाशनम्, सूर्यादेरिव । **पाचनमौ**दर्यवह्नेः, पाककरणं वा वह्नेः । **पानं** जलादेः, तेजोव्यतिरेकेण नान्यः पिबति । **अदनं** भक्षणम्, अत्ताऽग्निरेव । **हिममर्दनं** हिमदूरीकरणम्, **शोषणं** चेति **तेजसः पञ्च वृत्तयः** पञ्च **कार्याणि** । तत्र त्रयं प्रत्यक्षसिद्धम्, द्योतनम्, पाचनम्, हिममर्दनमिति । शोषणं चाऽनुमीयते, वाय्वपेक्षया आतपे वस्त्रादिषु जलाकर्षणस्य शैघ्र्यात् । पानमदनं च न तेजःकार्यम्, चेतनकर्तृकत्वात्, क्षुत्पिपासाभ्यामेव तज्जननाच्चेत्याशङ्क्याऽऽह—**क्षुत्तृडेव चेति ।** क्षुत्तृड्रूपं तेज एव । अतः पानमदनं च तस्यैव कार्यमिति युक्तमित्यर्थः ।।४०।।

व्याख्यार्थ—द्योतन सूर्य आदि की तरह प्रकाशित करना पाचन यह पेट की अग्नि का काम है । अथवा रसोई (भोजन)वगेरा बनाने करने में पान जल आदि का तेज के बिना और कोई नहीं पीता । अदन (भक्षण) अग्नि ही खाती है हिममर्दन (ठंड) को दूर करना शोषण, सुखाना ये तेज की पांच वृत्तियाँ हैं पाँच कार्य हैं । उनमें तीन द्योतन, पाचन और हिममर्दन तो प्रत्यक्ष सिद्ध है । शोषण का अनुमान होता है वायु से भी धूप में जल का खिचाव शीघ्रता से होता है । पान (पीना) और अदन (खाना) ये तेज के कार्य नहीं है क्योंकि पान और भक्षण चेतन कर्तक है (चेतन के द्वारा ही पान और भक्षण होता है) भूख और प्यास से ही पान और भक्षण होता है क्योंकि ये दोनों भूख प्यास रूप तेज ही है । इसलिये पान और भक्षण तेज के ही कार्य उचित हैं ।।४०।।

आभास—जलस्योत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—जल की उत्पत्ति को कहते हैं—

श्लोक—**रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।**
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ।।४१।।

श्लोकार्थ—काल की प्रेरणा से रूप तन्मात्रा तथा तेज से रसमात्र की उत्पत्ति हुई और उस रस से जल की उत्पत्ति हुई रस का ज्ञान जीभ से होता है ।।४१।।

सुबोधिनी–रूपमात्राविति । रूपमात्रात्तेजसः विकुर्वाणात्, दैवचोदितादित्युभयोर्विशेषणे । प्रथमतो रसमात्रमभूत्, तस्मादम्भः । जिह्वा रसं गृह्णातीति तथा । रसे जिह्वैव प्रमाणम् ।।४१।।

व्याख्यार्थ—रूप तन्मात्रा तथा तेज में काल की प्रेरणा से विकृति होने पर पहले रसमात्रा उत्पन्न हुई और रस तन्मात्रा से जल की उत्पत्ति हुई । जीभ रस का ग्रहण करती है इसलिये वह जलीय है रस है इस में जीभ ही प्रमाण है ।।४१।।

आभास—रसानां भेदकथनेनैव लक्षणमाह—

आभासार्थ—रसों का लक्षण भेद के कथन से ही कहते हैं—

श्लोक—**कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा ।**
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ।।४२।।

श्लोकार्थ—भौतिकों के विकार से एक ही रस कषाय, मधुर, तिक्त, कटु, अम्ल इस तरह अनेक प्रकार से भेद को प्राप्त होता है ।।४२।।

सुबोधिनी–कषाय इति । कषायः खदिरादिः, **मधुरो** गुडादिः, **तिक्तो** निम्बादिः, कटुर्मरीचादिः, **अम्लस्तिन्तिण्यादिः** । इतोऽप्यनेकप्रकारोऽस्तीत्याह–**इति नैकधेति** । एवमनेकप्रकारो भवतीत्यर्थः । ननु यदि रसः स्वभावत एवंविधः स्यात्, जलेऽप्युपलभ्येत, मधुरः पाकादिना तिक्तश्च न भवेत् । तत्राऽऽह–**भौतिकानां विकारेणेति** । एक एव रसो भौतिकानां पृथिव्यवयवानां संश्लेषादनेकधा भिद्यते । वस्तुतस्तु अव्यक्तमधुर एक एव रसः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—खेर (कत्था) आदि में कषाय रस है, गुड़ आदि मधुर है, नीम आदि कटु (कडुवे) हैं इमली आदि अम्ल (खट्टा) रस है लाल मिर्च तिक्त रस है इस से भी अनेक प्रकार हैं यह नैकधा से बताया है । इस तरह अनेक प्रकार होता है । यदि रस स्वभाव से ही इस प्रकार का है तो जल में उसकी उपलब्धि होनी चाहिये । और मधुर रस भी पाक आदि के कारण तिक्त नहीं होना चाहिये (जैसे गुड या खांड जल जाती है तो कड़वी हो जाती है) इसके लिये कहते हैं कि भौतिकानां विकारेण यद्यपि रस तो एक ही है किन्तु भौतिक जो पृथिवी के अवयवों की संश्लेष होने से अनेक भेद वाला हो जाता है । यदि वास्तव में देखा जाय तो रस एक ही प्रकार का है और वह अव्यक्त मधुर है ।।४२।।

आभास—अम्भसो लक्षणान्याह—

आभासार्थ—जल के लक्षणों को कहते हैं—

श्लोक—**क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोदनम् ।**
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ।।४३।।

श्लोकार्थ—गीला करना चून (आटे) आदि का पिण्ड बनाना, तृप्ति करना, जीवन देना, प्राणों को तृप्त करना, प्रेरणा देना, सन्ताप को दूर करना, अधिकरूप में रहना ये जल की वृत्तियाँ हैं ।।४३।।

सुबोधिनी—क्लेदनमिति । **क्लेदन**माद्रीकरणं वस्त्रादेः, **पिण्डनं** चूर्णीभूतानां पिण्डतासम्पादनम्, यथा सक्तूनाम्; **तृप्तिः** क्षुदादिनिवृत्त्या पुरुषस्य सन्तर्पणम्, भुक्त्वाऽपि जले अपीते न तृप्तो भवतीति । **प्राणनाप्यायनम्** । **प्राणनं** जीवनम्, **आप्यायनं** प्राणसन्तर्पणम् । **उदनं** प्रेरणम्, जलेन हि पदार्थाः प्रवाहेण नीयन्ते, कूलादिश्च पात्यत इति । **तापापनोदः** सन्तापदूरीकरणम् । **भूयस्त्वमेकस्मिन् देशे** सजातीयप्रचुरस्यैवावस्थानम् । यद्वा, यत्राऽऽपः **प्रविशन्ति** तद्भूयो भवतीति । अम्भस इमा **अष्टौ** वृत्तयः ।।४३।।

व्याख्यार्थ—क्लेदन वस्त्र आदि को गीला कर देना पिण्डन चूर्ण रूप वाले पदार्थों को पिण्डरूप में सम्पादित करना जैसे सत्तुआदि का पिण्डरूप में सम्पादन करना तृप्तिः भूख आदि की निवृति से पुरुष को तृप्त करना भोजन करने के अनन्तर भी यदि जल नहीं पीया जाय तो तृप्ति नहीं होती । प्राणन कहते हैं जीवन को और आप्यायन कहते हैं प्राणों की तृप्ति उदन का अर्थ है प्रेरणा जल के द्वारा ही पदार्थ प्रवाह से बताये जाते हैं तटों आदि को गिरा देना ये सब जल की वृत्तियां है तथा सन्ताप को दूर करना एक देश में सजातीय रूप से प्रचुर मात्रा में रहना अथवा भूयस्व का यह भी अर्थ होता है कि जिस में जल का प्रवेश हो जाता है वह अधिक (बढ जाता है) हो जाता है जल की ये आठ वृत्तियां है ।।४३।।

आभास—पृथिव्या उत्पत्तिमाह—

आभासार्थ—पृथिवी की उत्पत्ति कहते है—

श्लोक—**रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।**
गन्धमात्रमभूत्तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ।।४४।।

श्लोकार्थ—काल की प्रेरणा से रसतन्मात्रा तथा जल में क्षोभ होने से गन्धमात्र की उत्पत्ति हुई और उस गन्ध से पृथिवी की उत्पत्ति हुई **इसमें** प्रमाण गन्ध की ग्राहक घाणेन्द्रिया (नाक) है ।।४४।।

सुबोधिनी—रसमात्रादिति । स्थूलसूक्ष्मादम्भसः क्षुभितगुणात् कालप्रेरितात् प्रथमतो गन्धमात्रमभूत् । तस्मात् पृथिवी । घ्राणमिन्द्रियं गन्धग्राहकमिति **प्रमाणम्** ।।४४।।

व्याख्यार्थ—काल के द्वारा प्रेरित क्षुभित गुणवाला स्थूल तथा सूक्ष्म जल में पहले गन्धमात्रा उत्पन्न हुई उस गन्ध से पृथिवी उत्पन्न हुई घ्राण (नाक) इन्द्रिय गन्धका ग्राहक है ये इसमें प्रमाण है ।।४४।।

आभास—गन्धस्य भेदानाह—

आभासार्थ– गन्ध के भेद कहते हैं—

श्लोक—**करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् ।**
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ।।४५।।

श्लोकार्थ—मिश्रित गन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध तथा शान्त और उग्रगन्ध, बासी अन्न आदि में खट्टी गन्ध ये सब अलग अलग द्रव्यों के अवयवों की विषमता से एक ही गन्ध उक्त भेदों से भिन्न भिन्न होती हैं ।।४५।।

सुबोधिनी–करम्भेति । **करम्भो** मिश्रो गन्धः, व्यञ्जनादिषु प्रसिद्धः । **पूतिर्दु**र्गन्धः । **सौरभ्यं** चन्दनादिगन्धः । पूतिसौरभ्ययोरेव **शान्तोग्रौ** भेदौ । शतपत्रादिगन्धः शान्तः, उग्रश्चम्पकादेर्लशुनादेश्च । **अम्लः** पर्युषितसूपादेः । **आदि**-शब्देन धूपादीनामनेकविधो गन्ध उक्तः । गन्धानां न जातिसाङ्कर्यम्, किन्तु ते भेदाः पृथगेव; चित्ररस इव चित्रगन्धाभावात् । सजातीयरसस्य गन्धस्य वा कारणगतस्याऽनभिव्यक्तस्य कार्ये रसगन्धजननात् । अत एव हरीतक्यादेरपि रसो भिन्नः, धूपादेश्च गन्धः । अवान्तरानन्त्यं न दोषाय, अन्यथा पदार्थविभाजकोपाधीनां पञ्चविंशतिभेदा न स्युः । एतदाह–**पृथगिति** । तत्त्वे हेतुमाह–**द्रव्यावयवेति** । द्रव्यस्याऽऽधारभूतस्य ये अवयवाः, ते विजातीयरसगन्धवन्त इति गन्धो विभिद्यते । अथवा यथायोजिता अवयवा गन्धमुत्पादयन्ति । स्वभावतः सुरभिमः ते चेत् विषमा योजिता भवन्ति, तदा तं गन्धं नोत्पादयन्तीति । गन्धनाशः, सम्यगनभिव्यक्तिर्वा गन्धाभासः करम्भादिशब्दैरुच्यते वैषम्यस्य नैकविधत्वात्, जलादीनां बहूनां तत्सम्पादकत्वात्, गन्धानन्त्यमेव । तदाह–**एकोऽपि गन्धो विभिद्यत** इति ।।४५।।

व्याख्यार्थ—करम्भ मिश्रित गन्ध को कहते हैं—यह गन्ध व्यञ्जन आदि में प्रसिद्ध है । पूति दुर्गन्ध, सौरम्य-चन्दन आदि की गन्ध । गन्ध के शान्त और उग्र ये दो भेद बताये हैं वे पूति और सौरम्य के ही हैं (दुर्गन्ध सुगन्ध के हैं) कमल आदि की गन्ध शान्त है । चम्पा तथा लशुन (लहसुन) आदि की गन्ध उग्र है । बासी (सड़ी) दाल आदि की गन्ध अम्ल (खट्टी) है आदि शब्द से धूप दीप की अनेक प्रकार की गन्ध कही गई है । गन्धों में जाति साकर्य नहीं हो तो किन्तु गन्ध के भेद अलग ही है क्योंकि चित्र (अनेकविध) रस की तरह चित्र गन्ध का अभाव है । कारणगत सजातीय रस अथवा गन्ध प्रकट रूप से ज्ञात नहीं होते तथापि कार्य में वे रस और गन्ध को उत्पन्न करते हैं । इसलिये हरीतकी आदि (हरड़े आदि) का रस भिन्न है और और धूप आदि का गन्ध भी भिन्न है । अवान्तर भेद तो अनेक हो सकते हैं किन्तु वे दोषजनक नहीं है । यदि ऐसा न होता तो पदार्थ विभाजक उपाधियों के पच्चीस भेद नहीं होते इसी को पृथक् शब्द से कहा है वे पृथक् क्यों हैं उसमें हेतु देते हैं द्रव्यावयववैषम्यात् द्रव्य के आधारभूत जो अवयव हैं वे विजातीय रस गन्ध वाले होते हैं इसलिये गन्ध में भेद है अथवा यथावत् युक्त अवयव होते हैं वे गन्ध को उत्पन्न करते हैं । स्वभाव से तो गन्ध सुरभि (सुगन्धित) ही है । परन्तु यदि द्रव्य के आधारभूत

अवयवों का योग विषम होता है तो उस गन्ध को उत्पन्न नहीं करते हैं। ऊपर कहे गये करम्भ आदि शब्दों से गन्ध का नाश गन्ध की ठीक तरह से पहचान न होना अथवा गन्ध का आभास कहा गया है। क्योंकि विषमता एक प्रकार की नहीं है किन्तु जल आदि बहुत से गन्ध का संपादन करते हैं इसलिये गन्ध अनन्त ही है। उसी को एकोऽपि गंधो विभिद्यते से कहते हैं ।।४५।।

आभास—पृथिवीं लक्षयति—

आभासार्थ—पृथिवी का लक्षण कहते है—

श्लोक—**भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।**
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ।।४६।।

श्लोकार्थ—सब पदार्थों को रूप देना, शब्दब्रह्म अथवा परब्रह्म के हृदय कण्ठ आदि में स्थिति, सम्पूर्ण जगत् को धारण करना, सब तत्त्वों में अवयवरूप से रहना, सब जीवों के जितने भी गुण हैं उन सबका उद्भेदन अर्थात् ब्रह्म से लेकर तिनके तक में जो भेद है यह पृथ्वी के द्वारा ही जाना जाता है ये पृथिवी की वृत्ति के लक्षण हैं ।।४६।।

सुबोधिनी—भावनमिति । पृथिव्याः पञ्च वृत्तयः । स्वभावतः आधारभूता भवति, आधेयभूता च देहवृक्षादिरूपा । तेषां कारणभूता च,प्रतिभारूपा च,मनसोपासनार्थं कल्प्या च । एवं पञ्चविधा भवति । तत्र **भावनं** मानसम् । **ब्रह्मणः स्थानं** प्रतिमा । धारणरूपा स्थूला । **सतां** घटादिपदार्थानां **विशेषणं** नानाविधकारणरूपता । सर्वेषां सत्त्वानां जीवानां ये गुणाः स्थूलसूक्ष्मनीलपीतादिभेदा यस्मात् । अथवा, ब्रह्मणो भावनं प्रतिमा, स्थानं जलादीनाम्, धारणमाधारत्वमनियतं सर्वेषां भवति, स्थानं नियतमिति विशेषः । सतामाकाशादीनामवच्छेदकत्वम्, सर्वेषाँ **सत्त्वानां** प्राणिनां तत्तद्गुणानां च पुंस्त्वादीनामुद्भेदः परिणामविशेषैः प्रकटीकरणम् । वस्तुतस्तु पूर्वमुत्पन्नायाः पृथिव्या एतानि लक्षणानि जलादिभ्यो व्यावृत्तानि वक्तव्यानि । प्रतिमा चित्रादे (दि) आकृतिमात्रे भवतीति ब्रह्मण इति वैयर्थ्यं स्यात्, नाऽपि स्थानं पृथक्तया स्थितिः, तत् सूर्यादिरपि संभवतीति न पृथिव्या विशेषलक्षणम् । तस्माद्भावनं सर्वपदार्थरूपापादकत्वम्, सर्वमेव भावयतीति । **ब्रह्मणः**, शब्दब्रह्मणः परब्रह्मणश्च, हृदयकण्ठादि**स्थान**रूपत्वम् । **धारणं** सर्वस्यापि जगतः । **सतां** सर्वेषामेव तत्त्वानां **विशेषणं** व्यावर्तकम्, अवयवभूतं वा । काष्ठादावग्निं प्रकटीकृत्य इतरव्यावृत्तिं जनयति, इतरथा तेजसः स्वरूपमेव क्वापि नाभिव्यक्तमिति कुतो व्यावृत्तिर्भवेत् । एवं जलमपि स्वान्तर्गतं रसरूपं नद्यादौ प्रकटीकृत्य प्रदर्शयति । एवं व्यजनादिना वायुम्, गर्तादिना आकाशम्, शरीरादावहङ्कारादिसर्वाण्येवेन्द्रियाण्यात्मानं च । किञ्च, सर्वसत्त्वानां जीवानां यावन्तो गुणाः, आब्रह्म तृणस्तम्बपर्यन्तं भेदाः, तेषामुद्भेदः पृथिव्या-मेव ।।४६।।

व्याख्यार्थ—पृथिवी की पाँच वृत्तियाँ हैं। पृथिवी स्वभाव से आधार भूत होती है और देह वृक्ष आदि पृथिवी के आधेयभूत हैं और पृथिवी उनका कारणभूता है। यह पृथिवी प्रतिभा रूपा है और मानस उपासना के लिये इसकी कल्पना की जाती है। इस प्रकार यह पाँच प्रकार की होती है। भावन का अर्थ है मानस, ब्रह्मणस्थानं का अर्थ है प्रतिमा। धारणरूपा पृथिवी स्थूल है। सद्विशेषणम् से सत् जो घट आदि पदार्थ हैं उनकी यह विशेषण है। अर्थात् नाना प्रकार से उनका यह कारणरूप है। इसी तरह सब जीवों के जो गुण स्थूल, सूक्ष्म, नील, पीत आदि हैं वे सब इस पृथिवी के द्वारा हैं। अथवा उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार भी हो सकती है। ब्रह्मणः भावनं का अर्थ है प्रतिमा। जल आदि के नियत आधार का अर्थ स्थान है और अनियन आधार को धारण कहते हैं। स्थान और धारण में यह विशेषता है। सत् जो आकाश आदि है उनकी अवच्छेदकता को सद्विशेषण कहा है। सब प्राणियों के जो वे वे गुण हैं जैसे पुरुषत्व आदि उनका जो उद्भेद अर्थात् परिणाम विशेष से प्रकट करना सर्वसत्व गुणोद्भेद कहा जाता है। यह अथवा से जो इस श्लोक की व्याख्या है वह श्रीधर स्वामी की व्याख्या के अनुसार है परन्तु यहाँ उसकी अस्वरता को वस्तुतस्तु से बताते हैं। वह इस प्रकार है। पृथिवी तो पहले ही उत्पन्न हो गई तब भावनं आदि ये विशेषण जल आदि मे पृथिवी को अलग बताने के लिये कहने चाहिये ये पृथिवी के लक्षण नहीं है। ब्रह्मणः स्थानं का अर्थ प्रतिमा किया है किन्तु प्रतिमा तो चित्र आदि आकृति मात्र में ही प्रसिद्ध है उसके लिये ब्रह्मणः ऐसा विशेषण देना व्यर्थ है। स्थान का अर्थ पृथक रूप से स्थिति भी नहीं है स्थिति तो सूर्य आदि की भी संभव है इसलिये स्थिति पृथिवी का विशेष लक्षण नहीं हो सकता। (अब सिद्धान्त कहते हैं) इसलिये भावनं का अर्थ है सब पदार्थ रूपता का आपादन अर्थात् पृथिवी सब को भावित करती है। ब्रह्मणः स्थानं का अर्थ है शब्दब्रह्म और परब्रह्म इनके हृदय कण्ठ आदि स्थान रूप। सम्पूर्ण जगत् को धारण करना ही धारण का अर्थ है। सब तत्वों का विशेषण (व्यावर्तक) या अवयव पृथ्वी है। काष्ठ पृथिवी है उसमें अग्नि को प्रकट करके इतर की व्यावृति को भी करती है अर्थात् तेज इतर (अन्य) महाभूतों से पृथक है। यदि तेज का स्वरूप ही कहीं व्यक्त नहीं होता तो उसकी व्यावृत्ति ही कैसे होती। जैसे अपने में से अग्नि को प्रकट करके पृथिवी ने तेज को अन्य महाभूतों से अलग बताया उसी तरह अपने अन्दर रहने वाले जल को भी अपने (पृथिवी) में रस रूप से रहता है नदी आदि के रूप से प्रकट करके प्रदर्शित करती है। इसी तरह पंखे के द्वारा वायु को और खड्ड आदि के द्वारा आकाश को, शरीर आदि में अहङ्कार को इन्द्रियों को और आत्मा को प्रकाशित करती है। कहाँ तक कहा जाय सब प्राणियों के जितने भी गुण हैं ब्रह्म से लेकर तिनके तक में जो भी कुछ भेद है उनका प्रकाशन भी पृथिवी में ही है ॥४६॥

आभास—श्रोत्रादीनां शब्दादिग्राहकत्वं प्रमाणत्वेनोक्तम्, तदेव तेषां लक्षणानीत्याह–सार्द्धद्वाभ्याम्—

आभासार्थ—श्रौत्र आदि को शब्द आदि के ग्राहक होने से उनको प्रमाण बताया था उनका लक्षण भी वही है अर्थात् शब्द को ग्रहण करना कान का लक्षण, रूप ग्रहण करना चक्षु (आँख) का इत्यादि उनको ढाई श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते ।**
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ।।४७।।

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते ।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्घ्राणमुच्यते ।।४८।।

श्लोकार्थ—आकाश का विशेष गुण शब्द जिसका विषय है वह श्रोत (कान) इन्द्रिय है, वायु का विशेषगुण स्पर्श जिसका विषय है वह स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) है। तेज का विशेष गुण रूप जिसका विषय है वह चक्षु इन्द्रिय है, जल का विशेष गुण रस जिसका विषय है वह रसनेन्द्रिय है, पृथिवी का विशेष गुण गन्ध जिसका विषय है वह घ्राणेन्द्रिय है ।।४८।।

सुबोधिनी—नभोगुण इति । तन्मात्रारूपोऽपि शब्द आकाशस्य गुणभूतो भवति । यथा कार्ये कारणप्रतीतिःपटे तन्तुप्रतीतिवत्; तथा आकाशस्य शब्दो गुणः । एवमग्रेऽपि नभोगुणः शब्दोऽसाधारणः, न तु संयोगादिरूपः, स एवाऽर्थो विषयो यस्य तत् श्रोत्रम् । **उच्यत** इति प्रमाणम्, अनेनाऽन्ये व्याख्याताः । **वायोर्गुणविशेषः** स्पर्शः, **तेजोगुणविशेषो** रूपम्, **अम्भोगुणविशेषो** रसः, एवं **भूमेर्गुणविशेषो** गन्धः ।।४७।।४८।।

व्याख्यार्थ—तन्मात्रारूप भी शब्द आकाश का गुणभूत है। जिस तरह कपड़े रूप कार्य में कारण रूप तन्तुओं की भी प्रतीति होती है उसी तरह यहाँ आकाश का शब्द गुण प्रतीत होता है। इसी तरह आगे भी आकाश का गुण शब्द असाधारण है संयोगादिरूप नहीं है यस्य तच्छ्रोत्तम् का अर्थ है वह शब्द ही है अर्थ विषय जिसका वह श्रोत्र है। उच्यते का अर्थ प्रमाण है इसी तरह अन्य इन्द्रियों के विषय में समझ लेना । वायु का विशेष गुण स्पर्श, तेज का विशेष गुण रूप, जल का विशेष गुण रस इसी तरह पृथिवी का विशेष गुण गन्ध है ।।४७–४८।।

आभास—कारणानुप्रवेशात् उत्तरोत्तरं धर्माधिक्यमाह—

आभासार्थ—कारण के अनुप्रवेश से उत्तरोत्तर धर्म की अधिकता होती है उसे कहते हैं—

श्लोक—**परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन्समन्वयात् ।**
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ।।४९।।

श्लोकार्थ—कारण का धर्म कार्य में कारण के समन्वय से दिखाई देता है अतः सभी विशेष पाँचों ही गुण अन्तिम कार्य पृथ्वी में ही दीखते हैं ।।४९।।

सुबोधिनी–परस्येति । **परस्य** कारणस्य धर्मः, **अपरस्मिन्**कार्ये, कारणसमन्वयात् धर्मो दृश्यते । अतः स्वधर्मः कारणधर्मश्च कार्ये भवति । सर्वेऽपि विशेषाः पञ्चाऽपि गुणाः, अन्तिमकार्ये पृथिव्यामेवेत्याह–**अतो विशेष इति** । साङ्ख्यशास्त्रत्वात् नाऽस्य विशेषतः सर्वबोधकत्वम् । वीणादिशब्दो वाङ्निमित्तक इति कारणसंबन्धेन तथात्वम् । चित्राणि च रूपाणि वरप्राप्तानि । सर्वेऽपि विशेषा भूमावेव **उपलक्ष्यन्ते** दृश्यन्ते ।।४६।।

व्याख्यार्थ–"पर" का अर्थ है कारण का धर्म 'अपरस्मिन्' अर्थात् कार्य में दीखता है उसका कारण यह है कि कार्य में कारण का समन्वय होता है अतएव कारण धर्म कार्य में होता है । सभी विशेष पाँचों ही गुण अन्तिम कार्य रूपा पृथिवी में ही हैं इसलिये भावों का विशेष पृथिवी में ही दीखता है । यह वर्णन सांख्य शास्त्र की रीति से है इसलिये इसकी विशेषरूप से सर्वबोधकता नहीं है । वीणा आदि के शब्द में वाणी निमित्त है इसलिये कारण के सम्बन्ध के कारण वीणा शब्द को वाङ्निमित्तक कहा है । चित्ररूप वर प्राप्त है । सभी विशेष पृथ्वी में ही दिखाई देते हैं ।।४६।।

आभास—एतेषामुत्पत्तिस्वरूपलक्षणान्युक्त्वा, कार्यतोऽपि तानि वक्तुम्, तेभ्यो ब्रह्माण्डोत्पत्तिमाह—

आभासार्थ - इनकी उत्पत्ति, स्वरूप और लक्षणों को कहकर कार्य से भी उत्पत्ति, स्वरूप लक्षण कहने के लिये उन से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को कहते हैं—

श्लोक—**एतान्यसंहृत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।**
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ।।५०।।

श्लोकार्थ—जब महत्तत्व अहङ्कार और पञ्चमहाभूत ये सातों ही तत्व अलग ही रहे तब जगत् के आदि के कारण भगवान् ने काल, अदृष्ट और सत्वादिगुणों के सहित इन सातों ही में प्रवेश किया ।।५०।।

सुबोधिनी–एतानीति । यद्यचेतनेभ्य एव तत्त्वेभ्यः कार्यमुत्पद्येत, तदाऽस्मिन्सङ्घाते नाऽऽत्मा मृग्यः स्यात्, सर्वस्यैव जडत्वात् । अतः सङ्घातश्चेतनसहितानामिति वक्तुं केवलानामकारणत्वमाह–**एतानि यदा, असंहृत्य** अमिलित्वा, मुख्यानि सप्त **महादादीनि** स्थितानीत्यर्थात् । तदा भगवान् कालप्राण्यदृष्टसत्त्वादिगुणैर्मिलितः सर्वजगत्कारणकारणभूत एतान्युपाविशत् । अत्रैकं वाक्यमार्थिकं ल्यपाऽऽक्षिप्यते । अथवा, भगवानेव असंहृत्य, एतान्यमेलयित्वा, पश्चादुपाविशदिति । अग्रे उत्पद्यमानं जगत् यथा चतुर्णामधीनं भवत्यात्मकालकर्मस्वभावानाम्, तदर्थं कालादिभिः सह प्रवेशः ।।५०।।

व्याख्यार्थ—यदि इन अचेतन तत्वों से ही कार्य उत्पन्न हो जाय तो फिर इस संघात में आत्मा कैसे ढूँढी जा सकेगी क्योंकि सारा संघात ही जड़रूप है । केवल में कारण रूपता नहीं है

अतः चेतन के सहित ही संघात कारण है। ये जब असंहत्य (बिना मिले ही) महत्तत्व आदि मुख्य सातों ही विद्यमान थे तब सम्पूर्ण जगत् के कारण भूत भगवान् ने काल, प्राणियों के अदृष्ट, सत्व आदि गुणों से मिलकर (इनके साथ में) इन सातों में प्रवेश किया। यहाँ एक वाक्य आर्थिक है जो असंहत्य इस ल्यप प्रत्यय से आक्षिप्त होता है अथवा भगवान् ही ने इन्हें अलग अलग रखकर पीछे इनमें प्रवेश किया। आगे चलकर उत्पन्न होने वाला यह जगत् आत्मा, काल, कर्म और स्वभाव इन चार के अधीन रहे इसलिये इन काल आदि के साथ ही भगवान् ने इनमें प्रवेश किया ।।५०।।

आभास—ततो ब्रह्माण्डमुत्पन्नमित्याह—

आभासार्थ—तदन्तर ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ यह कहते हैं—

श्लोक—**ततस्तेनाऽनुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।**
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ।।५१।।

श्लोकार्थ—भगवान् के प्रविष्ट होने के अनन्तर और भगवान् के द्वारा योजित होने पर यह अण्ड जो पहले अचेतन था उस अण्ड से यह पुरुष जिसने तत्वों में प्रवेश किया था उठ के खड़ा हो गया ।।५१।।

सुबोधिनी—तत इति । **ततो** भगवत्प्रवेशानन्तरम्, **तेन** भगवता **अनुविद्धेभ्यो** योजनार्थं गुणान् गृहीत्वा सूच्येव विद्धेभ्यः, प्रथमतोऽचेतनमेवाऽण्डमुत्थितम् । **यस्मादण्डादसौ पुरुषः** पूर्वं तत्त्वेषु प्रविष्टः, स एव विराड्रूपो भूत्वा, उदतिष्ठत् ।।५१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के प्रविष्ट होने के अनन्तर उन भगवान् से 'अनुविद्धेभ्यो' अर्थात् गुणों का ग्रहण करके इनको आपस में मिलाने के लिये सूई को तरह इनमें अनुवेध की जैसे कपड़े को मिलाने वाला (सीने वाला) सूई में डोरे को पोह कर उन्हें मिलाता है इसी तरह भगवान् ने प्रवेश करके इनको योजित किया। प्रथम जो अण्ड अचेतन था वही अण्ड उठ के खड़ा हो गया। वही पुरुष जो पहले तत्वों में प्रविष्ठ हुआ था वह विराट्रूप होकर उठ गया ।।५१।।

आभास—ब्रह्माण्डे चेतनाचेतनोत्पत्तिमुक्त्वा तस्य नामरूपे आह—

आभासार्थ—ब्रह्माण्ड में चेतन और अचेतन की उत्पत्ति को कहकर उसके नाम और रूप को कहते हैं—

श्लोक—**एतदण्डं विषेशाख्यं क्रमाद्वृद्धैर्दशोत्तरैः ।**
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनाऽऽवृतं बहिः ।।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ।।५२।।

श्लोकार्थ—इस अण्ड का नाम विशेष है यह स्वयं पचास करोड़ योजन के विस्तार वाला है इसके उत्तरोत्तर क्रम से पूर्व से दस दस गुणा जल अग्नि, वायु, आकाश, अहङ्कार, महत्तत्व इनके आवरणों से घिरा हुआ है और इन सबके बाहर प्रकृति का आवरण है। इसी में सब लोकों का विस्तार है और यह भगवद्रूप है।५२।

सुबोधिनी–एतदण्डमितिविशेष इत्यस्य नाम। स्वयं सर्वतः पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तृतं स्वतः। तत उत्तरोत्तरं पूर्वस्माद्दशगुणं वृद्धैस्तोयादिभिः सर्वतः परिवृतम्, अन्ततः प्रधानेन चाऽऽवृतम्। एवमस्य महत्त्वम्। अत्र स्थितसर्वजगतो भगवत्त्वेनाऽपि महत्त्वमाह–**यत्र लोकवितानोऽयमिति।** अयं सर्वोऽपि लोकविस्तारो भगवतो रूपम्। तस्मादेतद्भगवदाधारभूतम् ।।५२।।

व्याख्यार्थ—विशेष यह इसका नाम है। स्वयं सब ओर से पचास करोड़ योजन के विस्तार वाला स्वतः है। उसके बाद पूर्व से दस गुणे बढ़े हुए जल आदि से घिरा हुआ है अन्त में प्रधान (प्रकृति) से आवृत्त है। इस प्रकार का इसका महत्व है। इसमें स्थित जगत् का भगवत्व से भी महत्व बताते हैं यत्र 'लोकवितानोय' यह सारा लोक विस्तार भगवान् का रूप है इसलिये यह भगवान् का आधारभूत है ।।५२।।

आभास—स बहुकालं पुरुषत्वसम्पादनार्थं तस्यां पुरि शयनं कृतवान् **'पुरि शेते'** इति पुरुषपदनिर्वचनात्। यावदयं शयनं कृतवान्, तावत्पूर्वमनुवेदरूपेण प्रविष्टा भगवदंशा भोगं न प्राप्तवन्तः। यदा तु पुनस्ततउत्थाय तस्मात् पृथग्भूतः सन् तत्र निविष्टः, तदा सर्वांशानां भोगार्थं तत्र स्थानानि जातानीत्याह—

आभासार्थ—उसने बहुत काल तक अपने में पुरुषत्व का सम्पादन करने के लिये उस पुरी में शयन किया क्योंकि 'पुरिशेते' पुरुषः पुरी में शयन करने के कारण हैं उनका नाम पुरुष हुआ। जब तक इसने शयन किया था उतने समय तक उस में अनुवेदरूप से प्रविष्ट भगवदंशो ने भोग को प्राप्त नहीं किया। जब पुनः उसमें से उठकर उस से अलग होकर पुनः उसमें जब प्रविष्ट हुआ तब सब अंशों के भोग के लिये वहाँ स्थान हो गये—

श्लोक—**हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात्।**
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ।।५३।।

श्लोकार्थ—'नारायण' शब्द से कहे जाने वाले जल में विद्यमान प्रकाशमान् सुवर्णमय विराट् देह से उठकर पुनः उसमें प्रवेश कर उसने उस शरीर में अनेक प्रकार के छिद्र किये ।।५३।।

सुबोधिनी–हिरण्मयादिति। प्रकाशबहुलात् सुवर्णमयात् सलिले विद्यमानान्नारायणशब्दवाच्यात् विराड्देहा**दुत्थाय**, पुन**स्तमाविश्य** सर्वत्र विद्यमानमाकाशं **बहुधा निर्बिभेद,** बहूनि छिद्रा-

णि कृतवान् । भगवदुत्थानेऽपि कोशस्य नाशाभावार्थं हिरण्मयत्वमुक्तम् । रक्षसां बाधाभावार्थं सलिलेशयत्वमुक्तम् । महादेवो हि अल्पनिरूप्यो भवतीत्यल्पैः सहितः समर्थस्तत्र शरीरे छिद्राणि कृतवान् । पुनरपि प्रविष्टोऽयं भेदमात्रं कृतवानिति पुरुषत्वमेव स्थितम् । नाऽनेन विराजः कार्यकरणसामर्थ्यं भवति । यथा प्रतिमादौ भगवान् तिष्ठति, तथैवाऽयं स्थित इति ज्ञातव्यम्, अन्यथा तत्त्वेभ्य आत्मविवेको न स्यात् ॥५३॥

व्याख्यार्थ—प्रकाश जिसमें अधिक है उस सुवर्णमय जल में रहने वाले नारायण इस नाम से कहे जाने वाले विराट् देह से उठकर पुनः उस विराट् देह में प्रवेश कर सर्वत्र विद्यमान आकाश को अनेक प्रकार से भेदन किया अर्थात् बहुत से छेद किये । भगवान् के उठने पर भी उसका नाश नहीं हुआ इसको बताने के लिये ही उस कोश को स्वर्णमय कहा । राक्षस उस कोश को किसी प्रकार की बाधा न पहुँचा सके इसके लिये उसकी सलिल (जल) में स्थिति बताई । महादेव का निरूपण अधिक नहीं करना पड़ता इसलिये अल्पों के सहित ही उसने उस शरीर में छेद कर दिये । पुनः प्रविष्ट होकर भी उसने भेद मात्र ही किया इसलिये उसमें पुरुषत्व ही स्थित रहा । इससे यह सिद्ध हुआ कि विराट् में कार्य करने की सामर्थ्य नहीं होती । जैसे प्रतिमा में भगवान् रहते हैं उसी तरह यह भी उस हिरण्मय कोश में रहा ऐसा जानना चाहिये । अन्यथा तत्वों से आत्मविवेक नहीं होता ॥५३॥

आभास—छिद्राणां विनियोगमाह–**निर्भिद्यते**त्याद्यष्टभिः—

आभासार्थ–छिद्रों का विनियोग (उपयोग) कहते हैं—

श्लोक—**निर्भिद्यताऽस्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।**
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः ॥५४॥

श्लोकार्थ—सबसे पहेले उसमें मुख प्रकट हुआ उससे वाक्इन्द्रिय प्रकट हुई और वाणी के साथ ही अग्नि भी उत्पन्न हुई फिर नाक के दोनों छेद उत्पन्न हुए उनमें घ्राणेन्द्रिय का निवेश हुआ वह 'घ्राणेन्द्रिय आसन्यात्मक सर्वनियामक' प्राण से सम्ब हुई ॥५४॥

सुबोधिनी–प्रथमत आस्यं निर्भिन्नं विवरात्मकम् । तस्य मुखमिति नाम । **अस्येति** पाठः । प्रथममस्य मुखं निर्भिन्नम्, **ततो वाणी** वागिन्द्रियं तत्राऽ**भवत्** प्रविष्टम्, वाण्या सह वह्निरपि तत्राऽभवत् । **अथो** छिद्रान्तरे भिन्नप्रक्रमेण नासापुटे निरभिद्येताम् । तयोर्घ्राणमिन्द्रियं निविष्टम् । तच्च देवतया विद्धमित्याह–**प्राणोत इति** । प्राणेन उतः स्यूतः सम्बद्धः । उभयोरेक एव निविष्टः । अयं प्राणः नेन्द्रियदेवतारूपः, किन्तु सर्वनियामक आसन्यात्मकः ॥५४॥

व्याख्यार्थ—सबसे पहले विवरात्मक (छिद्रात्मक) आस्य (मुख) का विकास हुआ उसका नाम मुख हुआ। यह अर्थ निर्भिद्यतास्यं प्रथम ऐसा पाठ रखने पर हुआ और आस्यं की जगह अस्य ऐसा पाठ हो तो पहले इसके मुख विकसित हुआ ऐसा अर्थ होगा उसके बाद वागिन्द्रिय ने उस मुख में प्रवेश किया वाणी के साथ-साथ अग्नि भी वहाँ हुई। तदनन्तर दूसरे छिद्र से दोनों नासापुट विकसित हुए उन दोनों में घ्राणेन्द्रिय ने प्रवेश किया। वह घ्राणेन्द्रिय देवता के द्वारा विद्ध हुई यह प्राणोत: से बताया है प्राणेन उत-स्यूत: सम्बद्ध: प्राणोत: प्राण से सम्बन्ध को प्राणोत कहते हैं नाक के दोनों ही छिद्रों में एक ही प्राण ने सम्बन्ध किया, यह प्राण इन्द्रिय रूप नहीं है किन्तु सर्वनियामक आसन्यात्मक है ॥५४॥

आभास—तस्य तत्र कथनप्रयोजनमाह—

आभासार्थ—उस आसन्य प्राण का वहाँ कहने का प्रयोजन कहते हैं—

श्लोक—**प्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः ।**
तस्मात्सूर्योऽन्वभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥५५॥

निर्बिभेद विराजस्त्वग्लोमश्मश्र्वादयस्ततः ।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः ॥५६॥

रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥५७॥

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां ततः स्वराट् ।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ॥५८॥

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।
नद्यस्ततः समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥५९॥

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत् ।
अथाऽस्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥६०॥

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः ।
अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥६१॥

श्लोकार्थ—उस प्राण से इन्द्रिय की देवता रूप वायु का आविर्भाव हुआ उससे दोनों अक्षि गोलक उनसे चक्षु इन्द्रिय और चक्षु इन्द्रिय से सूर्य का आविर्भाव हुआ।

तदनन्तर दोनों कान प्रकट हुए उससे श्रोत्रेन्द्रिय से दिशाएँ प्रकट हुई ।।५५।। इसके पीछे उस विराट् के त्वचा प्रकट हुई उसमें लोम इन्द्रिय और श्मश्रुकेश आदि लोम विशेष प्रकट हुए उनसे उनकी देवता औषधियाँ प्रकट हुई तदनन्तर शिश्न गोलक और रेतस् इन्द्रिय और उसके देवता जल का आविर्भाव हुआ । फिर उस विराट् के गुदा (पायुस्थान) और अपान इन्द्रिय और उसमें मृत्यु देवता का आविर्भाव हुआ । जो मृत्यु लोकों को भय देने वाला है ।।५७।। तदनन्तर गोलकस्थानीय दोनों हाथ और उनसे बल इन्द्रिय तथा बल से स्वराट् (इन्द्र) का प्राकट्य हुआ । गोलकस्थानीय दोनों पैर और उनसे गति इन्द्रिय तथा गतिरूप इन्द्रिय से हरि (विष्णु) देवता का आविर्भाव हुआ ।।५८।। फिर गोलकस्थानीय नाड़ियों का और नाड़ियों से पूर्णरूप से भरी हुई लोहित इन्द्रिय की और उससे देवता रूप नदियों का आविर्भाव हुआ । गोलकस्थानीय उदर के प्राकट्य के अनन्तर भूख प्यास रूप इन्द्रिय और उससे समुद्र देवता का प्राकट्य हुआ । इसके हृदय गोलक प्रकट हुआ उससे मन इन्द्रिय और मन इन्द्रिय से चन्द्रमा देवता का प्राकट्य हुआ । हृदय गोलक से बुद्धि इन्द्रिय और बुद्धि इन्द्रिय से वाणी के पति देवता का आविर्भाव हुआ । हृदय गोलक से अहङ्कार इन्द्रिय और उसके देवता रुद्र का प्राकट्य हुवा । हृदयगोलक इन्द्रिय चित्त और चैत्य (जीव) देवता प्रकट हुआ ।।५५-६१।।

सुबोधिनी—प्राणादिति । तस्मात् प्राणात् वायुरिन्द्रियदेवतारूपो निरभिद्यत । भगवत्कृतसृष्टावश्विनींकुमाराविन्द्रियदेवता, भगवदर्थसृष्टौ तु वायुरिति विशेषः । ततोऽक्षिणी गोलके । उभयोरपि चक्षुरित्येकमिन्द्रियम्, तस्मात्सूर्य आविर्भूतः । **कर्णावन्वभिद्येताम्** ततः **श्रोत्रम् ततो दिशः** । विराजस्त्वक् निर्भिन्ना । **निर्बिभेदे**त्याविरभूदित्यर्थः । तत्र **लोम** इन्द्रियम्, श्मश्रुकेशाश्च लोमविशेषाः, तत्र देवता **ओषधयः** । अस्यां सृष्टौ त्वक्चर्मणोरैक्यम् । स्पर्शस्त्वगिन्द्रियेण । वायुर्देवता केन गृह्यत इति पूर्वमुक्तम् । **शिश्नं** गोलकम् । **रेत** इन्द्रियम्, **आपो** देवताः **'आप एव पुरुषाकारा भवन्ति'** इति । पूर्वं को देवः ? सर्वत्र वैलक्षण्ये सृष्टिभेदो नियामकः । **गुदं** पायुस्थानम्, **अपान** इन्द्रियम् । तत्र **मृत्यु**र्देवः । स च **लोकभयङ्कर** इति वैराग्यार्थमुक्तम् । मृत्युरुपर्येव तिष्ठति, मध्ये मृत्युरिति च । **हस्तौ** गोलकस्थानीयौ, **बल**मिन्द्रियम् । **ताभ्यां** सहैव निर्गतमिति तृतीया । **ततो** बलात् **स्वराट्** इन्द्रः । एवं पादावपि । **गतिरिन्द्रियम्** । **ततो** गतिरूपात् हरिर्विष्णुर्देवः । **नाड्यो** गोलकम् । आसमन्तात् भृतं **लोहित**मिन्द्रियम् । **आभृतं** जातमिति वा । **नद्यो** देवताः । **उदरं** गोलकम् । **क्षुत्पिपासे** इन्द्रियम् । **समुद्रो** देवता । **हृदयं** चतुर्णां गोलकम् । तत्रैकं मन इन्द्रियम् । **मनसः** सकाशा**ज्जातश्चन्द्रमा**स्तस्य देवः । **बुद्धि**रपीन्द्रियम् । **गिरां पति**र्देवः । **अहङ्कारः** इन्द्रियम्, **रुद्रो** देवता । **चित्त**मिन्द्रियम्, **चैत्यो** जीवो देवता इति । एते सर्वे तत्तत्स्थानेऽभिव्यक्ता भगवदंशाः, **चैत्यो** मुख्यो भगवदंशः ।।५५-६१।।

व्याख्यार्थ—उस पूर्वोक्त प्राण से इन्द्रिय के देवता रूप वायु का आविर्भाव हुआ। भगवान् के द्वारा की गई सृष्टि में दोनों अश्विनी कुमार इन्द्रिय के देवता हैं। और भगवान् के लिये जो सृष्टि है उसमें वायु देवता हैं ये विशेषता है। तदन्तर दोनों अक्षिगोलक उत्पन्न हुए दोनों गोलक (छिद्रों) से एक ही चक्षु इन्द्रिय है उससे सूर्य देवता का आविर्भाव हुआ। तदन्तर कर्ण गोलकों की उत्पत्ति हुई उससे श्रोत्रेन्द्रिय हुई श्रोत्रेन्द्रिय से देवता रूप दिशाओं का आविर्भाव हुआ। विराज के त्वचा आविर्भूत हुई। उससे लोम इन्द्रिय तथा श्मश्रु केश भी लोम विशेष ही है उनके देवता रूप ओषधियाँ आविर्भूत हुई। इस सृष्टि में त्वचा और चर्म दोनों एक ही हैं। स्पर्श त्वगिन्द्रिय से होता है और उसका देवता वायु है और वह किससे ग्रहण किया जाता है यह पहले कह दिया है। शिश्न गोलक और रेतस् इन्द्रिय और उसका देवता जल है श्रुति में भी कहा है 'आप एव पुरुषाकारा भवन्ति' जल ही पुरुषाकार होता है। पहले कौन देवता था? सब जगह विलक्षणता में सृष्टि भेद ही नियामक है। गुद पायुस्थान है अपान उसकी इन्द्रिय है और वहाँ मृत्यु देवता है। वह मृत्यु लोक को भय देने वाला है वैराग्य के लिये उसका इस प्रकार से कथन है। मृत्यु ऊपर ही रहती है और 'मध्येमृत्युः' ऐसा भी है हाथ गोलक स्थानीय है बल इन्द्रिय है उन दोनों हाथों के साथ ही बल की उत्पत्ति हुई इसलिये ताभ्यां ऐसा कहा। और बल से स्वराट् इन्द्र का आविर्भाव हुआ। इसी तरह पैरों की उत्पत्ति और उनसे गति इन्द्रिय और गतिरूप इन्द्रिय से हरि (विष्णु) देवता का आविर्भाव हुआ। नाड़ियाँ गोलक सम्पूर्ण रूप से भरा हुआ लोहित इन्द्रिय अथवा आभृत का अर्थ उत्पन्न है। नदियाँ देवता हैं। उदर गोलक भूख प्यास इन्द्रिय और समुद्र देवता। हृदय चार का गोलक है उसमें एक तो मन इन्द्रिय है और मन से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा उसका देवता है। द्वितीय बुद्धि इन्द्रिय है वाणी के पति देवता हैं तृतीय अहङ्कार इन्द्रिय है रुद्र देवता है। चतुर्थ चित्त इन्द्रिय चैत्य जीव देवता है। ये सब उन उन स्थानों में अभिव्यक्त भगवदंश हैं चैत्य (जीव) मुख्य भगवदंश है ॥५५-६१॥

आभास—सर्वेभ्यः तं विवेक्तुं पुनः सर्वेषां निर्गमनप्रवेशावाह—

आभासार्थ—सबसे उसको अलग बताने के लिये पुनः सबके निकलने का और प्रवेश का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवाऽस्योत्थापनेऽशकन् ।**
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥६२॥

श्लोकार्थ—आत्मा के अतिरिक्त सब देवताओं से उत्पन्न होकर भी विराट् पुरुष को उठाने में समर्थ न हो सके फिर उन सब देवताओं ने (अपनी उत्पत्ति के स्थान भूत) गोलको (छिद्रों) में (उस विराट् को उठाने के लिये क्रम से) प्रवेश किया ॥६२॥

सुबोधिनी–एते इति । एते देवाः स्वयमभ्युत्थिता **अस्य** देहस्योत्थापने न शक्ताः । य एवेनं देहमुत्थापयति, स जीव आत्मेति ज्ञातव्यम् । सामर्थ्ये विद्यमानेऽपि नोत्थापयन्तीति न मन्तव्यम्, किन्तु सामर्थ्यमेव नास्तीति । तदर्थमुपाख्यानमाह–**पुनराविविशु**रित्यादिना । तदेव शरीरम् स्वस्वस्थाने पूर्वं भगवता सह निविष्ठा अपि, **पुनराविविशुः । खानि** छिद्राणि । प्रयोजनम्–**तमुत्थापयितुमिति । क्रमादिति** स्वस्वबलपरीक्षार्थम् ।।६२।।

व्याख्यार्थ –ये देवता स्वयं उठे परन्तु इस विराट् देह को उठाने में समर्थ न हुए । जो इस को उठाता है वह तो जीव आत्मा है । सामर्थ्य के रहते हुए भी नहीं उठाते हैं ऐसी बात नहीं है किन्तु उठाने की उनमें सामर्थ्य ही नहीं है उसके लिये पुन राविविशुः ऐसा कहा । उसी विराट् शरीर में जिसमें कि भगवान् के साथ सबने अपने अपने स्थान में पहले प्रवेश किया था उन्हीं छिद्रों में पुनः प्रवेश किया प्रवेश का प्रयोजन तो उस विराट् को उठाना ही था । क्रमात् का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ने क्रम से अपने बल की परीक्षा के लिये प्रवेश किया ।।६२।।

श्लोक—**वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।**
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।।६३।।

अक्षिणी चक्षुषाऽऽदित्यो नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।।६४।।

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।।६५।।

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।।६६।।

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदत्तिष्ठत्ततो विराट् ।।६७।।

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।।६८।।

बुद्ध्या ब्रह्माऽपि हृदयं नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्ततो विराट् ।।६९।।

श्लोकार्थ—अग्नि देवता ने अपनी इन्द्रिय वाणी के साथ मुख में प्रवेश किया परन्तु उससे विराट् उठा नहीं । वायु देवता ने अपनी इन्द्रिय घ्राण के साथ नासिका

में प्रवेश किया उससे विराट् नहीं उठा। आदित्य (सूर्य) ने अपनी इन्द्रिय चक्षु के साथ नेत्र गोलक में प्रवेश किया उससे विराट् नहीं उठा। दिशाओं ने अपनी इन्द्रिय श्रोत्र के साथ कर्ण गोलकों में प्रवेश किया उससे विराट् नहीं उठा। ओषधियों ने अपनी इन्द्रिय रोमों के साथ त्वचा में प्रवेश किया उससे भी विराट् नहीं उठा। जल ने अपनी इन्द्रिय रेतस् के साथ शिश्न में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। मृत्यु देवता ने अपनी इन्द्रिय अपान के साथ गुद गोलक में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। इन्द्र के अपनी इन्द्रिय बल के साथ हाथों में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। विष्णु देवता ने अपनी गति इन्द्रिय के साथ चरणों में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। नदी देवताओं ने अपनी इन्द्रिय लोहित के साथ नाडियों में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। सिन्धु देवताओं ने भूख और प्यास इन्द्रियों के साथ उदर में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। चन्द्र देवता ने मन इन्द्रिय के साथ हृदय गोलक में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। ब्रह्मा ने बुद्धि के साथ हृदय में प्रवेश किया फिर भी विराट् नहीं उठा। रुद्र ने अहङ्कार के साथ हृदय मैं प्रवेश किया परन्तु विराट् उससे भी नहीं उठा।६३-३६॥

सुबोधिनी–वह्निर्देवो वाचेन्द्रियेण सह प्रथमतो मुखं भेजे। ततो निर्गत्य तत्र प्रविष्टः। तस्मिन् प्रविष्टे विराट् सलिलात् नोदतिष्ठत। सर्वत्रेन्द्रियेण सह देवता गोलके निविष्टा। विराट् ततो नोत्थितः। **विष्णुर्गत्यैवेति**। इन्द्रियेण सह प्रविष्टो विष्णुस्तावन्मात्रप्रयोजको नाऽधिकं करोति। एवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। मन्त्राधिष्ठातृरूपेष्वपि मर्यादैषा। पुरुषोत्तमस्तु सर्वं करोति चेत स सेवितुं शक्यते, प्राप्यते वा। रुद्रपर्यन्तं देवाः सर्वे निविष्टाः प्रत्येकम्। **ततो विराट् नोदतिष्ठत**॥६३–६९॥

व्याख्यार्थ—अग्नि देव ने वाणी इन्द्रिय के साथ सर्वप्रथम मुख में प्रवेश किया। उससे निकल कर उसी में प्रवेश किया। उसके प्रविष्ट होने पर विराट् जल से नहीं उठा। सब जगह इन्दिय के साथ देवताओं ने गोलक में प्रवेश किया। विराट् उससे उठा नहीं। इन्द्रिय के साथ विष्णु ने भी प्रवेश किया किन्तु फिर भी विराट् नहीं उठा। शंका हो सकती है कि विष्णु के प्रवेश करने पर वह विराट् क्यों नहीं उठा उसका उत्तर है कि उन (विष्णु) का उतना ही काम था इसलिये उन्होंने उससे अधिक काम नहीं किया। इसी तरह सब जगह जानना चाहिये। मन्त्र के अधिष्ठाता रूप देवों में भी ऐसी ही मर्यादा है। पुरुषोत्तम तो सब कर सकता है इसलिये वह सेवा करने के योग्य है अथवा प्राप्त करने के योग्य है। रुद्र पर्यन्त सब देवताओं ने एक एक ने अलग अलग उसमें प्रवेश किया तो भी विराट् पुरुष नहीं उठा॥६३–६९॥

श्लोक—**चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।**
विराट् तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्टत॥७०॥

श्लोकार्थ—चैत्य (जीव) ने जो क्षैत्रज्ञ है उसने अपनी इन्द्रिय चित्त के साथ हृदय में जब प्रवेश किया उसी समय विराट् पुरुष जल से उठकर खड़ा हो गया ।७०।

सुबोधिनी–यदा पुनश्चित्तेनेन्द्रियेण सह । **हृदयम् चैत्यो** जीवः, **क्षेत्रज्ञो** देहाभिमानी, यदैव प्राविशत्; तदैव **पुरुषो** भगवत्सहितो देहः, **सलिलादुदतिष्ठत** ।।७०।।

व्याख्यार्थ—जब फिर चित्त इन्द्रिय के साथ हृदय में चैत्य (जीव) ने जो क्षैत्रज्ञ (देहभिमानी) कहा जाता है उसने जब ही प्रवेश किया उसी समय पुरुष भगवान् के सहित देह जल से उठ खड़ा हुआ ।।७०।।

आभास—अन्तरङ्ग एव सेवको महाराजमुत्थापयितुं शक्नोति, नाऽन्य इति दृष्टान्तेन स्पष्टयति–**यथेति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—अन्तरङ्ग सेवक ही महाराज को उठा सकता है दूसरा नहीं इस को दृष्टान्त से दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं—

श्लोक—**यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।**
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ।।७१।।

तमस्मिन्प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्याऽऽत्मनि चिन्तयेत् ।।७२।।

श्लोकार्थ—जैसे सोये हुए पुरुष को प्राण इन्द्रिय मन और बुद्धि ये सब अन्तःस्थित जीव के बिना उठाने में समर्थ नहीं होते हैं । अतः शरीराभिमानी उस जीव को भक्ति वैराग्य और चित्त की एकाग्रता से ज्ञान के द्वारा उस अन्तरात्मस्वरूप क्षैत्रज्ञ को इस शरीर में स्थित जानकर उसका चिन्तन करना चाहिये ।।७१-७२।।

सुबोधिनी–यथा स्वसामग्र्या सुप्तं पुरुषं बहिः स्थिताः प्राणेन्द्रियमनोधियः, **येना**ऽन्तःस्थितेन जीवेन विनोत्थापयितुं न प्रभवन्ति, तमेव प्रत्यगात्मानं शरीराभिमानिनं जीवम्, **अस्मिन्** सङ्घाते, इतरव्यावृत्त्या **चिन्तयेत्** । तत्र चिन्तने बुद्धिः करणम् । साऽपि न प्राकृती, किन्तु योगेन विपक्वा, योगेन प्रवृत्ता वा । योगसिद्धेत्यर्थः । तस्य सहायभूतं भक्त्यादित्रयम् । तैः सहितया बुद्ध्या इतरान् दूरीकृत्य तमेव चिन्तयेत् । बुद्ध्यभ्यासं तत्र कुर्यात् । तथा सत्युत्तरत्र तस्य ब्रह्मभावो भावयितुं सुकर इति भावः ।।७१–७२।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे षड्विंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—जिस तरह सोये हुए पुरुष को अपनी सामग्री (साहित्य) के द्वारा बाहर रहने वाले प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सब अन्त: स्थित जीव के बिना उठाने में समर्थ नहीं हो सकते इसलिये प्रत्यगात्मा (शरीराभिमानी) जीव को इस संघात में अन्य सब को अलग करके उसी का चिन्तन करना चाहिये। उसके चिन्तन में बुद्धि की आवश्यकता होती है। वह बुद्धि भी प्राकृत नहीं होनी चाहिये किन्तु योग से विपक्व होनी चाहिये अथवा योग के द्वारा प्रवृत्त होनी चाहिये अर्थात् योग सिद्ध हो। उस बुद्धि के सहायभूत, भक्ति ज्ञान और वैराग्य ये तीन हैं इन तीनों के साथ बुद्धि से अन्य सब को पृथक करके उसी क्षेत्रज्ञ का चिन्तन करे। उसमें बुद्धि का अभ्यास करे। वसा होने पर उसमें उत्तरोतर ब्रह्मभाव की भावना सुकर होती है ।।७१–७२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के छब्बीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

२५ वें तथा २६ वें अध्यायों की कथा का सार

देवहूतिजी तथा कपिलदेवजी का संवाद

इहा कपिल सौ माता कह्यो। प्रभु मेरी अज्ञान तुम दह्यो ।।
आतमज्ञान देहु समझाई। जातें जनम मरण-दुख जाई ।।
कह्यो कपिल, कहौं तुमसौं ज्ञान। मुक्त होई नर ताको जान ।।
मुक्त नर ही के लच्छन कहों। तेरे सब सन्देहै दहौं ।।
मम स्वरूप जो सब घट जान। मगन रहै तजि उद्यम आन ।।
अरू सुख दुख कछु मन नहिं ल्यावे। माता सो नर मुक्त कहावे ।।
और जो मेरौ रूप न जानै। कुटुँब-हेत नित उद्यम ठाने ।।
जाकौ इहि विधि जन्म सिराई। सो नर मरिकै नरकहिं जाइ ।।
ज्ञानी संगति उपजै ज्ञान। अज्ञानी-संग होइ अज्ञान ।।
तातैं साधु संग नित करना। जातै मिटै जन्म अरु मरना ।।
थाँवर-जंगम में मोहिं जानै। दयासील सब सौ हित माने ।।
सत संतोष दृढ करै समाधि। माता ताकौ कहिये साध ।।
काम क्रोध लोभहिं परिहरे। द्वंद्व-रहित उद्यम नहिं करे ।।
ऐसे लच्छन हैं जिन माहिं। माता तिनसौ साधु कहाहि ।।
जाकौं काम-क्रोध नित व्यापे। अरु पुनि लोभ सदा संतापे ।।
ताहि असाधु कहत सब लोइ। साधु वेष धरि साधु न होइ ।।
संत सदा हरि के गुण गावें। सुनि सुनि लोग भक्ति कौ पावें ।।
भक्ति पाइ पावैं हरि-लोक। तिन्हैं न व्यापे हर्षऽरु सोक ।।

(सूरसागर)

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (गुणातीत मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—२७

पुरुष का स्वरूप और उसे जानने का उपाय

कारिका—**साङ्ख्येनेतराभिन्नस्य ज्ञाने जाते तथाऽऽत्मनः ।**
ब्रह्मरूपेण तज्ज्ञानं सप्तविंशे निरूप्यते ।।१।।

साधनानि स्वरूपं च चिन्तनार्थमिहोच्यते ।
युक्तयोऽप्यत्र कथ्यन्ते विपर्ययनिवृत्तये ।।२।।

कारिकार्थ सांख्य के द्वारा आत्मा संघात से भिन्न (अलग) है ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान का ब्रह्म रूप से सत्ताईसवें अध्याय में निरूपण है ।।१।।

कारिकार्थ—ब्रह्म भाव के चिन्तन के लिये यहाँ साधनों का तथा स्वरूप का कथन है । वैपरीत्य की निवृत्ति के लिये यहाँ युक्तियाँ भी कही जा रही हैं ।।२।। यह सताईसवाँ अध्याय का माध्यम कहा गया है ।

आभास—पूर्वाध्याये सङ्घातेऽपि विद्यमान आत्मा भिन्नतया निरूपितः । तस्य मोक्षो निरूप्यते । स चेद्बहुकालं प्रकृतौ स्थितः, मञ्जिष्ठादिभिरिव रञ्जकद्रव्यैः वस्त्रमिव रक्तः स्यात्, तदा तस्य मोक्षो न सम्भावित इति सूचयंस्तस्य स्थितिमाह—

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में संघात में विद्यमान आत्मा का भी भिन्न रूप से निरूपण किया

गया है । अब इस अध्याय में उस आत्मा के मोक्ष का निरूपण किया जाता है । यदि वह आत्मा बहुत समय तक प्रकृति में स्थित होता है तो जैसे मजीठ आदि रँगने के द्रव्यों में स्थित वस्त्र पर उसका रंग चढ़ जाता है उसी तरह आत्मा पर प्रकृति का प्रभाव हो जाने से उसकी मुक्ति की भी संभावना न होगी इसको सूचित करते हुवे उस (आत्मा) की स्थिति को कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—**प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।**
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ।।१।।

श्लोकार्थ—श्रीभगवान् कहते हैं—हे माता जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का जल के शीतलत्व चंचलत्व आदि गुणों का संबन्ध नहीं होता उसी प्रकार पुरुष (आत्मा) प्रकृति के गुणों से लिप्त नहीं होता क्योंकि आत्मा निर्विकार अकर्ता और निर्गुण है ।।१।।

सुबोधिनी–प्रकृतिस्थोऽपीति । सर्वदाऽयं जीवः प्रकृतावेव प्राकृतसङ्घाते वर्तते; तथापि प्रकृतेः सत्वरजस्तमोगुणैर्नाऽज्यते, अक्तो न भवति, यथा पुरुषस्तैलादिनाऽज्यते । अञ्जनाभावे हेतुचतुष्टयमाह–**अविकारादि**त्यादिचतुर्भिः पदैः । प्रकृतेर्गुणाः स्वस्मिन् प्रविष्टं वस्तुतोऽक्तं कुर्वन्ति । स्वयं वा तत्र प्रविष्टाः । तत्र प्रवेशे विकृतमेव प्रविशन्तीति विकाराभावान्न प्रवेशः । भावस्य हि विकारा भवन्ति । यो हि भवनमनुभवति, स तु न केनाऽपि प्रकारेण भवतीति विकाराभावः । किञ्च, कर्ता हि क्रियाधर्मैरदृष्टप्रकारेण रज्यते । **अकर्तृत्वात्** नाऽदृष्टप्रकारेणाऽपि । विकाररहितोऽपि सजातीयग्राहक इति, यदि सगुणः स्यात्, तदा परगुणैरपि स्वसजातीयैर्विद्वानिव रक्तो भवेत् । एतद्रसाभिनिवेशाद्रञ्जनं फलतो रञ्जनमुच्यते । साधनतो व्यापारतः फलतश्च रञ्जनाभाव उक्तः । स्वस्मिन् प्रवेशे सति रञ्जनं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रवेशं दृष्टान्तेनाऽन्यथा निरूपयति–**जलार्कवदिति** । स हि प्रकृतौ प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविशति, न तु कुण्डे बदरमिव; अन्यथा प्रकृतौ तत्प्रतीतिर्न स्यात्; सर्वत्र च प्रतीतिर्न स्यात्, प्रकृत्यपेक्षया व्यापकत्वाच्च । अतः स्वच्छा प्रकृतिः पुरुषच्छायां गृह्णातीति पुरुषो न तद्धर्मैः सूर्यवत् रज्यते ।।१।।

व्याख्यार्थ—यह जीव प्रकृति के संघात में ही सर्वदा रहता है किन्तु सत्व, रज और तम जो प्रकृति के गुण हैं उनसे लिप्त नहीं होता है जैसे पुरुष तेल आदि से लिप्त होता है । लिप्त न होने में अविकारादि चार हेतु कहें है । प्रकृति में प्रविष्ट को प्रकृति अपने गुणों से वास्तव में लिप्त कर देती है अथवा स्वयं प्रविष्ट प्रकृति के गुण भी जीव को लिप्त कर देते हैं प्रवेश होनेमें विकृत होकर ही प्रवेश होता है । जीव(आत्मा)में विकार का अभाव होने से प्रवेश नहीं होता भवनक्रिया जिसमें होती है उसे भाव कहते हैं भाव में ही विकार होते हैं । जो भवन का अनुभव करता है वह तो किसी भी प्रकार से नहीं होता है इसलिये उसमें विकाराभाव है और जो कर्ता होता है वह क्रिया के धर्मों से अदृष्ट प्रकार से लिप्त होता है, किन्तु आत्मा के कर्त्ता नही होने से वह अदृष्ट प्रकार से भी लिप्त नहीं होता । विकार रहित भी अपने सजातीय का ग्राहक होता है । यदि सगुण होगा

तो परगुणों से भी जो अपने सजातीय होते हैं उनसे विद्वान् की तरह अनुरक्त हो जाता है। इस रस में उसका आग्रह होने से जो रञ्जन होता है उसे सफल रञ्जन कहा जाता है। यहाँ तो साधन से, व्यापार से, और फल से रञ्जन का अभाव कहा है। शंका होती है कि अपने में प्रवेश होने पर रञ्जन हो जायगा ? इसका उत्तर 'जलार्कवत्' इस दृष्टान्त से देते हैं जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में प्रविष्ट होता है किन्तु उसका शैत्य चाञ्चल्य आदि जल के दोषों से कोइ सम्बन्ध नहीं होता इस तरह आत्मा प्रकृति में प्रतिबिम्ब न्याय से प्रविष्ट होती है न कि कुण्ड में बेर के समान। यदि ऐसा होता तो प्रकृति में उसकी प्रतीति न होती और सर्वत्र भी उसकी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि आत्मा प्रकृति की अपेक्षा व्यापक है। इसलिये स्वच्छ प्रकृति पुरुष की छाया को ग्रहण करती है परन्तु पुरुष उस प्रकृति के धर्मों से जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब की तरह लिप्त नहीं होता है ॥१॥

आभास—तर्हि कथं संसार इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—तो संसार कैसे होता है इस शंका का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते ।**
अहंक्रियाविमूढात्मा कर्ताऽस्मीत्यभिमन्यते ॥२॥

श्लोकार्थ—जब वह प्राकृत गुणों से सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है तब अहङ्कार से मोहित होकर मैं कर्त्ता हूँ ऐसा अपने को मानने लगता है ॥२॥

सुबोधिनी—स एष इति। **स** एव प्राकृतैर्गुणैरसंबद्धोऽपि, **एष** संसारी भवति। कथमित्याकांक्षायामाह—**यर्हीति।** प्रकृतेर्गुणेषु यर्हि स्वयमभिरज्यते। यद्यपि गुणाः किञ्चत् कर्तुं न शक्ताः, तथापि स्वयं चेतनस्तान् गुणान् वशीकर्तुम्, स्वधर्मेण रञ्जयितुम्, शक्नोति। यथा सूर्यो जलं स्वगुणैस्तप्तं करोती, जलन्तु सूर्यं शीतलं कर्तुं न शक्नोति। तदा किरणैः शुष्यज्जलं सूर्ये प्रविशति, तदा तत्र गतं बहुधा प्रसूयते। एतदेव गुणेष्वभिविषक्तिर्नाम। तदा वशीकृतेषु, अहङ्कारेण विमूढः सन्, कर्ताऽस्मीत्यात्मानमभिमन्यते। प्रकृतेर्गुणाः स्वात्मन्यागताः सर्वमेव कार्यं कुर्वन्ति; तत्र कर्ता अहङ्कारो गुणाव्याप्तः। स चाऽहङ्कारो मोहात्मको भवति, यतो जीवो मूढः सन् अहमित्यात्मानं मन्यते। **अहंक्रिया** अहङ्कारः। मोहे स्त्रिया उपयोगात् स्त्रीलिङ्ग निर्देशः। अहंक्रियया विमूढः. **आत्मा** अन्तःकरणम् स्वरूपं वा, यस्य। अहंकरोतीत्यङ्कारः, तेन कर्तृत्वमहङ्कारस्यैव। तेन तदैक्यादात्मानमपि कर्ताऽस्मीति मन्यते ॥२॥

व्याख्यार्थ—प्राकृत गुणों से असम्बद्ध वह, एषः (यह जीव) संसारी हो जाता है। कैसे होता है इसका उत्तर यर्हि इत्यादि से दिया जाता है। प्रकृति के गुणों में जब वह सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है यद्यपि गुण कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं तथापि स्वयं चेतन उन गुणों को वश में करने के लिये स्वधर्म से उन्हे रञ्जित करने में समर्थ होता है। जैसे सूर्य जल को अपने गुणों से तप्त (गर्म) कर सकता है। परन्तु जल सूर्य को ठंडा नहीं कर सकता। तब किरणों से सूकता हुआ

जल सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है तब उस (सूर्य) में गया हुआ जल अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है इसी को गुणों में अभिषक्ति नाम से कहा गया है इसी तरह वशीकृतों में अहङ्कार से विमूढ होता हुआ मैं कर्त्ता हूँ ऐसा अपने को मानता है। प्रकृति के गुण अपने में आकर सब कार्य करते हैं। इसलिये वहाँ कर्त्ता अहङ्कार गुण से व्याप्त है और वह अहङ्कार मोहात्मक होता है जिससे जीव मूढ होता हुआ अपने को 'मैं हूं' ऐसा मानता है। अहंक्रिया का अर्थ है अहङ्कार मोह करने में स्त्री का उपयोग होता है इसलिये यहाँ अहङ्कार पद का प्रयोग न कर अहंक्रिया इस स्त्रीलिङ्ग पद का प्रयोग किया है अहंक्रियाविमूढात्मा का अर्थ है अहङ्कार से विमूढ आत्मा अन्तःकरण अथवा स्वरूप जिसका जो अहंभाव को करता है उसे अहङ्कार कहते है। अहङ्कार में कर्त्तापन माना है। इसलिये कर्त्ता तो अहङ्कार है किन्तु आत्मा उसके साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हो जाता है इसी से अपने को कर्त्ता मानने लगता है ॥२॥

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ—उससे क्या होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।**
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥३॥

श्लोकार्थ—कर्तृत्व के अभिमान के कारण ही देह के संसर्ग से किये हुए पाप पुण्यरूप कर्मों के दोषों से अशान्त होकर उत्तम, मध्यम और नीच योनियों में प्राप्त होता है ॥३॥

सुबोधिनी–तेन संसारपदवीमिति। कर्तृत्वाभिमानात् कर्ता भोक्ता भवतीति संसारभोगार्थं संसारपदवीमेति। **अवशः** कर्माधीनः। अत एवाऽऽभिमुख्येनैति। नन्वेवं सति नित्यः संसारः स्यादत आह–**अनिर्वृत इति**। कर्मफले निवृतिरहितः। निर्वृतस्तु संसाराद्विमुच्यत इत्युक्तं भवति। ननु संसारमार्गे गमनमात्रेण किं स्यादित्यत आह–**प्रासङ्गिकैरिति**। प्रसङ्गेन हि कर्मणो दोषा जायन्ते। स्वभावतः कर्माणि न दुष्टानि, किन्तु प्रसङ्गादेव। यथान्नभोजनं न निषिद्धम्, किन्तु दुष्टान्नभोजनमेव। कर्ममार्गस्तु सदसन्मि- श्रयोनिरूपः। सदादियोनिर्देवतिर्यङ्मनुष्ययोनिः ॥३॥

व्याख्यार्थ—कर्त्तापन के अभिमान से ही कर्त्ता भोक्ता होता है इसलिये संसार भोग के लिये संसार को प्राप्त करता है। अवश का अर्थ है कर्म के अधीन हो कर, अभ्यति का अर्थ है संसार के अभिमुख होता है। तो क्या उसे नित्य संसार होता है। ? नहीं ऐसा नहीं होता परन्तु कर्म के फल से वह सदा अशान्त रहता है जब वह शान्त हो जाता है तो संसार से मुक्त हो जाता है। शंका हो जाती है कि संसार मार्ग में जाने मात्र से क्या होता है ? उसका उत्तर देते हैं कि संसार मार्ग में जाने से उस (संसार) के प्रसंग से कर्म के दोष उत्पन्न होते हैं। ऐसे तो स्वभाव से कर्म दुष्ट नहीं है किन्तु संग के कारण उनमें दोष आता है। जैसे अन्न-भोजन निषिद्ध नहीं है। किन्तु

दुष्ट अन्न का भोजन ही निषिद्ध है कर्ममार्ग सत्–असत् और मिश्रयोनिरूप है अर्थात् सत् देव योनि असत् पशु पक्षी योनि और मिश्र से मनुष्य योनि का ग्रहण है ।।३।।

आभास—नन्वयं संसारः किं सत्यो मिथ्या वा ! आद्ये अनिर्मोक्षः, द्वितीये साधनवैयर्थ्यमित्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—क्या यह संसार सत्य है या मिथ्या ? यदि सत्य है तो मोक्ष नहीं होगा और यदि असत्य है तो इसमें किये जाने वाले सब साधन व्यर्थ हो जायँगे इस आशंका का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।**
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ।।४।।

श्लोकार्थ—जैसे स्वप्न में भय, शोक आदि के कारणों के न होने पर भी स्वप्न के पदार्थों में आस्था होने से भय शोक आदि होते हैं वैसे ही संसार की सत्ता न होने पर भी विषयों के चिन्तन से संसार की निवृत्ति नहीं होती ।।४।।

सुबोधिनी–अर्थे इति । यद्यप्यत्र संसारे संसरणरूपोऽर्थो नाऽस्ति । देवतिर्यमनुष्ययोनिषु देह एवोत्पद्यते, देहे च आत्मनो न कोऽपि संबंधः । असङ्गत्वादात्मनः संयोगोनाऽस्ति, सुतरां समवायः । स्वरूपसंबन्धोऽपि नास्ति, उभयोरेकत्र निरूपणाभावात्; महाराजसेवकयोरिव । किन्त्वाध्यासिकः । स तु मोहादित्यलीकः । अतः संसारोऽलीकभूत एव, तथापि न निवर्तते । यो हि मिथ्याभूतः सन् बाधते, स कथं निवर्तते, अन्यथा बाधनमेव न स्यात् । नन्वेतादृशस्य बाधने किं बीजम् ? तत्राऽऽह–**ध्यायतो विषयानस्येति** । अस्य संसारस्य ये विषयाः, तान् भोग्यत्वेन ध्यायतः । विषयभोगवासनायां सत्यामविद्यमानोऽपि संसारो बाधत इत्यर्थः । असतोऽपि बाधकत्वे दृष्टान्तः–**यथा स्वप्ने अनर्थागमः** । स्वप्नस्तु मायिक इति सिद्धान्तः । यद्यपि तत्र ताडनं मिथ्याभूतम्, तथापि जागरणात्पूर्वं न निवर्तत एव । अतः संसारनिवृत्त्यर्थं यत्नः कर्तव्य इति सिद्धम् ।।४।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि यहाँ संसार में संसरणरूप का कोई अर्थ नहीं है । देवतिर्यङ् और मनुष्य योनि में देह ही उत्पन्न होता है और देह में आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि आत्मा असंग है इसलिये उसका संयोग सम्बन्ध देह के साथ नहीं है तो समवाय सम्बन्ध तो हो ही कैसे सकता है । स्वरूप सम्बन्ध भी नहीं है दोनों के एक जगह होने पर ही स्वरूप सम्बन्ध हो जाता है जैसे महाराज और सेवक का स्वरूप सम्बन्ध है । यहां जो देह और आत्मा का सम्बन्ध है वह आध्यासिक (अहंता ममतात्मक) है । अध्यास होता है मोह से इसलिये यह सम्बन्ध झूठा (असत्य) है । संसार असत्य है किन्तु उसकी निवृत्ति नहीं होती है जो असत्य होते हुए भी कष्ट पहुँचाता है तो उसकी निवृत्ति कैसे होगी । यदि कहो कि असत्य मान लेने पर उसकी निवृत्ति हो जायगी यदि ऐसा मान लें तब तो उसको फिर दुःख ही किस तरह होगा ।

असत्य होते हुए भी बाधित (पीड़ित) करने में क्या कारण है उसके लिये 'ध्यायतो विषयानस्य' ऐसा कहा है इस संसार के जो विषय है उनको जो भोग्यरूप से ध्यान करता है तो उसे विषय भोगों की वासना होती है और वासना होने पर यह असत्य संसार उसे बाधा पहुँचाता है। असत्य बाधक कैसे होता है उसको 'स्वप्नेऽनर्थागमः' इस दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। स्वप्न मायिक (असत्य) है ऐसा सिद्धान्त है स्वप्न में यदि कोई मारता है तो वह असत्य है किन्तु जब तक जगता नहीं तब तक स्वप्न का ताड़न (पिटना) मिटता नहीं है। इसलिये संसार की निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये जब संसार की निवृत्ति हो जायगी तो अपने आप उसका भय निवृत्त हो जायगा ॥४॥

आभास—तत्र स्वप्नदृष्टान्तेनैव बोधस्तस्य निवर्तक इत्यवसीयते। स बोधः कथं भवतीत्याकांक्षायामन्तर्मुखे चित्ते भवतीति वेदान्निश्चितम् **'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमैच्छन्'** इति श्रुतेः। संसार-निवृत्तं चित्तमात्मगामि भवतीति निश्चितम्। तदसन्मार्गे प्रवृत्तं न निवर्तत एव। नापि निवर्तयितुं शक्यते, असतां बहुत्वात्, बलिष्ठत्वाच्च। तत्रापि प्रकर्षेणासक्तम्। तथाप्येतादृशमपि निवर्तनीयमित्यादौ तस्य वशीकरणे हेतुमाह—

आभासार्थ—स्वप्न के दृष्टान्त से बोध (ज्ञान) संसार का निवर्त्तक है ऐसा निश्चित होता है। परन्तु ऐसा बोध कैसे होता है इस आशंका का निवारण कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमैच्छन्, इस श्रुति से करते हैं अर्थात् चित्त जब अन्तर्मुख होता है तब संसार की निवृत्ति होती है। संसार से निवृत्त चित्त आत्मगामी होता है यह निश्चित है परन्तु असत् मार्ग में पड़ा हुआ चित्त वहां से हटता नहीं है और न उसे हटा सकते हैं। क्योंकि असत् की संख्या बहुत है और वे बलिष्ठ भी हैं। और चित्त उनमें अत्यन्त आसक्त है परन्तु ऐसे चित्त को भी वहां से (विषयों से) हटाना चाहिये। उस चित्त को वश में करने का उपाय बताते हैं—

श्लोक—**अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि।**
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥५॥

श्लोकार्थ—इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को असन्मार्ग में प्रवृत्त चित्त को तीव्र भक्ति योग तथा वैराग्य के द्वारा अपने वश में करना चाहिये ॥५॥

सुबोधिनी-अत एवेति। यतोऽनिवृत्तमनर्थहेतुः, **अत एव** बहुकालमासक्तत्वाच्छीघ्रमनिवृत्तावपि शनैर्निवर्तनीयम्, यथा असन्तः परिपन्थिनो न भवन्ति, यथा वा चित्तमासक्तिं त्यजति। तत्र द्वयं हेतुः-भक्तियोगो विरक्तिश्चेति। भगवति स्नेहः, विषयेषु रागाभावश्च। पूर्वस्माद्वैपरीत्यम्। उभाभ्यां चित्तं वशे भवेत् ॥५॥

व्याख्यार्थ—विषयों से मन को न हटाना अनर्थ का हेतु है परन्तु मन तो बहुत समय से विषयों में आसक्त है उसे शीघ्र हटाया नहीं जा सकता तथापि उसे धीरे धीरे विषयों से हटाना चाहिये जिससे वे असत् पदार्थ भी विरोधी न हो और चित्त भी आसक्ति को छोड़ दे ऐसा करने के लिये दो उपाय हैं। एक तो भक्ति योग और दूसरा वैराग्य। भगवान् में स्नेह (प्रेम) होना भक्ति है और विषयों से प्रेम न होना वैराग्य है क्योंकि ये दोनों ही उपाय उसकी संसार प्रवृत्ति के विपरीत हैं। इन दोनों उपायों से ही चित्त वश में हो सकता है ॥५॥

आभास—उभयोः साधनान्याह—

आभासार्थ—भक्ति और वैराग्य कैसे हो उनके साधनों को कहते हैं—

श्लोक—**यमादिभिर्योगपथैरभ्यसेत् श्रद्धयान्वित ।**
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च ॥६॥

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण महीयसा ॥७॥

यदृच्छयोपस्थितेन संतुष्टो मितभुङ् मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥८॥

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥९॥

श्लोकार्थ—यम आदि योग साधनों के द्वारा श्रद्धापूर्वक अभ्यास से, मुझ में सच्चा भाव रखने से, मेरी कथा श्रवण करने से, सब प्राणियों में समभाव रखने से, किसी के साथ वैर न करने से, आसक्ति के त्याग से, ब्रह्मचर्य से, मौन व्रत् से बलिष्ठ स्वधर्म से एवं जो अनायास प्राप्त होने वाले अन्नादि से सन्तुष्ट हैं और परिमित (सीमित) भोजन करता है एव मुनि जो एकान्त में रहता है, शान्त है, सब का मित्र है, दयालु और धैर्यशाली है, प्रकृति और पुरुष के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से प्राप्त ज्ञान के द्वारा पुत्र आदि सहित इस देह में अहंता ममता का परित्याग करता है ॥६-९॥

सुबोधिनी-यमादिभिरिति । पूर्वं भक्तिसाधनान्युक्तानि सत्सङ्गादीनि; तानि दुर्लभानीति ज्ञानमेव भक्तिसाधनमिति निरूप्यते । यमादिसाधनैरात्मानं चेज्जानाति, तदा भगवति स्नेहः । पश्चाद्भगवति चित्तस्थैर्यम् । तदा विषयध्यानाभावात् संसारो निवर्तते । तत्र प्रथमं

यमा अहिंसादयः, ततो नियमाः स्नानादयः, तत आसनादियोगमार्गाः । तैः कृत्वा चित्तमभ्यसेत् चित्तं तत्परं कुर्यात्, संयमनाभ्यासं वा । मार्गे साधनेषु च श्रद्धयान्वितः । **मयि** भगवति, **भावेन** श्रद्धादिना । **सत्येन** सत्यभावेन, कायवाङ्चनस्तु सत्यप्रतिष्ठाया । निरन्तरं भगवत्कथाश्रवणेन । चकारात् कीर्तनेन । सर्वभूतेषु समदृष्ट्या, सर्वप्राणिषु वैराभावेन, सर्ववस्तुषु सर्वप्राणिषु च प्रसङ्गाभावेन, अष्टाङ्गब्रह्मचर्येण, **मौनेन** वृथाऽऽलापपरिवर्जनरूपेण । **महीयसा** निष्ठां प्राप्तेन, **स्वधर्मेण** वर्णाश्रमधर्मेण । **यदृच्छया उपस्थितेन** अन्नादिना संतुष्टो भवेत् । एतानि सर्वाणि साधनानि पूर्वेण पूर्वेण सिद्धान्युत्तरोत्तराणि द्वादश भवन्ति । अन्यैः सहितेन यदृच्छयोपस्थितान्नादिना वा सन्तोषः साध्यः । पूर्वोक्तानि स्वरूपोपकार्यङ्गानि । कस्यचिन्मते सन्तोष एवं मुक्त्यङ्गमिति फलोपकार्यङ्गानि वा । अतः सन्तोषस्य कारणता नोक्ता । पृथक्स्थित्यभावार्थं वा कर्तृविशेषणत्वेनोक्तम् । तत्रापि मितभोजनम्, मननं च, एकान्ते स्थितिः, परमशान्तिः, सर्वत्र मैत्री, करुणा, स्वाधीनान्तःकरणत्वम्, पुत्रादिसहिते देहे मिथ्याभिनिवेशाकरणं चेत्यन्तरङ्गाण्यष्टावङ्गानि । यमादयो द्वादश, एकः सन्तोषः, मितभोजनादीन्यष्टौ; एवं त्रिविधैः साधनैरत्यंतरंगसाधनैस्त्रिभिश्च आत्मदृग्भवति । तानि त्रीण्याह—**ज्ञानेनेति** । सांख्यमेकम्, तुरीयावस्थाभेदज्ञानाभावश्च । प्रकृतेः पुरुषस्य च दृष्टं तत्त्वं येन तादृशेन ज्ञानेन सांख्यजनितेन ।।६–६।।

व्याख्यार्थ—पहले सत्संग आदि भक्ति के साधन कहे । वे दुलर्भ हैं अतः ज्ञान ही भक्ति का साधन है ऐसा निरूपण करते हैं । यम आदि साधनों से आत्मा को यदि जानता है तो भगवान् में स्नेह हो जाता है । फिर भगवान् में चित्त की स्थिरता होती है । तब विषयों के ध्यान का अभाव होने से संसार की निवृत्ति हो जाती है । उन यमादि में पहले तो अहिंसा आदि यम तदनन्तर स्नानादिक नियम और उसके बाद में आसन आदि जो योग के मार्ग हैं उनमें चित्त को लगाने का अभ्यास करते करते फिर चित्त को तन्मय बना दे अथवा संयम का अभ्यास करे । मार्ग में अर्थात् साधनों में श्रद्धा रक्खे मुझ भगवान् में भाव से (श्रद्धा आदि से) सत्यभाव से, शरीर वाणी और मन सत्य की प्रतिष्ठा से, निरन्तर भगवत्कथा सुनने से, और कीर्तन से, सब प्राणियों में समदृष्टि से तथा किसी भी प्राणी से वैर भाव न रखते हुए, सब वस्तुओं में सब प्राणियों में आसक्ति न रखते हुए, अष्टाङ्ग बह्मचर्य से, मौन से अर्थात् व्यर्थ की बातों का परित्याग करने से, अत्यधिक निष्ठा की प्राप्ति से, अपने अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्म से, अनायास प्राप्त हुए अन्न आदि से संतुष्ट रहे । ये सब साधन पूर्व पूर्व से सिद्ध हैं ये ही उत्तरोत्तर बारह हो जाते हैं । अन्य के साथ अनायास से उपस्थित अन्न आदि से संतोष करना यह साध्य है और पूर्व में बताये गये स्वरूपोपकारी अङ्ग हैं । किसी के मत में संतोष ही मुक्ति का अङ्ग है अथवा पूर्वोक्त फलोपकारी अङ्ग है । इसलिये संतोष को कारण नहीं बताया । संतुष्टः इसकी पृथक स्थिति नहीं हो सकती इसलिये इसको कर्त्ता का विशेषण रक्खा है । इसके अतिरिक्त मित (कम) भोजन, मनन, एकान्त में रहना, परमशान्ति, सबसे मित्रता, दया, अन्तःकरण की स्वाधीनता, पुत्र आदि के सहित देह में मिथ्या अभिविनेश न करना ये अन्तरङ्ग आठ अङ्ग हैं और यम आदि ये बारह है । एक संतोष, मित (कम) भोजन आदि आठ, इस तरह इन तीन प्रकार के साधनों से और अति अन्तरङ्ग तीन साधनों से आत्मज्ञान प्राप्त होता है । उन अति अन्तरङ्ग साधनों को कहते हैं ज्ञानेन दृष्टतत्वेन प्रकृतेः पुरुषस्यच एक तो सांख्य और तुरीयावस्था भेद ज्ञान का अभाव । प्रकृति

और पुरुष के तत्व को जिसके द्वारा जाना जाता है ऐसे साख्य से उत्पन्न ज्ञान से ।।६–९।।

श्लोक—**निवृत्तबुद्धयवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।**
उपलभ्याऽऽत्मनाऽऽत्मानं चक्षुषेवाऽर्कमात्मदृक् ।।१०।।

श्लोकार्थ—बुद्धि की जाग्रत् आदि अवस्थाओं से जो अलग हो गया है और जो किसी वस्तु को नहीं देखता वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रों से सूर्य को देखने की तरह आत्मदर्शी हो जाता है ।।१०।।

सुबोधिनी–निवृत्तेति । निवृत्तानि बुध्यवस्थानानि यस्य । दूरीभूतान्यन्यानि दर्शनानि यस्य । एवं क्रमेण जाते आत्मनैवाऽऽत्मानमुपलभ्य आत्मदृग्भवति । एकस्यैव करणकर्मत्वे कथमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह–**चक्षुषेवाऽर्कमिति** । चक्षुरपि तैजसमर्कोऽपि । परमिदमध्यात्मभूतमाधिदैविकश्च सूर्यः । तत्र यथा वस्त्वन्तरग्रहणे विषयप्रकाशकत्वेन सूर्यमपेक्षते, एवं न सूर्यग्रहणे सूर्यापेक्षा । नाऽपि चक्षुर्गतान्धकारनिवृत्यर्थं तदपेक्षा, किन्तु तेनैव प्रकाचितं चक्षुस्तदंशभूतमात्मानं गृह्णाति । एवं जीवेन भगवदंशभूतेन सर्वात्मस्वरूपं भगवल्लक्षणमात्मानं यः पश्यति, स आत्मदृग्भवतीत्यर्थः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—निवृत्त हो गये हैं बुद्धि के अवस्थान जिसके और दूर हो गये हैं अन्यदर्शन जिसके इस प्रकार का क्रम होने पर आत्मा से आत्मा का लाभ करके आत्मदर्शी हो जाता है । एक ही करण तथा कर्म कैसे होता है इस आशंका का उत्तर दृष्टान्त से देते हैं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् चक्षु भी है और तैजस है और सूर्य भी तैजस परन्तु इन में यह अन्तर है कि चक्षु अध्यात्म भूत है और सूर्य आधिदैविक है । वहाँ जैसे सूर्य के अतिरिक्त किसी वस्तु के ग्रहण करने में और विषय प्रकाशक रूप से सूर्य की अपेक्षा रहती है इस तरह सूर्य के ग्रहण में सूर्य की अपेक्षा नही रहती । और न चक्षुगत अन्धकार की निवृत्ति के लिये उसकी अपेक्षा होती है किन्तु उस सूर्य से प्रकाशित चक्षु उसी सूर्य के अंशभूत अपने को ग्रहण करता है । इसी तरह जीव जो भगवान् का अंश है उससे भगवत्-लक्षण आत्मा को जो देखता है वह आत्मक (आत्मदृष्टा) होतीहै ।।१०।।

आभास—नन्वेवमात्मादर्शने किं स्यात् ? तत्राऽऽह—

आभासार्थ—इस तरह आत्म दर्शन में क्या होता है उसके लिये कहते हैं—

श्लोक—**मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते ।**
सतो बन्धुमसच्चचक्षुः सर्वाऽनुस्यूतमद्वयम् ।।११।।

श्लोकार्थ—इस तरह आत्म दर्शन से मुक्त लिङ्ग सदाभास मूल आत्मा को असत् में जान लेता है वह आभास मूलभूत आत्मा का बन्धु है और असत् जो देह

आदि है उनका प्रकाशक है वह पूरे सङ्घात से सम्बन्द्ध है तथा सारे संघात में वह अकेला ही प्रतिबिम्बित है ।।११।।

सुबोधिनी–मुक्तलिङ्गमिति । एवं मानसभावनाज्ञानेनाऽस्यत्यस्मिन्नेव सङ्घाते **मुक्तलिङ्गं सदाभासं प्रतिपद्यते** । मुक्तं लिङ्गं यस्य । अन्तरावरणलिङ्गात्मकं तस्य निवर्तते तदा **सतो** मूलभूतजीवस्य आभासरूपं शारीरमात्मानं प्रतिपद्यते, अयमहमिति साक्षात्प्रतिपद्यते । एतावत् कालमाभासस्याऽपि न साक्षात्कारः, बहिरावरणानामनिवृत्तत्वात् । नन्वाभासे प्राप्ते कः पुरुषार्थः ? तत्राऽऽह–**सतो बन्धुमिति** । अयमाभासः सतो मूलभूतात्मनो बन्धुर्भवति, पुत्रो भ्रातेव वा भवति । तत्प्रतिबिम्बत्वात् सम्यङ्मूलज्ञापको भवतीति भावः । नन्वस्य सतो बन्धुत्वे किं प्रमाणम् ? तत्राऽऽह–**असच्चक्षुरिति** असतो देहादेश्चक्षुः । यथा आभासरूपमपि चक्षुर्विषयप्रकाशकं भवति, तेन ज्ञायते सूर्याभासोऽयमिति । नन्वसत्प्रकाशकत्वमात्रेण सौरादितुल्यत्वात् न सदाभासत्वं सिद्ध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह –**सर्वाऽनुस्यूतमिति** । सर्वत्रैव सङ्घातेऽ**नुस्यूतः** सम्बद्धो वर्तते । व्यापकाभासव्यतिरेकेण सर्वत्राऽनुस्यूतता न भवति । आभासभेदे तदुपपद्यत इति चेत्तत्राऽऽह–**अद्वयमिति** । सर्वत्र सङ्घाते एक एव प्रतिबिम्बः, अन्यथा य एवाऽहं पश्यामि स एवाऽहं श्रृणोमीत्यनुसन्धानं न स्यात् ।।११।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार मानस भावना के ज्ञान से इसी संघात में मुक्तलिङ्ग सदाभास को प्राप्त हो जाता है । मुक्तलिङ्ग का अर्थ है मुक्त है लिङ्ग जिसका अर्थात् अन्तः आवरणात्मकता उसकी हट जाती है जिससे मूलभूत जीव के आभासरूप शरीर आत्मा को प्राप्त कर लेता है यह 'मैं हूं' ऐसा साक्षात् ज्ञान हो जाता है । यहाँ सब का आत्मारूप सृष्टि की इच्छा के वशीभूत प्रथम पुरुष ही मूलभूत जीव है बाह्य आवरणों के निवृत्त न होने से इतने समय तक आभास का भी साक्षात्कार नहीं था । शंका हो सकती है कि आभास की प्राप्ति में कौन सा पुरुषार्थ है उसके लिये कहते हैं 'सत्तो' बन्धु यह आभास 'सत्' अर्थात् मूलभूत आत्मा का बन्धु होता है पुत्र अथवा भाई होता है । वह आभास उस मूलभूत आत्मा प्रतिबिम्ब होने से उस मूलभूत आत्मा का सम्यग् ज्ञान करने वाला होता है । यह सत् (मूलभूत आत्मा) का बन्धु है इसमें क्या प्रमाण है ? उसके लिये कहते हैं 'असच्चक्षः असत्' जो देह आदि है उसका यह चक्षु प्रकाशक है । जैसे आभासरूप भी चक्षु विषय का प्रकाशक होता है इससे जाना जाता है कि चक्षु सूर्य का आभास है । शंका होती है कि असत् को प्रकाशित करने मात्र से तो उसमें सौरादितुल्यता होने से सत् की आभासता सिद्ध नहीं हो सकती । उसका उत्तर सर्वत्रा स्यूतम् से दिया है वह आभास पूरे संघात से सम्बद्ध है । जब तक आभास व्यापक न हो तब तक उसमें अनुस्यूतता (सम्बद्धता) नहीं हो सकती । यदि कहो कि आभास भेद में भी अनुस्यूतता हो सकती है ? नहीं वह अद्वय है अर्थात् पूरे संधात में एक ही प्रतिबिम्ब है अन्यथा जो मैं देख रहा हूं वही मैं सुन रहा हूँ ऐसा अनुसन्धान नहीं हो सकता ।।११।।

आभास—एवमस्य शारीरस्य सदाभासता निरूपिता तेनाऽऽत्मज्ञाननिरूपणार्थं दृष्टान्तोपपत्ती निरूपयति द्वाभ्याम्—

ग्राभासार्थ इस तरह इस शरीर ग्रात्मा को सत् का ग्राभासरूप बताया इसी ग्राभास से ग्रात्मज्ञान के निरूपणार्थ दृष्टान्त ग्रौर मुक्ति का निरूपण दो श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—**यथा जलस्थ ग्राभासः स्थलस्थेनाऽवदृश्यते**
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ।।१२।।

श्लोकार्थ—जिस तरह जल में स्थित सूर्य का प्रतिबिम्ब घर की भींत पर पड़े हुए ग्रपने ग्राभास के सम्बन्ध से देखा जाता है ग्रौर जल में दीखने वाले प्रतिबिम्ब से ग्राकाश में स्थित सूर्य का ज्ञान होता है ।।१२।।

सुबोधिनी—यथेति गृहमध्ये स्थितः पुरुषो बहिर्जलादौ सूर्यप्रतिबिम्बे सम्मुखगृहान्तर्भित्तौ तत्प्रतिफलनं भवति; धर्म इव तत्र भवति; तेन स जानाति साक्षादत्र सूर्यसम्बन्धो न सम्भवति, किन्तु वहिर्दर्पणादौ प्रतिबिम्बितस्येदं प्रतिफलनमिति । एवं चक्षुरादौ प्रतिफलनं पूर्वोक्तसाधनैरेव, नाऽन्यथेति मन्तव्यम् । न हि बहिः पीठादौ धर्मरूपेण सम्बद्धोऽपि सूर्यो दर्पणादिस्थित इव प्रतिफलति । तथा सति सर्व एव सङ्घातोऽन्तः साक्षात्क्रियेत । ग्रतः साधनेष्वेव जातेषु यद्भविष्यति, तद्दृष्टान्तेन प्रथमसम्भावनानिवृत्त्यर्थं प्रदर्श्यते । **स्थलस्थेना**ऽन्तर्भित्त्यादिप्रतिफलितेन बहिः स्थितो **जलस्थ ग्राभासोऽवदृश्यते** ज्ञायते । तेनाऽपि **जलस्थितेन स्वभासेन दिवि स्थितः सूर्योऽवदृश्यते** ।।१२।।

व्याख्यार्थ—घर में स्थित पुरुष बाहर जल ग्रादि के सूर्य प्रतिबिम्ब में उसके सामने घर के ग्रन्दर की भींत पर उसका प्रतिफलन (परछाई) होता है उसके धर्म की तरह वह होता है उससे वह पुरुष जानता है कि यहां सूर्य के सम्बन्ध की तो संभावना है नहीं परन्तु बाहर दर्पण ग्रादि में जो सूर्य का प्रतिबिम्ब है उसी की यह परछाई है । इस तरह नैत्र ग्रादि में जो प्रतिफलन है वह पूर्वोक्त साधनों से ही है ग्रन्य प्रकार से नहीं मानना चाहिये । ऐसा तो होता नहीं है कि बाहर पीढ़ा ग्रादि पर धर्म रूप से सम्बद्ध भी सूर्य दर्पण ग्रादि में स्थित की तरह प्रतिफलित हो । यदि ऐसा हो तो सारे ही सङ्घात का ग्रन्त साक्षात्कार हो जाय । इसलिये साधनों के होने पर ही जो होता है उसका प्रथम सम्भावना की निवृत्ति के लिये दृष्टान्त से प्रदर्शन किया है ।

स्थलस्थ से ग्रर्थात् घर के ग्रन्दर की भींत ग्रादि पर पड़ने वाली परछाई से बाहर स्थित जलस्थ ग्राभास जाना जाता है ग्रौर उस जल में स्थित ग्रपने (सूर्य के) ग्राभास से ग्राकाश में स्थित सूर्य जाना जाता है ।।१२।।

श्लोक—**एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।**
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ।।१३।।

श्लोकार्थ—इसी तरह वैकारिक ग्रादि भेद से तीन प्रकार का ग्रहङ्कार इन्द्रिय ग्रौर मन में स्थित ग्रपने प्रतिबिम्बों से लक्षित होता है ग्रौर सत् जो परमात्मा है

उसके प्रतिबिम्ब से युक्त उस अहङ्कार के द्वारा सत्य ज्ञान रूप परमात्मा का दर्शन होता है ।।१३।।

सुबोधिनी–एवमिति । एवं त्रिवृदहङ्कार-स्थित आत्मा सदाभासः, भूतेन्द्रियमनःसु प्रतिफलितैराभासाभासैर्लक्ष्यते । तेन त्रिवृदहङ्कार-स्थितेन सत आभासारूपेण **सत्य**दृगात्मा जीवभूतो लक्ष्यते ।।१३।।

व्याख्यार्थ—इसी तरह वैकारिक आदि तीन प्रकार के अहङ्कार में स्थित आत्मा सत् (परमात्मा) का आभास वह भूतीन्द्रिय मन में प्रतिफलित आभासों से लक्षित होता है और त्रिवृत् अहङ्कार में स्थित सत् के आभासरूप से सत्यज्ञानरूप जीवभूत आत्मा लक्षित होता है ।।१३।।

आभास—एवं दृष्टान्तेनाऽत्मसम्भावनां दूरीकृत्य दृष्टान्तस्याऽप्रामाण्यमाशङ्क्याऽनुभवेनोक्तमर्थं द्रढयति ।

आभासार्थ—इस प्रकार दृष्टान्त से आत्म संभावाना को दूर करके दृष्टान्त को कोई अप्रामाणिक न समझे इस आशंका से अनुभव के द्वारा उक्त अर्थ को दृढ करते हैं—

श्लोक—**भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।**
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहंक्रियः ।।१४।।

श्लोकार्थ—सुषुप्ति में निद्रा से भूत सूक्ष्म इन्द्रिय मन बुद्धि आदि अव्याकृत में लीन हो जाने पर स्वयं आत्मा जागता रहता है और अहङ्कार से शून्य हैं ।।१४।।

सुबोधिनी–भूतसूक्ष्मेति । जाग्रद्दशायां संङ्घातेन सह स्फुरणात् **कोऽयमात्मा**' इति यद्यपि विशेषतो न ज्ञायते; तथापि सुषुप्तौ केवल आत्मा सङ्घातव्यतिरिक्तो भासत इति तन्निरूपयति—**भूतानि** स्थूलयानि, **सूक्ष्माणि** च तन्मात्रारूपाणि, **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च** । **आदि**शब्देनाऽहङ्कारः। स्वप्नरहितनिद्रया एतेषामाभासा दूरीक्रियन्ते, तदैते न प्रकाशन्ते । आभासलय एवैषां लयः । तदा आभासप्रकाशरहिते, **असति** मूढे देहे, **यस्तत्र** प्रकाशते, स आत्मा ज्ञातव्य इति मन्तव्यम् । ननु तत्र न कोऽपि भासत इति चेत्तत्राऽऽह–**तत्र विनिद्र इति** । तस्य तु निद्राव्याप्तिर्नास्ति । नन्वहंप्रत्ययवेद्य आत्मा, स चेद्विनिद्रः स्यात्, '**अहम्**' इति जानीयात् ? तत्राऽऽह–**निरहंक्रिय इति** । अहमिति प्रत्ययोऽहङ्कारसम्बन्धे भवति तस्य च लीनत्वात् निद्रायां नाऽहमिति मन्यते ।।१४।।

व्याख्यार्थ—जाग्रत दशा में सङ्घात के साथ स्फूर्ति होने पर भी 'यह आत्मा कौन है' ऐसा यद्यपि विशेषरूप से जाना नहीं जाता है परन्तु सुषुप्ति में केवल आत्म सङ्घात से अलग भासित होता है इसका भूतसूक्ष्मेन्दिय आदि से वर्णन करते हैं । भूत से स्थूल महाभूत का ग्रहण है और सूक्ष्म से उनको तन्मात्माओं का ग्रहण है । इन्द्रिय मन और बुद्धि तथा आदि शब्द से अहङ्कार

लिया गया है। स्वप्न रहित निद्रा से इनके आभास दूर किये जाते हैं उस समय में प्रकाशित नहीं होते। आभास के लय में ही इनका लय है तब आभास के प्रकाश से रहित मूढ देह में जो वहाँ प्रकाशित होता है उसे आत्मा जानना चाहिये। ऐसा मानना। यदि शंका हो कि वहाँ तो कुछ भी भासित नहीं होता तो उसके लिये कहते हैं तत्र विनिद्रः उसकी निद्रा में व्याप्ति नहीं है अर्थात् वह निद्रा रहित है। यदि अहं इस ज्ञान से वेद्य आत्मा है वह यदि विनिद्र हो तो 'अहं' (मैं) इस तरह का ज्ञान होगा उसका उत्तर है निरहंक्रियः अहं (मैं) इस प्रकार का ज्ञान तो अहंकार के सम्बन्ध से होता वह अहंकार जब लीन हो जाता है तो निद्रा में 'मैं नहीं हूँ' ऐसा मानता है ।।१४।।

आभास—ननु तर्हि आत्मा न भासत इति चेत्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—तब तो आत्मा भासित नहीं होगा इसके लिये कहते हैं—

श्लोक—**मन्यमानस्तदाऽऽत्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा ।**
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवाऽऽतुरः ।।१५।।

श्लोकार्थ—सुषुप्ति में अपने उपाधिभूत अहङ्कार के नष्ट होने पर भ्रम से अपने को नष्ट हुआ मान लेता है। जैसे धन के नष्ट होने पर मनुष्य अपने को नष्ट हुआ मान लेता है और अत्यन्त व्याकुल हो जाता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है ।।१५।।

सुबोधिनी—मन्यमान इति । तदा आत्मानमनष्टमपि नष्टं मन्यमानो भवति यस्तु मन्यते,स आत्मा। नष्टत्वेन यन्मन्यते अतो न प्रकटप्रकाशः; अन्यथा नष्टं को वा मन्येत । स्वप्ने शिरश्छिन्नम, को वा शिरश्छेदं पश्येत् । अतः कश्चिदस्ति द्रष्टा, य आत्मानमनष्टमपि नष्टं मन्यते नाऽहमस्मीति। अनष्टस्य नष्टप्रतीतावुपपत्तिदृष्टान्तावाह—**नष्टेऽहङ्करण इति** । स त्वहङ्कारसंवलितः, अहंकारे नष्टे, तदभेदप्रतीतिदार्ढ्यादात्मानमेव नष्टं मन्यते, अहङ्काराध्यस्तस्यैव दृश्यत्वात् । केवलस्तु द्रष्टा । अत आत्मानं दृश्यरूपमहङ्कारसहितं नष्टं मन्यत एवेति युक्तम् । अन्यनाशे अन्यनाशप्रतीतिमाह—**नष्टवित्त इति** । धनात्माऽयं पुरुषो लौकिकः, धने नष्टे तद्व्यतिरेकेण स्वनिर्वाहाभावादात्मानमेव नष्टं मन्यते । **आतुरो** रोगी । स दा यथा देहे नष्टे आत्मानमेव नष्टं मन्यते । आतुरो वा भयति वित्ते नष्टे ।।१५।।

व्याख्यार्थ—सुषुप्ति में नष्ट न हुवे आत्मा को मानता है। जो मानता है वह आत्मा है। नष्टवत् मानता है इसलिये उस का प्रकट प्रकाश नहीं है। यदि आत्मा नहीं है तो नष्ट को कौन देखता है। स्वप्न में सिर कटता है यदि आत्मा न हो तो उस सिर के कटने को कौन देखता है। इसलिये कोई दृष्टा (देखने वाला है) जो अनष्ट आत्मा को नष्ट मानता है 'मैं नहीं[1] हूँ' ऐसा,

---

(१) 'मैं नहीं हूँ' इस में बीज यह है कि जब नींद में होता है उस समय किसी के स्पर्श

(शेष पृष्ठ १२४ 'पाद टिप्पणी में देखें)

अनष्ट की नष्ट प्रतीति में युक्ति और उदाहरण देते हैं 'नष्टेहंऽकरणे वृथा' वह अहंकार से पृथक् प्रतीत नहीं होता है अतः अहंकार के नष्ट होने पर उसे अहंकार की अभेद प्रतीति इतनी दृढ़ हो गई है कि नष्ट तो होता है अहंकार किन्तु आत्मा अपने को नष्ट मान लेता है क्योंकि अहंकार के अध्यास वाला आत्मा ही दृश्य है और केवल आत्मा को ही नष्ट मानता है ऐसा ही उचित है। अन्य के नाश में अन्य की प्रतीति कैसे होती है उसमें दृष्टान्त देते हैं 'नष्टावित्त इवातुरः' धन ही को अपनी आत्मा मानने वाला यह पुरुष लौकिक (लौक में देखा जाता है) है इसका धन जब नष्ट हो जाता है तो धन के बिना अपने निर्वाह का अभाव होने से ही अपने को नष्ट मानता है और जैसे रोगी का शरीर नष्ट होता है किन्तु वह आत्मा को ही नष्ट मानता है अथवा धन के नष्ट होने पर घबड़ा जाता है ।। ५।।

आभास—एवमात्मानं निरूप्योपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह आत्मा का निरूपण कर इसका उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**एवं प्रत्यवमृश्याऽसावात्मानं प्रतिपद्यते ।**
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ।।१६ ।।

श्लोकार्थ—इन सब का मनन करके समझदार पुरुष अपनी आत्मा को जान लेता है। जो अहङ्कार के सहित सम्पूर्ण तत्वों का अधिष्टान और प्रकाशक है ।।१६।।

सुबोधिनी—एवमिति । पूर्वोक्तप्रकारेणाऽऽत्मानं **प्रत्यवमृश्य**, **अस**ावेवाऽऽत्मा **आत्मानं प्रतिपद्यते** । नन्वहङ्कारनाशोऽपि न प्रतीयते; स्मरणे साहङ्कारस्य स्मरणात्,'**सुखमहमस्वाप्सम्**' इति। नाऽहङ्कारनाश इति चेत्तत्राऽऽह—**साहङ्कारस्येति**। अहङ्कारसहितस्याऽऽत्मनो **द्रव्यस्य** **अवस्थानं** पश्चात्स्मरण**मनुग्रहो** भवति । पश्चादहङ्कारः सम्बद्धः । यथा सोऽयं देवदत्तः कुण्डलीति पूर्वं कुण्डलाप्रतीतावपि प्रतीयते । योऽनुग्रहस्तदवस्थानमिति सम्बन्धः । अनुग्रहस्य प्रसिद्धिः प्रकृतोपयोगिनी ।।१६।।

व्याख्यार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा का अनुभव करके यह ही आत्मा है इस तरह आत्मा का अनुभव हो जाता है। शंका होती है कि अहंकार के नाश की प्रतीति तो नहीं होती है स्मरण

का ज्ञान न होने से उस समय देहाध्यास नहीं है मैं देखता हूँ संकल्प करता हूँ, जानता हूँ श्वास लेता हूँ इत्यादि अनुव्यवसाय (ज्ञान का ज्ञान) की अभाव दशा में इन्द्रिय में आदि का अध्यास भी नहीं कह सकते। अब तो केवल अहंकाराध्यास बच जाता है। यदि मैं नहीं हूँ ऐसी प्रतीति होने पर यदि वह भी विषयरूप से प्रतीत हुआ तो केवल दृष्टा ही रह जाता है वही आत्मा है। चित्त तो अध्यास को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि वह तो स्वच्छ अविकारी और शान्त वृत्ति वाला है। इसलिये यह बची हुई स्वप्न सम्बन्धी प्रतीति भी आत्मा का अनुमान कराती है (प्रकाश)

में अहंकार सहित का ही स्मरण होता है जैसे 'सुखमहम स्वाप्सम्' 'मैं सुख से सोया' यहाँ अहंकार सहित का ही स्मरण है इसका उत्तर यह है कि अहंकार सहित आत्मद्रव्य का पीछे स्मरण होना ही अनुग्रह है (अनुपश्चात् ग्रह स्मरण है) अहंकार बाद में सम्बद्ध है । जैसे यह वही देवदत्त है जो कुण्डल वाला है यहां पहले कुण्डल वाला नहीं था परन्तु अब कुण्डल वाला होते हुए भी उसकी प्रतीति होती है जो अनुग्रह है वह अवस्थान है ऐसा सम्बन्ध है अनुग्रह की प्रसिद्धि प्रकृति के उपयोगी है ।।१६।।

आभास—एवमात्मज्ञानं मोक्षार्थमुपदिष्टम् । तत्प्रकृते नोपयुज्जते । प्रकृतिसम्बन्धो हि संसारे हेतुः । सांख्ये प्रकृतिर्नित्या, पुरुषोऽपि नित्यः सम्बन्धश्च । तत्र ज्ञानं किं करिष्यति ? न हि ज्ञानेन प्रकृतिः सम्बन्धो वा नाशयितुं शक्यते । अतो ज्ञानं कर्मवदभ्युदयहेतुरेव, न मोक्षहेतुरित्याशङ्कते—**पुरुषमिति** चतुर्भिः—

आभासार्थ—इस तरह मोक्ष के लिये आत्मज्ञान का उपदेश दिया । उसका यहां कोई उपयोग नहीं है । प्रकृति का सम्बन्ध ही संसार का कारण है । सांख्यशास्त्र में प्रकृति नित्य है और पुरुष भी नित्य है तथा प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध भी नित्य है तो वहाँ आत्मज्ञान क्या करेगा ? ज्ञान से प्रकृति का अथवा प्रकृति के सम्बन्ध का नाश तो हो नहीं सकता । इसलिये ज्ञान भी कर्म की तरह अभ्युदय का हेतु ही है मोक्ष का हेतु नहीं है इस तरह की शंका 'पुरुष प्रकृतिः' से लगाकर 'क्वचित्तत्वावमर्शेन' तक के चार श्लोकों में की है—

देवहूतिरुवाच—श्लोक—**पुरुषं प्रकृति र्ब्रह्मन् न विमुञ्चति कर्हिचित् ।**
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो! ।।१७।।

श्लोकार्थ—देवहूति बोली—ब्रह्मन्! पुरुष और प्रकृति दोनों ही नित्य हैं और एक दूसरे के आश्रय से रहने वाले हैं इसलिये प्रकृति कभी पुरुष को छोड़ नहीं सकती ।।१७।।

सुबोधिनी—प्रकृतिपुरुषयोर्नित्यः सम्बन्धः नाऽपि कश्चित्प्रकृतिपुरुषविशेषोऽनित्यो भवति; नापि प्रकृतिसम्बन्धः कश्चिदबाधकः । अथ ज्ञानेन प्रकृतेर्बाधकत्वमपोद्यत इति मतम् । तदपि त्रिक्षणावस्थायित्वात् ज्ञानस्य, तस्मिन् निवृत्ते पुनः प्रकृतिर्बाधिष्यत इति मोक्षमार्गोऽसङ्गतः । स्वेच्छया पुरुषप्रकृत्योः सम्बन्धः । तत्र प्रथमं सम्बन्धे पुरुषो हेतुः, कामो निमित्तम्; तत्र पुरुषः काममय एवेति स्वयं प्रकृतिं न मुञ्चति । प्रकृतिरेव कदाचित्पुरुषं परित्यज्य गच्छेच्चेत्, तदा मुक्तिर्भवेदित्याशङ्कयाऽऽह—**पुरुषं प्रकृतिः** कदाचिदपि **न विमुञ्चतीति** । **ब्रह्मन्निति** सम्बोधनं प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपपरिज्ञानार्थम्, उभयोरुभयापेक्षत्वात् । किञ्च, अन्येनाऽप्युभयोर्विश्लेषः कर्तुं न शक्यते, अन्योन्यापाश्रयत्वात् । यद्युभौ स्वभावतो भिन्नौ मिलितौ स्याताम्, तदा विश्लेषः कर्तुं शक्येताऽपि । तौ तु परस्परं मिलितौ सन्तौ सम्बद्धौ; यथा पट्टकार्पासाभ्यामेकस्तन्तुरुत्पाद्यते, तेन निर्मिते पटे तन्तुद्वयविश्लेषेऽपि न पट्टकार्पासयोर्विश्लेषः । तथा

प्रकृतौ प्रविष्टः पुरुषः प्रकृतिरूपो जातः प्रकृतिरित्युच्यते । पुरुषेऽपि प्रकृतिः प्रविष्टा पुरुषरूपा जाता पुरुष इत्युच्यते । एतादृशयोश्च सम्बन्धः । स कथं त्याजयितुं शक्यत इत्यर्थः । नाऽप्येकस्य नाशे विश्लेषः सम्भवति, उभयोर्नित्यत्वात् । प्रभो ! इति सम्बोधनमघटमानघटनासमर्थो भवानिति बोधयितुम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध नित्य है, प्रकृति पुरुष का विशेष कोई भी अनित्य नहीं, प्रकृति का सम्बन्ध कोई अबाधक नहीं है । ज्ञान से प्रकृति का बाध कहा गया है । परन्तु वह ज्ञान भी त्रिक्षणावस्थायी है इसलिये जब ज्ञान कि निवृत्ति हुई कि प्रकृति बाधक हो जायगी इसलिये मोक्षमार्ग असङ्गत है । यदि स्वेच्छा से प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध है ऐसा मानेंगे तो उसमें भी सम्बन्ध में पहले पुरुष ही कारण है और उस सम्बन्ध में काम निमित्त है । वहां पुरुष काममय ही है इसलिये वह स्वयं प्रकृति को नहीं छोड़ता है । अब तो यदि प्रकृति ही पुरुष को छोड़कर चली जाय तब तो मुक्ति हो सकती है । इसका उत्तर देते हैं कि 'न विमुञ्चति कर्हिचित्' प्रकृति कभी भी पुरुष को नहीं छोड़ती । ब्रह्मन् ऐसा सम्बोधन इसलिये दिया है कि आप प्रकृति और पुरुष के स्वरूप को जानते हैं प्रकृति और पुरुष को एक दूसरे की अपेक्षा है और भी कोई दूसरा प्रकृति और पुरुष को अलग नहीं कर सकता एक दूसरे के सहारे हैं । यदि स्वभाव से दोनों भिन्न होते और फिर मिलते तब तो उनको अलग किया जा सकता है परन्तु वे दोनों तो मिले हुए ही सम्बद्ध है। जैसे पट्ट (कपड़े) और कपास से इन दोनों को मिला कर यदि एक तन्तु (सूत) बनाया गया है और उससे जो कपड़ा बनाया गया है वहाँ डोरों को अलग अलग करने पर भी पट्ट (कपड़ा) और कपास अलग नहीं हो सकते । इसी तरह प्रकृति में प्रविष्ट पुरुष प्रकृतिरूप हो गया है अतः उस पुरुष को भी प्रकृति ही कहा जाता है । पुरुष में प्रकृति प्रविष्ट हैं वह पुरुषरूप हो गई है उसे (प्रकृति को) पुरुष ही कहा जाता है इस तरह के प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध को कौन छुड़ा सकता है । एक के नष्ट होने पर विश्लेष भी सम्भव नही क्योंकि दोनों ही नित्य हैं । प्रभो ! यह सम्बोधन भगवान् के लिये इस कारण से दिया है कि आप अघटित घटना को घटित करने में समर्थ हैं इस बात को बताने के लिये दिया है ॥१७॥

आभास—नापि कश्चित्पुरुषं काचित्प्रकृतिस्त्यक्ष्यतीति शङ्कनीयमित्याह—

आभासार्थ—किसी पुरुष को कोई प्रकृति छोड़ देती है ऐसी शंका ही नहीं करनी चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—जिस तरह गन्ध और पृथिवी तथा रस और जल की अलग अलग स्थिति नहीं हो सकती उसी तरह पुरुष और प्रकृति भी एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते ॥१८॥

सुबोधिनी-यथा गन्धस्येति । भूमेर्गन्धः स्वाभाविको गुणः, स कदाचिदपि भूमिं न त्यजति, आश्रयपरित्यागे स्वरूपनाशप्रसङ्गात् । तदाह—**व्यतिरेकतो न भाव इति** । न हि भूमि-व्यतिरेके गन्धः कस्यचिद्गुणः, योऽन्यत्र तिष्ठेत्। गन्धस्य चन्दनादौ कदाचिद्गुप्तत्वेन व्यतिरेकश्चेच्छंकेत,तदा दृष्टान्तान्तरमुच्यते—**अपां रसस्य चेति** । न कदाचिदपि जले रसोऽनभिव्यक्तोऽपि भवति, अपाकजत्वेन नियतसम्बद्धत्वात् । तथैव बुद्धेः परस्याऽपि । प्रकृतिसम्बन्धो दूरे, प्राकृती या बुद्धिस्तस्या अपि सम्बन्धः सहज इत्यर्थः ।।१८

व्याख्यार्थ—गन्ध भूमि का स्वाभाविक गुण है वह (गन्ध) कभी भी पृथिवी को नहीं छोड़ सकती यदि अपने आश्रय (भूमि) का परित्याग कर दे तो (उसके) अपने स्वरूप नाश का प्रसङ्ग हो जायगा । उसी को 'व्यतिरेकतः न भावः' इससे कहा है । भूमि के सिवाय गन्ध किसी का गुण है नहीं जिससे कि वह दूसरे में रह सके । यदि कोई ऐसी शंका करे कि गन्ध चन्दन आदि में गुप्तरूप से पृथ्वी से अलग भी रहती है उसके लिये दूसरा दृष्टान्त अपांरसस्य का दिया है । जल में कभी भी अप्रकट रस नहीं रहता है क्योंकि रस का अपाकज जल के साथ नियत सम्बद्ध है। इसी तरह बुद्धि का भी 'पर' के साथ नियत सम्बन्ध है । प्रकृति का सम्बन्ध तो रहने दीजिये प्रकृति जो बुद्धि है उसका सम्बन्ध भी सहज है ।।१८।।

आभास—न च सम्बन्ध सत्यपि मोक्षो भविष्यतीति मन्तव्यमित्याह—

आभासार्थ—यदि कहो कि प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध रहते हुए भी मोक्ष हो जायगा उसके लिये कहते हैं—

श्लोक—**अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।**
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ।। १९ ।।

श्लोकार्थ—अकर्त्ता पुरुष को जिस प्रकृति के गुणों के आश्रय से कर्मबन्धन प्राप्त हुआ है प्रकृति के उन गुणों के रहते हुए उसे कैवल्य पद (मोक्ष) कैसे प्राप्त होगा ।।१९।।

सुबोधिनी-अकर्तुरिति । अयमात्मा स्वभावतोऽकर्ता, प्रकृतिसम्बन्धादेव कर्तृत्वम् । कर्तुः कर्माण्यनन्तानि । तेषां च फलभोगेन बिनाशे पुनस्तद्धेतुना कर्मान्तराणीति न कदाचिदपि मोक्षः । तदाह—**अकर्तु**रात्मनोऽयं संसारलक्षणः **कर्मबन्धः** प्रकृत्याश्रयः । तस्याश्च **प्रकृतेर्गुणेषु सत्तु कथं कैवल्यम्** । न च बन्धका गुणा अन्ये, मोचकाश्चान्य इति मोचकसम्बन्धे मुक्तिः स्यादिति चेत्तत्राऽऽह—**तेष्विति** । य एव बन्धकास्तेष्वेव सत्सु कथं मुक्तिरित्यर्थः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—यह आत्मा स्वभाव से अकर्त्ता है, प्रकृति के सम्बन्ध से ही इसमें कर्त्तापन आता है । कर्त्ता के कर्म, अनन्त हैं और फल के भोग से उनका विनाश होता है फिर उन कारणों से (भोग से) दूसरे कर्म उत्पन्न हो जाते हैं । इससे कभी भी मोक्ष नहीं होता है । (अर्थ) कहते हैं,

अकर्त्ता आत्मा यह संसार रूप कर्म से होने वाला बंधन प्रकृति के आधार वाला होता है और उस प्रकृति के गुण जब तक समाप्त न होवे तब तक मोक्ष कैसे होवे । बंधन कराने वाले और मोक्ष कराने वाले गुण अलग अलग हैं इ लिये मोक्ष कराने वाले गुणों का जब सम्बन्ध होय, तब मोक्ष होय । यदि ऐसी शंका होय तो उस सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है कि बंधन कराने वाले गुण समाप्त होने से मुक्ति होय ऐसा अर्थ है ।।१९।।

आभास—न च तत्त्वज्ञानेन प्रकृतिबाधकत्वं दूरीक्रियत इति मन्तव्यमित्याह—

आभासार्थ—प्रकृति की बाधकता तत्वज्ञान से दूर की जा सकती है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये—

श्लोक—**क्वचित्तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम् ।**
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते ।। २० ।।

श्लोकार्थ—यदि तत्वों का विचार करने से कदाचित् संसार बन्धन का असह्य भय निवृत्त हो भी जाय तो भी उसके निमित्त भूत प्राकृतगुणों का अभाव न होने से वह भय फिर उपस्थित हो सकता है ।।२०।।

सुबोधिनी–क्वचिदिति । **क्वचित्** पुरुषविशेषे अवस्थाविशेषे वा, उत्पन्नं ज्ञानं संसारभयं निवर्तयति । तदपि न सङ्गच्छते । भयहेतोः प्रकृतिसम्बन्धस्य अनिवृत्तत्वात् पुनर्भयं प्रत्यवतिष्ठत एव । **उल्बणमसह्यम्** ।।२०।।

व्याख्यार्थ—क्वचित् का अर्थ है किसी पुरुष विशेष में अथवा अवस्था विशेष में उत्पन्न ज्ञान संसार भय को दूर कर सकता है । तथापि यह संगत नहीं हैं। भय का हेतु तो प्रकृति का सम्बन्ध है उसकी निवृत्ति जब तक नहीं हो जाती भयः पुनः उपस्थित हो सकता है। उल्बण का अर्थ है असह्य ।।२०।।

आभास—ज्ञानस्य क्षणिकत्वेऽपि सम्बन्धस्य नित्यत्वेऽपि, प्रकृतेरपि नित्यत्वे, तथा कानिचित्साधनानि सन्ति । यैः कृत्वा प्रकृतिस्तिरोभावं प्राप्नोति सम्बन्धश्च पुनर्नोद्गतो भवति । तानि साधनान्याह-**अनिमित्तेति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—ज्ञान क्षणिक है प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध भी नित्य है प्रकृति भी नित्य है परन्तु फिर भी ऐसे कोई साधन हैं जिनके द्वारा प्रकृति तिरोभाव को प्राप्त हो जाय और सम्बन्ध भी पुनः उपस्थित न हो उस प्रश्न के उत्तर में साधनों को दो श्लोकों से कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—**अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणाऽऽमलात्मना ।**
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—निष्काम कर्म एवं अपने वर्णाश्रम धर्मों के पालन के द्वारा निर्मल अन्त:करण से तथा साधनों के द्वारा पुष्ट तीव्र भक्ति से ।।२१।।

सुबोधिनी–अनिमित्तेन निष्कामेन, **निमित्तेन** कर्मणा । सर्वत्र कर्मैवं निमित्तमिति निमित्तपदप्रयोगः । **स्वधर्मः** वर्णाश्रमधर्मः, निर्मलान्तःकरणं च साधनम् । उभाभ्यां वा निर्मलान्तःकरणत्वम् । एतानि ज्ञानोत्तरं पुनः कर्तव्यानि । अन्तःकरणस्य च नैर्मल्यं तारतम्येन । भगवतो भक्तिश्च तीव्रा निरन्तरं सर्वभावेन प्रवृत्ता स्नेहपूर्विका सेवा । स्नेहपूर्वकश्रवणादिकं वा । चकाराद्गुरुभक्त्या । साऽपि भक्तिर्निरन्तरसाधनेन पुष्टा कर्तव्येत्याह–**श्रुतसम्भृतयेति** । चिरकालं भगवद्गुणश्रवणेन सम्यक् भृता पूर्णा, हृदये आपूरिता वा ।।२१।।

व्याख्यार्थ—अनिमित्त (निष्काम) निमित्तेन (कर्म से) स्वधर्मेण (वर्णाश्रम धर्म) के पालन से, निर्मल अन्तःकरण ही साधन है अथवा निष्काम कर्म और वर्णाश्रम धर्म का पालन इन दोनों साधनों से निर्मल अन्तःकरण होता है । ज्ञान के हो जाने पर भी ये साधन करने चाहिये अन्तःकरण की निर्मलता में साधनों की अल्पता(कमी) या अधिकता से निर्मलता में भी अल्पता या अधिकता होती है । निरन्तर सर्वभाव से होने वाली स्नेह पूर्वक भगवान् की सेवा को ही तीव्र भक्ति कहते हैं इस प्रकार की भक्ति से अथवा स्नेह पूर्वक श्रवण आदि से । 'च' से यहां गुरुभक्ति ली गई है । उस भक्ति को भी निरन्तर साधनों से पुष्ट करनी चाहिये यह श्रुतसंभृतया से बताया अथवा श्रुतसम्भृतया का यह अर्थ है कि चिरकाल तक भगवद्गुणों के श्रवण से जो पूर्ण है अथवा हृदय गुणों से पूर्ण हो ।।२१।।

श्लोक—**ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।**
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणाऽऽत्मसमाधिना ।। २२ ।।

श्लोकार्थ—सांख्य के अनुभव से प्राप्त ज्ञान से, अत्यधिक वैराग्य से तप से युक्त योग से तीव्र समाधि से ।।२२।।

सुबोधिनी–ज्ञानेनेति । सर्वतत्त्वसाक्षात्कारेण साङ्ख्यानुभवेन यज्जनितं ज्ञानम्, तत्पुनरावर्त्तनीयं साधनानुवृत्त्या । **बलीयसा वैराग्येण**, विषयैः कदाचिदपि रागजननात्यन्ताभावयुक्तेन । **तपसा** संयुक्तेन **योगेन** चाऽष्टाङ्गेन । आत्माविर्भावसमर्थेन **समाधिना** । एवं दश साधनान्युत्तरोत्तरं सञ्जातानि, मिलितानि वा पुरुषस्य सम्बधिनीं प्रकृतिमन्वहं दहन्तीति ।।२२।।

व्याख्यार्थ—सब तत्वों का साक्षात्कार जिस से होता है उस सांख्य के अनुभव से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से अर्थात् बार बार साधनों से बार बार ज्ञान की प्राप्ति से बलवान् वैराग्य से यहाँ ऐसे वैराग्य का ग्रहण है कि विषयों से अनुराग का अत्यन्ताभाव हो अर्थात् विषय कभी अपनी ओर आकृष्ट न कर सके तप सहित अष्टाङ्ग योग से, आत्मा को प्रकट करने में समर्थ ऐसी समाधि से इस तरह ये दस साधन क्रम से जब होते हैं अथवा इकट्ठे जब होते हैं तब पुरुष से सम्बन्धित प्रकृति को निरन्तर दहन कर देते हैं ।।२२।।

आभास—तथा सति यत्स्यात्तदाह—

आभासार्थ—वैसा होने पर जो होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।**
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवाऽरणिः ।। २३ ।।

श्लोकार्थ—जिस तरह अरणि (एक प्रकार की लकड़ी) से उत्पन्न होने वाली अग्नि उस अरणि को धीरे धीरे जला देती है उसी तरह पुरुष की जो प्रकृति है रात दिन जलती रहने से धीरे धीरे तिरोहित हो जाती है ।।२३।।

सुबोधिनी-प्रकृतिरिति । **अन्वहं** दह्यमाना **अहर्निशं** वा दह्यमाना, शनैस्तिरोभवित्री। नन्वेतानि साधनानि प्राकृतान्येव, कथं तैः प्रकृतिर्नश्यति ? प्रत्युत पुष्टैव भवेदित्याशङ्क्य तथात्वे दृष्टान्तमाह-**अग्नेर्योनिरिति** । यद्यप्यरणे । सकाशादेवाऽग्निरुत्पद्यते, तथापि स तां नाशयत्येव, न तु वर्द्धयति । तथैतानि साधनानि । न तु काष्ठादिनिर्मितं पीठादिकं यथा काष्ठपोषकम्, तथाऽग्निर्भवति । तस्माल्लौकिकान्येव कर्मादीनि प्रकृतिपोषकाणि, नत्वेतानीति भावः ।२३।

व्याख्यार्थ—निरन्तर जलती हुई (लकड़ी) अथवा रात दिन जलती हुई धीरे धीरे तिरोहित हो जाती है । यदि शंका हो कि ये साधन भी तो प्रकृति से सम्बन्धित हैं तो फिर इन साधनों से प्रकृति कैसे नष्ट होगी । इन साधनों से तो प्रकृति और भी पुष्ट होगी इस शंका के उत्तर में एक दृष्टान्त देते हैं । अग्नेर्योनि यद्यप्यरणेः जैसे अरणि से ही अग्नि उत्पन्न होती है परन्तु वह अग्नि अरणि को नष्ट ही करती है अरणि को बढाती नहीं है । उसी तरह ये प्राकृत साधन प्रकृति का तिरोधान ही करेंगे उसे बढायेगें नहीं । काष्ठ के द्वारा निर्मित पीढा आदि जैसे काष्ठ के पोषक हैं उस तरह काष्ठ से उत्पन्न होने वाली भी अग्नि काष्ठ का पोषक नहीं है । इसलिये लौकिक कर्म ही प्रकृति के पोषक है वे साधन प्रकृति के पोषक नहीं हैं ।।२३।।

आभास—तस्याः पुनरुद्गमशङ्कां वारयति—

आभासार्थ—प्रकृति का पुनः उद्गम हो जायेगा ऐसी यदि शंका हो तो उस का वारण करते हैं—

श्लोक—**भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।**
नेश्वरस्याऽशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ।। २४ ।।

श्लोकार्थ—नित्य प्रति दोषों के दिखाई देने से भोग करके त्यागी हुई प्रकृति अपने स्वरूप में स्थित ईश्वर(स्वतन्त्र) उस पुरुष का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ।।२४।।

सुबोधिनी—भुक्तभोगेति । अभुक्ता चेत् वासनया हृदयं प्रविष्टा कदाचिन्न निवर्तेताऽपि, भुक्तभोगा तु निवृत्तैव भवेत् । तत्राऽप्यलम्बुध्या परित्यक्ता । तत्रापि दृष्टदोषा । यथा अमेध्यत्वेन परित्यक्तमन्नादिकं न रागं जनयति । कदाचिद्दोषे स्फुरितेऽपि रागश्चेदन्तःस्थो न निवर्तेत; कदाचित्तस्या दोषो न स्फुरत्यपि । तद्येवृत्त्यर्थमाह—**नित्यश इति** । सर्वदा दृष्टदोषा । तथात्वे तस्यां रागाभागो हेतुः । किञ्च, यथा गृहस्थस्य भार्या गृहस्थं बाधते, न तथेश्वरं शतशोऽपि भार्या बाधितुं शक्नुवन्ति; तथेयं प्रकृतिरपि दासभूतमेव जीवं बाधते, नत्वीश्वरभूतम् । ऐश्वर्यं च भगवत्कृपया तद्धर्मप्राप्त्या भवति । तदाह—**नेश्वरस्याऽशुभं धत्त इति** । किञ्च, स्वे महिम्नि स्थितस्य च अशुभं न धत्ते । यस्तु स्वानन्द एव रमते, तं प्रकृतिर्न बाधते, प्रकृत्यपेक्षाभावात् । यथा सर्वतो विरक्तं भार्या बाधितुं न शक्नोति, नाऽप्यात्मारामिति चशब्दार्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ— भोगों का यदि उपयोग न किया जाय तो वे अभुक्त भोग वासना के द्वारा हृदय में प्रविष्ट हों जाते है वे कदाचित् निवृत्त न भी हो किन्तु भुक्त भोग तो निवृत्त होते ही हैं और फिर इनका भोग बहुल भोग लिया है इस बुद्धि से छोड़े गये हों और फिर जिनमें दोष देखे हों, जैसे अपवित्र रूप से छोड़े गये अन्न आदि में अनुरक्ति नहीं होती है । यदि कदाचित् दोष दिखाई दे परन्तु उसमें यदि भीतर रहने वाला अनुराग ही निवृत्त न हो तो उसमें कदाचित् दोष की स्फुर्ति न भी हो परन्तु इनमें तो दोष सदा ही दीखते हैं यह नित्यशः से बताया है । उनमें अनुराग न होने से ही तो दोष दीखते हैं । जैसे गृहस्थ को उसकी भार्या कष्ट पहुँचा सकती है परन्तु जो गृहस्थ ईश्वर (समर्थ) है उसको एक भार्या तो क्या सैंकड़ों भार्या भी दबा नहीं सकती। उसी तरह यह प्रकृति भी जो इस प्रकृति का दास हो गया है उसे ही बाधित करती है परन्तु जो इसका दास नहीं है ईश्वर है उसे बाधा नहीं पहुँचा सकती । ऐसी ईश्वरता तो भगवान् की कृपा से अथवा भगवद्धर्मों की प्राप्ति से होती है । इसी को 'नेश्वरस्याशुभं धत्ते' से कहा है । एक कारण और भी है वह है 'स्वेमहिम्नि स्थितस्यच' जो अपनी महिमा में स्थित है वह भी अशुभों को प्राप्त नहीं होता । जो अपने ही आनन्द में रमण करता है उसे प्रकृति बाधा नहीं पहुँचा सकती है क्योंकि, उसको प्रकृति की आवश्यकता ही नहीं है । जैसे जो सब प्रकार से विरक्त होता है उसे भार्या क्या बाधा पहुँचायेगी । और जो स्वयं में ही रमण करता है उसे भी क्या बाधा पहुँचा सकती है यह 'च' शब्द का अर्थ है ।।२४।।

श्लोक—**यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थकृत् ।**
स एव प्रबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ।। २५ ।।

श्लोकार्थ—जैसे सोये हुए पुरुष को स्वप्न में अनेक अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है किन्तु जग जाने पर उन स्वप्न के अनुभवों से किसी प्रकार का मोह नहीं होता ।।२५।।

सुबोधिनी–इयं प्रकृतिर्निद्रावत्पुरुषस्य बाधिका। तथा सति यथा निद्रा स्वप्नं जनयित्वा पुरुषं बाधते, तथेयमपि संसारं जनयित्वा बाधते । सोऽपि स्वप्नो भगवन्मायाजनितसर्वं प्रपञ्चात्मकः, भगवदिच्छया विद्यमानोऽपि **अप्रतिबुद्धस्यैव बह्वनर्थकृद्भवति** न तु प्रतिबुद्धस्य कस्यचिदपि कदाचिदपि कस्मिन्नपि देशे । निश्चयेन मोहाय न कल्पते, किन्तु स्मृतिमात्रं जनयति ।।२५।।

व्याख्यार्थ—यह प्रकृति नींद की तरह पुरुष को पीड़ा पहुँचाती है जैसे नींद स्वप्न को उत्पन्न करके पुरुष को पीड़ित करती है उसी तरह प्रकृति संसार को उत्पन्न कर बाधा करती है वह स्वप्न भी भगवान् की माया से उत्पन्न सर्वप्रपञ्चात्मक है भगवान् की इच्छा से विद्यमान होते हुए भी जो जगा नहीं है उसी को अनेक अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है । प्रतिबुद्ध (जगा हुआ) है ऐसे किसी को कभी भी किसी देश में भी निश्चय ही मोह नहीं हो सकता किन्तु उस स्वप्न का स्मरण मात्र उत्पन्न होता है ।।२५।।

आभास—एवमेव विदिततत्त्वस्याऽपि पुरुषस्य प्रकृतिः संसारजननेन नाऽपकारं कर्तुं शक्नोतीत्याह—

आभासार्थ—इसी तरह जिसको तत्वों का ज्ञान है उस पुरुष की प्रकृति संसार को उत्पन्न करके उसका अपकार (बुरा) नहीं कर सकती है—

श्लोक—**एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।**
युञ्जतो नाऽपकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ।। २६ ।।

श्लोकार्थ—उसी तरह जिसे तत्व ज्ञान हो गया है और जिस का मन मुझ में लगता रहता है उस आत्माराम मुनि का प्रकृति कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती ।।२६।।

सुबोधिनी–एवमिति । विदिततत्त्वस्येति । स्वभावतो मोहकत्वाभावेहेतुः । **मयि** भगवति **मानसं युञ्जत इति** । बलाददृष्टादिद्वाराऽप्यपकाराभावे हेतुः । कामादिजननद्वाराऽपि नाऽपकर्तृत्वमित्याह–**आत्मारामस्येति** । आत्मन्येव रमणं यस्य । अत एव प्रकारत्रयेणाऽपि बाधाभावात्**कर्हिचिदि**त्युक्तम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—स्वभाव से ही प्रकृति मोहक न हो इसमें तत्वों का ज्ञान कारण है । हठात् अदृष्ट आदि के द्वारा भी प्रकृति अपकार न कर सके इसके लिये भगवान् में मन को लगाना चाहिये । जो आत्मा में ही रमण करते हैं ऐसे आत्माराम को प्रकृति काम आदि की उत्पत्ति के द्वारा भी उसका अपकार नहीं कर सकती । अतएव तीनों ही प्रकार से प्रकृति बाधक नहीं हो सकती इसके लिये कर्हिचित् ऐसा कहा है अर्थात् कभी भी नहीं ।।२६।।

आभास—एवं प्रकृतेर्बाधकत्वाभावमुक्त्वा, विदिततत्त्वस्य प्रकृतिबाधाभावानन्तरं साधनपूर्वकं भगवत्प्राप्तिलक्षणं मोक्षमाह—चतुर्भिर्**यदैवमि**त्यादिभिः ।

आभासार्थ—इस तरह प्रकृति की बाधकता का अभाव कह कर, जिसको तत्व का ज्ञान हो गया है उसको प्रकृति बाधा नहीं करती उसके अनन्तर साधनपूर्वक भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष का चार श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

कारिका—**साधनं च फलञ्चैव फलत्वं चाऽपि तस्य च ।**
प्रतिबन्धनिवृत्त्यैव तत्प्राप्ति र्बाधनाशतः ।। १ ।।
एतच्चतुष्टयं प्राऽऽह चतुर्भिर्नाऽन्यथा फलम् ।
तादृशस्याऽपि हि भवेदिति ज्ञानोत्तरक्रिया ।। २ ।।

कारिकर्थ साधन और फल तथा साधन की ही फलता बाधके नाश से प्रतिबन्धक की निवृत्ति से भगवत्प्राप्ति इन चार का वर्णन चार श्लोकों से कहते हैं इनके बिना फलप्राप्ति नहीं होती वैसा होने पर भी कभी बाध की सम्भावना हो सकती है इसलिये ज्ञान के अनन्तर भी क्रिया करनी चाहिये ।।१।।२।।

प्रथमं साधनान्याह—

पहले साधन कहते हैं—

श्लोक—**यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।**
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ।। २७ ।।

श्लोकार्थ—जब मनुष्य अनेक जन्मों में बहुत काल तक अध्यात्म चिन्तन में रत रहता है तब उस मुनि को ब्रह्म लोक पर्यन्त सब प्रकार के भोगों से वैराग्य हो जाता है ।।२७।।

सुबोधिनी—यदैवमिति । पूर्वं यावन्ति साधनानि निरूपितानि ज्ञानार्थं प्रकृतिजयार्थं च; तान्युभयविधान्यपि बहुजन्मसु आवृत्तानि सन्ति । **अध्यात्मे** आत्मज्ञाने रतिरुत्पद्यते । ज्ञानं तु बहुधा जायते, प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वात् ज्ञानस्य । रतिस्तु कदाचिदेव जायते, तस्याः कालनियमाभावात्—**यदैव**मित्युक्तम् । एवमाकाङ्क्षायुक्तो बहुजन्मना कालेन अध्यात्मरतो भवेत्, तदैव सर्वत्र जातवैराग्यो भवेत् । ततोऽपि वा बहुजन्मना सर्वत्र वैराग्यम् । क्रममुक्तावपि वैराग्यमित्याह—**आब्रह्मभुवनादिति** । तत्रापि निरन्तरं मननं साधनम्, बहिःपदार्थनिवृत्तेरावश्यकत्वात् ।२७।

व्याख्यार्थ—पहले ज्ञान के लिये और प्रकृति के विजय के लिये जितने साधनों का निरूपण है वे दोनों ही प्रकार के साधन अनेक जन्मों में अनेक बार किये जाते हैं । तब आत्मज्ञान में अनुराग उत्पन्न होता है । ज्ञान तो प्रमाण और वस्तु के अधीन होने से अनेक प्रकार का होता है ।

और फिर ज्ञान में अनुराग तो कदाचित् ही होता है। क्योंकि अनुराग (रति) में काल का कोई नियम नहीं है कि इतने समय में अनुराग हो ही जायेगा। इसलिये यदैव ऐसा कहा है अर्थात् जब कभी हो। इस तरह आकांक्षा से युक्त मानव अनेक जन्मों में और बहुत काल से अध्यात्म ज्ञान में अनुराग करता है उस समय सर्वत्र वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। उस से भी बहुत जन्मों में सर्वत्र वैराग्य होता है। 'आब्रह्मभुवनात्' का अर्थ है क्रम मुक्ति में भी वैराग्य होता है। उसमें भी निरन्तर मनन साधन है क्योंकि बाह्य पदार्थों की निवृत्ति उस में भी आवश्यक है ।। २७ ।।

श्लोक—**मद्भक्तः प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।**
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ।। २८ ।।

प्राप्नोतीहाऽञ्जसा धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः ।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ।। २९ ।।

श्लोकार्थ—मेरा भक्त मेरी महती कृपा से तत्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभाव के द्वारा सारे संशयों से मुक्त हो जाता है और फिर लिङ्ग देह का नाश होने पर मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत कैवल्य संज्ञक पद को अनायास ही प्राप्त कर लेता है जहाँ पहुँचने पर योगी पुनः लौटकर नहीं आता ।।२८—२९।।

सुबोधिनी–मद्भक्त इति। एवं बहुजन्मनि जाते **मद्भक्तो** भवति। पश्चात्**प्रतिबुद्धार्थो** भवति। तावत् कः पुरुषार्थ इत्येव न जानाति, भगवति भक्तिर्न भवति। तदा भगवानेव परमपुरुषार्थ इति ज्ञाने महान् भगवत्प्रसादो भवति। तदा वैकुण्ठं प्राप्नोति। तदेव हि नितरां श्रेयोरूपम्, **स्वस्य** भगवतो जीवस्याऽपि सम्यक् स्थानभूतम्। तत्रैव हि पुरुषः केवलो भवति, सर्वस्यात्मत्वात् प्रतीतत्वाच्च। तदेव हि मम स्थानम्। यस्तु मम स्थानं प्राप्नोति सोऽहमेव भवति। **अञ्जसा**ऽनायासेन। **इहैव** शरीरे, न तु ब्रह्माण्डभेदाद्यपेक्षा। ननु वैकुण्ठस्य भगवतो वा परमपुरुषार्थत्वं शास्त्रान्तरैर्युक्त्या च विरुद्धं भातीति बहुविधोऽपि सन्देहः स्वयं यदा तत्र पश्यति, तदा निवर्तत इति **स्वदृष्ट्या छिन्नसंशयो भवति**। तस्य शास्त्रार्थत्वाय श्रुतिसूत्राभ्यां निरूपितशास्त्रपर्यवसानमाह–**यद्गत्वा न निवर्ततेति**। न च पुनरावर्तते, '**अनावृत्तिः शब्दात्, इति**। तत्रैव परिसमाप्तिस्त्रय्याः शास्त्रस्य च। यन्मत्स्थानं गत्वा मदीयो न निवर्तत एव। **योगी** च **लिङ्गाद्विनिर्गमे** सति, लिङ्गभङ्गे वा न निवर्तते। ।।२८–२९।।

व्याख्यार्थ—इस तरह अनेक जन्मों के बीतने पर ही मेरा भक्त होता है। भक्त होने पर ही वह प्रतिबुद्धार्थ अर्थात् तत्वज्ञानी होता है। जब तक भगवान् में भक्ति नहीं होती तब तक वह यह नहीं जान सकता कि पुरुषार्थ क्या है। जब भगवान् में भक्ति होती है तब भगवान् ही परम पुरुषार्थ है ऐसा ज्ञान होता है और ऐसा ज्ञान होने पर ही भगवान् की कृपा होती है। भगवान् की कृपा से वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है। वह वैकुण्ठ ही तो अत्यन्त श्रेयःरूप है। वह वैकुण्ठ भगवान् का और

जीव का भी उत्तम स्थान है। वहीं पर पुरुष केवल (मुक्त) हो जाता है वैकुण्ठ में सभी आत्मरूप हैं और आत्मरूप से प्रतीत होते हैं। वह वैकुण्ठ ही मेरा स्थान है। जो मेरे स्थान को प्राप्त होता है वह मेरे ही समान हो जाता है। वैसा बनने में किसी आयास की आवश्यकता नहीं है यह 'अञ्जसा' से बताया है। इह का अर्थ है इसी शरीर में उसे प्राप्त कर लेता है ब्रह्माण्ड भेदन आदि की आवश्यकता नहीं है। शंका होती है कि वैकुण्ठ अथवा भगवान् की प्राप्ति को परम पुरुषार्थ रूप अन्य शास्त्रों से और युक्ति से विरुद्ध प्रतीत होता है ऐसा अनेक प्रकार का सन्देह जब वहाँ देखता है तब उस सन्देह को निवृत्ति कैसे होती है उसके लिये 'स्वदृशा छिन्नसंशयः' ऐसा कहा आत्मज्ञान के द्वारा उनका यह सन्देह नष्ट हो जाता है। शास्त्र का यह अर्थ है यह श्रुति और सूत्रों से निरूपित है। इसमें ही शास्त्र का पर्यवसान है यह 'यद्गत्वा न निवर्त्तत' इस से बताया है जहाँ जाने पर पुनः लौट कर नहीं आता यही सिद्धान्त 'अनावृत्तिः शब्दात्' इस सूत्र में भी बताया। इसी में तीनों वेदों की तथा शास्त्र की परिसमाप्ति (अन्तिम निर्णय) है। मेरा भक्त जो मेरे स्थान में पहुँच जाता है वह पुनः वहाँ से लौटकर नहीं आता। लिङ्ग देह के नष्ट हो जाने पर योगी भी नहीं लौटता है ।।२८-२९।।

आभास—अन्तिमजन्मनि योगिनो विघ्नाः संभवन्ति, '**श्रेयांसि बहुविघ्नानि**' इति स्मृतेः। तैर्विघ्नैश्चेन्नाऽभिभूयते, तदा कालमतिक्रम्य तत्र गच्छतीत्याह—

आभासार्थ—योगियों के अन्तिम जन्म में अनेक विघ्नों की संभावना होती है। स्मृति में कहा कि अच्छे कामों में बहुत विघ्न होते हैं। उन विघ्नों से यदि योगी बच जाता है तब काल का अतिक्रमण कर के वहां मेरे लोक में जाता है इसे कहते हैं—

श्लोक—**यदा न योगोपचितासु चेतो मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग! ।**
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्यादात्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ।। ३० ।।

श्लोकार्थ—यदि योगी का चित्त योग से प्राप्त होने वाली अणिमा आदि सिद्धियों में जिनकी प्राप्ति में योग के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है उनमें आसक्त नहीं होता। तब वह मेरे उस अविनाशी पद को प्राप्त करता है जहाँ मृत्यु कभी गर्व नहीं कर सकती ।।३०।।

सुबोधिनी—यदेति योगेन **उपचितासु** निकटे समानीतासु, **मायास्वणिमादिषु**, सिद्धस्य चेतो यदा न विषज्जते। **अनन्यहेतुष्विति**। न विद्यते स्वव्यतिरिक्तो हेतुर्यत्र। अनेनाऽऽयासाभाव उक्तः। तदैव **मे गतिः स्याद्वै**कुण्ठाख्या। फलान्तरेण सम्बद्धमुक्तब्राह्मण इव मुख्ये फले न युज्यते। आगतास्वपिसिद्धिषु चित्तं चेन्न युज्यते, **अथ** तदनन्तरमेव, भगवत्प्राप्तिर्भवति। यद्यपि भगवतो बहुविधा गतिर्भवति सगुणाऽपि, तथापीयम**त्यन्तिकी**। यत्र च फले मृत्योर्गर्वो न भवति। मृत्युर्हि सर्वप्रकारेण फलसाधनप्रमेयप्रमाणैर्भ्रामयित्वा स्ववशे नयति। तस्य यदि सर्वोऽपि प्रयासो व्यर्थो भवति, तदा गर्वो गच्छति। तत्र यथा मृत्योर्हासो गर्वो नाऽस्तीति।

अत एवाऽत्र भ्रमो न कर्तव्यः । यस्मिन्नेव शास्त्रे मते वा, साधनेषु वा, कदाचिदपि प्राणी म्रियते, तदेवाऽसच्छास्त्रं साधनं च एतदेव निदर्शनमिति भावः ।।३०।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे सप्तविंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—जिस सिद्ध का योग के द्वारा समीप में लाई गई अणिमा आदि मायाओं में चित्त आसक्त (फँसता) नहीं होता । उन सिद्धियों के प्राप्त करने में योग के सिवाय कोई अन्य साधन नहीं है । इस कथन से उनकी प्राप्ति में कोई आयास नहीं है यह सिद्ध होता है । जब योगी उन सिद्धियों में आसक्त नहीं होता है तब वह वैकुण्ठ को प्राप्त करता है । फलान्तर से सम्बन्ध मुक्त ब्राह्मण की तरह मुख्य फल में उसका सम्बन्ध नहीं होता । अर्थात् जैसे किसी ब्राह्मण का अपने से कोई सम्बन्ध हो ऐसे ब्राह्मण को यदि भोजन कराया जाता है तो उससे ब्राह्मण भोजन का जो मुख्य फल है वह नहीं होता है । किन्तु उसका अन्य ही कोई फल होता है । योगी के पास सिद्धियां आवें किन्तु उन सिद्धियों में जब उसका चित्त आसक्त नहीं होता तो उसी के बाद उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है । यद्यपि भगवान् की अनेक प्रकार की गति होती है । सगुण भी होती है परन्तु यह गति आत्यन्तिकी है जिसके फल में मृत्यु का गर्व भी नष्ट हो जाता है । मृत्यु फल-साधन-प्रमेय-प्रमाणों के चक्कर में डालकर सब प्रकार से अपने वश में ले लेती है । उसका यह सारा प्रयास यदि व्यर्थ हो जाता है तो उसका गर्व चला जाता है वहाँ (वैकुण्ठ में) जब मृत्यु का ह्रास (गर्व) नहीं है इसलिये यहाँ भ्रम कभी नहीं करना चाहिये । जिस शास्त्र में अथवा मत में या साधनों में कदाचित् भी प्राणी मरता है वह ही असत् शास्त्र और असत् साधन हैं उसका यह ही निदर्शन है ।।३०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के सत्ताईसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

※ विनय ※

मेरी सुध लीजो हो व्रजराज ।
और नहीं जग में कोउ मेरो, तुमहि सुधारन काज ।।
गणिका गीध अजामिल तारे, सवरी ओ गजराज ।
सूर पतित पावन कर लीजे, बाँह गहे की लाज ।।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

श्रीमद्भागवत महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (गुणातीत मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—२८

भगवद्-ध्यान रूप योग और उसके साधन

कारिका—**चितञ्चेद्भगवत्स्पृष्टं भक्तिज्ञानविरक्तिभिः ।**
तदा शुद्धं स्वसम्बन्धिपुरुषं गमयेत्फलम् ।। १ ।।

योगेनाऽपि भवेच्छुद्धमिति योगो निरूप्यते ।
अष्टाविंशे ध्यानयुक्तः सर्वसाधनसंयुतः ।। २ ।।

यत्रैव भगवद्देशस्तत्प्रमाणादिकं भवेत् ।
स्वतः शुद्धो हरेर्नाऽन्यः स्वाध्याय इव सर्वथा ।। ३ ।।

कारिकार्थ—भक्ति ज्ञान और वैराग्य इन तीन साधनों के द्वारा भगवान् प्रसन्न होते हैं तब भगवान् चित्त का स्पर्श करते हैं। भगवान् के स्पर्श से चित्त जब शुद्ध हो जाता है तब वह चित्त स्वसम्बन्ध से युक्त पुरुष रूप फल को प्राप्त कराता है इसलिये पहले के तीन अध्यायों में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य इन तीन साधनों का निरूपण किया है ।।१।।

जिस तरह इन तीन साधनों से चित्त शुद्ध होता है वैसे ही योग से भी चित्त की शुद्धि होती है इसलिये अट्ठावीसवें अध्याय में योग का निरूपण किया जाता है शंका हो सकती है कि पूर्व के तीन अध्यायों में तीन साधनों से चित्त की शुद्धि होती थी यहाँ केवल योग से उसकी शुद्धि कैसे होगी उसके समाधान के लिये ध्यानयुक्तः ऐसा कहा अर्थात् योग में ध्यान भी है अतः ध्यान युक्त योग, चित्त को शुद्ध कर सकता है क्योंकि ध्यान से भगवत्सम्बन्ध हो जाता है और भगवत्सम्बन्ध

से चित्त की शुद्धि हो ही जाती है। इस तरह चित्त को शुद्ध करने के साधनों का वर्णन पच्चीसवें अध्याय से लेकर अट्ठाईसवें अध्याय तक किया है अतः एक ही कार्य करने के कारण इन चारों अध्यायों की सङ्गति है ।।२।।

यहाँ शंका होती है कि उक्त संगति ठीक है परन्तु शास्त्र के और मैत्रेयजी की उक्ति में जो अवसर है वह कैसे होगा उसे तृतीय कारिका से कहते हैं। भगवान् का जिस वस्तु में आवेश होता है वह वस्तु प्रमाणरूप, प्रमेयरूप, साधनरूप और प्रकृष्ट(उत्तम) फलरूप हो जाती है। भगवान् के सिवाय स्वतः शुद्ध कोई नहीं है जब भगवान् का सम्बन्ध होता है तब वह शुद्ध होता है। जैसे स्वाध्याय (वेद) भी भगवत्सम्बन्ध होने ही से शुद्ध है। उसी तरह योग भी भगवदावेश के कारण भगवद्योग सृष्टि में प्रमाणरूप से सर्व प्रकाशक होने से बुद्धिरूप है इसलिये शास्त्रीय अवसर की सिद्धि होती है और वह ही योग यहाँ इन्द्रिय संयमरूप होने से और स्वरूप का व्यवस्थापक होने से मोक्षरूप है इसलिये मैत्रेयजी की उक्ति में भी उसका अवसर है ।।३।।

आभास—भक्तिसाङ्ख्यज्ञानानि निरूप्य योगं फलपर्यन्तं निरूपयति—

आभासार्थ—पूर्व के अध्यायों में भक्ति, सांख्य और ज्ञान का निरूपण करके इस अध्याय में फलपर्यन्त योग का निरूपण करते हैं—

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ।। १ ।।

श्लोकार्थ—भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं हे माता! अब मैं तुम्हें ध्यान सहित स-बीज योग का लक्षण कहूँगा जिसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न होकर सन्मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है ।। १ ।।

सुबोधिनी-योगस्येति। योगा बहुविधाः । सध्यानोऽपि द्विविधः–सबीजो निर्वीजश्चेति । सबीजोऽप्यनेकविधःनानाविधार्थध्यानविषयः । तत्र भगवद्ध्यान एव चित्तं सन्मार्गे विशति, स्वदेवतायामेव प्रसादात् । तदाह **सबीजस्य योगस्य लक्षणं वक्ष्य इति**। निर्बीजो योगो गीतायामुक्तः, **'यतो यतो निःसरति'** इत्यादिना । सबीजस्तु ध्येयसहितः । सुगमश्चाऽयम् यतस्त्वं **नृपात्मजा।** येनैव विधिना मनः शीघ्रमेव प्रसन्नं सत् **सत्पथं याति** । प्रसादस्तस्य स्वदेवताभिनिवेशात् । तदैव सन्मार्गे गच्छति । सत आत्मनो भगवतो वा मार्गः; वेदोक्तो वा ।।१।।

व्याख्यार्थ—योग अनेक प्रकार के हैं उनमें ध्यान सहित योग भी दो प्रकार का है सबीज और निर्बीज। सबीज भी अनेक प्रकार का है नाना प्रकार के अर्थ ध्यान के विषय हैं उसमें जो भगवद्ध्यान का विषय है उससे चित्त सन्मार्ग में प्रवेश करता है अर्थात् भगवान् की कृपा से स्वदेवता से प्रवेश करता है। इसलिये कहा है कि मैं सबीज योग का लक्षण कहूँगा, गीता में निर्बीज योग का 'यतोयतो निः सरति' से कथन है। सबीज योग ध्येय सहित होता है ऐसा योग सुगम भी है सुगम ही तुम्हारे लिये उपयुक्त होगा क्योंकि तुम राजकुमारी हो। सुगम योग की

विधि से ही मन शीघ्र प्रसन्न होकर सन्मार्ग को प्राप्त करता है। अपने ध्येय देवता का अभिनिवेश होने से प्रसाद (प्रसन्नता) होता है। तब सन्मार्गगामी होता है। सन्मार्ग का अर्थ है आत्मा मार्ग या भगवन्मार्ग अथवा वेदोक्त मार्ग ॥१॥

आभास—तत्र पञ्चविंशतीसाधनान्याह। यमनियमरूपाणि कृशराणि कृत्वा सर्वतत्त्वानामतिक्रमार्थे तावन्ति साधनानि। एकेन च साधनेन एकस्य तत्त्वस्याऽतिक्रमो न भवतीति साधनान्तराण्यप्यतिदिश्यन्ते—

आभासार्थ—यहाँ पच्चीस साधनों को बताते हैं। यम नियमरूपों की संमिश्रण (भेल सेल) करके तत्व पच्चीस हैं उनका अतिक्रमण करने के उतने ही (पच्चीस ही) साधन हैं। एक साधन से एक तत्व का अतिक्रम नहीं होता इसलिये अन्य साधनों का भी निर्देश किया जाता है—

श्लोक—**स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।**
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—यथाशक्ति शास्त्र विहित स्वधर्म का आचरण करना, शास्त्र विरुद्ध आचरण का त्याग करना, प्रारब्ध के अनुसार जो मिल जाय उसी में संतुष्ट रहना, आत्मा ज्ञानीयों के चरणों की सेवा करना ॥ २ ॥

सुबोधिनी—स्वधर्माचरणमिति। स्वधर्माणां देहधर्माणां वर्णाश्रमाधिकारसिद्धानामाचरणं यथाशक्त्या कर्तव्यम्, न तु शक्तावपि सङ्कोचः। शास्त्रमपि **'यच्चक्नुयात् तत्कुर्यात्'** इति। **विधर्माच्च निवर्तनं** द्वितीयं साधनम्। धर्मबाधो विधर्मः, यस्मिन् क्रियमाणे स्वस्य धर्मस्य बाधो भवति। स यथाधिकारमवसेयः। यावद्देहोऽयम्, तावद्वर्णाश्रमधर्मा एव स्वधर्माः। भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः, परधर्मा वा। यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते, सङ्घातव्यतिरिक्तम्, तदा दास्यं स्वधर्मः, अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः। यदा पुनर्भगवद्भावं प्राप्ताः तदाऽलौकिकधर्मा एव ऋषभादिष्विव गोचर्यादयः स्वधर्माः, अन्ये परधर्मा इति। **च**कारात् परधर्मादयश्चत्वारोऽपि संगृहीताः। अयं च प्राप्तज्ञान इति स्वशक्त्या भगवत्प्रेरणया, स्वज्ञानेन वा, ज्ञानबाधाभावे शरीरशक्त्या वा, उभयात्मकस्वधर्मानुष्ठानम्, नत्वेकतरविरोधि। तृतीयं साधनम्—**दैवाल्लब्धेन सन्तोषः। दैवादिति** वचनात् आवश्यकप्राप्तिः सूचिता। अलब्धे वा महाहिरिवाऽप्रयत्नोऽपि सन्तुष्येदिति ज्ञातव्यम्। **अन्यैश्चे**त्यतिदेशात्। **आत्मविदां चरणार्चनं** चरणपूजा, दास्यमिति यावत्। आत्मवित्त्वं च तेषां ज्ञातव्यमक्षोभोदिना ॥२॥

व्याख्यार्थ—स्वधर्मों (देहधर्मों) का तथा वर्णाश्रमों के अधिकारानुसार धर्मों का शक्ति के अनुसार आचरण करना चाहिये। शक्ति में संकोच (कमी) न करना। शास्त्र भी ऐसा ही 'यच्छक्नुयात् तत्कुर्यात्' जितनी शक्ति हो उस के अनुसार करे। विधर्म से निवृत्त होना यह दूसरा साधन है। जिसके करने में अपने धर्म में बाधा हो उसे विधर्म कहते हैं। इस का निर्णय अधिकार

के अनुसार ही करना चाहिए। जब तक विपर्यय अभ्यास की दृढता से देही आत्मा के रूप से भासित होती है जब तक वर्णाश्रम धर्म ही स्वधर्म है भगवद्धर्म आदि भी विधर्म हैं अथवा परधर्म हैं परन्तु जब सङ्घात (देह) से अलग जीव को आत्मा मानता है तब दास्य स्वधर्म होता है वर्णाश्रम आदि अन्य परधर्म होते हैं। जब भगवद्भाव को प्राप्त होते हैं तब ऋषभदेवजी की तरह गोचर्यादि अलौकिक धर्म ही स्वधर्म होते हैं और अन्य परधर्म होते हैं। विधर्माच्च के च' से परधर्म-आयास-धर्म-उपधर्म-छलधर्म इन चारों का संग्रह हैं। यह अपनी शक्ति से भगवत्प्रेरणा से ज्ञान प्राप्त करता है और अपने ज्ञान से अथवा शरीर शक्ति से ज्ञान के बाधक के अभाव में जो वर्णाश्रम-धर्मात्मक और ज्ञानात्मक दोनों धर्मों का अनुष्ठान करे वह धर्मानुष्ठान एक तर (एक का भी) विरोधी नहीं हो। तीसरा साधन बताते हैं 'दैवाल्लब्धेन सन्तोषः' प्रारब्ध से जो मिल जाय उसमें संतोष करना यहाँ जो दैवात् पद है उससे आवश्यक की प्राप्ति सूचित होती है यदि आवश्यक की प्राप्ति न हो तो अजगर की तरह कोई प्रयत्न न करता हुआ प्रसन्न रहे ऐसा जानना चाहिये। 'एतैरन्यैश्च पार्थिभिः' इस अग्रिम अतिदेश से ऐसा जानना चाहिये। आत्मज्ञानियों की चरण पूजा करनी चाहिये अर्थात् उनका दास बनकर रहना चाहिये उसका आत्मज्ञानीपन अक्षोभ (शान्त चित्तपन) आदि से जाना जा सकता है ॥२॥

श्लोक—**ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।**
मितमेध्याशनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—विषयवासनाओं को बढ़ाने वाले कर्मों से दूर रहना, अहिंसा आदि मोक्ष धर्मों में अनुराग रखना, पवित्र और परिमित (सीमित) भोजन करना, निरन्तर एकान्त और भयरहित स्थान में रहना ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—ग्राम्येति । **ग्राम्यधर्मा** लौकिकाः, इन्द्रियग्रामवन्तो वा ग्राम्याः। चकारात् स्वधर्मा अपि ग्राम्यधर्मा श्चेत् त्यक्तव्या इति । **मोक्षधर्मा** अहिंसादयः, तेषु रतिः । **तथे**त्येदपि ग्राम्यधर्म-निवृत्तिवत्साधनम् । परधर्मत्वे नाऽधर्मशङ्कायां तथोक्तम् । **मितं** परिमितं **मेध्यं** पवित्रञ्च, **अशनं** भोजनं कर्तव्यम् । **शश्वदिति** सर्वदा **मितमेध्यस्या** (?)**दन**मिति पाठे चर्व्यमेव फलादिकं भक्षणीयमित्युक्तं भवति । विविक्तस्यैकान्तस्य, **क्षेमस्य** भयरहितस्य, सेवनम् । तादृशे देशे तद्देशं शुद्धं कुर्वन् सेवमान एवतिष्ठेदित्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—ग्राम्य धर्म, लौकिक धर्म कहे जाते हैं अथवा इन्द्रियों के धर्म ग्राम्यधर्म हैं 'च' से स्वधर्म भी यदि ग्राम्य धर्म हो तो उनका परित्याग करना चाहिये, मोक्षधर्म अहिंसा आदि इनमें अनुराग रखना तथा का तात्पर्य यह है कि मोक्ष धर्म भी ग्राम्यधर्म निवृत्ति की तरह साधन है। मोक्ष धर्म को परधर्म कहीं न समझलें तथा उसमें अधर्म की आशंका न हो जाय इसलिये वैसा कहा है मित (परिमित) मेध्य (पवित्र) भोजन करना चाहिये। शश्वत् का अर्थ है सर्वदा। जहाँ मितमेध्यस्यादंन ऐसा पाठ हो वहाँ चबाने योग्य फल आदि ही खाने चाहिये ऐसा समझना। विविक्त का अर्थ एकान्त और क्षेम का अर्थ है निर्भय ऐसे स्थान में रहना चाहिये। उस तरह के देश में उस को शुद्ध करते हुए सेवन करता हुआ रहे ॥३॥

श्लोक—**अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।**
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—मन, वाणी और शरीर से किसी को न सताये, सत्य बोले, चोरी न करे, आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, पवित्रता से रहे, शास्त्रों का अध्ययन करे और भगवान् की पूजा करे ॥ ४ ॥

सुबोधिनी—अहिंसेति । **अहिंसा** सर्वप्राणिषु कायवाङ्मनोभिर्द्रोहाकरणम् । अयाचितेऽप्यल्पद्रोह इति केचित्; अतो न परिज्ञाते स्थातव्यमिति । **सत्यं** यथार्थभाषणम् । **अस्तेयं** परस्वग्रहणाभावः । यावानर्थो योगं साधयति, तावत एव परिग्रहः । **ब्रह्मचर्यम**ष्टाङ्गम् । **तपः** कृच्छ्रादि । **शौच**मन्तर्बहिः शुद्धिहेतूनां करणम् । **स्वाध्यायो** वेदाध्ययनम् **पुरुषार्चनं** भगवत्पूजा ।४

व्याख्यार्थ—शरीर-वाणी-मन से सब प्राणियों में द्रोह न करने को अहिंसा कहते हैं । यदि मांगे नहीं परन्तु प्रसिद्धि होने से अन्य को छोड़कर उसे ही लोग देते हों तो अन्य लोगों की वृत्ति पर आघात होता है तो यह भी अल्प द्रोह कहा जाता है ऐसा किन्हीं का कहना है अतः जहाँ अपनी प्रसिद्धि हो गई हो ऐसे स्थान पर नहीं रहना । यथार्थ भाषण को सत्य कहते हैं । दूसरे की वस्तु को न लेना अस्तेय है यावदर्थ परिग्रह का अर्थ है जितनी वस्तु से अपना योग (प्रयोजन) सिद्ध हो जाता है उतना ही लेना उससे अधिक न लेना । ब्रह्मचर्य से अष्टाङ्ग ब्रह्मचर्य का ग्रहण है । तप से कृच्छ्रचान्द्रायण आदि । जिन से बाह्य शुद्धि और आन्तर शुद्धि हो उन साधनों के करने को शौच कहते हैं । स्वाध्याय से वेदाध्ययन और पुरुषार्चन से भगवत्पूजा का ग्रहण करना ॥४॥

श्लोक—**मौनं सदासनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः ।**
प्रत्याहार श्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ—मौन, सदा आसन के द्वारा चित्त को अपने वश में करना, धीरे धीरे प्राणायाम के द्वारा श्वास को जीतना, इन्द्रियों को मन के द्वारा विषयों से हटाकर अपने हृदय में लाना ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—मौनं जनैः सह सम्भाषणाभावः, वृथालापपरिवर्जनं च । **सदाऽऽसनस्या**ऽभितो जयः कर्तव्यः; यथा कदाचिदपि चित्तं परवशं न भवति । **स्थैर्य**मेकनिष्ठा, चाञ्चल्याभावः । **शनैः प्राणजयः** प्राणायामादिना । **इन्द्रियाणां** च **विषयेभ्यो व्यावर्तनम्**, बलात् प्रत्याहारः । जयश्च चकारात् । **विषयान्**मोहकात् । मनसा सहेन्द्रियाणाम् । मनो वा करणं प्रत्याहारे । आहृतानां हृदये स्थापनम् । एतदेकम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—मनुष्यों के साथ सम्भाषण न करना अथवा व्यर्थ की बातें न करना मौन है, निरन्तर आसन का सब तरह से जय करना चाहिये जिससे चित्त कदापि पराधीन न हो जाय ।

एक निष्ठा को 'स्थैर्य' कहा है अर्थात् चञ्चलता का अभाव। प्राणायाम आदि के द्वारा धीरे धीरे प्राणों को जीतना। इन्द्रियों को विषयों से हठ पूर्वक निवृत्त करना 'च' से अर्थ है इन्द्रियों का जय करना। विषय मोहक होते हैं अतः मन सहित इन्द्रियों को उनसे हटाना प्रत्याहार है अथवा प्रत्याहार में मन करणभूत है। विषयों से मन के सहित इन्द्रियों को हठात् खींचकर उन्हें हृदय में स्थापित करना यह पूरा एक साधन है ।।५।।

श्लोक—**धिष्ण्यानामेकदेशेन मनसा प्राणधारणम् ।**
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथाऽऽत्मनः ।। ६ ।।

श्लोकार्थ—मूलाधार आदि किसी एक केन्द्र में मन के सहित प्राणों को स्थिर करना, निरन्तर भगवान् की लीलाओं का चिन्तन और चित्त को समाहित करना ।। ६ ।।

सुबोधिनी–धिष्ण्यानां स्थानानां मूलाधारादीनाम्, **एकदेशेन** सर्वधिष्ण्येभ्यः प्राणानाकृष्य क्वचित् हृदयादिस्थाने,**एकदेशेन** मनसा प्राणानां धारणम्। इन्द्रियजयादिष्वपि मनसो योजनम्। प्राणायामादिष्वपि एकदेशे वा; सप्तम्यर्थे तृतीया। **वैकुण्ठस्य** भगवतो **लीलानामभिध्यानम्**। सर्वावस्थासु वैयग्र्याभावोऽन्तःकरणस्य **समाधानम्**। एतानि स्वसिद्धान्ते प्रोक्तानि साधनानि, अन्यानि च मतान्तरसिद्धानि ।।६।।

व्याख्यार्थ—मूलाधार आदि स्थानों के एकदेश से सब स्थानों से प्राणों को खींचकर हृदय आदि किसी स्थान में एक देश से मन के सहित प्राणों को धारण करना, यहाँ मन की योजना इन्द्रिय जय के साथ और प्राणायाम के साथ भी करना अर्थात् मन सहित इन्द्रियों को तथा मन सहित प्राणों को एकदेश में स्थापित करना। एकदेशेन यह सप्तमी के अर्थ में तृतीया ऐसा समझना वैकुण्ठलीलाभि ध्यानं का अर्थ है भगवान् की लीलाओं का निरन्तर चिन्तन करना, सभी अवस्थाओं में व्यग्रता का अभाव ही अन्तःकरण का समाधान है स्वसिद्धान्त में ये साधन कहे गये हैं और मतान्तर में सिद्ध अन्य साधनों का भी यहां उपयोग किया जा सकता है ।।६।।

श्लोक—**एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथे ।**
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ।। ७ ।।

श्लोकार्थ—पूर्वोक्त इन साधनों से तथा व्रत दान आदि अन्य साधनों से भी सावधानी के साथ प्राणों को जीत कर बुद्धि के द्वारा अपने कुमार्गगामी दुष्ट चित्त को धीरे धीरे एकाग्र करे परमात्मा के ध्यान में लगावे ।। ७ ।।

सुबोधिनी–एतैरिति सर्वैरेव **पथिभिमार्गैः**; **असत्पथे** लौकिके मार्गे,**दुष्टं मनो बुद्ध्या युञ्जीत**। असन्मार्गं त्याजयित्वा आत्मनि विवेकवत्या बुद्ध्या योजयेत्। नाऽत्र बलं विधेयम्, अन्यथा मनः कलुषितं स्यात्। अत आह–**शनकैरिति**। जिताश्च प्राणा इन्द्रियाणि च सदा मृग्यन्ते ।७।

व्याख्यार्थ—सभी मार्गों से असत्पथ (लौकिक मार्ग) में प्रवृत्त दुष्ट मन का बुद्धि से योग करे, अर्थात् दुष्ट मन को असत् मार्ग की ओर प्रवृत्त हो रहा है उस मार्ग से हटाकर विवेक वाली बुद्धि से उसे आत्मा में लगा दे। मन का योग करने में बल प्रयोग नहीं करना चाहिये। अन्यथा मन कलुषित हो जायेगा यह शनैः इस पद से सूचित होता है। इस तरह जीते हुए प्राणों का और जीती हुई इन्द्रियों का सदा अन्वेषण होता है ॥७॥

आभास—एवं खण्डशः कृतैः साधनैर्बहुजन्मसिद्धैर्यदा मन इन्द्रियाणि प्राणा देहश्च सिद्धानि भवन्ति, तदा फलपर्यवसायिनि योगे योजयेत्। तदाह—

आभासार्थ - इस तरह खण्डशः किये हुए अनेक जन्मों से सिद्ध साधनों से जब मन, इन्द्रियाँ प्राण और देह सिद्ध होते हैं तब फलपर्यवासयी योग में उन को मुक्त करे उसे कहते हैं—

श्लोक—**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।**
तस्मिन्स्वस्तिकमासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ—पवित्र देश में आसन को बिछाकर पहले आसन को जीते। फिर उस आसन पर शरीर को सीधा और स्थिर रखते हुए सुखपूर्वक बैठकर अभ्यास करे ॥ ८ ॥

सुबोधिनी-शुचौ देश इति। बहुधा आवर्तिताः पूर्वोक्ता एव यमनियमा जाताः। आसनमुच्यते-**शुचौ देश इति**। गङ्गातीरादिदेशे केशकीटास्थ्यादिवर्जिते, **आसनं** चैलाजिनकुशरूपं प्रतिष्ठाप्य,अभ्यासेन **विजितासनो** भवेत्। सर्वाण्येवाऽऽसनानि तत्र शिक्षेत्। यदा भवेद्विजितासनः, तदा तस्मिन्नासने स्वस्तिकासनमासीनः, **ऋजुकायो** भूत्वा, सम्यक् योगमभ्यसेत्। यावन्ति जीवजातानि, तावन्त्येवाऽऽसनानि। तत्र स्वस्तिकं पद्मासनं च श्रेष्ठम्। तत्र स्वस्तिकासने स्थित्वा प्राणस्यार्जवेन गत्यर्थमृजुकायो भूत्वा प्राणायाममभ्यसेत् ॥८॥

व्याख्यार्थ—अनेक प्रकार से अनेक बार पूर्वोक्त यम नियम जब हुए हों तब अब आसन कहा जाता है पवित्र देश में जैसे गंगा आदि के तीर का प्रदेश हो और केश, कीट, अस्ति आदि से रहित स्थान हो वह पृथ्वी पर पहले कुश का आसन बिछाकर उस पर मृगचर्म बिछाए पुनः उस मृगचर्म के ऊपर कपड़े का आसन बिछाकर उस पर बैठकर अभ्यास के द्वारा आसन को जीते। सब आसनों का अभ्यास उसी आसन पर करे जब आसन को जीत लेता है तब उसी आसन पर स्वस्तिकासन से बैठा हुआ शरीर को सीधा रखते हुए ठीक तरह से योग का अभ्यास करे। जितने प्राणी हैं उतने ही आसन हैं। उनमें स्वस्तिक और पद्मासन ही श्रेष्ठ है उसमें स्वस्तिकासन से बैठकर प्राण गति सरलता से हो सके इसके लिये सीधा बैठे और प्राणायाम का अभ्यास करे ॥८॥

श्लोक—**प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।**
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥९॥

श्लोकार्थ—पूरक-कुम्भक और रेचक क्रम से अथवा इसके विपरीत पहले रेचक फिर कुम्भक और तदन्तर पूरक से प्राण के मार्ग को शुद्ध करे जिससे चित्त स्थिर और निश्चल हो जाय ।। ९ ।।

सुबोधिनी–तस्मिन्नेवाभ्यासे **प्राणस्य मार्गं शोधयेत्** । भौतिक्यो नाड्यो मलादिना आपूरितास्तिष्ठन्ति, ताः **पूरककुम्भकरेचकं** शोधयेत् । तत्र वायुं पूरयित्वा, संस्तभ्य, कुम्भकेन नाडीः शोषयित्वा, पक्वा विधाय, ततो मलं वायुं च रेचयेत् । एवं पुनः पुनः पूरणादिना प्राणस्य मार्गं शोधयेत् । प्राणायामभेदैर्वा कुम्भकादिभिः शोधयेत् । **प्रतिकूलेन वा** शोधयेद्रेचकपूरककुम्भकैः । किं बहुना यथैव चित्तं चाञ्चल्यं परित्यज्य स्थिरं भवेत्, तथा प्राणस्य मार्गं शोधयेत् । प्राणायामादिभिरेव शोधनम्, न प्रकारान्तरेण कर्तव्यम् । अविहितत्वान्न तैश्चित्तं शुद्धं भवति ।।९।।

व्याख्यार्थ—उसी अभ्यास में प्राण के मार्ग को शुद्ध करे । भौतिक नाड़ियाँ मल आदि से भरी रहती हैं उन्हे पूरक कुम्भक और रेचक के द्वारा शुद्ध करे । पहले उनमें वायु भरकर फिर स्तम्भित करके कुम्भक से नाड़ी को सुखाकर पक्व करके बाद में मल और वायु दोनों का रेचन करें । इस तरह बार-बार पूरक आदि के द्वारा मार्ग को शोधे अथवा प्राणायाम के भेद कुम्भक आदि से मार्ग को शुद्ध करे । यहाँ रेचक-पूरक और कुम्भक इस प्रतिकूल प्रक्रिया के द्वारा भौतिक नाड़ियों को शुद्ध करे । अधिक क्या कहा जाय जिस तरह से चित्त अपनी चञ्चलता का परित्याग करके स्थिर हो जाय उस तरह से प्राण के मार्ग को शुद्ध करे । प्राण मार्ग का शोधन प्राणायाम आदि से ही करना अन्य प्रकार से न करना । क्योंकि शुद्धि का अन्य प्रकार (मूत्रपान आदि) वैध न होने से उससे चित्त शुद्ध नहीं होता ।।९।।

श्लोक—**मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जित श्वासस्य योगिनः ।**
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ।।१०।।

श्लोकार्थ—जिस तरह वायु और अग्नि से तपाया हुआ सोना अपने मल को त्याग देता है उसी तरह प्राणवायु को जीत लेने वाले योगी का मन शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है ।।१०।।

सुबोधिनी–एवं कृते **योगिनो मनो जितश्वासस्य विरजं** भवेदचिरात् । ननु प्राणायामेन कथं मनसः शुद्धिः ? तत्र दृष्टान्तेनाऽऽह–**वाय्वग्निभ्यामिति** । यथा **लोहं** सुवर्णादिकं **वाय्वग्निभ्यां ध्मातं मलं त्यजति,** तथा प्राणायामैः, तज्जनितधर्मेण च दृष्टादृष्टोपायैर्मनो मलं त्यजति ।।१०।।

व्याख्यार्थ—ऐसा करने से योगी का मन जिसने प्राण वायु को जीत लिया है । उसका मन शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है । यदि शंका हो कि प्राणायाम से मन की शुद्धि कैसे होती है तो उसके लिये दृष्टान्त देते हैं । जैसे सुवर्णादिक धातु वायु और अग्नि से धमे जाने पर अपने मल का परि-

त्याग कर देते हैं उसी तरह प्राणायाम से मन की शुद्धि हो जाती है । प्राणायाम जनित धर्म से दृष्टादृष्ट उपायों से मन मल का परित्याग कर देता है ।।१०।।

आभास—सर्वदोषाणां निवृत्तिप्रकारानाह—

आभासार्थ—सब दोषों की निवृत्ति के प्रकारों को कहते हैं—

श्लोक—**प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्चकिल्बिषान् ।**
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनाऽनीश्वरान् गुणान् ।।११।।

श्लोकार्थ—योगी प्राणायामों से पापों को अथवा वातपित्तादि जनित दोषों को और धारणा से पापों को, प्रत्याहार से विषयों के सम्बन्ध को और ध्यान से संसारी बनाने वाले अज्ञान आदि को जला दे ।।११।।

सुबोधिनी—**प्राणायामैरिति** । **दोषाः** पपानि प्राणायामैर्दूरीकर्तव्यानि, वातादिजनितदोषान्वा । **धारणाभिर्भगवन्मूर्तिचिन्तनैः, किल्बिषान्** वासनासहितमहापातकादीन् **दहेत्** । **प्रत्याहारेण** इन्द्रियाणां संसर्गजनितान् दोषान् दहेत् । ध्यानेन पुन**रनीश्वरान्** संसारित्वापादकान् आज्ञानादीत् दहेत् । तत्र ये संसारदशायां गुणा ब्राह्मणशरीरापादकान्यपि कर्माणि भगवद्ध्यानं दहति ।।११।

व्याख्यार्थ—प्राणायामों से पापों को अथवा वातपित्त आदि से उत्पन्न होने वाले दोषों को तथा भगवन्मूर्ति चिन्तन रूप धारणाओं से वासना सहित महापातक आदि पापों को जला दे । इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले दोषों को प्रत्याहार से जला दे और ध्यान से संसारित्व के आपादक अज्ञान आदि को जला दे । संसार दशा में जो गुण हैं जिनके द्वारा ब्राह्मण आदि शरीर प्राप्त होता है वे कर्म भी भगवान् के ध्यान को समाप्त कर देते हैं ।।११।।

श्लोक—**यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।**
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः ।।१२।।

श्लोकार्थ—जब योग के अभ्यास से मन निर्मल और एकाग्र हो जाता है तब अपनी नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाकर भगवान् की मूर्ति का ध्यान करे ।।१२।।

सुबोधिनी—एवं कृते **यदैव स्व मनो विरजं** भवति, योगेन च सुष्ठु समाहितं भवति, तदा **भगवतः काष्ठां** वैकुण्ठम्, हृदयं वा हृदये वैकुण्ठं वा, स्वनासाऽग्रे निरीक्षणं यस्य तादृशो भूत्वा ध्यायेत् अन्यथा दृष्टिश्चञ्चला मनसो व्यासङ्गमुत्पादयेत्, मीलिता निद्राम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—इस तरह योग के अभ्यास मे जब अपना मन निर्मल हो जाता है और योग से वह ठीक तरह से एकाग्र हो जाता है तब भगवान् की काष्ठा का ध्यान करें यहाँ काष्ठा से वैकुण्ठ अथवा हृदय या हृदय में वैकुण्ठ लिया गया है इन का अपनी नाक के अग्रभाग में दृष्टि लगाकर

ध्यान करे। यदि ऐसा न किया गया तो दृष्टि चञ्चल है वह मन को विक्षिप्त कर देती है यदि आँखों को बिलकुल बन्द कर दिया जाय तो नींद आने लगेगी इसलिये सर्वथा बन्द न कर अपनी नाक के अग्रभाग को देखता रहे ।।१२।।

आभास—तत्र भगवन्तं ध्यायेदिति वक्ष्यति । को भगवानित्याकाङ्क्षायां पुरुषोत्तमस्यैतद्रूपमिति, मनसा तद्रूपं परिकल्प्य, निरन्तरं चिन्तनीयमिति तद्रूपं कल्पनार्थमनुवर्णयति–**प्रसन्नवदनाम्भोजमिति**–षड्भिः, षड्गुणत्वाद्भगवतः—

आभासार्थ—मन में भगवान् का ध्यान करना चाहिये ऐसा आगे कहेंगे वह भगवान् कौन है ऐसी आकांक्षा हो तो उसके लिये कहा है कि पुरुषोत्तम का ही वह रूप है। मन से उस रूप की कल्पना करके निरन्तर चिन्तन करना उस रूप कल्पना का वर्णन करते हैं। भगवान् के छः गुण हैं इसलिये छ श्लोकों से उसका वर्णन है—

श्लोक—**प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।**
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ।।१३।।
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—भगवान् का मुख कमल आनन्द से प्रफुल्ल है नेत्र कमल गर्भ में स्थित पत्रवत् अरुण है श्री अङ्ग नील कमल पत्रवत् श्याम है, हाथों में शङ्ख-चक्र-गदा को धारण किये हैं। कमल की केसर के समान पीत रेशमी वस्त्र शोभित हो रहा है, वक्षः स्थल में श्री वत्स का चिह्न है गले में कौस्तुभमणि विराजमान है।१३-१४।

सुबोधिनी–प्रसन्नं वदनाम्भोजं यस्य। **प्रसादो** वरदानार्थः। **अम्भोजत्वं** दृष्टचैव सन्तोषजननार्थम्, सध्वर्थं च। पद्मस्य गर्भे स्थितपत्रवदरुणवर्णे ईक्षणे यस्य। तत्राऽपि प्रसादो दोषदूरीकरणं योगसिद्धिश्च सूचिता। नीलोत्पलानां दलवत् श्यामम्। सौन्दर्यशुद्धी, उग्रत्वाद्यभावः, शृङ्गाररसरूपता च सूचिता। **शङ्खचक्रगदाधरमि**त्यप्तेजोवायूनां शुद्धिदोषाभावार्थं शङ्खचक्रगदानां धारणम्, **लसन्ति पङ्कजकिञ्जल्कानीव**, प्रान्ते मुक्ताफलगुम्फितमन्ते आरक्तं परिधानयोग्यार्थं केसराकारेण कृतं यत्पीताम्बरम्; तदपि कौशेयं पट्टप्रकृतिकं सर्वदैवत्यं वासो यस्य। भगवान् त्रिभुवनसारभूतः, तस्य छन्दोमयं गूढरसाच्छादकम्, मुक्तान् रजोगुणम्, सत्त्वभेदांश्च गृहीत्वा स्थितपीताम्बरयुक्तम्। श्रीवत्सं वक्षसि यस्य। यो ब्रह्मानन्दः स हृदये प्रकाशते। भ्राजत्कौस्तुभेनामुक्ता कन्धरा यस्य। मुक्तान् भक्तान् जीवान् अतिप्रियत्वेन कण्ठस्थान् करोति ।।१३–१४।।

व्याख्यार्थ—प्रसन्न है मुखकमल जिसका यहाँ प्रसन्नता वर देने के लिये है। मुख को कमल इसलिये बताया है कि इसकी दृष्टि से ही लोगों को सन्तोष हो जाता है और उसमें मधुरता भी है। कमल के गर्भ में स्थित पत्र की तरह अरुण (लाल) वर्ण के है नैत्र जिनके उसमें भी प्रसन्नता

दोष को दूर करना और योग की सिद्धि ये सब सूचित होते हैं। नील कमल के पत्र की तरह श्याम होने से सौन्दर्य की शुद्धि, उग्रता आदि का अभाव और शृङ्गार रसरूपता सूचित होते हैं। शङ्ख-चक्र और गदा का धारण जल तेज और वायु की शुद्धि और दोष के अभाव के लिये है। शोभित जो कमल की केसरा उनकी तरह प्रान्त में तो मोती गुथे हुए हैं और अन्त में आरक्त परिधान (पहरने) के योग्य किया गया केसराकार से पीताम्बर जिनका, वह पीताम्बर भी रेशमी है, सर्वदेवमय है। भगवान् त्रिभुवन के सारभूत हैं उनका छन्दोमयवस्त्र गूढ रस का आच्छादक है। रजोगुण से मुक्त और सत्वभेदों को ग्रहण करके स्थित पीताम्बर से युक्त। श्री वत्स है वक्ष: स्थल में जिनके क्योंकि जो ब्रह्मानन्द है वह हृदय में प्रकाशित होता है। चमकती हुई कौस्तुभ मणि से आमुक्त है कन्धरा जिनकी अर्थात् कोस्तुभमणि को आपने गले में धारण कर रक्खी है। आमुक्त-कन्धरम् ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि जो मुक्त भक्तजीव हैं उनको भगवान् अपने कण्ठस्थ कर लेते हैं ॥१३-१४॥

श्लोक—**मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।**
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥१५॥
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्द्धनम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—मस्त भँवरों की पंक्ति से व्याप्त वनमाला जिनके चरणों तक शोभित हो रही है बहुमूल्य हार कंकण, किरीट, बाजूबन्द और नूपुर जिनके अङ्गों में विराज मान है। जिनकी कमर करधनी की लड़ियों से सुशोभित हैं, भक्तों का हृदय कमल ही जिनका आसन है, मन और नेत्रों को आनन्दित करने वाला दर्शनीय शान्त ऐसा स्वरूप है ॥१५-१६॥

सुबोधिनी—मत्ता ये **द्विरेफा** भ्रमरा:, तेषां **कला** पंक्तिर्यत्र, तादृश्या **वनमालया परीतं** व्याप्तम्। षट्दर्शनीपारं गतैः निरन्तरं स्तुतया कीर्त्या व्याप्तम्। **परार्ध्यान्यमूल्यानि हारवलयकिरीटाङ्गदनूपुराणि** यस्य। परार्ध्यानि भगवतः संवन्धीनि पञ्च भवन्ति—भगवद्भक्ता:, भगवदर्थक्लेश:, भगवदीयं ज्ञानम्, भक्तिः, गतिश्चेति। काञ्चीगुणेन उल्लसन्ती श्रोणिर्यस्य। पृथिव्यां शोधनाभ्यां सत्वरजस्तमोगुणा:, संसार: सुप्रसिद्धो भवति। स्वस्य **हृदयाम्भोजमेव विष्टरं** स्थानं यस्य। अनेन सर्वप्राणिषु विद्यमानो भगवान् ध्येयः, तत्वधिष्टानादिषु परिच्छिन्नः। **दर्शनीयतमम**तिसुन्दरं सर्वप्रापञ्चिकरसविस्मारकम्। **शान्तं** कामादिसर्वदोषनाशकं ज्ञानमयम्। **मनोनयन**योर्वर्द्धनं यस्मात्। सकृच्चेत् भावयति मनः पश्यति वा, पुनर्भावनामेवोत्पादयति, दिदृक्षां च। अनेन विषयबलादपि प्रत्याहार: साधितः। योगज्ञानयोश्च वृद्धि ॥१५-१६॥

व्याख्यार्थ—मस्त भंवरों की कला (पंक्ति) जिसमें है ऐसी वनमाला से व्याप्त हैं षड्दर्शन के पारगामी महानुभावों से स्तुति की गई कीर्ति से निरन्तर व्याप्त है। परार्ध्य (अमूल्य) जिसका कोई मूल्य न कर सके ऐसे हार, कंकण, किरीट (मुकट) और भुजबन्ध नूपुर है जिनके। भगवान्

के परार्ध्य सम्बन्धी पाँच है भगवान् के भक्त, भगवान् के लिये क्लेश सहना, भगवदीयों की पहचान होना, भगवद्भक्ति और गति । करधनी की लड़ियों से शोभायमान है कमर जिनकी पृथ्वी पर स्त्री और धन से सत्व रज और तमोगुण संसार का होना प्रसिद्ध है । अपना हृदय कमल ही निवास स्थान है जिनका । इससे सिद्ध होता है कि सब प्राणियों में विद्यमान भगवान् ध्यान करने योग्य हैं । भगवान् किसी अधिष्ठान में परिच्छिन्न (नपे तुले) नहीं हैं । दर्शनीय का अर्थ है अति सुन्दर भगवान् की सुन्दरता के दर्शन से जगत् की सुन्दरता को लोग भूल जाते हैं । काम आदि सर्व दोषों का नाशक और ज्ञानमय ही शान्त कहा जाता है । मन और नेत्रों की वृद्धि जिस से होती है एक बार मन अपने अन्दर भगवान् के दर्शनीय रूप की भावना कर लेता है अथवा नेत्र देख लेते हैं तो उनमें पुनः भावना अथवा देखने की इच्छा होती है इससे विषय बल से भी प्रत्याहार का साधन है और योग तथा ज्ञान की वृद्धि है ।।१५–१६।।

श्लोक—**अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।**
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ।।१७।।
कीर्तन्यतीर्थयचसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ।।१८।।

श्लोकार्थ—उनकी अति सुन्दर किशोर अवस्था है । वे भक्तों पर कृपा करने के लिये आतुर रहते हैं । जो अत्यन्त दर्शनीय एवं सर्वलोक के नमस्करणीय हैं । उनका पवित्र यश कीर्त्तनीय है वे भक्तों के यश को बढाने वाले हैं ऐसे भगवान् के सम्पूर्ण अङ्गों का तब तक ध्यान करें जब तक चित्त वहाँ से हटे नहीं ।।१७–१८।।

सुबोधिनी—अपीच्यं सुन्दरं **दर्शनं** यस्य । स्त्रीणामपि स्वासक्त्या मोक्षदायी । दर्शनेनैव परमानन्दजनकं च । भगवदनुभव आनन्दाविनाभूत इति च सूचितम् । **शश्वदिति** वयोवृद्धत्वादिना कदाचिदप्यन्यथा दर्शनं निवारितम् । **सर्वलोकनमस्कृतं** सर्वप्रमाणसिद्धम् । सर्वरूपं च । **कैशोरे वयसि सन्तमिति** । दशमवर्षमारभ्य षोडशवर्षपर्यन्तं किशोरावस्था । रसप्रादुर्भावस्तावद्दूरे । अग्रे लावण्यस्य ह्रासः । अनेन देवोत्तमत्वमुक्तम् । भृत्येष्वनुग्रहार्थं **कातरं** व्यग्रम् । फलदानावश्यकत्वं सूचितम् । कीर्तनीयं तीर्थरूपं यशो यस्य । भगवानतिकृपालुः; यतः स्वस्य कीर्ति कीर्तनीयां तीर्थरूपां च कृतवान् । लोके सन्ति तीर्थानि पापनिवर्तकानि, न तु तेषां सम्बन्ध आवश्यकः । उक्तिविशेषवाक्यानि कीर्तनीयानि भवन्ति । सर्वोऽपि रसाविष्टः कीर्तयति । सर्वपापनाशकं सर्वफलदातृ चेन्नित्यसम्बद्धं भवेत्, सर्वोऽपि कृतार्थः स्यात्; तादृशी च कीर्तिः । किञ्च, स्वकीयानामपि तादृशीं कीर्ति सम्पादयतीत्याह—**पुण्यश्लोकयशस्करमिति** । पुण्याः श्लोकाः कीर्तिर्येषां भक्तानाम्, तेषामपि स्वसमानतां सम्पादयतीति यशस्करः । **एवं विंशतिधर्मात्मा ध्येयो हरिरिहोदितः** । एकविंशो हि पुरुषः; विंशत्यङ्गुलयः, आत्मैकविंश इति । एते ध्येया धर्मा विंशतिः, स्वयं भगवानेकविंशः । एवमेतादृशं भगवन्तं निरूप्य तत्र कर्तव्यमाह—**ध्यायेद्देवमिति** । एवं **समग्राङ्गं** सर्वावयवपूर्णं ध्यायेत् । यावन्मनः एकमप्यवयवं न त्यजति, सम्पूर्णमेव रूपं स्फुरति, तावदेव ध्यायेदित्याह—**यावन्न च्यवते मन इति** । यावत् सम्पूर्णादङ्गात् न च्यवते, नाऽपगच्छति । मनस्तु चञ्चलं नैकत्र स्थिरमिति तथोक्तम्, अन्यथा मुख्ययोगे सर्वदैव स्थिरं भवेत् ।१७-१८।

व्याख्यार्थ—अपीच्य (सुन्दर) है दर्शन जिसके स्त्रियां भी यदि भगवान् में आसक्त हो जाय तो उन्हें भी मुक्ति देने वाले हैं। भगवान् का स्वरूप दर्शन से ही परमानन्द को देने वाला है। इससे ऐसा सूचित होता है कि भगवान् का अनुभव आनन्द के बिना रहता ही नहीं। भगवान् का दर्शन सर्वदा ही सुन्दर है इससे वृद्धा आदि के कारण कभी वह असुन्दर नहीं होता। अर्थात् जैसे कोई पुरुष बहुत ही सुन्दर हो किन्तु जब वह वृद्ध हो जाय या रुग्ण (बीमार) हो जाय तो उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है भगवान् की सुन्दरता में ऐसा नहीं है वह सुन्दरता तो शाश्वतिक (नित्य) है। सब प्रमाणों से सिद्ध होता है वह ही सर्वलोक नमस्कृत होता है सर्वरूप भी सर्वलोक नमस्कृत होता है। कैशोर अवस्था दस वर्ष से लेकर सोलह वर्ष तक होती है। इससे अधिक अवस्था में रस प्रादुर्भाव की बात तो दूर रही आगे तो लावण्य की भी कमी हो जाती हैं। इससे भगवान् में देवोत्तमता बताई है। अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये भगवान् अत्यन्त उतावले रहते है, इससे भगवान् फलदान अवश्य करते हैं ऐसा सूचित होता है। कीर्त्तनीय तीर्थरूप है यश जिसका। भगवान् अत्यन्त दयालु हैं क्योंकि कीर्त्तनीय अपनी कीर्ति को तीर्थरूप करदी है। लोक में पापों को दूर करने वाले अनेक तीर्थ हैं परन्तु तीर्थों का सम्बन्ध आवश्यक नहीं है। जिनमें उक्ति विशेष होती है ऐसे वाक्य ही कीर्त्तनीय होते हैं सब लोग रस में अविष्ट होकर कीर्त्तन करते हैं। सब पापों का नाश करने वाला और सब फलों को देने वाला यदि होता है तो वह नित्य सम्बद्ध होता है उससे सब कृतार्थ होते हैं ऐसी तो कीर्ति ही है तीर्थ नहीं है। भगवान् की कीर्ति इस तरह से हो, ऐसी बात नहीं है भगवान् अपने भक्तों की कीर्ति को भी ऐसी ही बना देते हैं उसे पुण्य श्लोक यशस्करम् से कहा है। पुण्य है श्लोक (कीर्ति) जिन्हों की ऐसे भक्तों को भी भगवान् अपने समान बना देते हैं इसलिये यशस्करः ऐसा कहा। इस तरह बीस धर्म है आत्मा जिनकी, ऐसे भगवान् यहाँ ध्येय बताये हैं। इकवीसवां पुरुष है बीस अंगुलियां हैं आत्मा इकवीसवां है, ये ध्यान करने योग्य धर्म बीस हैं स्वयं भगवान् इकवीसवें हैं। इस तरह ऐसे भगवान् का निरूपण करके उनके लिये क्या करना उसे बताते हैं ध्यायेवं सब अवयवों से पूर्ण उस देव का ध्यान करना चाहिये। ध्यान भी तब तक करना जब तक मन एक भी अवयव को नहीं छोड़ता तथा जब तक सम्पूर्ण रूप की स्फूर्ति होती रहे तब तक ध्यान करे 'यावन्नच्यवते मनः' का तात्पर्य यह है कि जब तक मन सम्पूर्ण अङ्ग से हटता नहीं तब तक। मन तो चञ्चल है वह एक जगह स्थिर नहीं रह सकता इसलिये ऐसा कहा है यदि मन में स्थिरता होती तो मुख्य के साथ उसका योग होने पर सर्वदा स्थिर हो जाता ॥१७-१८॥

आभास—अवस्थासु विकल्पमाह—

आभासार्थ—अलग अलग अवस्थाओं में अलग अलग रीति से ध्यान करे इसे कहते हैं—

श्लोक—**स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।**
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥१९॥

श्लोकार्थ—खड़े हुए, चलते हुए, बैठे हुए, पौढे हुए अन्तर्यामी रूप से स्थित एवं दर्शनीय लीलाओं से युक्त भगवान् का शुद्ध भाव वाले चित्त से ध्यान करे ॥१९॥

सुबोधिनी–स्थितमिति । स्थितमुत्थितं वा ध्यायेत्; व्रजन्तं वा; **आसीनमुपविष्टम्**; शयानं वा । चतुर्विधोऽपि **गुहाशय** एव, स्वहृदय एव । सर्वतो विलोकनार्थमुत्थितः, कार्यकरणार्थं चलति, पूजां गृह्णन्नुपविशति, कृतकार्यश्च शेते । **किञ्च, प्रेक्षणीयेहितो** भगवान् ध्येयः । प्रेक्षणीयमीहितं यस्य । चेष्टाऽपि भगवानिव प्रेक्षणीया । तेन भगवतः क्रीडा; बालैर्गोभिर्गोपालैर्गोपिकाभिरन्यैश्च नानाविधाः क्रीडाः, अपि ध्येया इत्युक्तम् । तत्र क्रीडासु तत्तद्रागेण स्वकामादिनाऽपि ध्यानं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह–**शुद्धभावेन चेतसेति** । शुद्धो भावो यस्य चेतसः, सर्वकामनादिदोषरहितेन । एषा हि धारणा निरूपिता ।।१९।

व्याख्यार्थ—खड़े हुए का, चलते हुए का, बैठे हुए का, और सोये हुए का चारों प्रकारों को अपने हृदय में ध्यान करना चाहिये । भगवान् सब को देखने के लिये खड़े होते हैं, कार्य करने के लिये चलते हैं, पूजा को ग्रहण करने के लिये बैठते हैं और कार्य करने के अनन्तर सो जाते हैं । और भी दर्शनीय है चेष्टा जिनकी, ऐसे भगवान् का ध्यान करना चाहिये । भगवान् की चेष्टा भी भगवान् की तरह ही दर्शनीय है ।ईहित से भगवान् की क्रीडा (लीला) भी ली जाती है बच्चों के साथ, गायों के साथ, गोपालों के साथ तथा गोपियों के साथ एवं अन्यों के साथ अनेक प्रकार की क्रीडाएं (लीलाएँ) भी ध्यान करने योग्य हैं यह भी इससे कहा गया है । क्रीड़ाओं में अपनी रुचि के अनुसार राग से, काम आदि से ध्यान हो सकता है किन्तु वह ध्यान उचित नहीं है इसके लिये 'शुद्ध भावेन चेतसा' ऐसा कहा शुद्ध है भाव जिस चित्त का ऐसे चित्त से भगवान् का ध्यान करना चाहिये अर्थात् सबद्ध कामना आदि दोष से रहित चित्त से ध्यान करे इससे धारणा का निरूपण किया गया ।।१९।।

आभास—एकैकावयवस्य रसं ज्ञातुं ध्यानं निरूपयति—

आभासार्थ—एक एक अवयव के रस को जानने के लिये ध्यान का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।**
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ।।२०।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवान् के श्री विग्रह में चित्त की स्थिति हो गई है तब वह उनके समस्त अङ्गों में लगे हुए चित्त को विशेष रूप से एक एक अङ्ग में लगावें ।।२०।।

सुबोधिनी–तस्मिँल्लब्धपदमिति । तस्मिन् सम्पूर्णे, लब्धपदम्, तत्र स्थिरीभूतं **चित्तं** सर्वावयवेषु सुप्रतिष्ठितं **विलक्ष्य** ज्ञात्वा, व्यतिरेकतया वा लक्षयित्वा, **भगवतः** किञ्चिन्न्यूनं ज्ञात्वा एकस्मिन्नेवाऽङ्गे संयुज्यात् । यतोऽयं **मुनिः**, युक्त्यैव पदार्थान् स्थिरीकृत्य ध्यायति । अतोऽत्राऽप्येकैकस्यावयवस्य माहात्म्यं ज्ञात्वाज्ञात्वा सर्वज्ञानं करिष्यतीति भावः । तदेकमेकमङ्गं निरूपयति त्रयोदशभिः, मतान्तरत्वात् संवत्सरात्मकः स इति ।।२०।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के सम्पूर्ण श्री विग्रह में स्थिरी भूत चित्त को भगवान् के सब अवयवों में सुप्रतिष्ठित जानकर अथवा इस के विपरित लक्षित करके भगवान् से इसमें कुछ कमी है

ऐसा जानकर एक एक अङ्ग में मन को लगावे। क्योंकि यह चित्त मुनि है मुनि युक्ति से ही पदार्थों को स्थिर करके उनका ध्यान करता है। इसलिए यहाँ भी एक एक अवयव का माहात्म्य जान जान कर सर्वज्ञान करेगा ऐसा भाव है। इसलिये तेरह श्लोकों से एक एक अङ्ग का निरूपण करते हैं। किन्हीं का मत ऐसा है तेरह श्लोकों से वर्णन करने का तात्पर्य यह है कि चित्त के शोधन का उपाय कालात्मक है वह संवत्सररूप है और उनमें तेरह मास होते हैं इसलिये इन तेरह श्लोकों से उसका वर्णन है। परन्तु भक्ति मार्ग में तो भगवान् ही फलभूत हैं इसलिये समग्र ही भगवान् ध्येय है ॥२०॥

आभास—अतिक्रमस्य वक्तव्यत्वात्तत्र प्रथमं चरणारविन्दं तद्गुणाविष्कारेण वर्णयति-द्वाभ्याम्, स्वतः कार्यतश्च माहात्म्यप्रतिपादनेन। तत्र प्रथमं स्वतो माहात्म्यमाह—

आभासार्थ - अतिक्रम यहाँ कहा गया है अतः पहले चरणारविन्द का वर्णन उनके गुणों के वर्णन से दो श्लोकों से करते हैं। स्वतः माहात्म्य प्रतिपादन के द्वारा और कार्य से माहात्म्य प्रतिपादन के द्वारा उनमें पहले स्वतः माहात्म्य प्रतिपादन के द्वारा वर्णन करते हैं—

श्लोक—**सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।**
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चरणारविन्द का ध्यान करना चाहिये। वे चरणारविन्द वज्र अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त हैं तथा ऊपर की ओर उठे हुए लाल लाल शोभायमान नख चन्द्र मण्डल की चन्द्रिका से ध्यान करने वाले महत् पुरुषों के हृदय के अन्धकार को दूर कर देते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—सञ्चिन्तयेदिति भगवतश्चरणारविन्दं सम्यक् चिन्तयेत्। **सम्यक्त्वं** दीर्घकालादरनैरन्तर्यम्, माहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वं च। चरणो भक्तिप्रतिपादकः, **अरविन्द** सर्वतापनाशकम्। **वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्**। चिह्नचतुष्टयेनाढ्यं सम्पन्नम्। भक्तानां पापपर्वतपक्षछेदनार्थं **वज्रः**, भक्तानां मनोगजवशीकरणार्थमङ्कुशम्; अत्र स्थितानां सर्वभयनाशनज्ञापनार्थं **ध्वजः**; सुखसेवार्थं चाम्बुजम्। एतानि लाच्छनानि चिह्नानि चतुर्विधपुरुषार्थज्ञापकानि। एतादृशान्यनन्तानि चिह्नानि सन्तीति आढ्यता ज्ञापयति। अनेन भजनीया गुणा उक्ताः फलदातारः। दोषनिवर्त्तकानाह-**उत्तुङ्गेति**। उत्तुङ्गानि रक्तानि यानि विलसन्ति नखानि, तेषां **चक्रवालं** मण्डलम्; तस्य ज्योत्स्नाभिराहतो महतां हृदयान्धकारो येन। बहिःस्थितेन प्रकाशेन नाऽन्तःस्थितोऽन्धकारोऽपगच्छति। महतां चाहङ्काराधिक्यम्; तत्रत्यश्चान्धकारः अवश्यंदूरीकर्तव्यः। स च नैकेन चन्द्रमसा भवति, सौरश्च प्रकाशस्तापजनकः; तेन दशनखात्मकाश्चन्द्रा दशावस्थासु सर्वदोषनिवारकाः। **उत्तुङ्गा** ऊर्द्धतुङ्गाः, अतितुङ्गेऽप्यहङ्कारे विद्यमानमज्ञानं नाशयन्ति। **रक्ता** स्तदर्थमेवोद्यन्तः, उद्यन्तश्चारक्ता भवन्ति। विलासयुक्तत्वात् नियतमप्यावरणं दूरीकुर्वन्ति; यथा कामिन्यावरणं कामुकः स एव विलासः। चन्द्रा भवन्ति; परं नखाः, न विद्यते खम्, शं

येषाम् । एक एव चन्द्र आकाशे भासते, एते तु नाऽऽकाशसम्बन्धिनः । एतेषां चक्रमायुधवालममृतपोषकम्; न तु केवलमन्धकारमेव नाशयति । वममृतमलं यत्रेति वा कलङ्करहितम् । **ज्योत्स्ना**-**भिरिति**।बहुवचनं ननाविधान्धकारनिवृत्त्यर्थम्; अनेन स्वत आनन्दरूपता, अज्ञाननिवृत्त्या च आनन्ददायकत्वं निरूपितम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के चरणारविन्द का चिन्तन सम्यक् रूप से करना चाहिये । 'संचिन्तयेत्' में 'सं' का अर्थ है सम्यक् उसकी सम्यकता तभी हो सकती है कि दीर्घकाल तक आदर के साथ निरन्तर और वह भी माहत्म्यज्ञान पूर्वक किया जाय । चरण भक्ति का प्रतिपादक है, अरविन्द सब प्रकार के ताप का नाश करने वाला है । भगवान् का चरणारविन्द वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल इन चार चिन्हों से सम्पन्न है । वज्र का चिन्ह भक्तों के पाप रूप पर्वतों के पक्षों को काटने वाला है, अंकुश भक्तों के मन रूप हाथी को वश में करने के लिये है, ध्वज भगवान् के चरणारविन्द का आश्रय लेने वाले के सब प्रकार के भय नष्ट हो जाते हैं यह बताता है, भगवान् की सेवा बहुत सरल है यह कमल से जाना जाता है । ये चार चिन्ह धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थ को देने वाले हैं । केवल ये चार ही चिन्ह नहीं हैं किन्तु इस तरह के अनन्त चिन्ह आपके चरणारविन्द में हैं इसको बताने के लिये 'आढच' पद दिया है । इससे फल को देने वाले भजनीय गुण कहे गये । अब दोषों को दूर करने वाले गुणों को कहते हैं । ऊपर की ओर उठे हुए लाल रङ्ग से शोभित नख चन्द्रों का मण्डल है उसकी चन्द्रिकाओं से नष्ट हो गया है भक्तों के हृदयों का अन्धकार जिस से । बाहर होने वाले प्रकाश से अन्दर का अन्धकार दूर नहीं होता है । महापुरुषों के हृदय में अधिक अंहकार है इसलिये वहाँ का अन्धकार अवश्य दूर करना चाहिये । वह अन्धकार एक चन्द्र से दूर नहीं हो सकता और सूर्य का प्रकाश तो तापजनक है इसलिये दस नख रूप दस चन्द्रमा दस अवस्थाओं में सब दोषों का निवारण करने वाले हैं । उतुंग का अर्थ है ऊपर की ओर ऊंचे वे ऊपर की ओर ऊंचे इसलिये है कि अत्यन्त उत्कट कोटि में पहुँचे हुए अंहकार में रहने वाले अज्ञान को नष्ट कर देते हैं । और नख रक्त इसलिये है कि उस अज्ञान को दूर करने के लिये ही उनका उदय है और जो उदय को प्राप्त होते हैं वे लाल होते हैं । उदय भी विलास युक्त है इसलिये उस अज्ञान में जो नियत भी आवरण है उसे भी दूर कर देते हैं । जैसे कामिनी के आवरण को कामुक दूर कर देता है उसी को तो विलास कहते हैं । चन्द्र अन्धकार को दूर कर सकते हैं परन्तु ये नख है नख का अर्थ है 'न' 'ख' (आकाश) जिन के नहीं हैं । वे 'नख' कहे जाते हैं अर्थात् जिनका आकाश में उदय नहीं है । आकाश में तो एक ही चन्द्रमा दिखाई देता है । ये तो आकाश सम्बन्धी नहीं हैं । इन नखचन्द्रों का चक्र(आयुध)वाल (अमृत)पोषक है । आकाशस्थ चन्द्र तो केवल अन्धकार को ही नष्ट करता है किन्तु ये नख तो अमृत के पोषक भी हैं । अथवा वालम् का दूसरा अर्थ यह भी है कि वम् (अमृत) है अलम् (अत्यधिक) जिसमें उसे वालम् कहते हैं अर्थात् ये नख कलंक रहित है चन्द्रमा तो सकलङ्क है । ज्योत्स्नाभिः ऐसा बहुवचन इसलिये दिया है कि इन चन्द्रिकाओं से अनेक प्रकार के अन्धकारों की निवृत्ति होती है उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि भगवान् के नखों में स्वतः आनन्दरूपता है और अज्ञान की निवृत्ति करने से आनन्ददायकता भी है ।।२१।।

आभास—एवं स्वरूपोत्कर्षमुक्त्वा कार्यत उत्कर्षमाह—

आभासार्थ-इस तरह चरणारविन्द का स्वरूपोत्कर्ष बताया अब कार्य के द्वारा उसका उत्कर्ष कहते हैं—

श्लोक—**यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।**
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—इन्हीं चरणों के धोने से जल से नदियों में श्रेष्ठ श्री गङ्गाजी प्रकट हुई थी जिनके पवित्र जल को मस्तक पर धारण करने से स्वयं मङ्गलरूप शिव और भी अधिक मङ्गलमय हो गये । ये चरणारविन्द अपना ध्यान करने वालों के पापरूप पर्वतों पर छोड़े हुए इन्द्र के वज्र के समान है । भगवान् के इन चरण कमलों का चिरकाल तक चिन्तन करे ॥२२॥

सुबोधिनी—यच्छौचेति । भगवतश्चरणे पदार्थद्वयं परममाहात्म्यसूचकमस्ति—गङ्गा, भक्तिरसश्चेति । तत्र गङ्गाया माहात्म्यं प्रायश्चित्तानधिकृतानपि सर्वपूज्यान् करोति । तदाह—ययोश्चरणयोः **शौचे** प्रक्षालने सति निःसृतम्, यज्जलम् तत् सरित्प्रवरा जाता । सरितां मध्ये गङ्गा श्रेष्ठा, तस्या यदुदकमेकदेशः; तेनापि मूर्ध्नि निहितेन अधिकारवत्प्राप्तेन, **शिवः** परमकल्याणरूपोऽपि, **शिवोऽभूत्** । यस्तु साधनेन सिद्धमेव स्वस्वरूपं प्राप्नोति, स आधिदैविकं प्राप्नोतीत्यध्यवसीयते । अपहतपाप्मन एवैतत्सामर्थ्यमाधिदैविकत्वप्रापणम् । यथा "**स वाचमेव प्रथमम त्यमुच्यत, स वागग्निरभवत्**" इति । एवं शिवोऽपि स्वां देवतां प्राप्तवान्, अन्यथा भगवत इव तस्य स्वतन्त्रता न स्यात् प्रमाणादिचतुष्टयेनाऽपि । अतो गङ्गा स्वस्याऽऽधि दैविकं रूपं प्रापयतीति, चरणसम्बन्धिनामपि यत्रैतन्माहात्म्यम्, तत्र साक्षाच्चरणस्य ध्यातस्य तथात्वसम्पादकत्वं किं वक्तव्यमिति भावः । एतच्च गङ्गाया माहात्म्यं न गङ्गाजलस्थम्; नाऽपि तदभिमानिन्या देवतायाः; शिवापेक्षया अन्येषामचेतनाधिष्ठातृदेवतानां हीनत्वात्; किन्तु भगवच्चरणस्थमलस्यैतन्माहात्म्यम् । तानि रजांसि पूर्वं निरूपितानि भक्तानां पुण्यसंस्कृतभौतिकानीति । तानि चरणस्य मलरूपाण्येव भवन्ति, अन्यथा सेवकरूपदेहोत्पत्तिर्न स्यात् । अत एतज्जलं शौचे, पादप्रक्षालने सति, तद्रजःसहितं निःसृतम् । महत्त्वात् रजःसम्बन्धात् देवताशरीरं तज्जातमित्याह—**सरित्प्रवरेति** ।निःसृता सरित्प्रवरा जाता । सर्वभक्तोद्धारार्थं उपायभूता । सा चेद्रजोविशिष्टा धृता स्यात्, तदा भक्तानां देहोत्पत्तिर्नस्यादित्युदकमेव निरूपितम् । तस्मिन्नुदके रजःसामर्थ्याभावे शिवत्वसम्पादकत्वं न स्यादित्याशङ्क्य **तीर्थ**त्वमाह—तत्साधारणमेव सर्वजगतामाधिदैविकत्वसम्पादनरूपं तीर्थं जातम् । नन्वनेन जलेन आधिदैविकत्वमेव कुतः सम्पादितम् ? '**यावदस्थि मनुष्याणाम्**' इत्यादिवाक्यैः फलसाधकत्वं च श्रूयते । तत्राऽऽह—**मूर्ध्न्यधिकृतेनेति** । उत्तमाङ्गं शिरः स्वमस्तके तज्जलमधिकारि कृतवान् । अत उत्तमाङ्गे स्वस्य सर्वाधिकारं दत्त्वा स्थापितवतः साधारणं फलं प्रयच्छति; सर्वस्वनिवेदने आधिदैविकत्वप्रापणमेव युक्तम् । शिवत्वादेव न पापादिसम्बन्धः । अमङ्गलरूपस्यैव भजनीयत्वात् नाऽपि तद्रूपनिवृत्तिः ।

अत आधिदैविक एवाऽयं जातः। माहात्म्यान्तरमाह–**ध्यातुर्मन इति**। यो ध्यायति तस्य मनसि ये **शमलशैलाः** पापपर्वताः, तेषामर्थे निसृष्टो वज्रो येन। भगवतश्चरणे ये वज्रादयो निर्मिताः, तत्र स चरणो ध्याने परमासक्तियुक्तः, तान् प्राणिनः पापेनाऽतिगुरुतरान् मत्वा, बहुजन्मार्जितपापपर्वतान् दूरीकरोति। **अनेन** भक्त्यधिष्ठात्री देवतेयमीति निरूपिता। पक्षपातोऽपि निरूपितः। एवमङ्कुशादिकार्यमपि करिष्यतीति सूचितम्। मनःपदेन ध्यानस्य तत्र सम्बन्धात् सम्बन्धिन एव पापं नाशयतीति तथोक्तम्; न तु देहपापं नाशयतीति। देहस्याऽग्रे गमनापेक्षाभावाच्च। पापानामतिदाढर्यप्रचयात् पर्वतत्वम्; । एवं भगवतश्चरणमाहात्म्यं ज्ञात्वा चरणं ध्यायेत्। चिरध्याने मनसोऽप्याधिदैविकत्वमापद्येत। उपसंहारेऽपि भगवतश्चरणारविन्दकीर्तनं मध्ये पदार्थान्तरध्यानव्यावृत्त्यर्थम्। प्रत्येकध्यानानि गुरुध्यानं वा निवारितम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के चरणारविन्द में अत्युत्कृष्ट (अति उत्तम) माहात्म्य के सूचक दो पदार्थ हैं एक तो गङ्गा और दूसरा भक्तिरस। उसमें गङ्गा का माहात्म्य तो यह है कि जिनको प्रायश्चित से भी शुद्धि नहीं हो सकती उनको वह सर्वपूज्य बना देती है। उसी को कहते हैं भगवान् के जिन चरणों के धोने से निकला हुआ जो जल है वह उत्तम[1] नदी (गङ्गा) बन गई। नदियों में गङ्गा श्रेष्ठ है उसका जो जल है वह उसका एक देश (अंश) है उसको ही सिर पर धारण करने से जो कि अधिकार की तरह प्राप्त है उन से शिव जो परम कल्याण रूप हैं वे भी शिव अत्यधिक परम कल्याणमय हो गये। जो साधन के द्वारा सिद्ध ऐसे अपने स्वरूप को प्राप्त करता है वह आधिदैविकरूप को प्राप्त हो जाता है ऐसा निश्चय होता है। आधिदैविकत्व को प्राप्त करने की सामर्थ्य जिनके पाप नष्ट हो जाते हैं उन्हीं में होती है। जैसा कि श्रुति में कहा है 'सवाचमेव प्रथमामत्यमुच्यत, स वामग्निरभवत्' उसने पहले वाणी का ही उच्चारण किया वही वाणी अग्नि हो गई है। इसी तरह शिव ने भी अपनी देवता को प्राप्त कर लिया। अन्यथा शिव में भगवान् की तरह उनकी प्रमाणादि चतुष्टय से भी स्वतन्त्रता न होती। इसलिये गङ्गा अपने आधिदैविक रूप को प्राप्त करा देती है जब चरण से जिस (गङ्गा) का सम्बन्ध है उसका भी जहाँ यह माहात्म्य है वहाँ साक्षात् चरण के ध्यान करने वाले को आधिदैविक स्वरूप की प्राप्ति करा दे इसमें क्या कहना यह इसका भाव है। यह गङ्गा का माहात्म्य गङ्गा के जल में नहीं है और न उसकी अभिमानिनी देवता का है शिव की अपेक्षा अन्य जितने भी अचेतनाधिष्ठातृ देवता हैं वे हीन है किन्तु यहाँ तो भगवान् के चरण में स्थित जो मल (रज) उसी का यह माहात्म्य है। भक्तों के पुण्य से संस्कृत भौतिक वे रज हैं जिनका निरूपण पहले किया जा चुका है। वे चरण का मलरूप ही होती हैं, अन्यथा सेवकरूप देह की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये यह जल पैरों के धोने पर चरणारविन्द की रज के सहित ही निकला था। महत्व के कारण और रज के सम्बन्ध से गङ्गा का देवता शरीर हो गया उसी को सरित्प्रवरा शब्द से बताया है। चरणारविन्द से निकलने से ही नदियों में श्रेष्ठ हुई। सभी भक्तों के उद्धार

---

१. चरणयोः इस द्विवचन से बलि के द्वारा धोये गये चरणों का जल सूचित होता है इसलिये उस यज्ञस्थल सम्बन्धी नर्मदा के जल में भी पवित्र करने की शक्ति सिद्ध होती है इसीलिये 'दर्शनादेवनार्मदय्' नर्मदा का जल दर्शन मात्र से पवित्र कर देता है इस कथन की संगति होती है।

का उपाय भूत हुई। उस नदी को जो चरणारविन्द की रज से मिश्रित है। जिसे शिव ने अपने मस्तक पर धारण किया था उसको यदि भक्त धारण करते हैं तो उनकी मुक्ति हो जायगी इसलिये यहाँ केवल जल का ही निरूपण किया है। उस जल में यदि रज का सामर्थ्य न हो तो वह जल शिवत्व का संपादन करने वाला नहीं हो सकता ऐसी आशंका कर के उस जल में तीर्थत्व बताते हैं। वह जल साधारण रूप से सम्पूर्ण जगत् का आधिदैविकत्व सम्पादन करने वाला तीर्थ हो गया। शंका हो सकती है कि इस जल ने आधिदैविकत्व ही क्यों संपादित किया उसका उत्तर यह है कि जब तक मनुष्यों की अस्थि गंगा में रहती है तब तक वह स्वर्ग में निवास करता हैं 'यावदस्थि मनुष्याणाम्' इत्यादि वाक्यों से इस जल की फल साधकता सुनी गई है। उसमें कहते हैं कि शिवजी ने उस जल को अपने उत्तम अंग जो सिर है उसका अधिकारी किया। इसलिये उत्तम अंग में अपना सब अधिकार उसे देकर स्थापित किया इसलिये उन (शिव) के लिये वह साधारण फल देता है। क्योंकि सर्वस्वनिवेदन में आधिदैविकत्व प्राप्त कराना ही उचित है। शिव (कल्याणकारी) होने से उनमें पाप आदि का सम्बन्ध नहीं है। अनङ्गलरूपवाले के लिये ही वह भजन करने योग्य है परन्तु उससे उनके रूप की भी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये ये आधिदैविक ही हुए। 'ध्यातुर्मनः' इससे अन्य माहात्म्य कहते हैं, जो ध्यान करता है उसके मन में जो शमलशैल (पाप पर्वत) है उनके लिये चलाया है वज्र जिसने इस तरह भगवान् के चरण में जो वज्र आदि का निर्माण किया है वहाँ वह चरण ध्यान में परम आसक्ति से युक्त हो जाता है तब वह चरण उन प्राणिओं को पाप से अत्यन्त गुरुतर हैं ऐसा मान कर अनेक जन्मों के पापों के पर्वतों को दूर करता है। इससे चरण भक्ति की अधिष्ठात्री देवता है ऐसा निरूपण किया। पक्षपात का भी निरूपण किया। इसी तरह चरण वज्र की तरह अंकुश आदि के कार्य को भी करेगा ऐसा सूचित किया। मनः पद के देने से ध्यान का वहाँ सम्बन्ध होने से सम्बन्धी के ही पाप को नष्ट करता है ऐसा समझना चाहिये। परन्तु देह के पाप को नहीं नष्ट करता है। क्योंकि मन तो आगे जाता है देह आगे जाय इसकी अपेक्षा नहीं रहती है। पापों में अत्यन्त दृढता (मजबूती) और प्रचय (ढेर) होने से उनको पर्वत की तरह बताया है। इस तरह भगवान् के चरण के माहात्म्य को जानकर उस चरण का ध्यान करे। चिरकाल तक ध्यान करने से मन भी आधिदैविक बन जाता है। उपसंहार में भी भगवान् के चरणारविन्द को कहा इसका तात्पर्य यह है कि बीच में किसी अन्य पदार्थ का ध्यान न करे। इससे प्रत्येक का ध्यान अथवा गुरु ध्यान (अधिक ध्यान) का निवारण किया ॥ २२ ॥

आभास—चरणध्यानानन्तरं जानुद्वयं ध्यायेदित्याह—

आभासार्थ-चरण के ध्यान के अनन्तर दोनों घुटनों का ध्यान करे उसे कहते हैं—

श्लोक—**जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या लक्ष्म्याऽखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः।**
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत् संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ।२३।

श्लोकार्थ—भगवान् के दोनों घुटने जिनको कमलनयना अखिललोक की जननी देववन्दिता श्री लक्ष्मीजी अपनी जाँघों पर रखकर अपने कर किसलयों की कान्ति से

लाड लडा रही है ऐसे भगवान् का जो संसार के भय को दूर करने हैं उनको अपने हृदय में ध्यान करे ।।२३।।

सुबोधिनी—जानुद्वयमिति । जानुद्वयस्य माहात्म्यं सर्वजगत्फलरूपाया ब्रह्मानन्दरूपायाश्च सेवकत्वेन । यथा वा सुवर्णो मरकतमणियोजित: स्वरूपतोऽपि सुन्दरो भवति । जानुद्वयस्योर्वोर्निरूपणात् शयानो भगवान् लक्ष्यते, शय्यागता च लक्ष्मी: । अनेन तस्यामनुग्रहोऽपि सूचित: । अतस्तज्जनितश्रमस्तयैव दूरीकर्तव्य: । **जलजलोचनयेति** कमलनयनया तद्रससौन्दर्यनिरूपणायोक्तम् । दोषाभावाय तथात्वप्रयोजनाय चाऽऽह—**अखिलस्य जनन्येति** । अन्यथा जगत्सृष्टिर्न स्यात् । **'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । सम्भव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत'** इति भगवद्वाक्यात् । **लक्ष्म्येति** सा ज्ञानशक्तिरित्यपि सूचितम्, लक्षधातुनिष्पन्नत्वात् । अनेन मातापित्रोर्ध्यानं निरूपितम् । तस्या ध्यानं योगिनी न कर्तव्यमिति शङ्कायामाह—**सुरवन्दितयेति** । सर्वैर्देवैर्वन्दिता सा परमा देवता; अतो ध्येया देवता; ध्यानाभावे इष्टसिद्धिर्वं स्यादिति । ऊर्वोरुभयोर्निधानं लक्ष्म्या: कृतकृत्यताभावनार्थम्, स्नेहाधिक्यैक्यभावनार्थं च । निधायेति भगवच्छयनं लक्ष्यते; भगवदपेक्षाभावो वा । **करपल्लवा** अङ्गुलय:, तेषां **रोचिर्दीप्ति:**; लीलया शनै: स्थापनम्, अन्यथा भगवदज्जान्वपेक्षया ऊरुकरपल्लवयो: कठिनत्वात् पीडा स्यात् । यथा शीतलस्पर्शेन तापो गच्छति, तथा हस्तानन्दस्याऽन्त: प्रवेशेनैव श्रमो गच्छतीत्यर्थ: । **यत्** प्रसिद्धं जानुद्वयम्, एतद्धृदये भाव्यमिति; ननु बहि: स्थितं मनसा स्मर्तव्यम् । नन्वल्पे हृदये कथमेषा भावना भविष्यतीत्यशङ्कयाऽऽह—**विभोरिति** । स हि समर्थो ध्यातो हृदयं पुष्कलं कर्तुं समर्थ: । ननु संसार एव निरूपणात् किमेतादृशेन ध्यानेनेत्याशङ्कयाऽऽह—**अभवस्येति** । न विद्यते भव: संसारो यस्मात् । यो हि भगवद्धर्म: सजातीय:, स तस्याऽऽधिदैविक इति तन्नाशसमर्थो भवति । यथा तस्याऽरणेरेव तत्रोत्पन्नोऽग्निर्दाहको भवति, न ह्यन्यो विजातीयं दहति । अत एव पुराविदां वचनम् **'स्तेयं हरेर्हरति यन्नवनीतचौर्यम्'** इति ।२३।।

व्याख्यार्थ—सम्पूर्ण जगत् की फलरूपा और ब्रह्मानन्द रूपा लक्ष्मी जिसकी सेवा करती है इससे ही दोनों घुटनों का माहात्म्य जाना जाता है अथवा जिस तरह सोने में मरकतमणि को जड़ दी जाय तो वह स्वरूप से भी सुन्दर होती है । लक्ष्मीजी की दोनों जाँघों के ऊपर भगवान् के घुटनों का निरूपण होने से भगवान् सोये हुए हैं ऐसा लक्षित होता है और लक्ष्मीजो शय्या के ऊपर स्थित है । इससे लक्ष्मी के ऊपर भगवान् का अनुग्रह सूचित होता है । इसलिये लक्ष्मी से उत्पन्न होने वाले श्रम को लक्ष्मी को ही दूर करना चाहिये । जल-जलोचना का अर्थ है कमलनयना उस रस के सौन्दर्य का निरूपण करने के लिये ऐसा कहा है । उसमें (लक्ष्मी में) कोई दोष नहीं है और सम्पूर्ण जगत् को सृष्टि भी लक्ष्मी से ही होती है इसे बताने के लिये अखिलस्य जनन्या ऐसा कहा यदि यह जननी न होती तो जगत् की सृष्टि न होती । भगवान् का ऐसा वचन भी है 'ये महद्ब्रह्म मेरी योनि है मैं इसमें गर्भाधान करता हूँ । जिससे हे भारत ! सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है ।' लक्ष् धातु से लक्ष्मी बनता है अत: वह लक्ष्मी भगवान् की ज्ञान शक्ति भी है ऐसा भी सूचित होता है । इससे माता और पिता दोनों का ध्यान करना चाहिये यह इसका निरूपण है लक्ष्मी का ध्यान तो योगी को नहीं करना चाहिये इस शंका के समाधान के लिये सुरवन्दितया ऐसा पद दिया है । लक्ष्मी सब देवताओं की वन्दनीया है वह श्रेष्ठ देवता है इसलिये वह ध्येय देवता है उसका ध्यान न

करने से इष्ट सिद्धि नहीं होती है। भगवान् के दोनों जानुओं को श्री लक्ष्मीजी ने अपने दोनों जंघाओं पर रक्खा इससे लक्ष्मी की कृतकृत्यता की भावना होती है और स्नेह की अधिकता से श्री हरि और लक्ष्मी में एकता की भावना होती है निधाय (रखकर) इस पद से भगवान् सोये हुए हैं ऐसा लक्षित होता अथवा भगवदपेक्षा भाव लक्षित होता है। करपल्लव से यहाँ अंगुलियों का ग्रहण है उन अंगुलियों की दीप्ति से अर्थात् लीला से उन अंगुलियों को धीरे से स्थापित करना लिया जाता है अन्यथा भगवान् के घुटनुओं की अपेक्षा से जाँघ और अंगुलियों के कठिन होने से भगवान् को पीड़ा होगी। जिस तरह ठंडे स्पर्श से ताप दूर होता है उसी तरह हाथ के आनन्द के अन्दर प्रवेश करने से श्रम दूर होता है। यत् शब्द प्रसिद्धि-वाचक है अर्थात् ऐसे प्रसिद्ध दोनों जानु हैं उनकी हृदय में भावना करनी चाहिये। न कि बाहर स्थित का मन से स्मरण करना चाहिये। कदाचित् ऐसी शंका हो कि हृदय तो अल्प है उसमें ये भावना कैसे होगी। इसका समाधान विभोः पद से हो जाता है। भगवान् बिभु (समर्थ) है अतः उनका ध्यान करने पर वे हृदय को बड़ा भी बना सकते हैं। संसार का ही इसमें निरूपण है तो ऐसे ध्यान से क्या होगा इस शंका के निवारणार्थ अभवस्य पद दिया है जिसमें संसार की सत्ता नहीं है, जो भगवद्धर्म के सजातीय होता है वह उसका आधिदैविक होता है इसलिये वह तो संसार को नष्ट करने में समर्थ होता है। जिस तरह उस अरणी से वही उत्पन्न अग्निदाहक (जलाने वाली) होती है अग्नि के अतिरिक्त और कोई विजातीय को नहीं जलाता इसीलिये तो पहले के लोगों ने कहा है कि 'भगवान् के मक्खन चुराने की लीला को सुनाने से लोगों की चोरी की आदत मिट जाती है ।।२३।

आभास—तत ऊरू ध्यायेदित्याह—

आभासार्थ—अब जाँघों का ध्यान करे इसे कहते हैं—

श्लोक—**ऊरू सुपर्णभुजयोरधिशोभमानावोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ।**
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमानकाञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम् ।२४।

श्लोकार्थ—भगवान् की जाँघों का ध्यान करें जो अलसी के फूल के समान नील वर्ण और जो ओज (प्रकाश) की निधि हैं तथा गरुड़जी की पीठ पर शोभायमान है। भगवान् के नितम्बबिम्ब का ध्यान करे जो एड़ी तक लटकते हुए पीताम्बर से ढका हुआ है और उस पीताम्बर पर पहनी हुई सुवर्णमयी करधनो की लड़ियों को आलिङ्गन कर रहा है ।।२४।।

सुबोधिनी—ऊरू इति। गच्छन् भगवान् गरुडाधिरूढो ध्येयः। गरुडपृष्ठे उपविष्टः, स्कन्धयोर्लम्बितपादः, गरुडहस्तयोः स्थापितचरणो यो भगवान् तस्य ऊरू ध्येयौ। **सुपर्णभुजयोरध्युपरि अधिकं शोभमानौ**। यथा दिव्येन्द्रनीलमणेरधिकः प्रकाशो भवति, तथा **ओजोनिधी**। अतसिकापुष्पवदवभासो ययोः। नितम्बबिम्बमपि ध्येयमित्याह—**व्यालम्बीति**। विशेषेण आलम्बि यत्पीतम्, **वरमुत्कृष्टं** वासः; तस्मिन् **वर्तमाना** या काञ्ची। तस्याः **कलापः** समूहः;

बहुसूत्रनिर्मितत्वात्, चित्ररूपाणि वा; मयूरकलापसदृशपदकयुक्ता व काञ्ची। तस्याः परिरम्भयुक्तं **नितम्बबिम्बं** यस्य। गरुडो हि कालात्मा, ऊरू च दैत्योत्पत्तिस्थानभूतौ। तेषामाधिदैविकमूरुद्वयम्, तत्कालाधीनगतिमत्। कालस्य स्कन्धद्वयम्—कर्मस्वभावौ। कालस्याऽप्ययं गरुड आधिदैविकः; अत एव सुपर्णत्वम्। अधिकशोभमानत्वं कालमर्मस्वभावोपमर्दनेन। तद्भावनायां स्वस्याऽपि तथात्वं भविष्यति; यथा संसारनिवृत्तिः पूर्वं फलति, तथाऽत्र स्वभावादिजयः। सुपर्ण एव स्थितमिति नितम्बबिम्बं मुख्यतया कालातिक्रमहेतुः। अनेन विश्वातिक्रमोऽपि विश्वरूपभगवद्भावतयेत्युक्तम्। वेदैश्च कालातिक्रमरूपमाच्छादितम् वेदव्यवहितमेव यज्ञादिकं कालसंबद्धं भवतीति कर्मणां कालोपाधिकत्वम्। अहोरात्रातिक्रमोऽग्निहोत्रेण; मासातिक्रमो दर्शपूर्णमासाभ्याम्; एवमृत्वतिक्रमश्चातुर्मास्यैः; अयनातिक्रमः पशुना; वर्षस्याऽतिक्रमः सोमेनेति। जगज्जननहेतुस्थानं च; तद्ध्यानेनैव जगति जन्मातिक्रमश्च। ओजोनिधित्वं तेजसोऽतिक्रमाय। अतसिका पृथिवीजलात्मिका, तत्र यो नीलो भावः पुष्पस्य, तत्पृथिव्याः; यः शुक्लः स जलस्य; अतस्तत्पुष्पावभासत्वं तदुभयातिक्रमाय। भगवांस्तु सर्वैरेवोपमीयत इति न प्राकृतोपमादोषः। विशेषेण पीताम्बरस्य लम्बता आच्छादनाधिक्यख्यापनाय। वेदो हि बहुपरिकरो भवतीति। पीतो ह्यर्थो धर्मसहितः; स श्रुतिरूपो भवतीति अग्निवेदाभ्यां कर्म साध्यते। आवरकसौन्दर्येणैव व्यामोहार्थं वरत्वम्। वासश्चाऽऽच्छादकम्; तत्रैव माया व्यामोहयति। काञ्ची माया; कलापो जगद्वैचित्र्यम्; तत्परिरम्भो जगद्वैचित्र्यजननार्थम्। बिम्बत्वमाधिदैविकत्वख्यापनार्थम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—गरुड़ के ऊपर विराजमान होकर जाते हुए भगवान् का ध्यान करना चाहिये। गरुड़ की पीठ पर तो आप विराजमान हैं, दोनों कन्धों पर पैर लटका रक्खे हैं। गरुड़ के दोनों हाथों में चरणारविन्दों को स्थापित कर रक्खे हैं ऐसे भगवान् की दोनो जाँघों का ध्यान करना चाहिये। गरुड़ की भुजाओं के अधि (ऊपर) अधिक शोभायमान। जैसे दिव्य इन्द्रनीलमणि का अधिक प्रकाश होता है उस तरह अत्यधिक प्रकाशमान अतसिका (अलसी) के पुष्पों की तरह जिन दोनों ऊरू की कान्ति है। भगवान् के नितम्ब बिम्ब का भी ध्यान करना चाहिये। कैसे करना चाहिये उसे बताते हैं विशेषरूप से लटकता हुआ जो पीतवर्ण का श्रेष्ठ वस्त्र है उसके ऊपर वर्तमान जो करधनी उसका समूह वह करधनी अनेक सुवर्ण के तार से बनी हुई थी इसलिए उसे कांची कलाप पद से बताया है। अथवा कलाप का अर्थ चित्ररूप ऐसा करना अर्थात् मोर के पंखों के समान पदक से युक्त करधनी ऐसा अर्थ समझना। उस करधनी के आलिङ्गन से युक्त आपका नितम्बबिम्ब है। गरुड़ कालात्मक है भगवान् की दोनों जाँघे दैत्यों की उत्पत्ति की स्थानभूता है उनका आधिदैविक रूप दोनों जाँघे हैं उनकी गति काल के अधीन है। उस काल के दो स्कन्ध हैं एक कर्म और दूसरा स्वभाव। यह गरुड़ काल का भी आधिदैविकरूप है इसलिये गरुड़ सुपर्ण (अच्छे पङ्खों वाला) है दोनों ऊरू (जांघों) में शोभायमानता इसलिये है कि वे ऊरू काल-कर्म और स्वभाव को दबा देते हैं। भगवान् के ऊरू के ध्यान से अपने में भी काल-कर्म और स्वभाव को उपमर्दन (दबा देना) करना हो जायेगा। जैसे पहले संसार की निवृत्ति फलित होती है उसी तरह यहाँ स्वभाव आदि का जय होता है। नितम्बबिम्ब सुपर्ण के ऊपर ही स्थित है इसलिये नितम्ब के ध्यान से काल का अतिक्रमण हो जायगा क्योंकि गरुड़ कालात्मक है और नितम्बबिम्ब उसके ऊपर स्थित हैं इसलिये नितम्बबिम्ब के ध्यान से कालातिक्रमण होगा। इससे सारे विश्व का अतिक्रमण होता है ऐसा भी जानना। क्योंकि उस ध्यान में

विश्वरूप भगवान् की भावना होती है अतः यह विश्व का अतिक्रमण होता है ऐसा कहा। वेदों ने कालातिक्रम रूप को ढक दिया है। वेद से व्यवहित (वेदमन्त्रों से रहित) यज्ञ आदि काल से सम्बद्ध हो जाते हैं इसलिये कर्मों में कालोपाधिता है। अग्निहोत्र से अहोरात्र (दिन रात) का अतिक्रमण होता है और दर्श एवं पूर्णमास से मास (महीने) का अतिक्रम होता है इसी तरह चातुर्मास्यो से ऋतु का का अतिक्रम होता है। पशु से अयन (छः महोनों) का अतिक्रम होता है। सोम से वर्ष का अतिक्रम होता है। सोम से वर्ष का अतिक्रमण होता है। भगवान् जगत् के उत्पन्न करने में कारण हैं इसलिये भगवान् के उक्त अङ्गों के ध्यान से जगत् में जन्म का अतिक्रम हो जाता है। भगवान् में ओजोनिधिपन तेज के अतिक्रम के लिये है। अलसी पृथिवी तथा जल से होती है उसमें जो नीला भाग पुष्प का है वह तो पृथिवी का है और जो श्वेत है वह जल का है इसलिये अलसी के पुष्प की तरह जो आभास है उससे जल तथा पृथिवी दोनों का अतिक्रम होता है। भगवान् तो सबसे उपमित होते हैं अर्थात् भगवान् को तो सबकी उपमा दी जा सकती है इसलिये भगवान् में प्राकृतोपम दोष नहीं होता है। पीताम्बर का विशेजरूप से जो लम्बापन है वह अधिक को आच्छादित (ढकना) करता है इस बात को बताने के लिये है। वेद का परिकर बहुत होता है। पीत जो अर्थ है वह धर्मसहित है और वह श्रुतिरूप होता है इसलिये अग्नि और वेद इन दोनों ही से कर्म सिद्ध किया जाता है। आवरक (ढकनेवाले) की सुन्दरता से ही उसमें व्यामोहकता तथा श्रेष्ठता होती है। वस्त्र ढकने वाला है उसी में माया व्यामोहित करती है। काञ्ची (करधनी) तो मायारूप है और उसका कलाप ही जगत् की विचित्रता है इन माया और जगत् की विचित्रता का जो परिरम्भ (मिलन) है वह जगत् को विचित्र बनाने लिये है। नितम्ब में जो बिम्बत्व है वह आधिदैविकता को बताने के लिये है ॥२४॥

आभास—ततो नाभिं ध्यायेदित्याह—

आभासार्थ—ऊरु और नितम्ब के ध्यान के अनन्तर नाभि का ध्यान करना चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—**नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं यत्राऽऽत्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम्।**
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—सम्पूर्ण लोकों के आश्रय स्थान भगवान् के उदर देश में स्थित नाभिसरोवर का ध्यान करे इसी में ब्रह्माजी का आधारभूत कमल प्रकट हुआ है। फिर प्रभु के श्रेष्ठ मरकत मणि के सदृश दोनों स्तनों का चिन्तन करे, जो वक्षः स्थल पर पड़े हुए शुभ्र हारों की किरणों से गौर वर्ण जान पड़ते है ॥२५॥

सुबोधिनी—नाभिह्रदमिति। शयान एव भगवान् ध्येय इति लक्ष्यते, तादृश एव रूपे भगवतो नाभिकमलात् ब्रह्मोत्पद्यत इति। ह्रदत्वेनाऽतिगम्भीरत्वम्, सर्वजीवानामाधारत्वं च; तस्मिन्नेव ध्याते भौतिको जीवभावो गच्छतीति। भुवनात्मको यः कमलकोशः तस्य गुहा गुप्तस्थानं तादृशं भगवदुदरम्। उदरे हि जगत्तिष्ठति। कोशस्थितश्च न जलादिभिरुपहन्यते; तथा भग-

वदुदरे स्थिता: प्राणिनो न सङ्घातैरुपहन्यन्ते । एतावता तुन्दिलो भगवानिति ज्ञापितम्, तादृशस्यैवोदरमध्ये नाभिर्भवति । नाभेर्माहात्म्यमाह—**यत्रेति** । **आत्मयोनेर्ब्रह्मण:** तस्य या **धिषणा** बुद्धि:, आध्यात्मिकं रूपम्; तदेव अखिललोकात्मकं **पद्मम्** । नाभौ ब्रह्मा, बुद्धि:, पद्मं चेत्याधिदैविकादयस्त्रयोऽपि नाभौ निरूपिता: । भगवत: स्तनयोर्द्वयं च ध्यायेत् । हरिद्वर्णमणिवृषौ यौ स्तनौ । वरिन्मणि: कामपूरकश्चिन्तामणि:; तत्र श्रेष्ठो भगवद्धर्मलक्षण: । स उभयविधोऽपि द्वयत्वेनोक्त: । तस्य व्यूढता भगवदवयवेभ्य: स्वतन्त्रतया प्रकाशमानत्वम् । विशदो यो हारो मुक्तानाम्; विशदानां निर्मलानां वा यो हार: । तस्य मयूखैर्गौरम् । भगवद्धर्मा: शुकादिभि: परिसेव्यमाना: सर्वेषां रागहेतवो भवन्ति । **विशदत्वं** नानायोगचर्याद्यभाव:, अलौकिककरणाभावो वा ॥२५॥

व्याख्यार्थ—सोये हुए भगवान् का ध्यान करना चाहिये ऐसा लक्षित होता है । सोये हूए रूप में ही भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं । नाभि को ह्रद (दह कुण्ड) की उपमा इसलिये दी गई है कि उसमें अत्यन्त गम्भीरता है और वह सब जीवों की आधारभूता है । उस नाभि का ध्यान करने से भौतिक जीव भाव चला जाता है । भुवनरूप जो कमल कोश है उसकी गुहा (गुप्त स्थान) हो ऐसा भगवान् का उदर है । भगवान् के उदर में जगत् स्थित है । जो कमल के कोश (डोडी) में रहता है उसे जल कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता उसी तरह भगवान् के उदर में स्थित प्राणी संघात के द्वारा उपहत नहीं होते । इससे ऐसा ज्ञात होता है कि भगवान् का पेट बहुत बड़ा है भगवान् तुन्दिल (तोंद वाले) हैं जो तुन्दिल होता है उसी के तो पेट के बीच में गम्भीर नाभि होती है । नाभि का माहात्म्य कहते हैं । आत्मयोनि जो ब्रह्मा है उनकी जो घिषणा (बुद्धि) वह आध्यात्मिकरूप है वह ही सम्पूर्ण लोकात्मक कमल है । नाभि में ब्रह्मा, बुद्धि और कमल ये आधिदैविक आदि तीन रूपों से नाभि में बताये गये हैं । भगवान् के दोनों स्तनों का भी ध्यान करना चाहिये जो स्तन हरित वर्णकी मणियों के समान श्रेष्ठ है । हरित मणि कामनाओं को पूरण करने वाली चिन्तामणि है उसमें भी भगवद्धर्म लक्षण श्रेष्ठ है । वह भगवद्धर्म दो प्रकार का है तो भी उसे दो अवयवों के रूप से कहा है । उसकी व्यूढता यह है कि वह भगवद् अवयवों से स्वतन्त्र रूप से प्रकाशमान है । मोतियों का जो विशद हार है अथवा विशद अर्थात् निर्मल उनका जो हार है उसकी किरणों मे गौर वर्ण है । शुकदेवजी आदि जिन भगवद्धर्मों का सेवन करते हैं वे भगवद्धर्म सब लोगों के लिये अनुराग के कारण होते हैं । नाना प्रकार की योगचर्या आदि के अभाव को विशद कहते हैं अथवा अलौकिक के करने के अभाव को विशद कहते हैं ॥२५॥

आभास—वक्षो भावयेदित्याह—

आभासार्थ—वक्षस्थल की भावना करनी चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—**वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूते: पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।**
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ।२६।

श्लोकार्थ—भगवान् पुरुषोत्तम के वक्ष: स्थल का ध्यान करे । जो महालक्ष्मी का

निवास स्थान और लोगों के मन एवं नेत्रों को आनन्द देने वाला है। तदनन्तर सम्पूर्ण लोकों के वन्दनीय भगवान् के गले का चिन्तन करे जो (गला) मानो कौस्तुभ मणि को भी सुशोभित करने के लिये हो उसे धारण करता है ।।२६।।

सुबोधिनी—वक्षोऽधिवासमिति । ऋषभस्य वक्षो महाविभूतेर्निवासम्, पुंसां मनोनयनयोर्निवृतिमादधानम् । वक्षो हि स्वरूपतः कार्यतश्च सर्वोत्तमम्; तत्र स्वरूप**मृषभस्य** श्रेष्टस्येति । श्रेष्ठता हि हृदयधर्माद्भवति; यादृशमन्तर्हृदयं तादृशमेव गोलकं भवति । भगवतस्त्वानन्दमयस्य नैवंविधोऽपि भेदो विद्यते । अतो यावन्ते । भगवद्गुणाः पुरुषोत्तमत्वज्ञापकाः, ते सर्वे वक्षसीति ऋषभसम्बन्धेनैव स्वरूपमाहात्म्यमुक्तम् । कार्यतो माहात्म्यं द्विविधम्—ऐहिकं स्त्रीधनाद्यात्मकम्, पारलौकिकं परमानन्दहेतुत्वम् । तत् क्रमादाह । **विभूते**र्लक्ष्म्याः सर्वैहिकपुरुषार्थरूपायाः निवासस्थानमिति । आनन्दोऽपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः; तदुभयमाह—मनसो नयनयोश्च निवृत्तिमासमन्ताद्दधानमिति । कामादिकृतदोषवशात् तथात्वं वारयति—**पुंसामिति** । बहुवचनं काकतालीयव्युदासाय; सर्वेषामेव पुंसाम् । कण्ठं च ध्यायेदित्याह—**कण्ठमिति** । कण्ठो हि द्विविधः—बाह्य आभरणाधारभूतः, आन्तरः सर्ववेवोद्गमहेतुर्जगद्गुरुः । आभरणानि चातिप्रियाणि कण्ठे धार्यन्ते, भगवतस्तु मुक्तभक्तापेक्षया नाऽन्यः प्रिय इति तेषां तत्त्वरूपस्य कौस्तुभमणेरधिकभूषणमर्थो यस्य । मणिना हि न कण्ठो भूष्यते, किन्तु कण्ठेन मणिः । सुवर्णादिकं तस्यापि भूषणं भवति तद्व्यावृत्त्यर्थमधिकं भूषणमित्युक्तम् । **च**कारात् स्कन्धद्वयमपि । **अखिललोकनमस्कृतस्येति** वेदोद्गमहेतुरखिलगुरुर्भगवान्निरूपितः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—पुरुषोत्तम भगवान का वक्षः स्थल महाविभूति (लक्ष्मी) का निवास स्थान है और मनुष्यों के मन और नेत्रों को आनन्द देता है। वक्षः स्थल स्वरूप से और कार्य से सर्वोत्तम है पुरुषोत्तम भगवान् का स्वरूप भी श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता तो हृदय के धर्म से होती है जैसा अन्दर हृदय होगा वैसाही उसके ऊपर का गोलक होगा परन्तु भगवान् तो आनन्दमय हैं इसलिये उनमें इस तरह का भेद नहीं है। इसलिये जितने भगवद्गुण हैं जो पुरुषोत्तमता के ज्ञापक हैं वे सब वक्षः स्थल में हैं भगवान् ऋषभ (श्रेष्ठ) हैं इसलिये उनके सम्बन्ध से वक्षः स्थल का माहात्म्य भी कहा गया। अब कार्य से उसके दो प्रकार के माहात्म्य हैं एक तो ऐहिक (इस लोक का) और दूसरा पारलौकिक (परलोक का) उसमें ऐहिक माहात्म्य तो स्त्री धन आदि रूप होता है और पारलौकिक माहात्म्य परमानन्द का हेतु होता है। उसका क्रम कहते हैं। भगवान् का वक्षः स्थल ऐहिक सब पुरुषार्थरूपा लक्ष्मी का निवास स्थान है। आनन्द भी बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है उन दोनों को कहते हैं मन को और नेत्रों को पूर्ण रूप से आनन्द का दान करते हैं। कामादिकृत दोष के वश से भी वैसा आनन्द हो सकता है उसका वारण पुंसां इस पद से करते हैं पुंसां में बहुवचन देने का तात्पर्य यह हैं कि सब पुरुषों को आनन्द देते हैं वह भी काकतालीय[1] की तरह

---

१. काकतालीय का आशय यह है इधर से तो कौवे का उड़ना होता है और उधर से ताड़ के फल का उस पर गिरना उससे जैसे अचानक उसकी मृत्यु हो जाती है उसी तरह अचानक होने वाले कार्य में काकतालीय न्याय का प्रयोग होता है।

नहीं। अब कण्ठ के ध्यान को कहते हैं। कण्ठ दो प्रकार का है एक तो बाह्य कण्ठ जो आभरणों का आधार भूत है और दूसरा आन्तर सब वेदों के उद्गम का कारण है और जगद्गुरु हैं। अत्यन्त प्रिय जो आभरण होते हैं उन्हें कण्ठ में पहने जाते हैं। भगवान् को तो मुक्त भक्तों के सिवाय और कोई प्यारा नहीं है उन मोतियों के तत्वरूप कौस्तुभमणि है उस मणि को अधिक शोभित करना ही भगवान् के कण्ठ का प्रयोजन है। मणि से कण्ठ भूषित (शोभित) नहीं होता है किन्तु कण्ठ से मणि भूषित होती है। यद्यपि मणि को भूषित करने वाला स्वर्ण भी है क्योंकि मणि को जब सोने में जड़ दी जाती है तो उसकी शोभा बढ जाती है परन्तु मणि की अधिक शोभा तो भगवान् के कण्ठ से ही होती है। इसलिये 'अधिकंभूषणार्थम्' ऐसा कहा। कण्ठ 'च' के 'च' से दोनों कन्धे भी लिये गये हैं अर्थात् भगवान् के कन्धों का भी ध्यान करना चाहिये। भगवान् अखिल लोक के नमस्करणीय हैं ऐसा इसलिए कहा कि भगवान् सब वेदों के उद्गम के स्थान है और अखिल लोक के गुरु भी हैं यह इससे निरूपित होता है ।।२६।।

श्लोक—**बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।**
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ।।२७।।

श्लोकार्थ—समस्त लोकपालों की आश्रय भूता भगवान् की चारों भुजाओं का ध्यान करें, जिनमें धारण किये हुए कङ्कण आदि आभूषण समुद्र मन्थन के समय मन्दराचल की रगड़ से और अधिक उजले हो गये हैं। इसी तरह जिसके तेज को सहन नहीं किया जा सकता उस सहस्त्र धारों वाले सुदर्शन चक्र का तथा उनके कर कमल में राजहंस के समान विराजमान शङ्ख का चिन्तन करे ।।२७।।

सुबोधिनी—बाहूँश्च ध्यायेत्। चकारात् बाहुस्थिता देवाः। बाहवो ह्यमृतमथने व्यापृताः, देवेभ्योऽमृतं पायितवन्तः वलयास्तत्र वेष्टनरूपाः पुरुषार्थाः। **मन्दरगिरेः परिवर्तनेन** परितो भ्रामणेन, **निर्णिक्तान्यन्योन्यं** मिलितानि, धर्षणेनोज्ज्वलीकृतानि वा, बाहुवलयानि येषाम्। अधिकृता लोकपालाश्च येषु। तेषु हस्तेषु चक्राद्यायुधानि ध्येयानि। तत्र प्रथमं सुदर्शनं ध्येयमित्याह-**सञ्चिन्तयेदि**ति। दशशतारं चक्रम्, दशशतान्यारा यस्य। कालचक्रं निर्दिष्टम्। **शत**मित्यपरिमितनाम। दश प्राणा भवन्ति। प्रत्येकं दशानां शतान्याराः कालावयवा भवन्ति। तेन सर्वप्राणहारि कालात्मकं सुदर्शनं चक्रम्। प्रतीकाराभावायाह-**असह्यतेज इति**। तस्य तेजो यदूर्मयः। कालगुणांश्ज सोढ्वा प्रतीकारः कर्तव्यः, तदेव त्वसह्यम्। **शङ्खं च** ध्यायेत्: **च**कारात् सर्ववेदांश्च तद्गतान्। **तस्य** भगवतः **करसरोरुहे** करकमले, राजहंसरूपम्। भगवत ओष्ठकान्त्या आद्यन्तयोरारक्तिमा, स शब्दश्चेति लोहितास्यचरणः कूजन् हंसः कमलमध्यस्थो निरूपितः। स हि क्षीरनीरविवेककर्ता भगवत्प्रीतिबोधकश्च ।।२७।।

व्याख्यार्थ—भगवान् की भुजाओं का ध्यान करे। 'च' से भगवान् की भुजाओं में देवता स्थित हैं उनका भी ध्यान करना चाहिये। अमृत मन्थन में लगी हुई भगवान् की भुजाओं ने देवताओं को अमृत पिलाया था। भगवान् की भुजाओं में जो वलय आभूषण रूप है वे चार प्रकार के पुरुषार्थ रूप हैं। मन्दराचल को चारों ओर घुमाने से आपस में रगड़ के कारण वलय चमकीले हो

गये अथवा मन्दराचल की रगड़ से भुजाओं के वलय चमकीले हो गये है। जिन भुजाओं में लोकपालों को अधिकृत किया है उन भुजाओं में चक्र आदि आयुधों का ध्यान करना चाहिये। उन आयुधों में सर्वत: प्रथम सुदर्शन चक्र का ध्यान करे उसे कहते हैं। दशशत (एक हजार) है आरा जिसके। यह कालचक्र का निर्देश है। शत से यहाँ असंख्य का ग्रहण है और दश से दस प्राण लिये हैं प्रत्येक दश के सौ आरा काल के अवयव होते हैं। इससे सुदर्शन चक्र कालात्मक है सब प्राणों को हरण करने वाला है। उसका कोई उपाय नहीं है क्योंकि उसका तेज असह्य है अर्थात् उसके तेज की ऊर्मियाँ असह्य है। काल के गुणों को सहन करके प्रतीकार किया जाता है परन्तु यहाँ तो वह स्वयं ही असह्य है। शंख का ध्यान करना चाहिये 'च' से शंख के अन्दर रहने वाले वेदों का ध्यान करे। वह शंख भगवान् के कर कमल में राजहंस के समान शोभित है। भगवान् के ओष्ठ की कान्ति से आदि और अन्त में शंख में कुछ लालिमा है और शंख का वह शब्द भी है इससे जिसका मुख और चरण तो लाल है और कूंजन करता हुआ हंस कमल के ऊपर बैठा हो उसकी इस शंख के साथ समानता निरूपित की है। वह हंस क्षीर नीर को अलग कर देता है और भगवान् की प्रीति का बोधक भी है ।।२७।।

श्लोक—**कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।**
मालां मधुव्रतसमूहगिरोपघुष्टां चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ।।२८।।

श्लोकार्थ—विरोधी वीरों के रुधिर से सनी हुई प्रभु की प्यारी कौमोदकी गदा का, भौरों के शब्द से गुञ्जायमान वनमाला का और उनके कण्ठ में सुशोभित सम्पूर्ण जीवों के निर्मलतत्व रूप कौस्तुभ मणि का ध्यान करे ।।२८।।

सुबोधिनी-कौमोदकीमपि **स्मरेत्** । सा ह्यासन्यरूपेति : भगवत: प्रिया; अपहतपाप्मत्वाच्च सर्वदैत्यहननहेतुरुक्त: । तदाह-**दिग्धां** व्याप्तामरातीनां शत्रू ां ये **भटास्तेषां शोणितकर्दमेन** । यथा निष्पाप: पुरुषो महान् भगवत्प्रिय:, एवं दैत्यहन्ताऽपि भगवत्प्रियो भवति । मालामपि ध्यायेत्, **मधुव्रतसमूहगिरा** उपघुष्टाम् । मधुव्रता: मनोहरनियमयुक्ता:, मध्वेव व्रतं यस्येति; वेदा अपि भगवत्प्रतिपादनमेव कुर्वन्तीति । तेषां समूह:; स एव वेद: । तेषां गीर्धर्मज्ञानरूपा, तया उपघुष्टा भगवत्कीर्तिर्भवति, यद्धर्मादिभिर्न भवति तत्कीर्त्या भवतीति । मालाया: कण्ठ एव स्थानमिति पूर्वोक्त एव कण्ठ: कौस्तुभभूषणत्वेनोक्त: पुन: स्मार्यते । **चैत्यस्य** चित्ताधिष्ठातुर्जीवस्य तत्त्वं यत्, सङ्घाते अप्रविष्टं निजं रूपम्, स एव कौस्तुभमणि:; तदस्य भगवत: कण्ठे । मालां च मणिं च कण्ठे ध्यायेदिति सम्बन्ध: । भक्तै: सह भगवत्कीर्तिर्ध्येयेति यावत् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—कौमोदकी गदा का भी स्मरण करे वह गदा आसन्य रूपा है, भगवान् को प्यारी है क्योंकि उसमें किसी प्रकार का पाप नहीं है वह सब दैत्यों को मारने में सहायक है। उसे कहते हैं। शत्रुओं के जो योद्धा हैं उनके रक्त के पंक से व्याप्त है। जैसे निष्पाप पुरुष महान् भगवत्प्रिय होता है। उसी तरह दैत्य को मारने वाला भी भगवान् का प्यारा होता है। माला का भी ध्यान करे जो मधुव्रत की वाणी से उपघुष्ट(गुञ्जारित)है। मधुव्रत का अर्थ मनोहर नियम से युक्त मधु ही है व्रत जिसका। वेद भी भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं उनका जो समूह है वह ही वेद है। वेदों की वाणी धर्म और ज्ञान रूपा है उनके द्वारा उपघोषित भगवान् की कीर्ति होती है।

जो धर्म आदि से नहीं हो सकता वह कीर्ति से होता है। माला का कण्ठ में ही स्थान है यह वही पूर्वोक्त कण्ठ है जो कण्ठ कौस्तुभमणि को भूषित करने वाला बताया था अब पुनः उसी का यहाँ स्मरण कराया है। चैत्य कहते हैं चित्त का अधिष्ठाता जीव उसका जो तत्व, संघात में जो प्रविष्ट नहीं है ऐसा निज रूप वह ही कौस्तुभमणि है वो इन भगवान् के कण्ठ में है। माला और मणि का कण्ठ में ध्यान करना चाहिये ऐसा सम्बन्ध है, अर्थात् भक्तों के साथ भगवान् की कीर्ति का ध्यान करना चाहिए ।।२८।।

आभास—अतः परं वदनारविन्दं ध्यायेदित्याह—

आभासार्थ—कौमोदकी आदि के ध्यान के अनन्तर मुखारविन्द का ध्यान करे उसे कहते हैं—

श्लोक—**भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।**
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलमण्डितेन विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ।।२९।।
यच्छ्रीतिकेतमलिभिः परिषेव्यमाणं भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयश्रियमधिक्षिपदब्जनेत्रं ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रितमुल्लसद्भ्रु ।।३०।।

श्लोकार्थ—भक्तों पर कृपा करने के लिये ही यहाँ पृथ्वी पर अवतार धारण करने वाले श्री हरि के मुखारविन्द का ध्यान, करे जो सुन्दर नासिका से सुशोभित है और झिलमिलाते हुए मकराकृति कुण्डलों से मण्डित अतिशय प्रकाश से प्रकाशमान स्वच्छ कपोलों के कारण अतिशय मनोहर जान पड़ता है। काली काली घुंघराली अलकावली से मण्डित भगवान् का मुखमण्डल अपनी छवि के द्वारा भ्रमरों से सेवित कमल कोश पर उछलते हुए मछलियों के जोड़े की शोभा को तिरस्कृत कर रहे है। उन्नत भ्रूलताओं से सुशोभित भगवान् के ऐसे मनोहर मुखारविन्द की मनमें धारणा करके आलस्य रहित हो उसी का ध्यान करे ।।२९-३०।।

सुबोधिनी-भृत्येति । तदेव वदनारविन्दं ध्येयम्, यत्सर्वजनीनम्; तदेव च सर्वजनीनं भवति, यदि भूमाववतरति; अवतारश्च तदैव भवेत्, यदि भृत्यानां दुःखं भवति। तदाह– भृत्यानामनुकम्पितधिया गृहीता मूर्तिर्येन । अवतारस्याऽन्यथा शङ्काव्युदासायाऽऽह–**भगवत** इति। दृष्टिमात्रेणैव तापापनोदनादरविन्दत्वम् । तन्मुखारविन्दमनुवर्णयति सार्द्धेन–**यद्विस्फुरदिति**। यन्मुखारविन्दं विशेषेण स्फुरती मकराकृते कुण्डले ताभ्यां **मण्डितेन** गण्डयुगलेन; **वलितेनेति** पाठे मकरकुण्डलयोर्यद्वलितम्, चालनेनोत्पन्नं तेजः, तेन विद्योतिते अमलकपोले यत्र । उदारा नासा यत्र । यत्पुनर्मुखारविन्दमलिभिः परिषेव्यमाणम्, **स्वयैव भूत्या** असाधारणकांत्या च परिषेव्यमाणम् । कुटिलानां कुन्तलानां वृन्दैर्जुष्टम् । **मीनद्वयस्य श्रियमधिक्षिपत्** दूरीकुर्वत् **अब्ज**-सदृशं नेत्रद्वयं यत्र। **मनोमयम्**, सर्वेषामेव मनांसि तत्र निरन्तरं वर्तन्त इति मनःप्रचुरम् । **अतन्द्रितं** सावधानतया उल्लसन्त्यौ भ्रूवौ यत्र । एवं नव विशेषणानि मुखे निरूपितानि नवरसजननाय,

सर्वेषां च वशीकरणाय। नवविधा भक्तिश्च निरूप्यते। मुखं ह्यानन्दरूपस्य भगवतो भक्तिरसात्मकं फलं भवति; विषयश्चरणौ; आश्रयो जीवः। नवरसा अपि मुखे अभिव्यक्ताः। कपोलौ च भक्तिरसानुभवे भक्तानां समाजस्थानमेव भवति; तत्र क्रियापरा ज्ञानपराश्च भक्ता उल्लसन्ति। साङ्ख्ययोगौ मकरकुण्डले। शाब्दं प्रमाणं श्रोत्रम्, अनुभवरूपं चक्षुः शाब्दे प्रमाणे साङ्ख्ययोगयोः योऽयमनुभावः, तद्वल्गितम्। तेनविद्योतितत्वं क्रियाज्ञानशक्त्याऽऽविर्भावः। उत्तमभक्तानां परस्परं श्रोतॄणां समाजत्वादमलत्वम्। अनेन श्रवणपरिकरो महान् निरूपितः। उदारे नासे कीर्त्तनम्; कीर्तनस्य सर्वपुरुषार्थदातृत्वादुदारत्वम्। मुखे हि नासिकैव प्रधानम्, जगति सौंदर्यदानात् भगवन्नासिकाया उदारत्वम्; भगवत्स्थित्यैव सर्वेषां सर्वपुरुषार्थसिद्धिः। स्थितिप्रतिपादिकाया नासिकाया उदारत्वम्। **श्रीनिकेतमिति**। लक्ष्म्या स्थितिः स्मृतिरूपा; भक्तौ श्रीः स्मृतिरेव। अलीनां परितः सेवनम्, प्रकारान्तरेण भक्तानां पादसेवनम्। स्वया भूत्या सेवनं चाऽर्चनं स्पष्टमेव। कुटिला वक्रा कुन्तला वन्दनात्मका भवन्ति। वन्दने हि पुरुषः कुटिलाकृतिर्भवति, अन्यथा भगवति कुटिलानां स्थितिर्न स्यात्। कुं पृथिवीं तरन्तीति। यथा जले तरन्तो ...रूपा भवन्ति, तथैव पृथिव्यां नमन्तः। वृन्दं शतादिसङ्ख्यावृत्तिः, तेनाऽपि जुष्टमिति रसनमनं प्रतिपादितम्। दास्यं प्रत्यक्षं परोक्षमन्तर्बहिश्च; अन्तर्मलदूरीकरणरूपम्, बहिः सौन्दर्यरूपं च। मीना जलस्थमलनाशकाः; तच्च मलं बाह्याभ्यान्तरभेदेन भवतीति मीनद्वयं शोधकद्वयं पापाविद्यानाशकरूपम्। दास्यं तूभयसामर्थ्यमपि क्षिपद्भवति। आकृतौ वर्णना तु स्पष्टैव; रसार्थं परिभ्रामणे तथैव प्रतीतिः। बहिः शोभार्थमब्जमित्याह। नेत्रद्वयं सर्वानुभवहेतुः, तथैव दास्यमिति। मध्ये पुनर्ध्यानकथनं सख्यानां स्वाधीनानां भिन्नतया ज्ञापनार्थम्। **मनोमयं** सख्यम्, नहीश्वरेण वस्तुतः सख्यं भवति। भ्रुवोरुल्लास आत्मसमर्पणं भवति। फलमुखं चैतल्लक्षणम्, '**तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्**' इति, आत्मस्थाने ब्रह्मा निवेशित इति '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' इति वाक्यात् **आत्मसमर्पणमुक्तं** तत्फलनिरूपणेन ॥२९–३०॥

व्याख्यार्थ—वो ही मुखारविन्द ध्येय होता है जो सर्वजनीतन (सब लोगों का हितकारक) है। सर्वजनीन तभी होता है जब पृथ्वी के ऊपर अवतार होता है और पृथ्वी पर अवतार तभी होता है जब अपने भृत्यों (भक्तों) को दुःख होता है। उसी को कहते हैं अपने भृत्यों पर दया करने की बुद्धि से जिन्होंने अवतार ग्रहण किया है। अवतार में अन्यथा बुद्धि न हो इसके लिये भगवतः ऐसा पद दिया है अर्थात् अवतार भगवान् का ही है अन्य का नहीं। दृष्टिमात्र से ही ताप दूर हो जाता है इसलिये मुख को अरविन्द (कमल) बताया है। उस मुखारविन्द का डेढ श्लोकों से वर्णन करते हैं जो मुखारविन्द विशेष रूप से चमकते हुए मकराकृति कुण्डलों से मण्डित (शोभित) कपोलों से युक्त है। मण्डित की जगह वल्गित ऐसा भी पाठ है तब उसका अर्थ इस तरह करना मकराकृति कुण्डलों का जो हिलना उससे उत्पन्न जो तेज उससे प्रकाशित स्वच्छ कपोल जिसमें हैं व उदार नासिका भी जिसमें है। वह मुखारविन्द भौंरों से सेवित है और अपनी ही असाधारण कान्ति से वेष्टित है तथा घुँघराली अलकावलीयों से युक्त है। मछलियों के जोड़े की शोभा को तिरकृत करने वाले कमलों के सदृश दो नेत्र हैं जिस मुख पर। सबके मन जिसमें निरन्तर लगे रहते हैं उसे मनोमय अर्थात् प्रचुरता से जिसमें मन हैं। अतन्द्रित—(सावधानता) से उल्लसित हो रही हैं दोनों भ्रू जिस पर ऐसा मुख इस तरह मुख में नौ विशेषणों का निरूपण किया ये नौ रसों के उत्पन्न करने के लिये हैं और सब को वश में करने के लिए हैं। इनके द्वारा

नवधा भक्ति का भी निरूपण किया गया है। भगवान् का मुखारविन्द आनन्द रूप भगवान् का भक्ति रसात्मक फल है। विषय दोनों चरण है और आश्रय जीव है। मुख में नौ रस भी प्रकट रूप से हैं। भगवान् के दोनों कपोल भक्ति रस के अनुभव में समाज स्थान होते हैं उन कपोलों में क्रिया-परक और ज्ञानपरक भक्त उल्लास को प्राप्त करते हैं। सांख्य और योग ये दोनों भगवान् के मकराकृति कुण्डल हैं। शब्द प्रमाण भगवान् के श्रोत्र (कान) हैं शाब्द प्रमाण में अनुभव रूप चक्षु हैं। सांख्य और योग का जो यह अनुभाव है वह ही कुण्डलों का चलना है। इससे उनका विद्योतन (प्रकाशन) क्रिया और ज्ञान शक्ति से आविर्भाव कहा गया है। उत्तम भक्तों का जो परस्पर श्रोताओं का समाज है उन श्रोताओं के समाज से ही उसमें स्वच्छता है। इससे बहुत अधिक श्रवण के परिकर का निरूपण किया गया है। उदार नासिका कीर्त्तन रूप है कीर्त्तन सब पुरुषार्थ को देता है ये ही उसमें उदारता है। मुख पर नासिका ही प्रधान है सारे जगत् को सुन्दरता देने के कारण ही भगवान् की नासिका में उदारता है। भगवान् की स्थिति से ही सब प्रकार के पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। भगवान् की स्थिति की प्रतिपादिका होने से ही नासिका की उदारता है। लक्ष्मी की स्थिति स्मृति रूपा है, भक्ति में 'श्री' स्मृति ही है। भौंरों से चारों ओर सेवन प्रकारान्तर से भक्तों के द्वारा भगवान् की चरण सेवा है। अपनी विभूति से सेवन और अर्चन स्पष्ट ही है। कुटिल अर्थात् टेढे कुन्तल (केशपाश) वन्दनात्मक होते हैं वन्दन करने के समय पुरुष कुटिल (टेढी) आकृति वाला हो जाता है यदि ऐसा न होता है तो भगवान् के यहाँ कुटिल रह ही कैसे सकते हैं। कुन्तरन्ति इति कुन्तराः र और ल में कोई भेद न होने से कुन्तर और कुन्तल में कोई भेद नहीं है। 'कु' कहते हैं पृथिवी को उसको जो तैरते हैं उसका नाम है कुन्तर अथवा कुन्तल जिस तरह जल में तेरने वाले का जैसा रूप होता है वैसा ही रूप पृथ्वी के ऊपर नमन करने वाले का होता है। सौ आदि संख्या की आवृत्ति को वृन्द कहते हैं उससे भी सेवित इससे रस नमन का प्रतिपादन किया है दास्य प्रत्यक्ष तथा परोक्ष और आन्तर एवं बाह्य होता है। अन्तः तो मल को दूर करने वाला होता है और बाह्य सौन्दर्य रूप होता है। मछलियाँ जल में रहने वाले मल को नष्ट करती हैं वह जल का मल बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है इसलिये उस के शोधन के लिए दो मछलियाँ हैं वे पाप और अविद्या का नाश करती हैं। दास्य में तो दोनों ही तरह की सामर्थ्य है परन्तु वह अधिक्षेप वाली होती है अर्थात् दास्य में पाप नाशकता और अविद्या नाशकता दोनों ही सामर्थ्य है परन्तु उसको इन (नेत्रों) ने तिरस्कृत कर दिया है। आकृति के अनुसार तो इसका वर्णन स्पष्ट है ही और रसदानार्थ उसके घुमाने में वैसी ही प्रतीति होती है। नेत्रों का कमल रूप से वर्णन बाह्य शोभा के लिये है। दोनों नेत्र सबके अनुभव के कारण हैं, दास्य भी सर्वानुभव का कारण है। 'अब्जनेत्र ध्यायेत्' इस तरह पुनः ध्यान का कथन स्वाधीन जो सात (भक्ति)हैं वे इनसे अलग है इसको बताने के लिए है। मनोमय सख्य भक्ति को बताता है परंतु वस्तुतः विचार किया जाय तो भगवान् के साथ सख्य हो नहीं सकता। भ्रुवों का उल्लास आत्मसमर्पण (भक्ति) है। ये लक्षण फल मुख है 'भगवान् की भ्रकुटी परमोष्टि (ब्रह्मा) का स्थान है। आत्म स्थान में ब्रह्माजी को रक्खा है क्योंकि गीता में भगवान् ने कहा है 'जो जिस तरह मेरे शरण में आता है मैं उसी तरह उसको अंगीकार करता हूँ' इस वाक्य से फलनिरूपण के द्वारा आत्मसमर्पण कहा है ।।२९-३०।।

आभास—एवं नवविधभक्त्यनन्तरं भगवतो ज्ञानशक्तिं मायाशक्तिं च निरूपयति द्वयेन—

आभासार्थ—इस तरह नौ प्रकार की भक्ति के निरूपण के अनन्तर भगवान् की ज्ञान शक्ति और माया शक्ति का निरूपण दो श्लोको से करते हैं—

श्लोक—**तस्यावलोकमधिकं कृपयाऽतिघोरतापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।**
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम् ।३१

श्लोकार्थ—हृदय गुहा में चिरकाल तक भक्तिभाव से भगवान् के नेत्रों की चितवन का ध्यान करना चाहिये जो कृपा से और प्रेमभरी मुस्कान से क्षण क्षण अधिकाधिक बढ़ती रहती है, विपुल प्रसाद (प्रसन्नता) की वर्षा करती रहती है और भक्तजनों के अत्यन्त घोर त्रिविध तापों को शान्त करने के लिये ही प्रकट हुई है ।।३१।।

सुबोधिनी—तस्येति भगवतोऽवलोकमधिकं ध्यायेत् । तस्याऽनिनिष्टवारकत्वमिष्टसाधकत्वं च निरूपयति । अक्ष्णोरवलोकनं लौकिकालौकिकामृतरूपमाध्यात्मिकादित्रिविधमपि तापमुभयविधं नाशयति; यतः कृपया तापत्रयोपशमनाय **निसृष्टम्** । कृपाहेतुर्भक्तिरुक्ता । फलार्थमाह—**स्निग्धं** यत् **स्मितम्**, भक्त्यर्थं यो मोहः, तेन **अनुगुणितम्** । ज्ञानशर्भक्तिक्तिसहिता न भक्त्यर्थाध्यासेन विरुध्यते । विपुलः प्रसादः स्वतन्त्रभक्तिपर्यन्तः, तावज्ज्ञानं सिद्धयति । तद्बहुजन्मभिर्भवतीति तस्य स्वरूपं ज्ञातुं **ध्यायेच्चिर**मित्युक्तम् । वितता भावना तदुपयोगिसर्वपदार्थानां विचारार्थम् । **गुहाया**मित्यन्येषां विचाराभावाय ।।३१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के अवलोकन (चितवन) का अधिक ध्यान करें। उसका ध्यान अनिष्ट का निवारण करने वाला तथा इष्ट का साधक है उसी का निरूपण करते हैं। भगवान् के नेत्रों की चितवन लौकिक और अलौकिक अमृतरूप है वह चितवन लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही प्रकार के आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापों को नष्ट करती है। क्योंकि भगवान् ने कृपा करके उस चितवन को त्रिविध तापों के दूर करने के लिये नेत्रों में ही स्थापित किया है। भक्ति भगवत् कृपा से ही होती है। फल के लिये कहते हैं स्निग्ध (प्रेमयुक्त) जो स्मित (मन्दहास) भक्ति के लिये जो मोह है उससे अनुगुणित (सहित) भक्ति के सहित ज्ञान शक्ति भक्ति के लिये जो अध्यास है उससे विरुद्ध नही है विपुल प्रसाद स्वतन्त्र भक्तिपर्यन्त होता है और ज्ञान तब तक सिद्ध होता है। ज्ञान अनेक जन्मों में होता है उसके स्वरूप को जानने के लिये चिरकाल तक ध्यान करना चाहिये निरन्तर भावना उस (भावना) के उपयोगी सब पदार्थों के विचार के लिये है। गुहा में ध्यान करने का अभिप्राय यह है कि वहाँ (हृदय में) अन्य विषयों के विचार का अभाव हे ।।३१।।

आभास—ज्ञानेऽपि जाते तदुत्तरा भक्तिश्चेन्न भवेत्, तदा फलं न भवेदिति सर्वथा मोहाभावे भक्तिर्न भवेदिति हासं ध्येयत्वेनाऽऽह—

आभासार्थ ज्ञान के हो जाने पर भी उसके बाद यदि भक्ति न हो तो फल नहीं होगा इसलिये सर्वथा यदि मोह का अभाव होगा तो भक्ति नहीं होगी इसलिये हास्य का ध्यान करना चाहिये।

श्लोक— **हासं हरेरवनताखिललोकतीव्रशोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।**
संमोहनाय रचितं निजमाययाऽस्य भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ।।३२।।

श्लोकार्थ—श्री हरि का हास्य प्रणतजनों क तीव्र से तीव्र शोक के अश्रुसागर को सुखा देता है और अत्यन्त उदार है। मुनियों के हित के लिये कामदेव को मोहित करने के लिये ही अपनी माया से श्री हरि ने अपने भ्रूमण्डल को बनाया है उनका ध्यान करना चाहिये ।।३२।।

सुबोधिनी—हासमिति । भगवतो हासं ध्यायेत् । अतिक्लिष्टानां क्लेशाभावहेतुत्वात् हरेरित्युक्तम् । तदाह—**अवनता ये अखिललोका**:, तेषां **तीव्रो** यः **शोको** भगवद्विरहजनितः, सर्वभक्तप्रत्ययसाक्षी; तज्जनिताश्रूणां **सागरस्य** शोषणं येन । मायामोहेनैव एवं भवति, अन्यथा निरन्तरमनिअत्युदारमिति । वृत एव तिष्ठेत् । न च परमपुरुषार्थहानिरित्याहविरहानिवृत्तिः शीघ्रं परमपुरुषार्थदायिनी; तथापि प्रतीत्या दुःखात्मिका भयतीति तां निराकृत्य स्वमेव त पुरुषार्थमधिकारमपि सम्पाद्य प्रयच्छतीत्यत्युदारो हासः । ननु दीनेषु भक्तेषु कथं हास उत्पन्न इत्याह—**संमोहनायेति । मकर- ध्वजस्य संमोहनाय** । मुनयो हि भगवन्तं ध्यायन्ति, तत्र भगवदैश्वर्यं दृष्ट्वा मुनीनां स्पृहा भवत्विति पूर्वं तैर्निर्जितः कामः बाधकत्वेन भगवत्सान्निध्ये उपतिष्ठति । तदा स चेन्न मुग्धो भवेत्, मुनीनां सर्वमेव कार्यं नश्येदिति कन्दर्पसंमोहनाय हास्योत्पत्तिः । सोऽपि भगवन्मुखसौन्दर्यं दृष्ट्वा विस्मितो मुनीनां मोहं न सम्पादयति । **निजमाययेत्या**धिदैविकमपि कामं मोहयितुं हासस्य बलं निरूपितम् । अस्य भ्रूमण्डलमपि ध्यायेत् । तस्याऽपि हासवत् कार्यसाधकत्वम् मृत्युरूपत्वात्परं नाशकत्वं दुष्टविषयकमेव । मोहे जीवानां स्वत एव दुःखाभावः; भ्रूमण्डलध्याने तु भगवत्कर्तृक इति द्वयं निरूपितम्। मकरो हि क्रूरात्मा, ततस्तस्य क्रौर्यं निरूपितम् । मण्डलं मण्डलीकृतकार्मुकत्वाय ।।३२।।

व्याख्यार्थ—भगवान के हास्य का ध्यान करे। भगवान् अत्यन्त दुःखी हो उनके क्लेशों को दूर करने वाले हैं अतः यहाँ भगवान् के लिये हरेः पद दिया है। उसे यहाँ कहते हैं। भगवान् को प्रणत (नमन) करने वाले जो लोग हैं उनको जो भगवद्विरहजनित तीव्र शोक, जिसके साक्षी सब भक्तजन हैं। इस तरह के तीव्रशोक से उत्पन्न होने वाले आँसुओं के समुद्र का शोषण जिससे होता है। भगवान् अपनी माया से उन्हें मोहित कर देते हैं इसी से उनके शोक सागर का शोषण होता है। यदि भगवान् उन्हें अपनी माया से मोहित (संज्ञा शून्य) न करते तो वे निरन्तर शोक ग्रस्त ही रहते। माया से मोहन में परमपुरुषार्थ में किसी प्रकार की हानि नहीं होती उसे कहते हैं भगवान् की वह माया अत्यन्त उदार है इसलिये उससे विरह की अनिवृत्ति और परमपुरुषार्थ की प्राप्ति भी होती है। तथापि प्रतीति से वह मायादुःखात्मिका होती है इसलिये उस माया का निराकरण करके हास स्वयं ही उस पुरुषार्थ को और अधिकार को सम्पादन करके दे देता है इसी

से भगवान् का हास उदार है। यदि शंका हो कि जो दीन भक्त हैं उन पर भगवान् को हँसी कैसे उत्पन्न होती है उसके लिये कहते है 'मकरध्वजस्य संमोहनाये' मुनि लोग जब भगवान् का ध्यान करते हैं उस ध्यान में भगवान् का ऐश्वर्य उन्हें दिखाई देता है उस समय काम जिसे मुनियों ने पहले जीत लिया था मुनियों के लिये बाधक रूप से भगवान् की सन्निधि में ही ये मुनि भगवान् के ऐश्वर्य को देखकर उसे चाहें ऐसा जब काम चाहता है तब मुनि उस भगवान् के ऐश्वर्य में मुग्ध न हों (क्योंकि) मुग्ध होने पर तो उनका सब काम नष्ट हो जायगा इसलिये काम को मोहित करने के लिये भगवान् के हास की उत्पत्ति होती है। वह काम भी भगवान् के मुख की सुन्दरता को देखकर विस्मित हो जाता है जिससे मुनियों को मोह नहीं कर सकता। 'निजमायया' कहने का तात्पर्य यह है कि आधिदैविक काम भी मुनियों को मोहित नहीं कर सकता इस से भगवान् के हास बल निरूपित हुआ। भगवान् के भ्रूमण्डल का भी ध्यान करे भ्रूमण्डल का ध्यान भी हास की ही तरह कार्य का साधक है। मृत्युरूप से यद्यपि किसी का विनाश कर डालना ठीक होता है क्योंकि वह पुनः कुछ नहीं कर सकता किन्तु ऐसा विनाश तो दुष्ट लोग करते हैं। मोह में तो जीवों को स्वतः ही दुःख का अभाव हो जाता है भ्रूमंडल के ध्यान में तो मोह भगवत्कर्तृक है इस तरह दोनों का निरूपण किया। मगरमच्छ क्रूर स्वभाव का (जीव) होता है इसलिये उसकी क्रूरता का यहाँ निरूपण किया है। मण्डल से यहाँ मण्डल के आकार में किये हुए धनुष को लेना चाहिये जब धनुष पर बाण चढाया जाता है तब धनुष मण्डलाकार होता है इसलिये यहाँ बाण जिसके ऊपर चढाया है ऐसे धनुष का ग्रहण है ॥३२॥

आभास—भगवतश्च प्रहसितं ध्यायेत्, पूर्वध्यानेषु सर्वबाधकव्यामोहार्थम्—

आभासार्थ—पूर्व श्लोक में भगवान् के हास का ध्यान करने का कहा। अब भगवान् का प्रहसित ध्यान करें पूर्वध्यान सर्वबाधकों को व्यामोहित करने के लिये था—

श्लोक—ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासाऽरुणायिततनुद्विजकुन्दपंक्ति।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोर्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ।३३

श्लोकार्थ—अत्यन्त प्रेमार्द्र भाव से अपने हृदय में विराजमान श्री हरि के प्रहसित (खिलखिलाकर हँसने) का ध्यान करें, जो वस्तुतः ध्यान के ही योग्य है तथा जिसमें ऊपर और नीचे के दोनों होठों की अत्यधिक अरुण कान्ति के कारण उनके कुन्दकली के समान शुभ्र छोटे-छोटे दाँतों पर कुन्दकलि के समान लालिमा सी प्रतीत होती है। इस प्रकार के ध्यान में तन्मय होकर उनके सिवाय किसी अन्य पदार्थ को देखने की इच्छा नहीं होती ॥३३॥

सुबोधिनी—ध्यानायनमिति । तत्सर्वेषामेव ध्यानानां स्थानम्; सर्वे हि तत्र प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं भगवतः प्रहसितं ध्यायन्ति। अत्यानन्दे हि भगवतः प्रहसितं भवति। तत् सर्वविस्मारकं कालादीनपि कथं न मोहयेत्? **बहुलमधरोष्ठ-**योर्यद्भाः दीप्तिः, लज्जालोभयोः स्वरूपधनस-

ङ्कोचः कार्यमिति; तेनकृत्वा अरुणायिता तनुर्यस्य। द्विजा एव कुन्दपुष्पाणि, तेषां पङ्क्तिर्यत्र। प्रहसिते हि दन्ता अपि प्रकटा भवन्ति, ते च कुन्दपुष्पसन्निभाः। प्रथिव्यां स्नेहहेतवो दन्ताः पुत्रादिस्नेहरूपाः। त्रिभिश्च सर्वसङ्कोचः। नन्वेतादृशं प्रहसितं स्वात्मानमपि व्यामोहयतीति कथं ध्येयमित्यत आह–**स्वदेहकुहरेऽवसितस्येति**। यदि भगवान् स्वहृदये प्रकट एव, तदा स्वस्य मोहो न भवतीति सिद्धम्। सिद्धे भगवति मुख्ये सख्यात्मनिवेदने आह–**आर्द्रया भक्त्या अर्पितं मनो** यस्य। अपृथग्दर्शनं चाऽऽत्मनिवेदनम्।३३।

व्याख्यार्थ—भगवान् के खिलखिलाकर हँसने का ध्यान सब ध्यानों का स्थान है। सब लोग वहाँ प्रतिबन्ध निवृत्ति के लिए भगवान् के प्रहसित का ध्यान करते हैं। अत्यन्त आनन्द में ही भगवान् का प्रहसित होता है। वह प्रहसित सब को भुला देने वाला है तो फिर कालादिकों को कैसे मोहित नहीं करेगा। अत्यधिक अधर और ओष्ठों की जो कान्ति है जिसका कार्य लज्जा लोभ के स्वरूप धन का सङ्कोच। उससे लालिमा युक्त है तनु जिनका। दाँत ही जहाँ कुन्द पुष्प हैं उनकी पंक्ति (कक्ष) जहाँ है। प्रहसित है दाँत भी प्रकट दिखाई देते हैं वे कुन्दपुष्प के समान हैं। पृथिवी पर स्नेह के कारण दाँत ही है, जो पुत्र आदि स्नेह रूप है जैसे पुत्र अपने को प्यारे लगते है वैसे ही दाँत भी हमें प्यारे लगते हैं तीन से सबका संकोच है अर्थात् दोनों होठ और दाँत। शंका होती है कि ऐसा प्रहसित तो अपनी आत्मा को भी व्यामोहित करता है तो फिर उसका ध्यान कैसे किया जाय? इसके लिए कहते हैं 'स्वदेहकुहरेऽवसितस्य' जब भगवान् अपने हृदय में प्रकट ही है तब स्वयं को मोह नहीं होता है यह सिद्ध है। जब भगवान् सिद्ध हैं और मुख्य हैं तो उनमें सख्य भक्ति और आत्म निवेदन करना चाहिये उसे कहते हैं आर्द्रभक्ति के द्वारा अर्पित है मन जिसका ऐसा होने पर अपृथग्दर्शनं (अपने को अलग न देखना) ही तो आत्म निवेदन है ।।३३।।

आभास—एवं पूर्णा भगवति नवविधा भक्तिः सिद्धा ध्यानेन। तस्यां सिद्धायां मोक्षः फलमावश्यकमिति तदुत्पादकध्यायमानस्य भगवद्रूपस्य निवृत्तिमाह—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् में पूर्ण रूप से नौ प्रकार की भक्ति ध्यान से सिद्ध होती है और उसके सिद्ध हो जाने पर मोक्षफल अवश्य ही प्राप्त होता है अब भक्ति को उत्पन्न करने वाले ध्यायमान भगवद्रूप की निवृत्ति को कहते हैं—

श्लोक—**एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।**
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते।३४।

श्लोकार्थ—इस प्रकार के ध्यान के अभ्यास से साधक का श्रीहरि में प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्ति से द्रवित हो जाता है शरीर में आनन्द के अतिरेक से रोमाञ्च होने लगते हैं उत्कंठा जनित प्रेमाश्रुओं की धारा में वह बारंबार अपने शरीर को नहला देता है और फिर मछली पकड़ने के काँटे से जैसे मछली को अपनी ओर खींच लेते हैं उस तरह श्री हरि को अपनी ओर आकर्षित करने के साधन रूप अपने चित्त को धीरे धीरे ध्येय से हटा लेता है ।।३४।।

सुबोधिनी—एवं हराविति । सर्वदु:खनिवर्तके, सर्वपुरुषार्थदायके भगवति प्रतिलब्ध एवं पूर्वोक्तो भावो येन । भक्तेरवान्तरकार्यमाह—**द्रवद्धृदय इति** । यथा तापेन हिमघृतादिकं द्रवति, तथा भक्त्या हृदयम् । तस्य द्रवणे देहे वैक्लव्यं भवति, आनन्दप्रतिबन्धस्य हृदयस्य द्रुतत्वात् । प्रमोदे जाते उत्पुलको भवति । तदा भगवति प्रेमाधिक्यात् कण्ठनिरोधोऽपि भवति । तत औत्कण्ठ्येया बाष्पकला उत्पद्यते, तया मुहुरर्द्यमान:, सकलायां भक्तौ सिद्धायाम्, तच्चापि चित्तस्य बडिशं वशीकरणहेतुर्भगवद्रूपं मन:कल्पितमिति **शनकैर्वियुङ्क्ते** त्याजयति ।।३४।।

व्याख्यार्थ सब दु:खों को दूर करने वाले और सब पुरुषार्थों को देने वाले भगवान् में जब पूर्वोक्त भाव प्राप्त हो जाता है जिससे, अब भक्ति का अवान्तर कार्य कहते हैं द्रवद्घृदय: जिस तरह ताप के द्वारा जमा हुआ ठंडा घी पिघल जाता है उसी तरह भक्ति से हृदय द्रवित हो जाता है । हृदय के द्रवण से देह में विकलता होती है क्योंकि आनन्द के प्रतिबन्धक हृदय के द्रवित हो जाने से (विकलता होती है) । प्रेम होने पर रोमाञ्च होते हैं तब भगवान् में प्रेम की अधिकता से कण्ठ भी रुक जाता है । तदन्तर उत्कण्ठा होने पर प्रेमाश्रु उत्पन्न होते हैं उस उत्कण्ठा से बारंबार पीड़ित होते हुए सकल भक्ति के सिद्ध हो जाने पर वह चित्त का वडिश (मछली पकड़ने का काँटा) वशीकरण का कारण भूत मन: कल्पित भगवद्रूप है उससे धीरे धीरे चित्त को हटा लेता है ।।३४।।

श्लोक—**मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मन: सहसा यथार्चि: ।**
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाह: ।।३५।।

श्लोकार्थ—जैसे तेल आदि के समाप्त हो जाने पर दीपशिखा अपने कारण रूप तैजस् तत्व में लीन हो जाती है वैसे ही 'आश्रय विषय' और 'राग' से रहित होकर मन शान्त ब्रह्माकार हो जाता है । इस अवस्था के प्राप्त होने पर जीव गुण प्रवाह देहादि उपाधि के निवृत्त हो जाने के कारण ध्याता, ध्येय आदि विभाग से रहित एक अखण्ड परमात्मा को ही सर्वत्र अनुगत देखता है ।।३५।।

सुबोधिनी—अत्यतो निवृत्तं मन:, भगवन्मूर्ति कल्पयित्वा, तत्र निर्वृतं स्थितम्; तस्मिंस्तु गते मुक्ताश्रयं निर्विषयं च जातम् । आश्रयत्वविषयत्वे एतावत्कालमत्रैव स्थिते; पूर्वविषयास्तु पूर्वमेव त्यक्ता: । भगवद्रसस्य चाऽऽस्वादितत्वात् इदानीं तत्र **विरक्तम्** । एवं सर्वथा विषयाभावे, **निर्वाणं** कारणे लयं स्वयमेव **ऋच्छति** अपगच्छति । सङ्घाते विद्यमाने न गच्छेदित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—**यथार्चिरिति** । दीपार्चि: काष्ठार्चिर्वा, विद्यमानायामेव सामग्र्यां शाम्यति, तथा मनोऽपीत्यर्थ: । तत: किमत आह—**आत्मानमिति** । उपाधिरूपे अन्त:करणे गते, अत्रैव शरीरे, **पुरुषो** जीव:, **आत्मानं** भगवन्तम्, **अव्यवधानं** व्यवधायकधर्मरहित**मेकम्**, न तु सजातीयमन्वीक्षते । ननु सत्त्वादिगुणैराध्यात्मिकैर्निरन्तरं रागादिप्रवाहा उत्पाद्यन्ते, गभवदीयैश्च विषया: । उभयोर्व्यवधायकत्वात्कथमेकत्वप्रतीति: । तत एव श्रुतिराह **'न तं विदाथ' इति** । तत्राऽऽह—**प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाह इति** । उसयविध इत्येके; अन्यतर इत्यन्ये । एवमात्मज्ञानार्थं चरमा मनसो वृत्तिरपेक्षिता, तदभावे ब्रह्मात्मानुभवो न भवति ।।३५।।

व्याख्यार्थ—अन्यों से जब मन हट गया तब भगवन्मूर्ति की कल्पना करके उसमें संतोषपूर्वक स्थित रहता था उस मनःकल्पित (मूर्ति) के चले जाने पर वह मुक्ताश्रय (जिसने अपने सहारे को छोड़दिया है)और निर्विष हो गया । आश्रयत्व और विषयत्व ये दोनों इतने समय तक यहीं पर रहे पूर्व के विषय तो पहले ही छोड़ दिये थे और भगवद्रस का आस्वादन किया था किन्तु उसमें भी अब विरक्त हो गया । इस तरह सब तरह से विषयों के अभाव में कारण में स्वयं लय को प्राप्त हो जाता है । सङ्घात जब तक रहता हैं तब तक उसका निर्वाण नहीं होता उसका दृष्टान्त देते हैं । जैसे दीप शिखा अथवा काष्ठ की ज्वाला सामग्री के न रहने पर शान्त हो जाती है उसी तरह मन भी विषयों के अभाव में शान्त हो जाता है । उससे क्या होता है उसे कहते हैं । उपाधि रूप अन्तःकरण के चले जाने पर इसी शरीर में पुरुष (जीव)आत्मा को (भगवान् को) किसी व्यवधान के धर्म से रहित एकेले को ही देखता है अर्थात् अखण्ड परमात्मा को ही देखता है किसी सजातीय पदार्थों को नहीं देखता । शंका होती हैं कि आध्यात्मिक सत्व आदि गुणों से निरन्तर राग आदि का प्रवाह उत्पन्न किया जाता है और भगवदीय गुणों से विषय उत्पन्न किये जाते हैं ये दोनों जब व्यवधान करने वाले हैं तो एकत्व की प्रतीति कैसे होगी तभी तो श्रुति कहती है 'न तं विदाथ' उसका ज्ञान नहीं होगा उसके लिए कहते हैं 'प्रतिनिवृत्तगुण प्रवाहः' गुणों के प्रवाह के निवृत्त हो जाने पर एकत्व की प्रतीति होती है दोनों तरह के प्रतिबन्धकों की निवृत्ति होने पर एकत्व की प्रतीति होती है ऐसा कुछ लोगों का कहना है और कुछ लोगों का ऐसा कहना है दोनों प्रतिबन्धकों में से किसी एक प्रतिबन्धक की निवृत्ति होने पर ही एकत्व की प्रतीति होती है । इस तरह आत्मज्ञान के लिए मन की अन्तिम वृत्ति अपेक्षित है उसके बिना ब्रह्मात्मा का अनुभव नहीं होता ।।३५।।

आभास—जाते ज्ञाने तन्निवृत्तिमाशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—ज्ञान के होने पर उसकी निवृत्ति होती है ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

श्लोक—**सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या स्वस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।**
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्स्वात्मन्यधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ।।३६।।

श्लोकार्थ—योगाभ्यास से प्राप्त हुई चित्त की इस अविद्या रहित लयरूप निवृत्ति से अपनी सुखदुःख रहित ब्रह्मरूप महिमा से स्थित होकर परमात्मतत्व का साक्षात्कार कर लेने पर वह योगी जिस सुखदुःख के भोक्तृत्व को पहले अज्ञानवश अपने स्वरूप में देखता था उसे अब अविद्याकृत अहङ्कार में ही देखता है ।।३६।।

सुबोधिनी—सोऽप्येतयेति । एवं चरमामेव वृत्ति स्थापितवान् यः स्वानुभवार्थम् । **सोऽपि एतयैव चरमया मनसो वृत्या स्वस्मिन्नेव महिम्न्य**-पव लिये स्वयम**वासितो** भवति, तत्रैव स्थिरो भवति; पुनः पूर्ववत पूर्वावस्थां न प्राप्नोती त्यर्थः । तस्या अवस्थायाः पूर्ववैलक्षण्यमाह—**सुखदुःखबाह्य इति** । वैषयिकसुखदुःखे तस्यामवस्थायां न भवतः । ननु चित्तगतं कर्तृत्वादिकं चित्ते लीने आत्मनिष्ठं चेत् पुनः सुखदुःखे आवश्यके इत्याशङ्क्याऽऽह—**हेतुत्वमपिति** । यथा

सुखदु:खे तत्र न स्तः,तथा सुखदु:खयेर्हेतुरपि तत्र नास्ति । तत्र हेतुः—यतः सुखदु:खहेतुत्वमस्ति मिथ्याभूते दुष्टे वा कर्तरि अन्तःकरण एव । नन्वात्मन्यपि सुखदु:खहेतुत्वं प्रतयित एव ! तत्राऽऽह—यः **स्वात्मनि पूर्वमधत्तेति** । चित्तगतमेव कर्तृत्वं पूर्वमात्मन्यारोपितम्, इदानी तु **उपलब्धा परात्मनः काष्ठा** स्वरूपं येन । अधुना परमानन्दः प्राप्त इति नाऽन्यगतकर्तृत्वारोपेण प्रयोजनम् । एवमन्तःस्थितिः सर्वा निरूपिता ।।३६।।

व्याख्यार्थ—जिसने अपने अनुभव के लिये इस तरह की चरम (अन्तिम) अवस्था को स्थापित किया है वह भी मन की इसी चरम वृत्ति से अपने में ही मोक्ष नामक महिमा में स्वयं अवसित हो जाता हैं वहाँ ही स्थिर हो जाता है, अर्थात् पुनः पूर्ववत् पूर्व अवस्था को प्राप्त नहीं होता है । अन्तिम अवस्था की पूर्व अवस्था से विलक्षणता बतलाते हैं । वह सुखदु:ख से बाह्य हो जाता है, अर्थात् उस चरम (अन्तिम) अवस्था में विषय सम्बन्धी सुखदु:ख नहीं होते हैं । शंका होती है कि कर्त्तापन चित्त में रहता है, जब चित्त आत्मा में लीन हो जायगा तो वह कर्तृत्व आत्मा में आ जायगा तो फिर आत्मा में सुख दु:ख अवश्य हो जायेंगे आशंका का उत्तर 'हेतुत्वमपि' से दिया है आत्मा में जिस तरह सुखदु:ख नहीं होते हैं उसी तरह सुखदु:ख जिससे उत्पन्न होते हैं वह हेतु भी वहाँ नहीं है । क्योकि सुखदु:ख की हेतुता (कारणता) है मिथ्याभूत अथवा दुष्ट कर्त्ता में वह दुष्ट अथवा मिथ्याभूत कर्त्ता तो अन्त करण ही है । यदि कहो कि आत्मा में भी सुखदु:ख की प्रतीति होती ही हैं । उसके लिये कहते है 'यः स्वात्मनि पूर्वमधत्त चित्तगत (चित्त में रहने वाला)' कर्तृत्व ही पहले आत्मा में आरोपित किया था । किन्तु अब तो परमात्मा का स्वरूप उपलब्ध हो गया है अर्थात् अब तो परमानन्द प्राप्त हो गया है इसलिये अन्य (चित्त) में रहने वाले कर्त्तापन के आरोप से क्या प्रयोजन है इस तरह सारी अन्तः स्थिति का निरूपण किया गया ।।३६।।

आभास—बाह्यां निरूपयति—**देहन्त्विति** द्वाभ्याम् स्वानुपयोगो देहस्थितिश्च भेदेन निरूप्यत इति । तत्र प्रथमं स्वानुपयोगमाह—

आभासार्थ—पूर्व श्लोक में अन्तः स्थिति का निरूपण किया अब आगे के दो श्लोकों से बाह्य स्थिति का निरूपण करते हैं बाह्य स्थिति का निरूपण स्वानुपयोग और देह स्थिति इस भेद से किया जाता है उसमें पहले स्वानुपयोग को कहते हैं—

श्लोक—**देहं तु तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।**
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ।।३७।।

श्लोकार्थ—जिस तरह मदिरा के मद से मतवाले पुरुष को स्वयं के द्वारा कमर पर पहरे हुए वस्त्र के रहने या गिरने का कुछ ध्यान नहीं रहता उसी तरह चरमावस्था को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष को भी अपनी देह के बैठने उठने अथवा दैववश कहीं जाने या लौट आने के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता क्योंकि वह अपने परमानन्द मय स्वरूप में स्थित है ।।३७।।

सुबोधिनी–देहं तु न पश्यति, तत्राऽभिमानो दूरे। **तं** पूर्वमुपलालितमपि, यतोऽयं चरमो देहोपकारानपेक्षः। घटादिवदपि तस्याऽवस्थामपि न जानातीत्याह–**स्थितमुत्थितं वेति**। यत्र पूर्वमासने स्थितस्तत्रैव स्थितः; तत उत्थितो वेति न वेद; यतोऽयं जीवः **स्वरूपं** ब्रह्मभावमध्यगमत्। गार्हस्थ्यदशायां स्थितं गृहादिकं यथा महाराजत्वे जाते नाऽनुसन्धत्ते। तर्ह्यधिष्ठातृव्यतिरेकेण कथं देहस्तिष्ठेद्गच्छेद्वेत्याशङ्क्याऽऽह**दैवादुपेतमिति**। कालादिप्रेरणयैव वासनावशात् क्वचिद्देशान्तर उपेतं भवति, तस्मादपेतं च। असम्भावितं मत्वा दृष्टान्तमाह–**मदिरया** य उन्मादः, तेनाऽन्धो महामत्तो **यथा** स्वयमेव परिकृतं वासः न वेद; किं स्वस्मिन् गते गच्छति, अपगच्छति वेति। **देहं तु नश्वरम्** (?) इति पाठे नश्वरमित्यनुपयोगे हेतुः ।३७।

व्याख्यार्थ—चरम स्थिति को प्राप्त सिद्ध वह तो अपने देह को ही नहीं देखता है (देह में यह मेरा है इस प्रकार का अभिमान तो दूर रहा) उस देह को चरम अवस्था की प्राप्ति के पहले उस का उपलालन (पोषण) भी किया था क्यों कि अब तो वह चरम अवस्था को प्राप्त हो गया है इसलिये अब वह देह के द्वारा किये गये उपकारों की अपेक्षा नहीं रखता। 'घट' 'पट' आदि की तरह उस देह की अवस्था को भी नहीं जानता है उसे कहते है स्थितमुत्थितं वा जिस आसन पर पहले बैठा था उसी पर पुनः बैठ जाता है उस आसन से मैं उठा हूँ या नहीं इस की भी उसे खबर नहीं क्यों कि यह जीव तो स्वरूप को अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया है। जैसे गार्हस्थ्य दशा में स्थित घर आदि का महाराज होने पर उसका अनुसंधान नहीं करता है। शंका होती है कि अधिष्ठाता के बिना कैसे तो देह खड़ी रहेगी और कैसे चलेगी ऐसी आशंका पर कहते हैं कालादुपेतम् काल आदि की प्रेरणा से ही वासना के वश से किसी देशान्तर में चला जाता है और वहाँ से हट भी जाता है। शंका होती है कि यह तो असम्भावित है उसको दृष्टान्त से समझाते हैं जैसे मदिरा के उन्माद से जो अन्धा हो रहा है अर्थात् मतवाला है वह जैसे स्वयं के द्वारा कमर में बांधे हुए वस्त्र को नहीं जानता है तो फिर अपने जाने को अथवा लौटने को कैसे जान सकता है। जहाँ 'देह तु नश्वरम्' ऐसा पाठ है वहाँ नश्वर का अर्थ है जिसका कोई उपयोग नहीं ॥३७॥

आभास—देहस्य स्वरूपमाह—

आभासार्थ—देह का स्वरूप कहते हैं—

श्लोक—**देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।**
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३८॥

श्लोकार्थ—उसका शरीर तो पूर्वजन्म के संस्कारों के अधीन है, अतः जब तक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है तब तक वह इन्द्रियों के सहित जीवित रहता है, किन्तु जिसे समाधिपर्यन्त योग की स्थिति प्राप्त हो गयी है और जिसने परमात्मतत्व को भी भली भांति जान लिया है वह सिद्ध पुरुष पुत्र स्त्री आदि के सहित इस शरीर को स्वप्न में प्रतीत होने वाले शरीरों के समान फिर स्वीकार नहीं करता फिर उसमें अहंता ममता नहीं करता ॥३८॥

सुबोधिनी—देहोऽपीति । **दैववशगोऽयं देहः** कालकर्मस्वभावाधीनः । **खल्विति** निश्चये । **यावत्स्वारम्भकं कर्म**, तावत् **सासुः** प्राणसहितः । स्वस्थित्याद्यर्थं तत्कर्मापेक्षते । बहुकालमपि तिष्ठति, तथापि तन्नानुसन्धत इत्याह—**तमिति** । प्रपञ्चसहितं तं देहम्, अधिरूढः समाधिपर्यन्तं च योगो येन । अनेन नित्यारूढसमाधिरुक्तः । तादृशस्य बहिः संवदेनाभावात् युक्तमेव तस्याऽदर्शनम् । किञ्च, **स्वाप्नम्** । अयं हि प्रतिबुद्धवस्तुः स्वतः स्फुरिताऽऽत्मरूपः । तच्च **स्वाप्नं** स्वप्न इव प्रतीतं तुच्छम्, अतो रागाभावात् लौकिकवदप्यनुसन्धानं नाऽस्ति ।।३८।।

व्याख्यार्थ—यह देह काल कर्म तथा स्वभाव के अधीन है यह निश्चित है । जब तक अपना आरम्भक (आरम्भ किया हुआ) कर्म रहता है तब तक यह देह प्राण धारण करता है अर्थात् देह की स्थिति के लिये उन कर्मों की अपेक्षा है जिन्हें उसने किये थे यदि कर्म अधिक होते हैं तो शरीर अधिक समय तक भी रहता है परन्तु देह का अनुसन्धान तो उसे नहीं रहता इसे बताते हैं । प्रपञ्च सहित उस देह को जिसने समाधिपर्यन्त योग को प्राप्त कर लिया है इससे नित्यारूढ़ समाधि कहा गया । जो नित्यारूढ समाधि (योग की समाधिपर्यन्त की स्थिति को जिसने प्राप्त कर लिया है) ऐसे सिद्ध को बाह्य ज्ञान का अभाव होता है । इसलिये उसके लिये देह को न देखना उचित ही है । यह सिद्ध जिसे स्वतः आत्मतत्व स्फुरित हो गया है वह प्रपञ्च सहित इस देह को स्वप्न में प्रतीत वस्तु की तरह तुच्छ जानता है इसलिये उसका किसी में अनुराग नहीं होता लौकिक की तरह भी उसका अनुसन्धान नहीं है ।।३८।।

आभास—इदानीं देहादिव्यतिरिक्तमात्मानं साधयति, तदभावे पूर्वोक्तं नैव सिध्येत् ।

आभासार्थ अब देहादि से अलग आत्मा को सिद्ध करते हैं इसके पूर्व में कही गई बात सिद्ध नहीं हो सकती—

श्लोक—**यथा पुत्राच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते ।**
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ।।३९।।

श्लोकार्थ—जिस तरह पुत्र धन आदि में स्नेह बुद्धि के कारण आत्मबुद्धि हो जाती है अर्थात् पुत्र धन को अपनी आत्मा समझता है किन्तु विचार करने पर पुत्र धन आदि से मनुष्य अलग ही प्रतीत होता है उसी तरह देह आदि को जिसे आत्मा मान रखा है उनसे यह आत्मा अलग ही है ।।३९।।

सुबोधिनी—यथा पुत्राच्चेति । पुत्रवित्तयोर्लोके आत्मबुद्धिः, शास्त्रतश्च । आन्तरो देहः पुत्रः, बाह्याः प्राणा वित्तम् । तत्र यथा पुत्राद्वित्तादपि, **मर्त्यो** मरणधर्मा, पुत्रे वित्ते विद्यमानेऽपि स्वयं म्रियत इति तस्मात् पृथक् । नन्वत्र भेदः स्वतः सिद्धः किमत्र साध्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—**अप्यात्मत्वेनाऽभिमतादिति** । येषां तु नात्मत्वेनाभिमतिः तान् प्रति न साधयामः, ये पुनरात्मत्वेनैव मन्यन्ते, तेषामपि देहात्ते भिन्ना इत्यर्थः । एवमेव **देहादेर्देहे**न्द्रियप्राणान्तःकरणात् पुरुषो भिन्नः ।।३९।।

व्याख्यार्थ – लोक में पुत्र और धन में आत्मबुद्धि होती है और शास्त्र भी ऐसा ही कहता है। पुत्र आन्तर देह (आत्मा) है धन बाह्य प्राण है परन्तु वहाँ जैसे पुत्र से और धन से मरणधर्मा मनुष्य अलग ही है यदि पुत्र और धन तो उसकी आत्मा या प्राण होते तो वह तो मर जाता है और पुत्र धन तो बने ही रहते हैं इसलिये इनमे (पुत्र धन से) मनुष्य अलग है। यदि कोई शंका करे कि मनुष्य का और पुत्र धन का भेद तो स्वतः सिद्ध है इसको यहाँ सिद्ध करने की क्या आवश्यकता है इसका उत्तर देते हैं। जिनको आत्मरूप से नहीं माना है उनको आत्मरूप से मानना ऐसा हम सिद्ध नहीं कर रहे हैं परन्तु जिनको आत्मरूप से माना जाता है उनको भी देह से वे भिन्न है ऐसा समझना। इसी तरह देह आदि अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण से पुरुष भिन्न है ।।३६।।

आभास—अत्राऽऽत्मनो लोके पृथक् प्रतीत्यभावात् युक्त्या उक्तमपि न सम्यगवगतं भवतीति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

आभासार्थ—लोक में आत्मा की अलग प्रतीति का अभाव होने से युक्ति से पूर्व के श्लोक में कही गई बात ठीक से समझ में नहीं आती इसलिये उसे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

श्लोक—**यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात् ।**
अप्यात्मत्वेनाऽभिमतात्तथापि पृथगुल्मुकात् ।।४०।।

श्लोकार्थ—जिस तरह जलती हुई लकड़ी से, चिनगारी से स्वयं अग्नि से ही प्रकट होने वाले धूँए से तथा अग्नि मानी जाने वालो लकड़ी से अग्नि अलग ही है।४०

सुबोधिनी–यथोल्मुकादिति । अग्नेस्त्रयोऽन्ये सम्बन्धिनः–आधारभूतं काष्ठम् कार्यं धूमः, स्वाधाराः स्वांशा विस्फुलिङ्गाः । त्रयोऽप्यग्नेर्यथा भिन्नाः, यद्यप्यग्नित्वेनाभिमताः । **उल्मुकं** ज्वलत्काष्ठम् । अग्नेरेव राजसं रूपं धूमः, तामसमुल्मुकम्, विस्फुलिङ्गाः सात्त्विकाः । **स्वसम्भवादिति** त्रयाणां विशेषणम् । अग्निसम्बन्धादेवोल्मुकत्वम्, अन्यथा काष्ठत्वम् । **अग्न्यात्मत्वेनाभिमतादि**त्यपि पाठः । **तथापि पृथगुल्मुकादिति** । धूमादिषु भेदः प्रत्यक्षसिद्धः, उल्मुके सन्दिग्ध इति स एवोक्तः ।।४०।।

व्याख्यार्थ—अग्नि के तीन अन्य सम्बन्धी हैं (१) अग्नि की आधारभूता लकड़ी (२) अग्नि का कार्य धूँआ (३) अग्नि ही जिसका आधार ऐसे अपने ही स्वांश अग्निकण (चिनगारी) ये तीनों ही जैसे अग्नि से भिन्न हैं। यद्यपि इन्हें अग्निरूप से माते जाते हैं। उल्मुक कहते हैं जलती हुई लकड़ी को। अग्नि का राजस रूप धूँआ है, तामस रूप जलती हुई लकड़ी और सात्विक विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) ये तीनों ही अग्नि से उत्पन्न होते हैं इसलिये स्वसम्भवात् यह अल्मुकात्, विस्फुलिङ्गात् और धूमात् इन तीनों का ही विशेषण है। अग्नि के सम्बन्ध से ही लकड़ी में उल्मुकता है अन्यथा तो वह लकड़ी ही है। अप्यात्मत्वेनाऽभिमतात् की जगह अग्न्यात्म-

त्वेनाभिमतात् ऐसा भी पाठ है यह पृथगुल्मुकात् इसलिये कहा कि धूम आदि में तो भेद प्रत्यक्ष दीखता है किन्तु उल्मुक (जलती हुई लकड़ी) में भेद सन्दिग्ध है इसलिये केवल उसी को यहाँ कहा ।।४०।।

आभास—दार्ष्टान्तिकमाह—

आभासार्थ—अब दृष्टान्त से उसको कहते हैं—

श्लोक—**भूतेन्द्रियान्तःकरणात् प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् ।**
आत्मा तथा वृथग्द्रष्टा भगवान् ब्रह्मसंज्ञितः ।।४१।।

श्लोकार्थ—उसी तरह देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और जीव से उनका साक्षी आत्मा अलग है वह आत्मा, ब्रह्म इस नाम से कहा है ।।४१।।

सुबोधिनी—भूतेन्द्रियान्तःकरणादिति । भूतानि देहः, इन्द्रियाणि, अन्तःकरणं च; **प्रधानं** स्वभावात्मकम्; **जीवसंज्ञितं** लिङ्गशरीरशब्दवाच्यम् । एतस्माच्चतुष्टयादप्यात्मा अग्निवत् पृथक्; यतो **द्रष्टा** इदं च दृश्यम् । स चाऽऽत्मा **भगवान्** भगवत्प्रकृतिकः, न तु तत्त्वप्रकृतिकः । अविकृतकार्यत्वादंशत्वाद्वा भगवत्सम्बन्धेनोक्तः । भगवानित्येवोच्यत इति केचित् । भगवच्छब्दः कार्येऽपि वर्तत इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—**ब्रह्मसंज्ञित इति** । ब्रह्मेति संज्ञा यस्य । अतो वैलक्षण्यस्य स्पष्टत्वात् सङ्घातादात्मा पृथक् ।।४१।।

व्याख्यार्थ—भूत से देह का ग्रहण है, देह-इन्द्रियाँ और अन्तःकरण तथा प्रधान (स्वभावात्मक) जिसकी जीव संज्ञा है जो लिङ्गशरीर शब्द से कहा जाता है । देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, जीव इन चारों से ही आत्मा अग्नि की तरह अलग है क्योंकि आत्मा दृष्टा इन सबको देखने वाला है और यह देह.दिचारों ही दृश्य है (दीखने वाले हैं)। वह आत्मा भगवान् है भगवान् के समान प्रकृति वाला है तत्व की प्रकृति वाला नहीं है । आत्मा भगवान् का अविकृत कार्य है और भगवान् का अंश है इसलिए उसे भगवत्सम्बन्ध से कहा गया है भगवान् ऐसा ही कहा जाता है ऐसा कोई कहते हैं भगवान् शब्द कार्य में भी है । इसलिये उसकी व्यावृत्ति के लिये ब्रह्मसंज्ञितः ऐसा कहा गया है ब्रह्म ऐसो जिसकी संज्ञा है । आत्मा की विलक्षणता के स्पष्ट होने से संघात से आत्मा अलग है ।

आभास—एवं पृथगात्मज्ञानानन्तरं यत्कर्तव्यं तदाह—

आभासार्थ—इस तरह आत्मा अलग है ऐसे ज्ञान के अनन्तर जो करना चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—**सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।**
ईक्षेताऽनन्यभावेन भूतेष्वपि तदात्मताम् ।।४२।।

श्लोकार्थ—सब प्राणियों में अपनी आत्मा को और सब प्राणियों की आत्मा में

अपनी आत्मा को एवं अनन्य भाव से सब प्राणियों में तदात्मता का निरीक्षण करे ।४२।

सुबोधिनी–सर्वभूतेष्विति । यद्यपि सङ्घातात् पृथगात्मा प्रतीतः, तथापि परिच्छिन्नः प्रतीत इति न कार्यसिद्धिः । न हि परिच्छिन्नज्ञानादपरिच्छिन्नं फलं भवति । अतः सर्वभूतेष्वेवाऽऽब्रह्मतृणस्तम्बपर्यन्तेषु स्वात्मानं पश्येत्, स्वयमेव सर्वत्र वर्तत इति । यथा स्वस्मिन् आत्मनि अयं देहादिसङ्घातः केनचित्सम्बन्धेन वर्तते, एवमेव सर्व एव सङ्घाताः स्वस्मिन्नेव वर्तन्ते, नाऽन्यस्मिन्नित्यपीक्षेत । उपचारात् स्नेहाद्वा नैवं द्रष्टव्यमित्याह–**अनन्यभावेनेति** । न विद्यते अन्यो भावो यस्य । अन्यबुद्धिर्यस्मिन् मनसि न स्फुरति, तादृशमनसा । यथा सङ्घाते निरूपितम्, तथा भूतेष्वपि ज्ञातव्यमित्याह–**भूतेष्वपि तदात्मतामिति** । भूतेषु स्वात्मा द्रष्टव्यः, भूतानि च स्वस्मिन् द्रष्टव्यानीति । **तदात्मता** भूतात्मता । **भूतेष्विवेति** पाठे भूतेषु तत्त्वप्रतीतेस्तद्भावापन्नानीति ज्ञानवतो दृष्टान्तः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि संघात से आत्मा अलग प्रतीत होती है तथापि वह परिच्छिन्न (सीमित) प्रतीत होती है इसलिये कार्यसिद्धि नहीं होगी क्योंकि परिच्छिन्न ज्ञान से अपरिच्छिन्न फल नहीं हो सकता । इसलिये सब प्राणियों में ब्रह्मा से लेकर तृण स्तम्ब पर्यन्तो में सबमें अपनी आत्माओं को देखें स्वयं ही तो सब जगह है । जैसे अपनी आत्मा में यह देह आदि संघात किसी सम्बन्ध से है उसी तरह सभी सघात अपने में ही है अन्य में नहीं ऐसा भी देखे । ऐसा देखना औपचारिक अथवा स्नेह से नहीं होना चाहिये किन्तु अनन्य भाव से होना चाहिये । नहीं है अन्य भाव जिसका उसे अनन्यभाव कहते हैं । अन्य बुद्धि जिसके मन में स्फुरित नहीं होती है उस प्रकार के मन से । जिस तरह का निरूपण संघात में है उसी तरह का प्राणियों में भी जानना चाहिये उसे 'भूतेष्वपि तदात्मताम्' से कहते हैं । सब प्राणियों में अपनी ही आत्मा देखनी चाहिये और सब प्राणियों को अपने में देखना चाहिये इसी को तदात्मता-भूतात्मता कहते हैं । भूतेष्विव इस प्रकार के पाठ में प्राणियों में तत्व की प्रतीति से तद्भाव को प्राप्त इस तरह का ज्ञानियों के लिये दृष्टान्त है ॥४२॥

आभास—नन्वेकस्य कथं नानात्वप्रतीतिः ? कथं वा सुखदुःखाद्युपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि एक की नाना रूप से प्रतीति कैसे होती है कैसे वा सुख-दुःख आदि की उपपत्ति होती है इस आशंका पर कहते हैं—

श्लोक—**स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते ।**
योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जिस तरह अग्नि अपनी कारणभूत लकड़ी आदि आश्रयों में अनेक रूप से प्रतीत होती है इसी तरह प्रकृति में स्थित आत्मा योनियों के गुणों की विषमता से अनेक प्रकार से भासित होती है ॥४३॥

सुबोधिनी—स्वयोनिष्विति । यथा एक एवाऽग्निः, **स्वयोनिषु** काष्ठेषु, **नाना प्रतीयते** । वक्रऋज्वादिभेदेन, श्वेतरक्तादिभेदेन च । तत्र हेतुः—**योनीनां गुणवैषम्यम्**, आकारो जातिश्च, तथा आत्माऽपि प्रकृतौ विद्यमानः । आत्मनः सकाशाद्यद्यपि तत्त्वानि जायन्ते, ततश्च न तुल्यदृष्टान्तता, तथापि यदा तेषु प्रविश्योद्गच्छति, तदा दृष्टान्त इति ज्ञापयितुं **तथाऽत्मा प्रकृतौ स्थित** इत्युक्तम् ।।४३।।

व्याख्यार्थ—जैसे एक ही अग्नि अपनी उत्पत्ति के कारणभूत लकड़ी में अनेक रूप से प्रतीत होती है कहीं टेढ़ा कहीं सीधा कही श्वेत तो कही रक्त इत्यादि भेदों से । उसमें कारण है अपनी उत्पत्ति की कारणभूत लकड़ी का आकार तथा जाति उसी तरह आत्मा भी प्रकृति में विद्यमान है । आत्मा से ही यद्यपि तत्व उत्पन्न होते हैं इसलिये दृष्टान्त के साथ इसकी बराबरी नहीं है तथापि जब तत्वों में आत्मा प्रविष्ट होकर निकलता है तब दृष्टा हो जाता है इसको बताने के लिये 'तथात्मा प्रकृतौस्थितः' ऐसा कहा ।।४३।।

आभास—शास्त्रार्थमुपसंहरति—

आभासार्थ—शास्त्रार्थ का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।**
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणाऽवतिष्ठते ।।४४।।

श्लोकार्थ—इसलिये इस सदसदात्मिका अपनी दैवी प्रकृति को जो दुर्विभाव्य है उसे पराजित करके आत्मा स्वरूप में ब्रह्मरूप में स्थित हो जाता हैं ।।४४।।

सुबोधिनी—तस्मादिति । इदं हि शास्त्रं साङ्ख्यम्, योगस्त्वङ्गत्वेनोक्तः; यथा भक्तिः । अतः प्रकृतिव्युदासमेवोपसंहरति—**इमामनुभूयमानाम्**, स्वभावत्वेन स्वां प्रकृतिम्, स्वस्य जायेव स्वसंसारप्रसवित्रीम्, **दैवीं** भगवत्सम्बन्धिनीम्, विना भगवत्कृपया, भगवद्भावाभावे वा, अनिवर्त्तमानाम्; **सदसदात्मिकां** कार्यकारणरूपामनेकविधां वा अस्थापने हेतुः । **दुर्विभाव्यामिति** सम्बन्धानिरूपणे हेतुः; अतः स्वतो निवृत्त्यभावः । **एतादृशीं पराभाव्य स्वरूपेणाऽवतिष्ठत** इति शास्त्रम् । प्रकृतितद्विकारोपधानविलये पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति सिद्धम् ।।४४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे अष्टाविंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—यह सांख्य शास्त्र है योग को तो इसके अंग रूप से कहा गया है जैसे भक्ति को, इसलिये प्रकृति को पराजित करना चाहिये ऐसा उपसंहार करते हैं । स्वभावरूप से अनुभव में आने वाली इस अपनी प्रकृति को अपने संसार को जन्म देने वाली जाया (स्त्री) की तरह अनुभव करता है । यह प्रकृति दैवी है भगवत्सम्बन्धिनी है यह प्रकृति बिना भगवान् की कृपा के अथवा

बिना भगद्भाव के होने पर निवृत्त नहीं होती । यह दैवी प्रकृति सदसदात्मिका है अर्थात् कार्य-कारणरूपा है यद्वा अनेक प्रकार की है ऐसी यह अस्थापन में कारण है । इसके सम्बन्ध का निरूपण न होने में इसकी दुर्विभाव्यता कारण है, इसलिये स्वतः निवृत्ति का अभाव है । इस प्रकार की प्रकृति को पराभूत करके आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है ऐसा इस शास्त्र का कथन है । इससे प्रकृति तथा उसके विकारों के उपधान के विलय होने पर जब पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है उसे ही मोक्ष कहते हैं ऐसा सिद्ध है ।।४४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के अट्ठाईसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय की कथा का सार (सूरसागर से) **भगवान् का ध्यान**

संतनि की संगति नित करै । पाप कर्म मन तै परिहरै ।
अरु भोजन सो इहिं विधि करै । आधौ उदर अन्न सौं भरै ।
आधे में जल वायु समावै । तब तिहिं आलस कबहुँ न आवै ।
अरु जो परालब्ध सौं आवै । ताही को सुख सौं बरतावै ।
बहुतै कौ उद्यम परिहरै । निर्भर ठौर बसेरौ करै ।
तीरथ हू में जो भय होइ । ताहू ठाउँ परिहरै सोइ ।
बहुरौ धरै हृदय महँ ध्यान । रूप चतुरभुज स्याम सुजान ।
प्रथ मैं चरन-कमल कौं ध्यावै । तासु महातम मन मैं ल्यावै ।
गंगा प्रगट इनहिं तैं भई । सिव सिवता इनहीं तैं लई ।
लछमी इनकौ सदा पलोवै । बारंबार प्रीति करि जोवै ।
जंघनि कौं कदली सम जानै । अथवा कनक खंभ सम मानै ।
उर अरु ग्रीव बहूरि हिय धारे । तापर कौस्तुभ मनिहिं बिचारै ।
तहँ भृगु-लता, लच्छमी जान । नाभि कमल चित धारै ध्यान ।
मुख मृदु-हास देखि सुख पावै । तासौं प्रेम सहित मन लावै ।
नैन कमल-दल से अनियारे । दरुसत तिन्है कटै दुःख भारे ।
नासा-कीर परम अति सुन्दर । दरसत ताहि मिटै दुख-द्वंदर ।
कूप समान स्रोन दोउ जानै । मुख कौ ध्यान याहि बिधि आनै ।
केसर-तिलक-रेख अति सौहै । ताकि पटतर कौं जग को है ?
मृगमद-बिंदा तामैं राजै । निरखत ताहि काम सत लाजै ।
मोर मुकुट पीताम्बर साहै । जो देखे ताकौ मन भो है ।
स्रवनानि कुंडल परम मनोहर । नख-सिख ध्यान धरैयौं उर धर ।
क्रम-क्रम करि यह ध्यान बढावै । मन कहुँ जाइ, फेरि तहँ ल्यावै ।
ऐसें करत मगन रहै सोई । बहुरौ ध्यान सहज ही होय ।
चितवन चलत न चित तैं टरे । सुत-तिय धन की सुधि विसमवै ।
तव आतम घट-घट दरसावै । मगन होई, तन सुधि विसरावै ।
भूख प्यास ताकौं नहिं व्यापै । सुख दुख तनिकौ तिहिं सतावे न ।
जीवन-मुक्त रहै या भाइ । ज्यौं जल कमल अलिप्त रहाइ ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (सगुण मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—२९

श्री कपिलदेवजी का माता देवहूतिजी को वैराग्य के लिये बताया हुवा काल का स्वरूप

कारिका—**एवं ज्ञानप्रकरणं साङ्गं वै सुनिरूपितम् ।**
अतःपरंतु वैराग्यं चतुर्भिर्विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस तरह अङ्ग के सहित ज्ञान के प्रकरण का अच्छे प्रकार से निरूपण किया अब उनतीसवें अध्याय से चार (२९ से ३२वें) अध्यायों में वैराग्य का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**वैराग्ये कारणं कालः परिच्छेदक ईरितः ।**
कालस्य भक्तिहेतुत्वं माहात्म्यार्थं स्वतोऽपि तत् ॥२॥

कारिकार्थ—परिच्छेदक (सीमा बाँधने वाला) काल वैराग्य में कारण है ऐसा कहा गया है

वह काल प्रथम[1] (उन्तीसवें) अध्याय में सगुण भक्ति के हेतु रूप से और स्वतः (अपने आप से) माहात्म्य बताने से कहा गया है ॥२॥

कारिका—**ततो जीवस्य गतयो लोकशास्त्रविभेदतः ।**
लोको हि द्विविधः प्रोक्तः परलोकस्तथैहिकः ॥३॥
वैदिको ब्रह्मपर्यन्तः कालश्चैवं चतुर्गतिः ।
यावन्निरूपितं पूर्वं तत्कालास्पृष्टमेव हि ॥४॥

कारिकार्थ—इसके अनन्तर लोक और शास्त्र के भेद से जीव की गतियाँ कही गई है । लोक भी दो प्रकार का है एक पारलौकिक और दूसरा एहिक । वेदिक ब्रह्म पर्यन्त है । इस तरह काल चार गति वाला है । जितना भी पहले निरूपण किया गया है वह काल से अस्पृष्ट (बिना सम्बन्ध वाला) है ॥३-४॥

कारिका—**अग्रे सर्वं कालसाध्यमतो वैराग्यहेतुकम् ।**
कालस्तु सर्वत्र समः स्वतन्त्रैः स विरुद्धयते ॥५॥

कारिकार्थ– आगे जो वर्णन किया जायगा वह काल साध्य (काल से प्राप्त होने वाला) है अतः वह वैराग्य का हेतु है । काल तो सर्वत्र समान है अतः वह स्वतंत्रों (स्वतंत्र पुरुषों) से विरुद्ध है ॥५॥

कारिका—**दण्डनेतुर्यथा सर्वे हरिणैव तथा यतः ।**
अतः कालवशानां हि वार्ता प्रकरणे तथा ॥६॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार भगवान् ने दंडनेता (यम) के अधीन सब को कर दिया है उसी प्रकार भगवान् ने सबको काल के भी अधीन कर दिया है । अतः काल के वशीभूत किये गयों की वार्ता इस प्रकरण में है ॥६॥

कारिका—**एकोनत्रिंशदध्याये कालभक्तिः ससाधना ।**
माहात्म्यं चापि कालस्य विस्तरेण निरूप्यते ॥७॥

कारिकार्थ – उनतीसवें अध्याय में ससाधाना (साधन सहित) काल भक्ति का एवं काल के महात्म्य का भी विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है ॥७॥

कारिका—**सर्गे यद्यस्य नोत्पत्तिर्वैराग्यं च भवेत्ततः ।**
आधिभौतिकभूतादीन्येतानीत्यपि बोध्यताम् ॥८॥

कारिकार्थ—सृष्टि में यदि इस (काल) की उत्पत्ति न होती तो उस से वैराग्य नहीं होता । ये आधिभौतिक भूतादि है—ऐसा भी जानना चाहिये ॥८॥

---

(१) प्रथम (२६ वें) अध्याय में काल सगुण भक्ति के हेतु रूप से और स्वतः महात्म्य बताने से कहा गया है । दूसरे (३०वें) अध्याय में वैराग्यजनक द्विविध हेतु रूप से, तीसरे और चौथे (३१ और ३२वें) अध्यायों में द्विविध लोक के हेतु रूप से, इस तरह काल चार प्रकार की गतियों का कारण है इसलिये वैराग्य का चार अध्यायों से वर्णन है । "प्रकाश"

आभास—पूर्वप्रकरणे ज्ञानं साङ्गं सुविनिरूपितम् । वैराग्या भावे तन्नोपपद्यतेति पूर्वानुवादपूर्वकं वैराग्यहेतुं पृच्छति । यद्यपि भक्त्या वैराग्यं भवतीति पूर्वं सूचितम्, तथापि कीदृशी भक्तिः वैराग्य जनयतीति भक्तिभेदानपि पृच्छति । तत्र प्रथमं पूर्वानुवादमाह सार्द्धेन—

आभासार्थ—पूर्व प्रकरण में अङ्गसहित ज्ञान का अच्छी तरह से निरूपण किया गया । वह ज्ञान वैराग्य के अभाव में उत्पन्न नहीं हो सकता इसलिये पूर्व के अनुवाद पूर्वक वैराग्य के हेतु को (देवहूति) पूछती है । यद्यपि भक्ति से वैराग्य होता है ऐसा पहले सूचित किया जा चुका है तथापि कैसी भक्ति वैराग्य को उत्पन्न करती है इस तरह भक्ति के भेदों को भी पूछती है । उनमें पहले डेढ श्लोक से पूर्वानुवाद को कहते हैं—

देवहूतिरुवाच— श्लोक—**लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च ।**
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥१॥

श्लोकार्थ—देवहूति ने पूछा—प्रभो ! प्रकृति पुरुष तथा महत्तत्व आदि इनका जो पारमार्थिक स्वरूप जिससे लक्षित होता है (वह मुझे कहिये) ॥१॥

सुबोधिनी—लक्षणमिति । त्वया महदादेः प्रकृतिपुरुषयोश्च लक्षणं कथितम् । **येन** लक्षणेन, **स्वरूपा**त्मरूपम्, **लक्ष्यते** ज्ञायते; **अमीषां** च स्वरूपं ज्ञायते । अनेन ज्ञानोपायः सर्वोऽप्युक्त इत्युक्तम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—तुमने महत्तत्व आदि का और प्रकृति पुरुष का लक्षण कहा । जिस लक्षण से स्वरूप और आत्मरूप लक्षित होता है और इनका स्वरूप जाना जाता है । इससे ज्ञान का जो भी कोई उपाय है वह सारा ही कहा गया ॥१॥

आभास—तत्र प्रमाणमप्युक्तमित्याह—

आभासार्थ—उसमें आपने प्रमाण भी कहा यह कहते हैं—

श्लोक—**यथा साङ्ख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते ।**
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरतः प्रभो ! ॥२॥

श्लोकार्थ—जैसा प्रकृति पुरुष और महत्तत्व आदि का रूप सांख्य में कहा है उसे आपने मुझे कहा अब भक्ति योग के मार्ग को मुझे विस्तार से बताईये ॥२॥

सुबोधिनी—यथा साङ्ख्येषु कथितमिति । साङ्ख्यस्य माहात्म्यमाह—**यन्मूलं तत्प्रचक्षत इति** । तत्पूर्वोक्तलक्षणादिकं यत्साङ्ख्यमूलमिति प्रचक्षते । यो भगवान् वा, तस्य साङ्ख्यस्य

मूलमिति प्रचक्षते। एवमनूद्य वैराग्यहेतुभूतां भक्तिं पृच्छति—**भक्तियोगस्येति**। **मे** मह्यम्। **मार्गं** नानाविधम्, **विस्तरतो** बहुसाधनभेदतः, **ब्रूहि**। **प्रभो** इति तथाकथने सामर्थ्यम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—जैसा सांख्यों में कहा है ऐसा कहना सांख्य के माहात्म्य का कथन है उसी को 'यन्मूलं तत्प्रचक्षते' से कहते हैं। पूर्व में जो भी लक्षण आदि कहे गये उसे ही सांख्य का मूल कहा गया है अथवा जो भगवान् है वह सांख्य का मूल है ऐसा कहते हैं। इस तरह पूर्वोक्त का अनुवाद करके वैराग्य की हेतुभूता भक्ति को पूछती है। मुझे भक्तियोग का मार्ग जो अनेक प्रकार का है उसे आप अनेक साधनों के भेद से कहो। प्रभो! सम्बोधन इसलिये दिया है कि आप उसके कहने में सामर्थ्य रखते हैं ॥२॥

आभास—किं ततः स्यात्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—उससे क्या होगा उसके लिये कहते हैं—

श्लोक—**विरागो येन पुरुषो भगवन्! सर्वतो भवेत्।**
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥३॥

श्लोकार्थ—इसके सिवाय जीवों की जन्म मरण रूपा अनेक प्रकार की गतियों का भी वर्णन कीजिये। जिनके सुनसे से जीव की सब प्रकार की वस्तुओं से वैराग्य होता है ॥३॥

सुबोधिनी—विरागो येनेति। भगवन्निति सम्बोधनं वैराग्यस्याऽपि भगवद्गुणत्वेन भक्तिसाध्यत्वेऽपि न दोष इति ख्यापनार्थम्। **येन** भक्तिमार्गेण कृत्वा, **पुरुषः सर्वतो विरागो भवेत्**। इदमेव वाक्यमग्रेऽपि युज्यते। भक्तिर्हि अलौकिकप्रकारेण वैराग्यहेतुः। लौकिकप्रकारेण वैराग्यहेतुं पृच्छति—**आचक्ष्वेति**। **जीवलोकस्य** लोकप्राणिनः, **विविधाः** संसरणमार्गा देवतिर्यङ्मनुष्यादियोनिप्राप्त्युपायाः। **मम** मह्यम् ॥३॥

व्याख्यार्थ--वैराग्य भी भगवान् का गुण है उसके भक्ति साध्य होने पर भी कोई दोष नहीं है इस को बताने के लिये भगवन् ऐसा सम्बोधन दिया है। ऐसा भक्ति मार्ग कहिये जिस भक्ति-मार्ग से पुरुष सबसे विरक्त हो जाय, यही वाक्य आगे भी युक्त होता है। अलौकिक प्रकार से ही भक्ति वैराग्य का कारण होती है। लौकिक प्रकार से वैराग्य कैसे हो इसका कारण पूछती है यह 'आचक्ष्व' से बताया है। जीव लोक से लोक के प्राणी लिये गये है। संसरण (संसार प्राप्ति) के अनेक मार्ग हैं जिन से देव-पशुपक्षी-मनुष्य आदि योनियां प्राप्त होती हैं। उसे मुझे कहो ॥३॥

आभास—कालश्च वैराग्यहेतुरिति तस्य स्वरूपं कथयेत्याह—

आभासार्थ—काल भी वैराग्य का कारण है उसका स्वरूप कहिये—

श्लोक—**कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते ।**
स्वरूपं बत कुर्वन्ति वद्धेतोः कुशलं जनाः ॥४॥

श्लोकार्थ—जिसके भय से लोग शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और जो ब्रह्मा आदि पर शासन करने वाला है उस सर्वसमर्थ काल का भी स्वरूप आप मुझ से कहिये ॥४॥

सुबोधिनी—कालस्येति । ईश्वरस्य रूपमिव रूपं यस्य । ऐश्वर्यांशो भगवता काले स्थापितः, अतः कालस्य स्वरूपं ज्ञातव्यम् । किञ्च, **परेषां** ब्रह्मादीनामपि **परो** नियन्ता । किञ्च, **बतेति** हर्षे, सर्वे **जनाः** कालहेतोः **कुशलं कुर्वन्ति** । कालाद्भयाभावे कोऽपि कुशलं न कुर्यात् ॥४॥

व्याख्यार्थ—काल का रूप भी ईश्वर के रूप की तरह ही है इसलिये 'ईश्वररूपस्य' 'ईश्वरस्य रूपमिव रूपं यस्य' ऐसा कहा । भगवान् ने काल में अपना ऐश्वर्य अंश स्थापित किया है । इसलिये काल का स्वरूप जानना चाहिये । वह काल परेषांपरः है पर जो ब्रह्मा आदि हैं उनसे भी पर अर्थात् नियन्ता है । 'बत' हर्ष वाचक है सब लोग काल के कारण ही शुभ कार्य करते हैं यदि काल से भय न हो तो कोई शुभ कार्य करे ही नहीं ।४॥

आभास—ननु मया सर्वं वक्तव्यमिति कोऽयं निर्बन्धस्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि मुझे सब कहना चाहिये ऐसा तुम्हारा आग्रह क्यों है उसके लिये कहते हैं—

श्लोक—**लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुषाश्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।**
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ।५॥

श्लोकार्थ—ज्ञान दृष्टि के लुप्त हो जाने के कारण देह आदि मिथ्या वस्तुओं में जिन्हें आत्माभिमान हो गया है तथा बुद्धि के कर्मासक्त होने से अत्यन्तश्रमित होकर जो चिरकाल से अपार अन्धकारमय संसार में सोये पड़े हैं उन्हें जगाने के लिये आप योग प्रकाशक सूर्य ही प्रकट हुए हैं ॥५॥

सुबोधिनी—लोकस्येति । लोकस्य निस्तारार्थे, **योगभास्करः किल त्वमाविरासीः**, अतस्त्वयैव सर्वमज्ञाननिवर्तकं वक्तव्यम्, सूर्येणैव हि सर्वं तमो बाध्यते । ननु लोकाः स्वयमेव स्वाज्ञानं कथं न दूरीकुर्वन्ति ! तत्राऽऽह—**मिथ्याभिमतेरिति** । मिथ्या अभिमतिरभिमानो यस्य । अभिमानेन ग्रस्ता न सन्मार्गं जानन्तीत्यर्थः । किञ्च, चक्षुषा हि मार्गपरिज्ञानम्, लोकास्त्व**चक्षुषः** । चक्षुरत्र सच्छास्त्रम्, अन्यथा सूर्येणाऽपि कार्यं न किञ्चित् । अत्यन्ताविवेकार्थमाह—**अनाश्रये** अरक्षके, **तमस्यज्ञाने, चिरं प्रसुप्तस्य** पूर्वापरानुसन्धानव्यतिरेकेण संसार एव रमतः ।

व्याख्यार्थ—लोक का निस्तार (उद्धार) करने के लिये योग भास्कर (सूर्य) तुम आविर्भूत हुए हो इसलिये तुमको ही अज्ञान का निवर्त्तक (योग) कहना चाहिये । सूर्य ही से तो सारा अन्धकार दूर किया जाता है । यदि शंका हो कि लोग स्वयं ही अपने अज्ञान को क्यों नहीं दूर कर लेते हैं । उसके लिये कहते हैं 'मिथ्याभिमतेः' लोगों को मिथ्या अभिमान है । जो लोग अभिमान से ग्रस्त होते हैं वे सन्मार्ग को नहीं जानते हैं और यह भी बात है कि चक्षु से ही मार्ग का परिज्ञान होता है लोग तो बिना चक्षु के हैं यहाँ चक्षु से सत् शास्त्र लिया गया है । लोक में भी बिना आँख वालों को सूर्य से भी क्या कार्य है अर्थात् सूर्य से उनको कुछ भी (कार्य) नहीं । अत्यन्त अविवेक के लिये कहते हैं—अनाश्रय (अरक्षक) तम (अज्ञान) में चिरकाल तक जो सोया हुआ है अर्थात् जिसे पूर्वापर (आगे पीछे) का कोई अनुसन्धान नहीं है केवल संसार में ही रमण करता है । वहाँ भी कर्मों में बुद्धि के अनुविद्ध होने से श्रान्त (थका हुवा) है ।

कारिका—**कर्मस्वनुविद्धया धिया श्रान्तस्य ।**
कर्मश्रान्तः शयानोऽज्ञः, अन्यः सुप्तस्तमस्यधः ।
दीनो भवति सर्वेषां ये समर्था दयालवः ।

कारिकार्थ— कर्मों को करके जो थक गया है और थककर जो सो गया है ऐसा बेसमझ तथा जो अन्य अज्ञान में नीचे सो गया है जो समर्थ दयालु हैं उन सबके लिये वह अज्ञानी दया का पात्र होता है ।

तत्रापि तेषां योगप्रकाशको भास्करः, अतश्चक्षुरपि प्रयच्छति, तमोऽपि दूरीकरोति, सुप्तमपि प्रबोधयति, श्रमापनोदनं च करोति, कर्मासक्तिं च त्याजयति, मिथ्याभिमानं च दूरीकरोति, आश्रयश्च भवति, शीघ्रं च कृतार्थं करोतीति अष्टाङ्गोद्धारहेतुरयं भास्करः ।।५।।

व्याख्यार्थ—ऐसे दयनीयों के लिये आप योगभास्कर हैं इसलिये आप उन्हें (१) नेत्र भी देते हैं । (२) अन्धकार (अज्ञान) को भी दूर करते हैं (३) सोये हुए को भी जगाते हैं । (४) श्रम भी दूर करते हैं (५) कर्म की आसक्ति को छुड़ा देते हैं (६) और मिथ्या अभिमान को भी दूर कर देते हैं (७) सबका आश्रय बनते है (८) और शीघ्र कृतार्थ करते हैं । इस तरह आठ अङ्गों से उद्धार करने में आप कारण हैं इसलिये आप योग भास्कर (सूर्य) हैं ।।५।।

आभास—सन्मार्गं पृच्छतीति सन्तुष्टः, वैराग्यहेतुर्नोक्त इति श्रोतृत्वावगत्याऽपि प्रतिः, मातृत्वादनुरुद्धः, तस्या दीनत्वं दृष्ट्वा करुणया पीडितः, अग्रे इयं कृतार्था भविष्यतीति-महामुनित्वात् ज्ञात्वा अभिनन्दनेन सम्मुखीकृत्य बभाष इत्याह—

आभासार्थ—यह सन्मार्ग पूछ रही है इस से कपिलदेवजी को सन्तोष हुआ । मैंने वैराग्य का कारण नहीं कहा उसके सुनने की इसकी इच्छा है ऐसा जानकर भी प्रसन्न हुए, माता होने के कारण उसने अनुरोध भी किया अतः उसकी दीनता को देखकर करुणा से पीड़ित हुए । (आगे जाकर यह कृतार्थ हो जायगी) (महामुनि होने से) ऐसा जानकर प्रश्नों के अनुमोदन से उसे अपनी ओर आकृष्ट करके बोले इसे कहते हैं—

मैत्रेय उवाच—श्लोक—**इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः ।**
आबभाषे कुरुश्रेष्ठ; प्रीतस्तां करुणार्दितः ।।६।।

श्लोकार्थ—मैत्रेयजी बोले—हे कुरुश्रेष्ठ विदुरजी ! माता के मनोहर वचन सुनकर महामुनि कपिलजी ने उनकी प्रशंसा की और जीवों के प्रति दया से द्रवीभूत हो बड़ी प्रसन्नता के साथ उनसे इस प्रकार बोले ।।६।।

सुबोधिनी-इतीति । **श्लक्ष्णं** मनोहरं **मातुर्वचः** तथात्वेनाभिनन्द्य, **तां** पुरुषार्थोपयोगिनी- **माबभाषे** प्रत्युत्तरं दत्तवान् ।।६।।

व्याख्यार्थ- श्लक्ष्ण-मनोहर, माँ के वचनों का उस रूप से अभिनन्दन करके पुरुषार्थ के उपयोगिनी माता को प्रत्युत्तर दे दिया ।।६।।

आभास—मुख्यां भक्ति **वक्तुमादौ गुणैर्भिन्नां भक्तिमाह**—

आभासार्थ—भक्ति कहने के लिये आरम्भ में गुणों के सम्बन्ध से अलग अलग प्रकार की भक्ति कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—**भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि ! भाव्यते ।**
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ।।७।।

श्लोकार्थ—श्रीभगवान् ने कहा—माताजी! साधकों के भाव के अनुसार भक्ति योग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है क्योंकि स्वभाव और गुणों के भेद से मनुष्यों के भाव में भी विभिन्नता आ जाती है ।।७।।

सुबोधिनी-भक्तियोगो बहुविध इति । मार्गैर्मतभेदैः, पुरुषस्वभावभेदैश्च, **बहुविधो भाव्यते** । यतः स्वभावगुणमार्गेण पुंसां स्वभावो विभिद्यते । स्वभावो जीवभेदनिमित्तः; जीवा ह्यनेकविधा नानास्वभावाः । गुणा अपि भेदका अन्तःकरणस्वभावहेतवः । मार्गा देशकालनियमेन देहनियामकाः । वर्णाश्रमधर्मपाषण्डादिप्रतिपादनशास्त्ररूपो मार्गः । तेषामावृत्त्या प्राणिनां भावो भिद्यते; अन्यथा श्रुत्वाऽपि स्वभाववशादन्यथा अर्थं कल्पयन्ति, तदनुसारिणश्च तथैव प्रवर्तन्ते; अतो बहुविधा मार्गा भक्तौ ।।७।।

व्याख्यार्थ—यह भक्ति योग, मार्गो (मतों) के भेदों से और पुरुषों के स्वभाव भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है । क्योंकि स्वभाव गुणमार्ग से पुरुषों का स्वभाव भिन्न हो जाता है । जीवों के भेद के कारण स्वभाव भेद होता है, जीव अनेक प्रकार के हैं और अनेक स्वभाव के हैं। भेदक (भेद करने वाले) गुण भी अन्तःकरण के स्वभाव के भेद में कारण है । मार्ग, देश, काल के नियम से देह के नियामक हैं । वर्णाश्रमधर्म प्रतिपादक शास्त्र पाषण्डादि प्रतिपादक शास्त्र में 'मार्ग' शब्द से कहे जाते हैं । उनकी आवृत्ति से प्राणियों के भाव में भेद हो जाता है । ऐसा न होता तो किसी शास्त्र को सुनकर भी स्वभाववश उसके अर्थ

की अन्यथा कल्पना कैसे करते और उनके अनुसार चलने वाले उसी तरह प्रवृत्त होते हैं इसलिये भक्ति में अनेक प्रकार के मार्ग हैं ।।७।।

आभास—तत्र प्रथमं तामसान् भक्तिभेदानाह—

आभासार्थ—उसमें पहले भक्ति के तामस भेदों को कहते हैं—

श्लोक—**अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।**
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः ।।८।।

श्लोकार्थ—जो भेददर्शी क्रोधी मनुष्य हृदय में हिंसा, दम्भ, मात्सर्य का भाव रखकर मुझ से प्रेम करता है वह मेरा तामस भक्त है ।।८।।

सुबोधिनी–अभिसन्धायेति । शत्रूणां हिंसामुद्दिश्य यस्तु **मयि भावं** भक्तिं कुर्यात्; स तामसतामसो भवति । तस्माद्दम्भेन **यः** करोति परप्रतारणार्थं स राजसतामसः; परस्य बुद्धिर्धनं चाऽपह्रियते इति तामसत्वम् । मात्सर्येण परोत्कर्षासहनेन लोकानामसाधारणबुद्धिनिवृत्त्यर्थं यो मयि भावं कुर्यात्स सात्त्विकतामसः । अयं भाव आन्तरबुद्ध्यात्मकः, अभिध्यानरूपः, तपोरूपो वा; न तु श्रवणादिरूपः; तत्र तस्याऽनधिकारात् । **भिन्नदृगिति** । अभिन्नदृष्ट्याऽप्येते भावा भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमुक्तम्; **'यथा हि भगवा नेव वस्तुतः सदसच्च यत् । सत्येनाऽनेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः'** इति वाक्यात् । तमसो मूलं **संरम्भीति** । भगवत्स्तोत्रेषु सर्वेषां संग्रहार्थं बहूनि फलान्युच्यन्ते; अतः फलविशेषकामनयैव स्तोत्रादीनां श्रवणं सम्भवतीति तामसी भक्तिरुक्ता ।।८।।

व्याख्यार्थ—शत्रुओं की हिंसा के उद्देश्य से जो मेरे में भाव (भक्ति) करता है वह तामस होता है । उस हेतु से जो दम्भ से करता है अथवा दूसरों को ठगने के लिये करता है यह राजसतामस है । दूसरे की बुद्धि और धन का अपहरण करता है, इसलिये उसमें तामसता है । मात्सर्य कहते हैं दूसरे के उत्कर्ष को सहन न करना उससे लोकों की असाधारण बुद्धि की निवृत्ति के लिये जो मेरे में भाव करता है वह सात्विक तामस है । भाव आन्तर बुद्धिरूप है अर्थात् अभिध्यान, रूप है अथवा तपोरूप है श्रवणादिरूप नहीं है क्योंकि श्रवण में उसका अधिकार नहीं है । अभेद दृष्टि वालों में भी पूर्वोक्त भाव हो सकते हैं उसकी निवृत्ति के लिये भिन्नदृक् ऐसा कहा अर्थात् जिसकी भेद दृष्टि है उसमें ही ये भाव होते हैं और वह तामस है । इसके लिये कहा भी है 'जितना भी कार्य अथवा कारणरूप जगत् है वह वास्तव में भगवान् ही हैं । इस सत्य के प्रभाव से हमारे सब उपद्रव नष्ट हो जायं' इस वाक्य से अभेद दृष्टि वाले में ये भाव नहीं हो सकते । तमोगुण का मूल संरम्भ है । भगवान् की स्तुतियों में तो सबका संग्रह हो इसके लिये बहुत से फल कहे गये हैं इसलिये फल विशेष की कामना से ही भगवान् के स्तोत्र आदि का श्रवण सम्भव होता है इसलिये ऐसी भक्ति तामस कही गई है ।।८।।

आभास—एवं राजसीं त्रिविधामाह

आभासार्थ - तामस भक्ति की तरह ही तीन प्रकार की राजस भक्ति को कहते हैं—

श्लोक—**विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।**
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥९॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष विषय, यश, ऐश्वर्य इनकी कामना से प्रतिभा आदि में भेदभाव से मेरी पूजा करता है वह राजस भक्त है ॥९॥

सुबोधिनी–विषयान् स्रक्चन्दनादीन्, **यशः** कीर्तिम्, **ऐश्वर्यं** वा क्रमेणाऽभिसन्धाय गुणैर्भिन्नो राजसः प्रतिमादौ यो मां पूजयेत् स राजसः **पृथग्भाव** इति पूर्ववत् । **एवेति** समुदायव्यावृत्त्यर्थम्, **वेति** विकल्पार्थम्, अन्यथा चत्वारो भेदाः स्युः । **आदि**शब्देन सूर्यादयः ॥९॥

व्याख्यार्थ—विषय (माला, चन्दन आदि) यश (कीर्ति) ऐश्वर्य (अधिकार) आदि की प्राप्ति इनका क्रम से अनुसंधान करके गुणों से भेद दृष्टि रखता हुआ राजस भक्त प्रतिमा (मूर्ति) आदि में जो मेरी पूजा करता है वह राजस है जिस तरह तामस भेद दृष्टि वाला होता है उसी तरह राजस भी भेद दृष्टि से ही ऐसा करता है । 'एव' पद का आशय यह है कि 'विषय', 'यश' और 'ऐश्वर्य' इन सबका अनुसंधान करना नहीं है, किन्तु अपनी इच्छानुसार किसी एक दो अथवा तीनों का अनुसन्धान करके जो मेरी पूजा करता है ऐसा समझना । 'वा' का अर्थ विकल्प है अर्थात् इन तीनों में से किसी का भी । यदि इसे विकल्पार्थक न मानें तो चार भेद हो जायेंगे । 'आदि' शब्द से सूर्य आदि की पूजा का भी ग्रहण है ॥९॥

आभास—सात्त्विकभेदानाह—

आभासार्थ - सात्विक भक्ति के भेदों को कहते हैं—

श्लोक—**कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम् ।**
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥१०॥

श्लोकार्थ—जो व्यक्ति पापों का क्षय करने के लिये, परमात्मा को अर्पण करने के लिये, पूजन करना मेरा कर्त्तव्य है इस बुद्धि से भेद भाव से मेरा पूजन करता है वह सात्विक भक्त है ॥१०॥

सुबोधिनी–कर्मनिर्हारमिति । कर्मणः पापस्य **निर्हारो** दूरीकरणम्, प्रायश्चित्तमिति यावत् । पूर्वकृतकर्मणो वा रोगादिना परिज्ञाने तन्निवृत्त्यर्थं यो भगवन्तं **यजेत्**, वैदिकतान्त्रिकमार्गेण पूजां कुर्यात्, स तामससात्त्विकः । **परस्मिन्** भगवति वा कृतानां सर्वकर्मणाम**र्पणं** समर्पणमुद्दिश्य यो हरिं यजेत् स राजससात्त्विकः । एवं विधानेन भगवन्तमिष्ट्वा तत्र सर्वाणि कर्माणि समर्पणीयानीति यो यजते, स तथोक्तः । यस्तु नित्यकर्मवद्यष्टव्य एव भगवानिति यजते, स सात्त्विकसात्त्विकः । **पृथग्भावः** पूर्ववत् ।१०।

व्याख्यार्थ—'कर्म' अर्थात् पाप उसका निर्हार दूर करना वह प्रायश्चित आदि के द्वारा होता है। अथवा पूर्व जन्म में किये गये कर्मो का परिज्ञान रोग आदि से होता है उसकी निवृत्ति के लिये भगवान् का यजन करे। जो वैदिक अथवा तान्त्रिक मार्ग से भगवान् की पूजा करता है वह ताम-स-सात्विक है। सब से पर (उत्तम) जो भगवान् हैं उनके लिये अपने द्वारा किये जाने वाले सब कर्मों का समर्पण और उस समर्पण के उद्देश्य से जो हरि का यजन करता है वह राजस सात्त्विक है। इस प्रकार के विधान से भगवान् का यजन करके उन्हीं को सब कर्म समर्पित करने चाहिये इस तरह जो यजन करता है वह सात्विक है और जो नित्य कर्म की तरह भगवान् का यजन करना ही चाहिये इस तरह यजन करता है वह सात्त्विक-सात्त्विक है। पृथग् भाव तो पूर्ववत् ही है ।।१०।।

आभास—**निर्गुणां भक्तिमाह द्वयेन**—

आभासार्थ—निर्गुण भक्ति को दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।**
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।।११।।

श्लोकार्थ—जिस तरह गङ्गा का जल अविच्छिन्न (निरन्तर) रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है उसी तरह सबके हृदय में निवास करने वाले मेरे **गुणों** के श्रवण मात्र से मेरे में मन की गति अविच्छिन्न रूप से हो जाती है ।।११।।

सुबोधिनी–मद्गुणेति । परिच्छेदका हि गुणाः सत्त्वादयः । भगवद्गुणास्तु सर्वोत्कृष्ट-हेतुत्वेन श्रुताः स्वाश्रयं भगवन्तमनवच्छिन्नमेव बोधयन्ति, अन्यथा स्वस्य उत्कर्षहेतुत्वं न स्यात् । अतः—**सर्वगुहाशये मयि** भगवति, प्रतिबन्ध-रहिता **अविच्छिन्ना** या **मनोगतिः** । पर्वतादि-भेदनमपि कृत्वा यथा गङ्गाम्भोऽम्बुधौ गच्छति, तथा लौकिकवैदिकप्रतिबन्धान् दूरीकृत्य या भगवति मनसो गतिः । **मनस** इत्युपलक्षणम्, दुर्लभत्वाय वा; यथा कायिकगतिर्गोपिकानाम् । सा गतिर्**निर्गुणस्य भक्तियोगस्य** भगवति प्रेम्णो गतिर्लक्षणं ज्ञापकमित्युत्तरेण सम्बन्धः ।।११।।

व्याख्यार्थ—सत्व आदि गुण परिच्छेदक (सीमित) हैं। भगवद्गुण सर्वोत्कृष्ट (सबसे उत्तम) बनाने में कारण है इसलिये उनका सुनना उन गुणों के आश्रय जो भगवान् हैं उनका अविच्छिन्न रूप से बोधन करते हैं। यदि ऐसा न हो तो वे गुण अपने उत्कर्ष के कारण नहीं हो सकते अतः सब के हृदय में तो निवास करने वाले मुझ भगवान् में प्रतिबन्धों (रुकावट) से रहित अनवरत जो मन की गति का होना (निर्गुण भक्ति है)। जैसे गंगा का जल पर्वत का भेदन करके समुद्र में चला जाता है उसी तरह लौकिक वैदिक प्रतिबन्धों को दूर करके भगवान् में मन की गति होनी चाहिये। मन की गति होना ऐसा कहना तो केवल उपलक्षण मात्र है। केवल मन की ही गति हो ऐसा नहीं है शरीर की गति भी इससे ली जाती है जैसे गोपिकाओं की कायिक गति थी अथवा ऐसा होना दुर्लभ है इस को बताने के लिये है ऐसी गति निर्गुण

भक्तियोग है अर्थात् भगवान् में प्रेम की गति का लक्षण है ज्ञापक है, ऐसा आगे के श्लोक के साथ इसका सम्बन्ध है ।।११।।

आभास—स्वरूपमुक्त्वा लक्ष्यलक्षणसम्बन्धमाह—

आभासार्थ—निर्गुण भक्तियोग का स्वरूप लक्षण कहकर अब लक्ष्य और लक्षण का सम्बन्ध कहते हैं—

श्लोक—**लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।**
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।१२।।

श्लोकार्थ—बिना किसी कामना के (निष्काम) अनन्यरूप से पुरुषोत्तम में जो भक्ति है यही निर्गुण भक्ति का लक्षण कहा गया है ।।१२।।

सुबोधिनी–लक्षणमिति । निर्गुणस्य भक्तियोगस्य तल्लक्षणमुदाहृतमिति प्रमाणम् । आत्यन्तिकभक्तेर्लक्षणमाह–**अहैतुकीति** सार्द्धाभ्याम् । **या अहैतुकी पुरुषोत्तमे भक्तिः स एव भक्तियोग आत्यन्तिक उदाहृत** इति सम्बन्धः । पुरुषोत्तम एव भक्तिः, न तु पुरुषेष्ववतारेषु वा । **भक्तिश्च** प्रेमपूर्विका सेवा । **हेतुः** फलानुसन्धानम्, तद्रहिता अहैतुकी, अनिमित्ता वा । अनेन सगुणा निवारिता । **अव्यवहितेति** कालेन कर्मणा वा यत्र सेवायां व्यवधानं नास्ति, नतु निद्राभोजनादिना; तस्य सेवाहेतुत्वात् । **या भक्तिरिति** लोकवेदप्रसिद्धा, न तु चौर्यादिना विषयान् सम्पाद्य भगवत्सेवाकरणम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—निर्गुण भक्ति योग का वह लक्षण कहा यह प्रमाण है । अब आत्यन्तिक भक्ति का लक्षण कहते हैं 'अहैतुक्यव्यवहिता' इस डेढ श्लोक से । जो बिना किसी कारण के पुरुषोत्तम में भक्ति है वह ही आत्यन्तिक भक्तियोग कहा गया है । पुरुषोत्तम में ही भक्ति होनी चाहिये पुरुष में अथवा अवतारों में नहीं । प्रेमपूर्वक सेवा को ही भक्ति कहते हैं । हेतु कहते हैं किसी प्रकार के फल की इच्छा रखना और जिस भक्ति में ऐसी इच्छा नहीं रहती वह अहैतुकी है उसी को अनिमित्ता भी कहते हैं । इससे सगुण भक्ति का निवारण होता है । अव्यवहित का अर्थ है काल से अथवा कर्म से जिस सेवा में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है यद्यपि नींद भोजन का भी सेवा में व्यवधान कारक मान सकते हैं परन्तु ये तो सेवा में कारण है यदि भोजन नहीं करेगा तो शरीर काम कैसे देगा और यदि नींद नहीं लेगा तो भी अस्वस्थ होने से सेवा नहीं कर सकेगा इसलिये नींद और भोजन तो सेवा के कराने में कारण है । या भक्ति से लोक वेद में प्रसिद्ध भक्ति का ग्रहण है । चोरी आदि से विषयों का संपादन करके भगवान् की सेवा करना उचित नहीं है ।।१२।।

आभास—तस्या निदर्शनमाह—

आभासार्थ—भक्ति का स्वरूप बताकर अब उसका निदर्शन बताते हैं—

श्लोक—सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥१३॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनाऽतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥१४॥

श्लोकार्थ—निष्काम भक्त मेरी सेवा को छोड़कर मेरे द्वारा दी जाने वाली सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष को भी नहीं लेते । ऐसा यह भक्तियोग परमपुरुषार्थ कहा गया है इसके द्वारा पुरुष तीनों गुणों का अतिक्रमण करके मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है ॥१३-१४॥

सुबोधिनी–सालोक्येति । सैवाऽऽत्यन्तिकी या स्वतो रसभावं प्राप्ता, सैव नाऽन्यत्फलमङ्गी-कारयति । अत्यन्तप्रेमोत्पत्तावेवं भवति । **सालोक्यं** वैकुण्ठे वासः; **सार्ष्टिः** समानैश्वर्यम; **सामीप्यं** भगवत्समीपे स्थितिः, सालोक्येऽप्ययं विशेषः, **सारूप्यं** स्वस्याऽपि चतुर्भुजत्वम्; **एकत्वं** सायुज्यम् । **उतेति** तस्य मुख्यफलत्वं ज्ञापयति । तदपि **दीयमानं न गृह्णन्तीत्य**त्यन्ता-नादरे । दीयमानत्वं स्नेहात् । **मत्सेवन**मिति सेवैवानन्दरूपा जातेति समासाद्बोध्यते; यतस्ते **जनाः** सेवकाः । **भक्तियोग** इति तस्यैव नाम । स एवाऽऽ**त्यन्तिक इत्युदाहृतः** । तस्य स्वातन्त्र्या-य भगवत इव फलसाधकत्वमाह–**येनेति** । येन भक्तियोगेन **त्रिगुणमतिव्रज्य, मद्भावाय** भगव-त्त्वाय, **उपपद्यते** योग्यो भवतीत्यर्थः ॥१३-१४॥

व्याख्यार्थ—आत्यन्तिक भक्ति उसे कहते हैं जो स्वतः ही रसभाव को प्राप्त हो गई हो वैसी भक्ति अन्य फल को अंगीकार नहीं कराती । आत्यन्तिक भक्ति अत्यन्त प्रेम की उत्पत्ति में ही होती है । सालोक्य (समान लोक) वैकुण्ठ में रहना । सार्ष्टि (भगवान् के समान ऐश्वर्य का होना) सामीप्य (भगवान् के समीप में रहना) सालोक्य में तो एक ही लोक में रहता है परन्तु सामीप्य में भगवान् के समीप रहता है ये इसकी विशेषता है । सारूप्य (भगवान् की तरह चतुर्भुजता का होना । ऐकत्व (सायुज्य) भगवान् में मिल जाना । उसकी मुख्य फलता क्या है यह 'उत' से बताते हैं । ऊपर बताई गई मुक्तियों को भक्त तो नहीं मांगता किन्तु दी जाने पर भी उनको नहीं लेता इससे मुक्ति के विषय में उसका अत्यन्त ही अनादर है । 'दीयमान' पद स्नेह से देने के अर्थ में हैं । 'मत्सेवन' पद से सेवा ही उनके लिये आनन्दरूप हो गई है इस बात को संक्षेप से बताई है क्योंकि वे जन हैं अर्थात् सेवक हैं । भगवान् की सेवा का ही नाम भक्ति-योग है । उसी को यहाँ आत्यन्तिक (परम पुरुषार्थ) बताया है । भक्तियोग स्वतन्त्र है इसलिये वह स्वयं ही फल को देने वाला है यह 'येन' से बताया है । जिस भक्तियोग से त्रिगुण का अति-क्रमण (उल्लंघन) करके भगवत्त्व के लिये भक्त योग्य हो जाता है ॥१३—१४॥

आभास—एतस्या भक्तेः साधनान्याह निषेवितेति चतुर्भिः—

आभासार्थ—निषेवित आदि चार श्लोकों से इसी भक्ति के साधनों को कहते हैं—

श्लोक —**निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ।।१५।।**

श्लोकार्थ—निष्कामभाव से श्रद्धापूर्वक नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुए नित्यप्रति हिंसा रहित उत्तम क्रिया योग से ।।१५।।

सुबोधिनी—मुख्यं साधनमन्तःकरणशुद्धिः, तदन्तःकरणं षोडशकलं भवतीति तस्य शुद्धयर्थं षोडशसाधनान्युच्यन्ते । तान्यपि त्रिविधानि । आधिभौतिकान्येव तानि कृतान्यन्तःकरणशुद्धिं सम्पादयन्ति परमां धर्मार्थम्; तान्येवाऽऽध्यात्मिकानि ज्ञानार्थे शुद्धिं संपादयन्ति परमाम्; तान्येव च पुनराधिदैविकानि परमां शुद्धिं सम्पादयन्ति भक्त्यर्थम् । सा च भक्तिरात्यन्तिकी; इदं वैलक्षण्यं वक्ष्यति—**मद्धर्माचरणैरेतैरिति** । अन्यथा उक्तानां मद्धर्मत्वं न विहितं स्यात् । अत एव प्रथमं धर्मत्रयमाह—स्मार्तम्, श्रौतम्, तान्त्रिकं चेति, सार्द्धेन । प्रथमं श्रौते रुचिर्न भवतीति स्मार्तं विधत्ते । **स्वधर्मेण परिसंशुद्धाशयः पुरुषो मत्संमुखमेतीति** सम्बन्धः । एवमन्येष्वपि साधनेषु । **स्वधर्मो** वर्णाश्रमधर्मो देहप्रयुक्त्या निष्पन्नः । सोऽपि सम्यक् नितरां सेवितश्चेत्, नत्वनुकल्पेन । तत्रापि कामनारहितेन; तत्रापि सजातीयप्रचयसहितेन महीयसा । त्रिविधगुणयुक्तश्चेत् स्वधर्मः स्नानादिरूपः स्मार्तः, स तु पार्थिवांशदोषं दूरीकरोतीति षोडशांशोपकारं करोति । एवं क्रियायोगो वैदिको यज्ञात्मकः **प्रशस्तः**—येषु ब्राह्मणवाक्यानि अतिप्रशंसकानि भवन्ति, न तु द्वादशाहा (?) हीनवन्निन्दितान्यपि भवन्ति । तत्रापि हिंसाप्रचुरं न कर्तव्यम् । अल्पहिंसा इध्माबर्हिषामर्थे । आलम्भेऽपि तादृशपशुसद्भावे अल्पहिंसा भवति '**मृत्यवे वा एष नीयते**' इति श्रुतेः । अतो **नातिहिंस्रेणे**त्युक्तम् । सोऽपि सर्वदा कर्तव्यः । एवं क्रियायोगोऽपि गुणत्रयसहितः । अयमाध्यात्मिकं दोषं दूरीकरोतीति अपां चाऽऽध्यात्मिकत्वात् तच्छोधको भवति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—मुख्य साधन तो अन्तःकरण की शुद्धि है वह अन्तःकरण सोलह कला का होता है इसलिये उसकी शुद्धि के लिये सोलह साधन कहे जाते हैं । वे भी तीन प्रकार के हैं उनमें जो आधिभौतिक रूप से किया जाता है उनके करने से वे धर्म के लिये उत्कृष्ट (उत्तम) अन्तःकरण की शुद्धि का संपादन करते हैं । वे ही साधन आध्यात्मिक होवे तो वे ज्ञान के लिये शुद्धि का संपादन करते हैं और वे ही साधन जब आधिदैविक होते हैं तो भक्ति के लिये परम शुद्धि का संपादन करते हैं । और वह भक्ति भी आत्यन्तिक होती है । इस विलक्षणता को 'मद्धर्माचरणैरेतः' से कहते हैं । यदि मेरे धर्मों का इन साधनों से अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो इन साधनों में मेरा धर्मपन विहित नहीं होता । अतः सबसे पहले तीन धर्म कहे जाते हैं वे हैं स्मार्त्त, श्रौत और तांत्रिक इनको डेढ श्लोक में कहे हैं । पहले श्रौत धर्म में रुचि नहीं होती इसलिये स्मार्त्त धर्म का यहाँ विधान किया गया है । अपने धर्मपालन से अत्यन्त शुद्ध हो गया है आशय जिसका ऐसा पुरुष मेरे सन्मुख होता है इस तरह का यहां सम्बन्ध है । इसी तरह अन्य साधनों में भी जानना । स्वधर्म से वर्णाश्रमधर्म लिया गया है वह देह के प्रयोग से होता है । वह स्वधर्म भी अनुकल्प रूप से नहीं किन्तु ठीक तरहसे निरंतर सेवित हो तब और उसमें भी कामना न हो तब और निष्कामता में भी

सजातीय प्रचय (अच्छे प्रकार से आचरण किया गया) के सहित उत्तमता से युक्त स्वधर्म से (सेवा की जाय उससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है) सत्व, रज और तम इन त्रिविध गुणों से युक्त यदि स्वधर्म जो स्नानादिरूप स्मार्त्त है वह तो पृथ्वी सम्बन्धी दोषों को दूर करता है इसलिये शोडशांश अन्तःकरण का उपकार करता है। इसी तरह बौद्धिक यज्ञात्मक क्रिया योग भी अन्तःकरण की शुद्धि करता है। जिनमें ब्राह्मण वाक्य (वेद का एक भाग) अत्यन्त प्रशंसा करने वाले होते हैं न कि द्वादशाह जो हीन है उसकी तरह निन्दित हो उसे प्रशस्त (उत्तम) कहते हैं। जो हिंसा प्रचुर (अधिक) यज्ञ हो उसे भी न करे। अल्पहिंसा तो इध्म (समिधा) बर्हि (कुश) इनमें भी होती है। आलम्भ में भी वैसा (पिष्टका) पशु हो तो उसमें भी इध्म आदि की तरह अल्प हिंसा होती है श्रुति में 'मृत्यवे वा एष नीयते' अथवा मृत्यु के लिये इसे ले जाया जाता है तो पिष्ट पशु उस जगह हो तो अल्पहिंसा होती है। इसलिये मूल में 'नाऽतिहिंस्त्रेण' ऐसा पद दिया है। वह यज्ञ भी सर्वदा कर्त्तव्य है इसी तरह गुणत्रय से सहित क्रिया योग भी सदा करना चाहिये यह क्रिया आध्यात्मिक दोष को दूर करती है जल आध्यात्मिक है इसलिये यह क्रिया योग जल की शोधिका होती है ॥१५॥

आभास—एवं स्मार्तश्रौताभ्यां परिशुद्धस्तान्त्रिके अभिनिविष्टः पञ्चाङ्गं भगवद्भजनं करोतीत्याह—

आभासार्थ—इस तरह स्मार्त्त और श्रौत इन दोनों क्रियाओं से परिशुद्ध पुरुष तान्त्रिक में आग्रह रखता हुआ पञ्चाङ्ग भगवान् का भजन करता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।**
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनाऽसङ्गमेन च ॥१६॥

श्लोकार्थ—मेरी प्रतिमा का दर्शन करना तथा उसका स्पर्श, उसकी स्तुति और वन्दन से और सब प्राणियों में मेरी भावना करने से, धैर्य और वैराग्य के अवलम्ब से ॥१६॥

सुबोधिनी—मद्धिष्ण्येति । भगवद्धिष्ण्यान्यधिष्ठानानि। **धिष्ण्यपदेन** च प्रमाणमूलकानि श्रीरङ्गादीनि। तेषां प्रथमतो दर्शनम्; ततश्चरणस्पर्शः, ततः पूजा, स्तुतिरभिवन्दनं चेति पञ्च। **पञ्चानां** प्रत्येकसामर्थ्यद्योतनाय बहुवचनम्। अनेन सर्वतैजसशुद्धिरुक्ता, पञ्चाग्नावयं जात इति। चतुर्थं साधनमाह—**भूतेष्विति**। सर्वेष्वेव सङ्घातेषु भगवद्भावना कर्तव्या, भगवानेवैवं जातः, एवमवस्थ इति वा; यथा वायोः। साधनान्तरम्—**सत्त्वेनेति**। सत्त्वगुणः साधनम्। तत्त्रिविधम्—सात्त्विककर्मरूपम्, सतां स्वरूपत्वापादकम्, वसुदेवरूपान्तःकरणसाधकं च। अनेनाऽऽकाशशरीरत्वाद्भगवतस्तच्छुद्धिरुक्ता। इन्द्रियशुद्धिमाह—**असङ्गमेनेति**। सर्वसङ्गनिवृत्तिः कर्तव्या। **चकारात्तदिच्छापरि**त्यागः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् जिसमें निवास करते हैं धिष्ण्य पद का आशय है प्रमाण मूलक ऐसी

श्रीरङ्ग आदि की मूर्तियाँ ली जाती हैं। सर्वप्रथम तो उनका दर्शन करना तदनतंर उनके चरण स्पर्श करना फिर पूजा करना तदनन्तर उनकी स्तुति और फिर उनको दण्डवत् (प्रमाण)करना ये पांच क्रियायें हैं। पांचों में प्रत्येक (हर एक) में भी सामर्थ्य है इसको बताने के लिये यहाँ मद्धिष्ण्य-दर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ऐसा बहुवचन दिया है। इन क्रियाओं से सभी तैजस् की शुद्धि कही गई। क्योंकि यह क्रिया योग पञ्चाग्नि में उत्पन्न हुआ है। अथवा यह इस प्रकार की अवस्था वाला है। जिस प्रकार के करने से वायु की शुद्धि होती है। अब अन्य साधनों को बताते हैं। सत्वगुण भी साधन है वह तीन प्रकार का है (१) सात्विककर्मरूप (२) सज्जनों के स्वरूप का आपादन करने (प्राप्त) कराने वाला (३) वसुदेवरूप अन्तःकरण का साधक है। इससे भगवान् का आकाश शरीर होने से आकाश की शुद्धि कही गई। अब इन्द्रिय शुद्धि को असङ्गेन से कहते हैं। सब के सङ्ग का परित्याग करना चाहिये 'च' मे सङ्ग की इच्छा का भी परित्याग करना ऐसा जानना ॥१६॥

श्लोक—**महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।**
मैत्र्या चैवाऽऽत्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥१७॥

श्लोकार्थ—महापुरुषों के सम्मान करने से, दीनों पर दया करने से और अपने समान स्थिति वालों के साथ मित्रता का व्यवहार करने से और यम नियमों का पालन करने से ॥१७॥

सुबोधिनी—स्वापेक्षया **महतां बहुमाननम्**, पीडितानां **दीनानां** स्वापेक्षया हीनानामनुकम्पा, **तुल्येषु च मैत्री**; न तु मात्सर्यम्। अवगणना, स्पर्द्धा च न कर्त्तव्येति **चार्थः**। चक्षुषो दर्शनस्य स्पर्शस्य च दोषा व्यावर्तिताः। यमेन नियमेन चेति प्रत्येकं द्वादशविधेनाऽपि करपादौ शोधितौ। अहिंसादयो **यमाः**, स्नानादयो **नियमाः**। **चका**-रादवान्तरा गृहीताः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—अपनी अपेक्षा जो बड़े हैं उनका बहुत सम्मान करना और अपनी अपेक्षा से जो हीन हैं उनके ऊपर दया करने से, अपने समान हों उनसे मित्रता रखने से डाह न करने से किसकी भी अवगणना (अपमान) स्पर्धा (होड़) न करना यह 'च' का अर्थ है। इससे आँखों से जिन्हें हम देखते हैं, जिनका स्पर्श करते हैं उनसे होने वाले दोषों की निवृत्ति बताई गई। यम और नियम ये बारह बारह प्रकार के हैं इनसे हाथ और पैर शुद्ध हो जाते हैं। अहिंसा आदि यम हैं और स्नान आदि नियम है 'च' से और जो अवान्तर साधन हैं उनका ग्रहण है ॥ १७ ॥

श्लोक—**आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्तनाच्च मे ।**
आर्जवेनाऽऽर्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥१८॥

श्लोकार्थ—अध्यात्म शास्त्रों के श्रवण से मेरे नामों के संकीर्त्तन से तथा मन की सरलता से, सज्जनों के सङ्ग से और अहङ्कार के त्याग से ॥१८॥

सुबोधिनी–आध्यात्मिकानां शास्त्राणां साङ्ख्ययोगादीनाम्, **अनुश्रवणं** गुरुमुखाच्छ्रवणम्, श्रोत्रसंस्कारकम् । भगवतो निरन्तरं नामकीर्तनं च वाक्संस्कारकम् । **चकाराद्**गुणकर्मणामपि । **म** इति विषयो व्यावर्तितः । सर्वत्राऽऽर्जवमृजुत्वम्, घ्राणसंस्कार उक्तः । आर्याणां सतां सङ्गो जिह्वासंस्कारकः । त एवेतररसनिवारकाः । अहङ्काराभावस्तु मनःशोधकः सुप्रसिद्धः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—सांख्य योग आदि जो आध्यात्मिक शास्त्र हैं उनका सुनने (अनुश्रवण) का तात्पर्य यह है कि गुरुमुख से श्रवण करना यह श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार करता है । भगवान् का निरन्तर नामसंकीर्त्तन वाणी को संस्कृत करता है । 'च' से भगवान् के गुणकर्मों का श्रवण भी लिया जाता है । 'मे' पद से भगवान् से अतिरिक्त अन्य कोई विषय नहीं लिया जाता अर्थात् श्रवण कीर्त्तन आदि भगवत्सम्बन्धी ही हों अन्य सम्बन्धी नहीं सर्वत्र सरलता रखना यह घ्राण (नासिका) का संस्कार कहा । आर्य (सज्जन) पुरुषों का सङ्ग जिह्वा को संस्कृत करता है । ये सब इतररस के निवर्त्तक हैं अहङ्कार का न होना तो मन को शुद्ध करता है यह तो अत्यन्त प्रसिद्ध है ।। १८ ।।

श्लोक—**मद्धर्माचरणैरेतैः परिशुद्धाशयः स्फुटम् ।**
अञ्जसा पुरुषोऽभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—मेरे (भगवत्सम्बन्धी) धर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्ध हो जाता है यह स्पष्ट है तब मेरे गुणों के सुनने मात्र से ही चित्त, मेरे में लग जाता है ।।१९।।

सुबोधिनी–एते सर्वे ये भक्तिजनकाः, ते मद्धर्माः; तैः परितः शुद्ध आशयो भवति । तदैव **पुरुषः**, **अञ्जसा** सामस्त्येन, **श्रुतमात्रगुणं मामभ्येति** । यथा चिरकाङ्क्षितविदेशगतपुत्रगुणे श्रुते, भर्तृगुणे वा, सर्वतो निवृत्तं मनस्तत्र प्रविशति, स्वयञ्चाऽभिमुखो भवतीति । युक्तमुक्तमिति **हि** शब्दार्थः । **पुरुषस्याऽञ्जसेति** पाठे आशय एव कर्ता ।।१९।।

व्याख्यार्थ—ये पूर्वोक्त सब धर्म भक्ति को उत्पन्न करते हैं उनके द्वारा सब ओर से आशय शुद्ध हो जाता है तब ही पुरुष सब प्रकार से मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मुझे प्राप्त कर लेता है । जैसे विदेश में गये हुए अपने पुत्र के गुणों को सुनने से पिता का मन उसी ओर लग जाता है और स्वयं पुत्र की ओर आकृष्ट हो जाता है अथवा स्त्री विदेश में गये हुए अपने पति के गुणों को सुनकर पति की ओर अत्यन्त आकृष्ट हो जाती है उसी तरह मेरे गुणों को सुनने से पुरुष की स्थिति हो जाती है । 'हि' का अर्थ है ऐसा होना उचित ही है । 'पुरुषस्याऽसा' ऐसा जहाँ पाठ हो वहाँ आशय को ही कर्त्ता समझना ।।१९।।

आभास—एकं च साधनमाह—

आभासार्थ - अब भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन कहते हैं—

श्लोक—**यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।**
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ।।२०।।

श्लोकार्थ—जिस तरह वायु के द्वारा उड़कर जाने वाली गन्ध अपने आश्रय पुष्प से घ्राणेन्द्रिय (नाक) तक पहुँच जाती है उसी प्रकार भक्ति योग में तत्पर और रागद्वेष आदि के विकारों से रहित चित्त परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ।।२०।।

सुबोधिनी–यथा वातरथ इति। निरन्तरं सेव्यमानो योग एक एव सर्वसाधक: । तत्र शुद्धिरपि नापेक्ष्यत इति दृष्टान्तेन तथात्वमाह–**यथा गन्धो** वातारूढ:, स्वभावत **एव** वा, वातो रथो यस्य । स तु घ्राणमेवावृङ्क्ते, घ्राण एव तस्य ग्राहको भवतीति । एवं योगरतमपि चित्तमात्मानमेव गृह्णातीति आत्मगाम्येव भवति । अत्र पूर्वसाधनान्यपेक्ष्यन्त इत्याशयेनाऽऽह–**अविकारि यदिति**। यच्चित्तं सर्वमेव विकारं त्यक्तवत् ।।२०।।

व्याख्यार्थ—निरन्तर सेवित किया जाता हुआ केवल एक योग ही सब का साधक है । उसमें शुद्धि की अपेक्षा नहीं है यह साधन ऐसा ही है इसे दृष्टान्त से कहते हैं । जैसे गन्ध वायु पर चढकर अथवा स्वभाव से नाक को प्राप्त हो जाती है क्योंकि गन्ध को ग्रहण करने वाला घ्राण (नाक) ही है । वातरथ: का अर्थ वायु ही है रथ जिसकी ऐसी गन्ध अर्थात् वायु पर चढकर गन्ध नाक का ही वरण करती है नाक ही उसको ग्रहण करता है । इसी तरह योग मे निरन्तर लगा हुआ चित्त आत्मा ही को ग्रहण करता है अर्थात् आत्मगामी ही होता है । परन्तु वह चित्त निर्विकार होना चाहिये इसलिये पूर्व साधनों की अपेक्षा है यह 'अविकारि यत्' से ज्ञात होता है अर्थात् जो चित्त सब विकारों का परित्याग कर चुका है वह आत्मगामी ही होता है ।।२०।।

आभास—एवमुत्तमां भक्तिं ससाधनां साधयित्वा पूर्वोक्तां सगुणां त्रिविधामपि निन्दति–अहमिति चतुर्भि:—

आभासार्थ—इस तरह साधनों के सहित उत्तम भक्ति का साधन करके पूर्वोक्त तीन प्रकार की सगुणा भक्ति की अहं सर्वेषु आदि चार श्लोकों से निन्दा करते हैं—

श्लोक—**अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माऽवस्थित: सदा ।**
तमवज्ञाय मां मर्त्य: कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ।।२१।।

श्लोकार्थ—मैं आत्मा रूप से सदा सभी जीवों में स्थित हूँ, इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूता स्थित परमात्मा का अनादर करके केवल प्रतिमा में ही मेरा पूजन करते हैं वह पूजा केवल स्वांगमात्र है ।।२१।।

कारिका—**करोति यत्तन्नटवन्मुख्यस्याऽतिक्रमस्तथा ।**
दोषोत्पत्तिश्च प्रचुरा मत्प्रीतेश्च न साधकम् ।।१०।।

कारिकार्थ—'जो मुख्य का अतिक्रमण कर के और नट की तरह केवल भक्ति योग का स्वांग करता है उस से प्रचुर (अत्यधिक) दोषों की उत्पत्ति होती है और वह भक्ति योग मेरी प्रीति का साधक नहीं होता ।।१०।।'

सुबोधिनी–तत्र प्रथमं पूर्वभक्तिरनुकरणमात्रम्, न तु भक्तिरित्याह–**सर्वेषु भूतेष्वहमात्मा** । '**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः**' इत्यत्र प्रतिपादितं भगवत एवाऽवस्थाविशेषो जीव इति । तदाह–**अवस्थितः सदेति** । अहमेव वा **भूतात्मा** सर्वभूतरूपः, तत्त्वरूपः जीवरूपश्च, सङ्घातरूपश्चेति । **अवस्थितः सदे**त्यन्तर्यामी । अतः सर्वभावेन सर्वेषु भूतेषु विद्यमानं मामवज्ञाय, भेदबुद्धिं हिंसादिकं च तत्र जनयित्वा, स्वात्मानमपि केवलं मर्त्यं शरीरं मत्वा, यत् कुरुते तद**र्चाविडम्बनमेव** ।।२१।।

व्याख्यार्थ—वहाँ पहले जो सगुण भक्ति बताई गई है वह तो भक्ति का स्वांग मात्र है भक्ति नहीं है उसीको 'सर्वेषु भूतेष्वहमात्मा' से बताया है । इसका प्रतिपादन 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' इस ब्रह्म सूत्र में है । भगवान् की ही अवस्था विशेष जीव है इसे अवस्थितः से बताया है । अथवा भगवान् कहते हैं कि मैं ही भूतात्मा हूँ सर्वभूत रूप हूँ, तत्वरूप हूँ, जीवरूप हूँ और सङ्घात रूप हूँ । सदा अवस्थित का अर्थ है मैं अन्तर्यामी हूँ इसलिये सर्वभाव से सब भूतों में विद्यमान होने वाले का मेरा अपमान करके और अपने से अतिरिक्तों में भेद बुद्धि या हिंसा आदि को उत्पन्न करके और अपनी आत्मा को भी केवल मनुष्य शरीर मानकर जो पूजा करता है वह तो पूजा का स्वांग मात्र है ।।२१।।

आभास—अथ भगवदाकाराभावात् स्वबुद्धा शास्त्रमुल्लङ्घ्य यदि भजते, तदा यत्तस्य फलं तदाह—

आभासार्थ—भगवान् का आकार न होने से केवल अपनी बुद्धि से शास्त्र का उल्लङ्घन करके यदि मेरी पूजा करता है तब उसको जो फल होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।**
हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ।।२२।।

श्लोकार्थ—मैं सबका आत्मा परमेश्वर सभीभूतों में स्थित हूँ ऐसी दशा में जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमा के पूजने में ही लगा रहता है वह तो मानो भस्म में ही हवन करता है ।।२२।।

सुबोधिनी–यो मामिति । सङ्घाते अहं त्रिरूपो वर्ते–प्रथमं सर्वेषु भूतेषु तद्रूपः, तत आत्मरूपः, तत ईश्वरोऽन्तर्यामी नियामकः । एवं पुरुषे सर्वभावेन विद्यमानं भगवन्तं हित्वा,

अर्चां प्रतिमाम्, यो भजते । भजने प्रमाणाभावमाह—**मौढ्यादिति** । न तु स्वतन्त्रो भगवन्मार्गो निषिद्धः, स गुणातीत इत्येकादशे वक्ष्यते, **'मन्निकेतं तु निर्गुणम्'** इत्यादिभिः । प्रकरणेन च वाक्यानि सम्बद्धानि तत्प्रकरणस्थमेव गुणदोषं वदन्ति, तत्र पृथग्भावस्तु नोक्तः । द्वादशानुसारेण वा पुरुषो नारायण इज्यः । उभयत्राऽपि भेदगुणयोरभावन्नैतानि दूषणानि भवन्ति, किन्त्वत्रैव तानि पूर्वोक्तसगुणभक्तिदूषकाणि । अर्चायां ज्ञानक्रियाचैतन्यानन्दानामभावात् निष्पादनार्थं व्यापृतान्यप्येतानि पश्चात्यक्त्वा गतानीति भस्महुतप्रायं भवति । **स** इति पूर्वोक्त एव । पूर्वमग्निस्तत्र दृष्ट इति शान्तेऽप्यग्नौ भ्रमाद्धोम इति सोऽत्र दृष्टान्तीकृतः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—मैं सङ्घात (देह) में तीन रूप से वर्तमान हूँ पहले तो मैं सब भूतों पृथ्वी आदि में उन उन रूपों से हूँ । तदनन्तर आत्मारूप से हूँ और उसके अनन्तर अन्तर्यामी (नियामक) रूप से हूँ । इस तरह पुरुष में सर्वभाव से विद्यमान भगवान् को छोड़कर जो प्रतिमा की सेवा करता है । उसकी इस प्रकार से प्रतिमा की सेवा में कोई प्रमाण नहीं है उसको 'मौढ्यात्' से बताया है अर्थात् ऐसा करना केवल उसकी मूर्खता है प्रमाण सिद्ध नहीं है । शंका हो सकती है कि एकादशस्कन्ध में भगवान् ने 'मदर्चासंप्रतिष्ठाप्य' इत्यादि से बहुत विस्तार से प्रतिमा-पूजन को ही मुख्य बताया है और यहाँ प्रतिमा-पूजन की निन्दा कर रहे हैं इसका तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्र भगवन्मार्ग का यहाँ निषेध नहीं हैं क्योंकि वह तो गुणातीत है यह 'मन्निकेतं तु निर्गुणम्' इससे ग्यारहवें स्कन्ध में बतायेंगे । वाक्यों का प्रकरण से सम्बन्ध रहता है अतः उस प्रकरण में जो आता है उसी के गुण दोषों को उस प्रकरण के वाक्य बताते हैं उनमें पृथक् भाव तो कहा नहीं है । अथवा द्वादशस्कन्ध के अनुसार नारायण पुरुष की अर्चना करनी चाहिये । दोनों ही जगह भेद और गुणों का अभाव होने से पूर्वोक्त दूषण नहीं होते हैं । किन्तु इसी प्रकरण में वे पूर्वोक्त सगुण भक्ति के दूषण हैं । ऊर्जा में ज्ञान क्रिया, चैतन्य और आनन्द का अभाव होने से उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी किया जाता है किन्तु प्राणियों में भगवान् की अवज्ञा से ये ज्ञानादि बाद में उसे छोड़ देते हैं तो फिर उसकी की गई अर्चा राख में किये गये हवन की तरह होती है । यदि अर्चक (पूजा करने वाले) में ज्ञान होता तो प्राणियों मैं अवज्ञा क्यों करता इसलिये उस अर्चक को ज्ञान क्रिया आदि सब छोड़ देते हैं तब उसकी अर्चा (पूजा) भस्म में हवन करने के समान ही है । जैसे राख में हवन करने वाले ने पहले राख में अग्नि देखी थी परन्तु बाद में अग्नि तो बुझ गई । अग्नि के बुझ जाने पर अग्नि के भ्रम से किये जाने वाले हवन को यहाँ दृष्टान्त में लिया है ।।२२।।

आभास—परद्वेषादिना अर्चायां भगवद्भजने कामाद्युत्पत्तेः कदाचिदपि न मनःशान्तिर्भवतीत्याह—

आभासार्थ—अपने से भिन्न में द्वेष आदि से की गई अर्चा से भगवद्भजन में काम आदि की उत्पत्ति होने से कभी भी मनः शान्ति नहीं होती उसे कहते हैं—

श्लोक—द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ।।२३।।

श्लोकार्थ—जो भेददर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवों के साथ वैर बांधता है और इस प्रकार उनके शरीरों में विद्यमान मुझ आत्मा से द्वेष करता है उसके मन को कभी शान्ति नहीं मिल सकती ।।२३।।

सुबोधिनी—द्विषत इति । स हि मामेव द्वेष्टि, यतो भूतेष्वहमेव वर्त इति । अतः **परकाये मां द्विषतो मन**; कदापि **न शान्तिमृच्छतीति** सम्बन्धः । ननु जीव एव द्वेषाश्रयः सङ्घातो वा; अन्यथा व्यवहारो न स्यात् अतो भेदो व्यवहारार्थमृग्य एव, '**यं द्विष्यात्तं ध्यायेत्**' इति श्रुतेश्च । तत्र कथमाह भगवान् '**मां द्विषतः**' इति चेत्; सत्यम् । तद्गतापकारक्रियया हि तस्मिन् द्वेषः । सा क्रिया मत्कृता, मत्प्रेरणया वा जातेति तन्निमित्तं चेदन्यं द्वेष्टि, तर्हि मामेव द्वेष्टि । भेदे तु यज्ञपरिपन्थिनो दैत्याः, मदधिष्ठिता अपि, रोगा इव निवर्तनीयाः; तुषादिरिव व्रीह्यादिषु । अतो यज्ञार्थं द्वेषः, न तु द्वेषार्थं यज्ञ उचितः । श्येनादावप्येवमेव, यज्ञभ्रातृव्य एव स्वभ्रातृव्य इति । तत्र तु यज्ञो निरभिमान इति तावदपि कर्तव्यम्; अत्र तु भगवान् साभिमान इति द्विषन्तमपि न द्विष्यात् । कार्यं तु प्रह्लाद इव सेत्स्यति । अतोऽत्र मार्गे सर्वथाऽपि द्वेषोऽनुचितः । भगवदर्थं सृष्टिश्चेयम्; अतोऽत्र भगवद्द्वेष एव भवति । किञ्च, **मानिनः भिन्नदर्शिनः, भूतेषु बद्धवैरस्येति** दोषत्रयम् । सात्त्विकराजसतामसा दोषा निरूपिताः । न हि त्रिदोषव्याप्तस्य शान्तिरस्ति । अभिमानस्तु सात्त्विकदोष एव, उत्कृष्टकर्मणैवाभिमानो भवतीति । क्रियया हि भेद इति राजसं भेदज्ञानम्, वैरं तु तामसमिति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—जो अन्य प्राणियों से द्वेष करता है वह मुझसे ही द्वेष करता है क्योंकि सब प्राणियों में मैं वर्त्तमान हूँ । इसलिये अन्य शरीर में मेरे साथ द्वेष करने वाले को कभी शान्ति नहीं मिलती ऐसा सम्बन्ध है । शंका हो सकती है कि अन्य के शरीर के साथ किया गया द्वेष भगवान् के साथ द्वेष है ऐसा कहना तो लोक और वेद के विरुद्ध है इसका उत्तर देते हैं द्वेष जीव ही के साथ है या शरीर के साथ जीव और संघात दोनों ही भगवद्रूप है इसलिये व्यवहार कैसे होगा उस व्यवहार के लिये भेद अवश्य मानना पड़ेगा । श्रुति में कहा है कि जिसके साथ द्वेष करे उसका ध्यान करे तो वहाँ भगवान् ने 'मां द्विषतः' ऐसा कैसे कहा उसे बताते हैं । जीव मैं रहने वाली अपकार करने की क्रिया ही भिन्न जीव में द्वेष कहा जाता है । वह अपकार क्रिया मेरे से की गई है (क्योंकि मैं ही तो सर्वत्र विद्यमान हूँ) अथवा मेरी प्रेरणा से हुई है यदि अपकार करने की बुद्धि से अन्य के साथ द्वेष करता है तो वह मेरे ही से द्वेष करता है । व्यवहार के लिये भगवान् ने ही जब भेद प्रकट किया है तो भेद के कारण द्वेष होता ही है उसकी व्यवस्था के लिये कहते हैं कि (यदि अर्चक अपने को मुझसे अलग मानता है तो जैसे यज्ञ के विरोधी दैत्य हैं वे भी मेरे ही में स्थित हैं किन्तु वे दैत्य, शरीर में रहने वाले रोग की तरह हैं और उनको हटाया जाता है जैसे व्रीही (शाल) में रहने तुषों का हटाया जाता है यद्यपि तुष भी चावल के अङ्ग है परन्तु वे हटाये जाने के योग्य हैं) अतः यज्ञ के लिये द्वेष हैं परन्तु द्वेष के लिये यज्ञ उचित नहीं है । यदि शंका हो कि श्येन याग तो आभिचारिक याग है तो उसकी संगति कैसे होगी उसका उत्तर देते हैं कि यज्ञ का शत्रु ही अपना शत्रु है । वहाँ तो यज्ञ निरभिमान है इसलियेभी करना चाहिये परन्तु यहाँ तो भगवान् साभिमान है इसलिये द्वेष करने वाले से भी द्वेष न करे । इसमें प्रह्लाद को दृष्टांत

समझना चाहिये उसके साथ पिता ने कितना द्वेष किया परन्तु उसने उससे कभी द्वेष नहीं किया बिना द्वेष के ही उसका सब काम सिद्ध हो गया। इसलिये इस मार्ग में सर्वथा भी द्वेष अनुचित है। यह सृष्टि तो भगवान् के लिये है अतः सृष्टि के किसी प्राणी के साथ द्वेष करना भगवान् से द्वेष करना है। यहाँ मानिनः भिन्नदर्शिनः भूतेश्रुबद्वैरस्य में तीन दोष कहे हैं। सात्विक मानी होता है राजस भिन्नदर्शी होता है और तामस प्राणियों के साथ शत्रुता रखने वाला होता है जो त्रिदोष से व्याप्त होता है उसे कभी शान्ति नहीं होती। अभिमान तो सात्विक दोष है ही क्योंकि उत्कृष्ट कर्म से अभिमान होता है। क्रिया से ही भेद होता है इसलिये भेदज्ञान राजस है। वैर तो तामस है ही ॥२३॥

आभास—अहं तु न संतुष्टो भवामीति मुख्यं दूषणमाह—

आभासार्थ—यद्यपि द्वेष आदि महान् दोष है परन्तु मैं जिस दोष से असंतुष्ट होता हूँ उस मुख्य दोष को कहते हैं—

श्लोक—**अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ! ।**
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे निष्पाप माता ! जो दूसरे जोवों का अपमान करता है वह भले ही अच्छी या घटिया सामग्रियों से अनेक प्रकार के विधि-विधान से मेरी मूर्ति का पूजन भी करे परन्तु मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता ॥२४।

सुबोधिनी—अहमिति । यद्यपि बहुसुवर्ण-पुष्पादिकं प्रयच्छति, तथापि **उच्चावचैरनेकविधैर्द्रव्यैः** पुष्पादिभिरुत्पन्नया क्रियया **अहं नैव तुष्ये** । तत्र हेतुः—**भूतग्रामावमानिन इति** । **अर्चाया**मित्युपलक्षणम् । पुरुषविशेषेऽपि भजने भूतग्रामावमानिनो न तोष एव । परं तत्र तादृश एव भजतीत्य**र्चाया**मित्युक्तम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि बहुत से सुवर्णपुष्प आदि मुझे अर्पित करता है तो भी अनेक प्रकार के द्रव्य जो पुष्प आदि है उनसे उत्पन्न होने वाली क्रियाओं से मैं कभी प्रसन्न नहीं होता हूँ। उसका कारण यह है कि वह प्राणियों का अपमान करता है। उसकी पूजा से मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ ऐसा कहना केवल उपलक्षण (परिचयमात्र) है किन्तु यदि किसी पुरुष विशेष का भी यदि वह भजन करता है पर प्राणियों का अपमान करता है तो भी मुझे प्रसन्नता नहीं होती। पुरुष विशेष की अर्चना भी वह मेरी प्रतिमा के अर्चन के समान ही करता है इसलिये 'अर्चायाम्' ऐसा कहा है ॥२४॥

आभास—तर्ह्यर्चाविधायकानि वाक्यानि व्यर्थानि स्युरित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि फिर तो जितने भी पूजा के विधान करने वाले वाक्य हैं वे व्यर्थ हो जायेंगे इस आशंका का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।**
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—मनुष्य अपने धर्म का अनुष्ठान करता हुआ तब तक मेरी प्रतिमा आदि की पूजा करता रहे जब तक उसे अपने हृदय में एवं सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित परमात्मा का अनुभव न हो जाय ।।२५।।

सुबोधिनी–अर्चादाविति । यावत्सर्वात्मकं भगवन्तं न जानाति, तावदर्चायामर्चयेत् । यतोऽहमीश्वरः, अन्यथा मारयेत् । साऽर्चा धर्मरूपेत्याह–**स्वकर्मकृदिति** । सन्ध्यावन्दनवत् भगवत्पूजाऽपि नित्या ब्राह्मणादीनाम् । अतः **स्वकर्मकृत्** शालग्रामादौ मां पूजयेत्, **यावन्मां सर्वभूतेष्ववस्थितं स्वहृदि न वेद** । अनुभवो न भवतीत्यर्थः, न तु शाब्दज्ञानं प्रयोजकम् । यथा साक्षाद्भगवति समागते बुद्धिर्भवति, एवं कृमिकीटादावपि चेद्बुद्धिः, तदा कर्मनिवृत्तिरर्चानिवृत्तिश्चेति साधारणमेतद्वाक्यम्, गुणप्राधान्याभावात् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—जब तक सर्वात्मक (सब के भीतर रहने वाले) भगवान् को नहीं जानता तब तक प्रतिमा की पूजा करे । क्योंकि मैं ईश्वर हूँ पूजा न करने पर ईश्वर मार देता है उसके द्वारा की गई वह भगवान् की अर्चा धर्मरूपा है उसको स्वकर्मकृत् से बताया है जैसे ब्राह्मण आदि के लिये सन्ध्या वन्दन आदि नित्यकर्म है उसी तरह भगवत्पूजा भी नित्यकर्म है । इसलिये नित्यकर्म करने वाला शालिग्राम आदि में मेरी पूजा करे । वह पूजा तब तक करता रहे जब तक उसके हृदय में सब प्राणियों में मैं स्थित हूँ ऐसा ज्ञान न हो जाये । केवल शाब्दिक ज्ञान से ऐसी समझ होना पर्याप्त नहीं है किन्तु जब तक सब प्राणियों में मैं स्थित हूँ ऐसा अनुभव न हो जाय तब तक प्रतिमार्चन (मूर्ति पूजा) करता रहे । जिस तरह साक्षात् भगवान् के पधारने पर बुद्धि होती है वैसी ही बुद्धि यदि कृमि कीट (कीड़े) आदि को देखकर हो जाय । तब भले ही कर्म छूट जाय या पूजा छूट जाय इसके लिये यहाँ 'सर्वभूतेस्ववस्थितं मां' ऐसा साधारण वाक्य कहा है । क्योंकि ऐसा होने पर उसमें गौण प्रधान ऐसा कोई भाव नहीं रहता ।।२५।।

आभास— ज्ञानोत्तरं तु न कर्तव्यमित्यत्र हेतुमाह—

आभासार्थ—जब सब प्राणियों में मैं हूँ ऐसा ज्ञान हो जाय तब उसे प्रतिमा पूजन नहीं करना चाहिये उसमें हेतु कहते हैं—

श्लोक—**आत्मनश्च परस्याऽपि यः करोत्यन्तरोदरम् ।**
तस्या भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ।।२६।।

श्लोकार्थ—जो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा के बीच में थोड़ा सा भी अन्तर करता है उस भेददर्शी को मैं मृत्युरूप से महान् भय उपस्थित करता हूँ ।।२६।।

सुबोधिनी—आत्मन इति । यदि ज्ञानोत्तरमपि पूजां कुर्यात्,भेदबुध्द्या स्वसेवामिव कुर्वन् न दुष्यते । स्वसेवया च स्वयं सन्तुष्यते, **'यद्यन्यां देवतामुपास्ते, अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति यथा पशुरेवं स देवानां पशुः'** इति श्रुतेरात्मेत्येवोपासीत । यस्तु पुनः, **आत्मनः परस्याऽपि अन्तरा उत् अरमपि** ईषदपि **अरं** भेदं करोति । अरा हि भेदकाश्चक्रस्य । **'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति'** इति श्रुतेः । तद्भयमहमेव प्रयच्छामीत्याह—**तस्य भिन्नदृश इति । उल्बणं भयं विदधे** विशेषेण तस्मिन् स्थापयामि । तद्भयं मृत्युरेव, न ह्यन्येन भयेन प्राणांस्त्यजति । सहजो हि प्रयत्नः प्राणधारकः, अतो भक्तिफलं दूरे; मृत्युस्तु सेत्स्यतीति ज्ञानोत्तरं मृत्योरभावादेतन्न कर्तव्यमिति फलितम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—यदि ज्ञान हो जाने के अनन्तर भी पूजा करता है तो (अ) भेद बुद्धि[1] से जैसे अपनी सेवा की तरह प्रतिमा के अर्चन में कोई दोष नहीं है । क्योंकि अपनी सेवा से स्वयं सन्तुष्ट होता है । श्रुति में भी आत्मा की ही उपासना बताई है 'यदि कोई अन्य देवता की उपासना करता है, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ ऐसा जानने वाला पशु है वह देवताओं का पशु हैं' । और यदि कोई अपने में और अन्य में थोड़ा भी भेद करता है (उसको मृत्यु का भय होता है) 'अर' शब्द भेद वाचक है क्योंकि अरा चक्र के भेदक हैं । श्रुति ने भी ऐसा ही कहा है 'जब यह पुरुष अन्य से थोड़ा सा भी भेद करता है तो उसे भय होता है ।' उसी भय को यहाँ 'तस्य भिन्नदृशः' आदि से बताया है । जो भेददृष्टि करता है उसके लिये मैं अत्यन्त भय उपस्थित करता हूँ वह भय मृत्यु ही हो सकता है मृत्यु के अतिरिक्त अन्य भय से कभी प्राणी प्राणों का परित्याग नहीं करता । प्राणों को धारण करना यह सहज प्रयत्न है इसलिये भेद बुद्धि वाले के लिये भक्ति का फल मिलना तो दूर रहा उसकी जगह उसे मृत्यु प्राप्त हो जायेगी । ज्ञान के अनन्तर तो मृत्यु का अभाव (अमर) होना चाहिये इसलिये जिससे मृत्यु का भय उपस्थित हो ऐसा कभी न करे ऐसा यहाँ स्पष्ट रूप से जाना जाता है ।।२६।।

आभास—अज्ञानदशायामप्यर्चापेक्षया ज्ञानार्थिनः सर्वभूतेष्वेव भजनं श्रेष्ठमित्याह—

आभासार्थ—अज्ञान दशा में भी अर्चन की अपेक्षा ज्ञानार्थी को सब प्राणियों में ही भजन उत्तम है इसे कहते हैं—

श्लोक—**अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।**
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ।।२७।।

---

(१) यहाँ भेदबुध्द्या की जगह अभदेबुध्द्या ऐसा पाठ होगा ऐसा 'प्रकाश' का मत है क्योंकि उन्होंने 'तेनसिद्धमाहुः—भेदबुध्द्येत्यादि ।' अत्र अकारः पतित इति प्रति भाति ऐसा लिखा है ।

श्लोकार्थ—सब प्राणियों के भीतर रहने का घर बनाकर उन प्राणियों के ही रूप में स्थित मुझ परमात्मा का यथायोग्य दान, मान मित्रता के व्यवहार से तथा समदृष्टि के द्वारा पूजन करना चाहिये ।।२७।।

सुबोधिनी–अथ मामिति । **अथेति** भिन्नप्रक्रमार्थः, पूर्वं ज्ञानिनो निरूपणात् । सर्वभूतेषु भजनं भक्तिमार्गेऽपि वर्तत इति तन्निवृत्त्यर्थमाह–**भूतात्मानमिति** । भूतानामात्मा जीवः । ननु स सर्वत्र वर्तत इति कोऽयं भूतेषु विशेषस्तत्राऽऽह–**कृतालयमिति** । यथा कश्चिद्गृहं कृत्वा क्वचित्तिष्ठति, तदुपलब्धिस्तत्र सुलभा, अत आत्मनोऽपि सङ्घातरूपं गृहं कृत्वा स्थितस्य तत्रोपलब्धिः सुलभा । लोकेऽपि गृहे पदार्थसमर्पणे गृहस्थः प्रीतो भवति, अतो भूतेष्वेव मामर्हयेत् । यथायोग्यं च पूजा, येनैव यः सन्तुष्यति । तत्र मुख्यं दानम्, मानं च, मैत्री च । निकृष्टे दानम्, उत्कृष्टे मानम्, समे मैत्री । एतदप्य**भिन्नचक्षुषा** सर्वत्राऽऽत्मज्ञानेन कर्तव्यम्, न तु लोकदृष्टयेत्याह–**अभिन्नेति** ।।२७।।

व्याख्यार्थ—पूर्व में ज्ञानी का निरूपण था अब यहाँ प्रक्रम के बदल जाने से भिन्नक्रम हो गया उसको बताने के लिये अर्थ शब्द दिया है । सब भूतों में भगवद्रूप से भजन भक्ति मार्ग में भी है परन्तु उसे यहाँ नहीं लिया है । यहाँ तो भूतों की आत्मा जीव है वह लिया गया है शंका होती है कि भगवान् तो सर्वत्र है फिर भूतों (पञ्चमहा भूतों) में ही ऐसी क्या विशेषता है उसके लिये 'कृतालयम्' पद दिया है भगवान् ने भूतों के भीतर अपना घर बना रखा है जैसे कोई अपना कहीं घर बना कर उसमें रहता है तो उसका प्राप्त करना वहाँ सुलभ है इसलिये आत्मा की भी सङ्घात (शरीर) रूप घर में प्राप्ति सुलभ है । लोक में भी हम देखते हैं घर में कोई पदार्थों को लाकर रखता है तो उससे घर का स्वामी प्रसन्न होता है अतः सङ्घातों में ही मेरी पूजा करनी चाहिये । पूजा भी योग्यता के अनुसार होनी चाहिये जिस तरह से वह प्रसन्न हो वैसा करना चाहिये । उन सब में मुख्य है दान, मान और मित्रता । जो अपने से कम हो उसको देना अपने से बड़ा हो उसका सम्मान करना तथा जो अपने समान हो उसके साथ मित्रता करना । यह सब भी अभिन्नदृष्टि से अर्थात् सर्वत्र आत्मज्ञान से करना चाहिये केवल लोक दृष्टि से नहीं करना इसको बताने के लिये 'अभिन्नेन' ऐसा पद दिया है ।।२७।।

आभास—विशेषपूजायामुत्कृष्टब्राह्मणलक्षणमधिष्ठानं वक्तुं सर्वजीवापेक्षया तस्योत्कर्षमाह–**जीवा** इति सार्द्धं षड्भिः—

आभासार्थ—विशेष पूजा का पात्र उत्कृष्ट ब्राह्मण है वह मेरा (भगवान् का) अधिष्ठान (घर) है इस बात को बताने के लिये सब जीवों की अपेक्षा ब्राह्मण की उत्कृष्टता (श्रेष्ठता) को साढे छः श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे ! ।**
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ।।२८।।

श्लोकार्थ—माताजी ! पत्थर आदि अचेतनों की अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ है उनसे श्वास लेने वाले जङ्गम श्रेष्ठ हैं उनमें भी मन वाले प्राणी उत्तम हैं और उनसे इन्द्रियों की वृत्तियों से युक्त प्राणी श्रेष्ठ है ।।२८।।

सुबोधिनी—**जीवा**: प्राणयुक्ता **अजीवानां** पाषाणादीनां मध्ये श्रेष्ठा वृक्षादय: । तत: **प्राणभृत**: श्वासोच्छ्वासवन्तो जङ्गमा: श्रेष्ठा: । **शुभे** इति सम्बोधनमुक्तविश्वासाय । देहापेक्षया स्थूल: प्राण उत्कृष्ट: ततोऽप्यासन्य: । एवमेते त्रयो निरूपिता: क्रियाशक्तिप्रधाना: । ततो ज्ञानशक्तिप्रधाना उत्तमा इत्याह—**तत: सचित्ता इति** चेतनाधारभूतमन्त:करणं चित्तम्; ज्ञानवन्त इति यावत् । **ततश्चेन्द्रियवृत्तय इति** । सविषयज्ञानवन्त: । इन्द्रियाण्येतानि क्रियामयानि ।२८।

व्याख्यार्थ—प्राणयुक्त जीव कहलाते हैं वे अजीवों से अर्थात् पाषाण (पत्थर) आदि से श्रेष्ठ होते हैं और पाषाणों से वृक्ष आदि श्रेष्ठ हैं उन प्राणधारी वृक्षों से श्वास और उच्छ्वास वाले जङ्गम प्राणी श्रेष्ठ हैं । कपिलदेवजी कहते हैं कि मैं जो कह रहा हूँ उसमें तुम्हारा विश्वास है इसे शुभे सम्बोधन से सूचित किया है । देह की अपेक्षा स्थूल प्राण श्रेष्ठ है और स्थूल प्राण से आसन्य प्राण उत्तम है । इस तरह देह, स्थूल प्राण और आसन्यप्राण इन तीनों का निरूपण हुआ ये तीनों क्रिया शक्ति प्रधान हैं । इन क्रिया शक्ति प्रधानों से ज्ञान शक्ति वाले प्रधान (उत्तम) हैं उन्हें तत: सचित्ता: प्रवरा: आदि से बताते हैं । चेतना का आधार भूत है अन्त:करण चित्त अर्थात् ज्ञानवान् श्रेष्ठ है केवल ज्ञान वालों से भी जो इन्द्रिय वृत्ति वाले हैं अर्थात् जिनको विषयों का ज्ञान है वे श्रेष्ठ हैं ये इन्द्रियाँ भी क्रियामय हैं ।।२८।।

आभास—ततोऽमि ज्ञानवतां श्रैष्ठ्यमाह—

आभासार्थ - इन सब से ज्ञान वालों की श्रेष्ठता को कहते है—

श्लोक—**तत्राऽपि स्पर्शवेदिभ्य: प्रवरा रसवेदिन: ।**
तेभ्यो गन्धविद: श्रेष्ठास्तत: शब्दविदो वरा: ।।२९।।

श्लोकार्थ—इन्द्रिय वाले प्राणियों में भी जो केवल स्पर्श का अनुभव करने वाले श्रेष्ठ हैं और स्पर्श के अनुभव करने वालों से रस का ग्रहण करने वाले (मछली आदि) श्रेष्ठ है, रस को जानने वालों से भी गन्ध का अनुभव करने वाले (भ्रमर आदि) श्रेष्ठ हैं और गन्ध का ग्रहण करने वालों में भी शब्द का ग्रहण करने वाले (सर्प आदि) श्रेष्ठ हैं ।।२९।।

श्लोक—**रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतो दत: ।**
तेषां बहुपदा: श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ।।३०।।

श्लोकार्थ—शब्द ज्ञानी से भी रूप का अनुभव करने वाले (काक आदि) उत्तम

है। उनकी अपेक्षा भी जिनके ऊपर तथा नीचे दोनों ओर दांत होते हैं वे जीव श्रेष्ठ हैं। उनसे भी बहुत पैरों वाले श्रेष्ठ हैं, बहुत पैरों वालों से चार पैर वाले श्रेष्ठ है चार पैरों वालों से दो पैरों वाले श्रेष्ठ हैं ॥३०॥

श्लोक—**ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः।**
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥३१॥

श्लोकार्थ—मनुष्यों में चार वर्ण श्रेष्ठ हैं उन चार वर्णों में भी ब्राह्मण उत्तम है और ब्राह्मणों में भी वेद का जानने वाला ब्राह्मण उत्तम है वेदों के जानने वालों में भी वेद के तात्पर्य को जानने वाला उत्तम है ॥३१॥

श्लोक—**अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत्।**
मुक्तलिङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥३२॥

श्लोकार्थ—तात्पर्य को जानने वालों में भी संदेह का निवारण करने वाला उत्तम है। संदेह निवारण करने वालों से भी अपने धर्म का आचरण करने वाला उत्तम है उनकी अपेक्षा भी जो देहाभिमान से रहित होता हुआ ऐहिक तथा पारलौकिक कुछ फल नहीं चाहता हो वह उत्तम है ॥३२॥

सुबोधिनी—तत्राऽपीति। ज्ञानेन्द्रियेषु निकृष्टः स्पर्शः; ततो रसना उत्कृष्टा, मधुरादयो हि रसाः स्पर्शापेक्षयाऽपि मोहका इति। ततोऽपि गन्धविदः पृथिवीगुणत्वात् दूरादपि ज्ञानजनकत्वाच्च। **स्पर्शवेदिनः** प्रायेण सर्वे कृमयः; ततो मत्स्या **रसवेदिनः**। **गन्धविदो** भ्रमरादयः; **ततः शब्दविदो** हरिणाः, गन्धापेक्षयाऽपि शब्दो दूरादेवाऽर्थं ज्ञापयतीति। ततोऽपि चक्षुः, अतिदूरादर्थं ज्ञापयतीति—**रूपभेदविदः** काकादयः श्रेष्ठाः। **ततश्चोभयतो दतः** साधनाधिक्यवन्तः मर्कटादयः श्रेष्ठाः, मूषकादयो वा। तच्च करणमन्तर्नयनार्थमेवेति ततोऽपि बहिःकरणवन्तः श्रेष्ठा इत्याह—**तेषां बहुपदाः श्रेष्ठा इति**। गोजरादयो बहुपदाः ततोऽपि चतुष्पादः सर्वे मूषकमार्जारश्वादयः। **ततो द्विपात्**, सर्वे पक्षिणो मनुष्याश्च। **ततो** ब्राह्मणादि**वर्णा** उत्तमाः, धर्मवत्त्वात्। तेषामाद्यः, मुख्यधर्मवत्त्वात्। जातिब्राह्मणापेक्षयाऽपि वेदाध्यायी महान्, ततोऽपि वेदार्थवित्। ततोऽपि वेदार्थे सर्वसन्देहनिवारकः। ततोऽपि यज्ञादिकर्ता श्रेष्ठः। ततोऽपि **मुक्तलिङ्गो** गलितदेहाभिमानः श्रेष्ठः। ततोऽपि निरभिमानो भूत्वा ऐहिकामुष्मिकार्थं न किञ्चित्करोति, नाऽपि वाञ्छति स उत्तमः ॥२९॥३०॥३१॥३२॥

व्याख्यार्थ ज्ञानेन्द्रियों में सब से निकृष्ट है स्पर्श उससे रसना उत्कृष्ट है क्योंकि मधुर आदि रस हैं वे स्पर्श की अपेक्षा भी मोहक है। गन्ध पृथिवी का गुण है गन्ध का ज्ञान दूर से ही हो जाता है इसलिये गन्ध से पहचानने वाले रसवेत्ताओं की अपे॰॰ा उत्तम है। स्पर्शज्ञान

वाले प्राय: कृमि (कीड़े) हैं उन से उत्कृष्ट रसज्ञान वाले मत्स्य (मछली) हैं। गन्ध ज्ञान वाले आदि है। उनसे श्रेष्ठ शब्द को जानने वाले हरिण है। गन्ध की अपेक्षा भी शब्द दूर से ही अर्थ (पदार्थ) का ज्ञान करा देता है। उससे भी अधिक नैत्र है नैत्र बहुत दूर तक की वस्तु को बता देता है। रूप भेद को जानने वाले कौए आदि श्रेष्ठ हैं। उनसे भी ऊपर और नीचे दाँत वाले साधन की अधिकता के कारण श्रेष्ठ हैं वे हैं बन्दर आदि तथा चूहे आदि। ये दाँत जो साधन हैं वे वस्तु को अन्दर ले जाने में कारण है उनसे श्रेष्ठ बाह्य करण वाले हैं वे हैं गोजर (गजाई) आदि उनसे भी श्रेष्ठ चार पैर वाले चूहे, बिल्ली, घोड़े आदि उनसे श्रेष्ठ दो पैर वाले सभी पक्षी तथा मनुष्य हैं। उनसे भी ब्राह्मण आदि वर्ण उत्तम हैं क्योंकि वे धर्मवाले हैं। उन चारों वर्णों में भी सबसे आद्य मुख्यधर्म वाला होने से ब्राह्मण श्रेष्ठ है जाति से जो ब्राह्मण है उसकी अपेक्षा वेद का अध्ययन करने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है उससे श्रेष्ठ वेद के अर्थ को जानने वाला है उससे भी श्रेष्ठ वेद के अर्थ में होने वाले सन्देह का निवारण करने वाला है। उनमें यज्ञ आदि का करने वाला श्रेष्ठ है उससे भी श्रेष्ठ जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है वह है। उससे भी श्रेष्ठ वह है जो देहाभिमान से रहित होता हुआ इस लोक एवं पारलौकिक कोई कार्य नहीं करता और न इनके करने की इच्छा रखता वह सबसे उत्तम है ॥२६—३२॥

आभास—तस्मात्तादृशो भूत्वा यो भगवद्भक्तः स महानित्याह—

आभासार्थ—इसलिये वैसा होते हुए जो भगवद्भक्त है वह महान् है इसे कहते हैं—

श्लोक—**तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ॥**
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणाम् ॥
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥३३॥

श्लोकार्थ—इन सबकी अपेक्षा जो लोग अपने सम्पूर्ण कर्म, उनके फल तथा अपने शरीर को भी मुझे अर्पण कर देते हैं और भेदभाव को छोड़कर मेरी उपासना करते हैं वे श्रेष्ठ हैं इस प्रकार मुझे ही चित्त और कर्म समर्पण करने वाले अकर्त्ता और समदर्शी पुरुष से बढकर मुझे कोई अन्य प्राणी नहीं दीखता ॥३३॥

सुबोधिनी—तस्मादिति। व्यर्थत्यागापेक्षया भगवति समर्पणमुत्तममिति। **मयि अर्पितोऽशेषः क्रियार्थ आत्मा** च येन, आत्मनिवेदी। तादृशोऽपि भूत्वा य आत्मत्वेनैव भगवन्तं जानाति, स महान्। अतोऽपि कश्चित् महानस्तीत्याशङ्क्य परिहरति—**मय्यर्पितात्मन** इति। मदर्थं **संन्यस्तकर्मणां** पुंसां मध्ये, **मय्यर्पितात्मनः, अकर्तुः समदर्शनादन्यं परमुत्कृष्टं न पश्यामि**। यद्यपि तत्तच्छास्त्रे ते ते श्रेष्ठा निरूपिताः, तथापि विचारकाणां हृदते ते नाऽऽयान्तीति न पश्यामीत्युक्तम्। सर्वापेक्षया भक्तिज्ञानयोरुत्कर्षः। भक्तावप्यात्मसमर्पणम्; ज्ञानं तु साङ्ख्यम् ब्रह्मज्ञानं च। यद्यप्येते त्रयः, केवलपरित्यागिनश्च सर्वे परित्यागिनो भवन्ति, तथापि आत्मनिवेदनं ज्ञानद्वयं च यस्याऽस्ति, ततः किमधिकं भविष्यति। तत्पदत्रयेणोक्तम्, **मय्यर्पितात्मनः, अकर्तुः, समदर्शनादिति ॥३३॥**

व्याख्यार्थ—व्यर्थ के त्याग की अपेक्षा भगवान् को समर्पित करना उत्तम है। मेरे में अर्पित कर दिया है सभी क्रियाओं का अर्थ (फल) जिसने यहाँ तक कि जिसने अपनी आत्मा का भी अर्पण कर दिया है। वैसा होते हुए भी जो भगवान् को आत्मारूप से जानता है वह महान् है। उससे भी बढकर और कोई महान् है (क्या) यदि ऐसी आशंका हो तो उसके लिये कहते हैं कि जिसने आत्मा को मुझे अर्पित कर दिया और मेरे लिये ही कर्म एवं कर्म के फलों को अर्पित कर दिया और जो अकर्त्ता एवं समदर्शी है उससे उत्कृष्ट (उत्तम) कोई हो ऐसा मैं नहीं देखता। यद्यपि उन उन शास्त्रों में वे श्रेष्ठ हैं ऐसा निरूपण है तथापि विचारकों के हृदय में वे नहीं आते हैं इसलिये 'पश्यामि' ऐसा कहा। सबकी अपेक्षा भक्ति और ज्ञान में उत्कर्ष हैं भक्ति में भी आत्म-समर्पण की उत्कृष्टता है। ज्ञान तो सांख्य ज्ञान और ब्रह्मज्ञान उत्कृष्ट हैं ही। यद्यपि ये तीनों ही प्रकार के त्याग करने वाले परित्यागी होते हैं तथापि आत्मनिवेदन और सांख्य तथा ब्रह्म इन दोनों प्रकार का ज्ञान जिसको है उससे अधिक क्या होगा। उसी बात को यहाँ 'मय्यर्पितात्मनः अकर्तुः समदर्शनात् इन तीन पदों से कहा है ।।३३।।

आभास—नन्वेवं सति स एव भजनीयः स्यात्, स च सर्वैरेव स्वत एव सेव्यत इति शास्त्रवैफल्यं पूर्वदोषानिवृत्तिश्चेत्याशङ्कयाऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि यदि ऐसा है तो वह ही भजन करने के योग्य होगा और वह सभी से स्वतः ही सेव्य होगा तो फिर शास्त्र निष्फल हैं और पूर्व दोषों की निवृत्ति भी नहीं होगी ऐसी आशंका पर कहते हैं—

श्लोक—**मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयेत् ।**
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।।३४।।

श्लोकार्थ—साक्षात् भगवान् हो जीवरूप अपने अंश से सब में प्रविष्ट हैं इसलिये इन समस्त प्राणियों को बड़े आदर के साथ मन से प्रणाम करें ।।३४।।

सुबोधिनी–मनसेति । स्वार्थमेवैतज्ज्ञानं निरूपितम्, नत्वधिकारिणोऽन्यपूजार्थम् । अत एवंविदपि **एतानि** परिदृश्यमानानि **भूतानि प्रणमेत्** । स्वापेक्षयाऽपि **बहु मानयेत्** । तत्र हेतुः—**ईश्वरो** भगवान् **जीवकलया** जीवकलारूपेण, सह वा, सद्गुणैः सह **प्रविष्ट** इति । **इति** शब्दो हेतौ, ईश्वरत्वात्, अन्यथा स्वस्थानात् प्रच्यावयेत् जीवे तु न हीनबुद्धिः कर्तव्या, स हि कला । लीलार्थं सा कलेत्यर्थः ।।३४।।

व्याख्यार्थ—अपने ही लिये इस ज्ञान का निरूपण किया है। अन्य अधिकारी की पूजा के अर्थ यह ज्ञान नहीं है। अतः ऐसा जानने वाला भी इन प्रत्यक्ष दीखने वाले प्राणियों को प्रणाम करे। अपने से भी इनका अधिक सम्मान करे। इसमें हेतु यह है कि भगवान् जीव कला रूप से अथवा जीव कला के साथ सद्गुणों के सहित इनमें प्रविष्ट है। इति शब्द हेतु में है अर्थात् भगवान् ईश्वर है प्राणियों को प्रणमन न करने वाले को अपने स्थान से च्युत कर देगा। जीव में हीन

बुद्धि नहीं करना क्योंकि जीव भगवान् की कला है लीला के लिये ही वह कला है अन्यथा तो स्वयं भगवान् ही है ।।३४।।

आभास—एवं भक्तिज्ञाने निरूप्य, नमस्कारभगवद्दर्शनाभ्यां च व्यवहारेऽपि तदुभयमुपपाद्य, भक्तिज्ञानयोः समुच्चयः विकल्पो वा, फलहेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—इस तरह भक्ति और ज्ञान का निरूपण करके नमस्कार और भगवद्दर्शन से व्यवहार में भी उन दोनों का उपपादन करके अब यह आशंका करते हैं कि भक्ति और ज्ञान दोनों का समुच्चय फल का कारण है अथवा इनमें से प्रत्येक फल के कारण हैं—

श्लोक—**भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।**
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ।।३५।।

श्लोकार्थ—माताजी ! इस प्रकार मैंने तुम्हारे लिये भक्ति योग और अष्टाङ्ग योग का वर्णन किया । इन में से एक का भी साधन करने से जीव परम पुरुष भगवान् को प्राप्त कर सकता है ।।३५।।

सुबोधिनी—भक्तियोगश्चेति । हे **मानवि**, **भक्तियोगोऽष्टाङ्गयोगश्च मया** द्वयमुदीरितम् । **मानवीति** परिज्ञानार्थम् । ययोर्मध्ये **एकतरेणैव पुरुषः पुरुष**मात्मानं भगवन्तं **व्रजेत्** । ज्ञाने योग उक्तः, उत्तराङ्गं साक्षात्कारावृत्त्यर्थं प्रवेशार्थं च । भक्तिस्तु स्वतन्त्रा । एकप्राधान्ये अन्यद्गौणभावमेवाऽवलम्बते, अतो न समुच्चयः शास्त्रार्थः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—हे माता ! मैंने भक्ति योग और अष्टाङ्ग योग दोनों कहे । मानवि ! यह सम्बोधन इसको तुम जानती हो इसको बताने के लिये दिया है । भक्तियोग और ज्ञानयोग इन दोनों में से किसी एक से पुरुष आत्मरूप भगवान् को प्राप्त कर सकता है । ज्ञान में योग कहा । साक्षात्कार की आवृत्ति के लिये और प्रवेश के लिये उत्तराङ्ग भी कहा । भक्ति तो स्वतंत्र है । जब एक प्रधान होता है तो बाकी के सब गौण भाव का ही अवलम्बन करते हैं समुच्चय तो समान का होता है इसलिये भक्ति ज्ञान का समुच्चय नहीं हो सकता यहाँ शास्त्र का अर्थ है ।।३५।।

आभास—एवं पृष्टां भक्तिं निरूप्य, वैराग्यार्थं कालस्य पराक्रमं वक्तुम्, प्रथमतः कालस्य स्वरूपमाह—**एतद्भगवत** इति द्वयेन—

आभासार्थ—इस तरह पूछी गई भक्ति का निरूपण करके वैराग्य के लिये काल का पराक्रम कहने के लिये पहले काल का स्वरूप दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—**एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।**
परं प्रधानं पुरुषो दैवं कर्म विचेष्टितम् ।।३६।।

रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—भगवान् परमात्मा पर ब्रह्म का अद्भुत प्रभाव सम्पन्न जगत्सम्बन्धी पदार्थों की विचित्रता का कारण स्वरूप विशेष ही काल कहा जाता है । प्रकृति और पुरुष इसी के रूप हैं तथा इनसे यह काल अलग भी है । नाना प्रकार के कर्मों का मूल अदृष्ट भी यही है इस काल से महत्तत्व आदि के अभिमानी भेददर्शी प्राणियों को काल से सदा भय लगा रहता है ॥३६-३७॥

सुबोधिनी–कालस्य कार्यं स्वरूपं चोच्यते, कार्ये निविष्टः स्वरूपं प्राप्नोतीति ज्ञापनार्थम् । **एतज्जगत्सर्वं भगवतो रूपम्**, अन्यथा कालस्य भगवत्त्वात्कालत्वं विधातुं न शक्येत । अत एतज्जगद्भगवद्रूपमित्युक्तम् । श्रुतौ हि प्रकारद्वयेन निरूपणम्–आत्मत्वेन, ब्रह्मत्वेन च । **'आत्मंवेदं सर्वम्'** '**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' इति । बृंहणत्वं व्याप्तिं चापेक्ष्य पदद्वयं प्रवृत्तम् । उभयोः स्वरूपमानन्दः; तथापि सप्रकार आत्मा, निष्प्रकारं ब्रह्म; आत्मनोऽपि ब्रह्मत्वविधानात् **अयमात्मा ब्रह्मविज्ञानमयः**' इति । विचारे ब्रह्मैव प्रतिज्ञातम् **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इति । जगत उभयरूपत्वमाह–**ब्रह्मणः परमात्मन इति** । मतत्रयं वा संगृहीतम् **''ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत''** इति । लोके ऐश्वर्यादिधर्मान् पुरस्कृत्य भगवत्त्वमाहुः । वैलक्षण्यं पुरस्कृत्यात्मत्वम्, सद्रूपतां पुरस्कृत्य ब्रह्मत्वमिति । तद्रूपं कियदित्याकाङ्क्षायां गणयति–**परं** प्रकृतिपुरुषनियामकम्, **प्रधानं** प्रकृतिः; **पुरुषश्च; दैवं** कालो भगवदिच्छा वा; **कर्मा**ऽदृष्टम्, **विचेष्टितं** विविधचेष्टायुक्तः स्वभावः । रूपभेदास्पदं सर्वमेव जगत् परिदृश्यमानम्, दिव्यमपरिदृश्यमानं च । एतत्सर्वं काल इत्यभिधीयते, कालाधारत्वात्, कालाधीनत्वाच्च । कालस्य कालत्वं साधयति–**भूतानामिति** । महदादीनामपि यस्मात्कालाद्भयं स कालः । भये भिन्नदर्शनं हेतुः, बहिर्मुखान् कालो ग्रसतीति ॥३६॥३७॥

व्याख्यार्थ—काल जब कार्य में निविष्ट होता है तो वह स्वरूप को प्राप्त हो जाता है इसको बताने के लिये काल का कार्य और स्वरूप कहा जाता है । यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् का रूप है "प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य" इससे प्रकृति में चेष्टा को उत्पन्न करने वाले भगवान् को ही काल कहा है यदि जगत् की भगवद्रूपता नहीं कही जाती तो जगत् के भगवद्रूप न होने से उस जगत् में कालरूपता कैसे बता सकते इसलिये यह जगत् भगवद्रूप है ऐसा कहा । श्रुति में जगत् का निरूपण दो प्रकार से है आत्मत्वरूप से और ब्रह्मत्वरूप से आत्मैवेदं सर्वम्' इससे तो जगत् को आत्मा बताया है और 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इससे जगत् को ब्रह्म बताया है । सबका पोषण करने वाला होने से उसे ब्रह्म और सर्वत्र व्यापक होने से उसे आत्मा कहा है इन्हीं को बताने के लिये ब्रह्म और आत्मा इन दो पदों की प्रवृत्ति हुई । यद्यपि ब्रह्म और आत्मा इन दोनों का स्वरूप तो आनन्द ही है तथापि आत्मा सप्रकार है और ब्रह्म निष्प्रकार है ऐसा अन्तर्यामी ब्राह्मण (वेद के भाग विशेष) ये 'यस्य पृथिवी शरीरम्' यहाँ से लेकर यस्यात्मा शरीरम् यहाँ तक के मन्त्रों से शरीरों के प्रकार रूप से सिद्ध होने के कारण आत्मा सप्रकार है और ब्रह्म 'एकमेवाऽद्वितीयम्' इस श्रुति से निष्प्रकार है ।

'अयमात्मा ब्रह्मविज्ञानमयः' इस श्रुति से आत्मा को ब्रह्म बताया गया है। विचार में तो ब्रह्मविचार की ही प्रतिज्ञा की है आत्मविचार की नहीं जैसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' जगत् के दोनों ही रूप है इसलिये ब्रह्मण परमात्मनः ये दो पद दिये हैं। अथवा ब्रह्म, परमात्मा, भगवान 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते' इन तीन मत का यहाँ संग्रह किया गया है। लोक में ऐश्वर्य आदि धर्मों को मुख्य मानकर उनमें भगवत्व कहा है और विलक्षणता को मुख्य मान कर आत्मत्व कहा है इसी तरह सद्रूपता को मुख्यमानकर उनमें ब्रह्मत्व कहा है। उसके कितने रूप हैं इसकी जिज्ञासा होने पर उसे गिनाते हैं। जो प्रकृति और पुरुष का नियामक है वह 'पर' है और प्रकृति को प्रधान शब्द से कहा है काल अथवा भगवान् की इच्छा को दैव कहा और कर्म से 'अदृष्ट' लिया गया है विचेष्टित से अनेक प्रकार की चेष्टाओं से युक्त स्वभाव का ग्रहण है और यह दिखाई देने वाला और नहीं दिखाई देने वाला दिव्य सारा ही जगत् रूप भेदास्पद है इस तरह यह 'पर', प्रधान, पुरुष, दैव, कर्म, विचेष्टित और रूप भेदास्पद दृश्य जगत् तथा नहीं दिखाई देने वाला दिव्य जगत् यह सब काल इस नाम से कहा गया है क्योंकि इन सबका आधार काल है और ये सब काल के अधीन है। काल की कालता को सिद्ध करते हैं महत्तत्व आदि जितने भी हैं उन सबको भी जिस काल से भय है वह काल है भेददृष्टि होना ही भय का कारण है। जो बहिर्मुख होते हैं उन्हें काल ग्रस जाता है ।।३६-३७।।

आभास—कालस्योपास्यतानिमित्तं कालस्याऽऽधिदैविकं रूपमाह—

आभासार्थ - काल की उपासना के लिये उसका आधिदैविक रूप कहते हैं—

श्लोक—**योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः।**
स विष्ण्वाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ।।३८।।

श्लोकार्थ—जो सबका आश्रय होने के कारण समस्त प्राणियों में अनुप्रवेश कर के भूतों के द्वारा ही भूतों का संहार करता है, वह जगत् का शासन करने वाले ब्रह्मा आदि का भी प्रभु है वह काल ही यज्ञों का फल देने वाला विष्णु है ।।३८।।

सुबोधिनी—योऽन्तः प्रविश्येति । यो भगवान् स कालः। स को भगवानित्याकाङ्क्षायाम्—यस्त्वधियज्ञः; यज्ञाधिष्ठात्री देवता विष्णुः '**यज्ञो वै विष्णुः**' इति श्रुतेः। एकस्यैव काल इति संज्ञा विष्णुरिति च। तत्र विष्णुसंज्ञा कथमित्याकाङ्क्षायां व्याप्तिं निरूपयन् अन्तः प्रवेशं निरूपयति—**यो भूतैः सहाऽन्तः प्रविश्य अखिलाश्रयो** जातः। अन्तर्व्याप्तिः प्रवेशात्, बहिर्व्याप्तिराश्रयत्वात्। कालत्वमाह—**कलयतां प्रभुरिति**। यस्तु कलयत्याकलयति, जानाति, भक्षयति वा; क्रियया ज्ञानेन वा यो व्याप्नोति, स कालः। कलयन्तीति कलयन्तः, तेषां कलयतां ब्रह्मादीनामपि नियन्ता। अतः काल इत्यर्थः ।।३८।।

व्याख्यार्थ जिसने अन्दर[1] प्रवेश कर रक्खा है वह भगवान् काल है वह काल कौनसा

(१) यहाँ प्रवेश मारकरूप से जानना चाहिये (प्रकाश)

भगवान् है इस जिज्ञासा का उत्तर देते हैं वह भगवान् अधियज्ञ है अर्थात् यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता विष्णु है 'यज्ञो वै विष्णुः' यज्ञ ही विष्णु है यह श्रुति इसमें प्रमाण है। एक ही भगवान् की काल यह संज्ञा और विष्णु यह भी संज्ञा है। उसकी विष्णु संज्ञा कैसे हैं ऐसी जिज्ञासा का उत्तर देते हैं वह काल व्यापक है उसकी व्याप्ति का निरूपण करते हुए उसके अन्तः प्रवेश का निरूपण करते हैं। जो भूतों के साथ भीतर प्रवेश करके सबका आश्रय (आधार) हो गया है। प्रविष्ट होने के कारण तो वह भीतर व्याप्त है और आश्रय होने से बाहर व्याप्त है। उस काल की कालता को कहते हैं कलयतां प्रभुः जो आकलन (नियमन) करता है, जानता है या भक्षण करता है अथवा क्रिया वा ज्ञान के द्वारा व्याप्त होता है वह काल है। कलयन्तीति कलयन्तः तेषां कलयतां अर्थात् जो सबका नियन्त्रण करने वाले ब्रह्मा आदि है उनका भी यह काल नियन्ता है नियमन करने वाला है। अतः यह काल है ॥३८॥

आभास—इदं भगवतः केवलं मारणैकस्वभावमिति वक्तुं तस्य सर्वसाधारणत्वमाह—

आभासार्थ—भगवान् का यह कालरूप केवल मारने के ही स्वभाव वाला है ऐसा कहने के लिये उसकी सर्वसाधारणता बताते हैं—

श्लोक—**न चाऽस्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः ।**
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—इस काल रूप भगवान् का न कोई मित्र है और न कोई शत्रु और न कोई इसका कुटुम्बी। यह सदा सावधान रहता है और अपने स्वरूप भूत भगवान् को भूल कर भोग रूप प्रमाद (आलस्य) में पड़े हुए प्राणियों का संहार कर देता है ॥३६॥

सुबोधिनी—**न चाऽस्येति** । **अस्य** कालस्य, **कश्चिद**प्युपासकोऽपि, **दयितो नास्ति** । यो वा द्वेष्टि सोऽपि **न द्वेष्यः** । सर्व एव काले उत्पन्न इति सम्बन्धविशेषाभावात् कोऽपि न बान्धवः । परमयं सर्वप्रकृतिः यः पश्यति, तं न गृह्णाति, किन्तु प्रमत्तमेव जनम् । **असावप्रमत्तो**ऽन्तकर्ता, **आविशति** भक्षणार्थं तं प्रविशति, व्याघ्र इव ॥३६॥

व्याख्यार्थ—इस काल की कोई उपासना भी करे तो भी वह इसे प्रिय नहीं है अथवा जो इससे द्वेष करता है वह भी काल का शत्रु नहीं है। सभी की उत्पत्ति काल में होती है इसलिये उस काल का किसी से कोई सम्बन्ध विशेष न होने से बान्धव भी कोई नहीं है। परन्तु यह काल तो सर्वप्रकृति है जो इस काल को देखता रहता है (काल का ध्यान रखता है) उसे यह नहीं ग्रहण करता किन्तु जो असावधान रहता है उसी को पकड़ता है। यह काल असावधान नहीं है यह अन्त करने वाला है। आविशति का अर्थ है खाने के लिये प्रमादी पुरुष के ऊपर बाघ की तरह झपटता है ॥३६॥

आभास—अस्य कालत्वं सर्व एव जानन्तीति तेषां तज्ज्ञानकार्यं भयमाह–यद्भयादिति पञ्चभिः—

आभासार्थ—इस काल की कालता को सभी जानते हैं उस जानने का कार्य ही तो भय है उस भय को पांच श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ।**
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ।।४०।।
यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह ।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ।।४१।।

श्लोकार्थ—जिस के भय से वायु चलता है जिस के भय से सूर्य तपता है, जिस के भय से इन्द्र वर्षा करता है, जिस के भय से यह खगोल प्रकाश करता है। जिस के भय से औषधियों के सहित लताएँ सभी वनस्पतियां अपने अपने समय पर फल फूल धारण करती हैं ।।४०-४१।।

कारिका—**अधिकारिणो महान्तो ये ये वा मूढा अचेतनाः ।**
तत्त्वानि देवाः सर्वे च कालाद्भीता इतीर्यते ।।१।।

कारिकार्थ जो कोई बड़े अधिकारी हैं महान् हैं अथवा जो मूढ हैं या जो अचेतन हैं वे तथा तत्व, देवता ये सब काल से डरते हैं ऐसा कहा जाता है ।।१।।

सुबोधिनी—वातादयः स्वस्वकार्यं कालभयादेव कुर्वन्ति, तत्र किं वक्तव्यम् '**प्राणी स्वधर्मं करिष्यति**' इति ।

व्याख्यार्थ—जब काल के भय से ही वायु आदि भी अपना अपना काम करते हैं तो फिर जो प्राणी हैं वे अपने स्वधर्म को करें इसके लिये क्या कहा जाय ।

सुबोधिनी—**अयं वातः**, यत् काले काले **वाति**, **सूर्यो**ऽपि यस्मिन् नक्षत्रे यथा ताप उचितः, तथा **तपति**; **देवः** प्रर्जन्यः स्वकाले **वर्षति**; नक्षत्राणां गणोऽपि ज्योतिश्चक्रं स्वकाले भाति । तद्गताः शुक्रादयो यथाधिकारं भान्तीत्यर्थः । अतिमूढा **वनस्पतयो लताश्च**; अश्वत्थादयः, कूष्माण्डादिफलप्रधानलताः पुष्पप्रधानाश्च **च**-कारात्पत्रप्रधाना अपि । **ओषधिभिर्व्रीह्या**दिभिः सह, **स्वे स्वे काले**, स्वस्वनक्षत्रदेशविशेषेष्वनतिक्रम्य, **पुष्पाणि फलानि च गृह्णन्ति** ।।४०।।४१।।

व्याख्यार्थ—यह वायु जिस काल के भय से समय समय पर चलती रहती है । सूर्य भी जिस नक्षत्र पर जितना ताप उचित है वैसा ही तपता है । मेघ अपने समय पर बरसता है, नक्षत्रों का समुदाय भी ज्योतिश्चक्र को अपने समय पर प्रकाशित करता है । अर्थात् ज्योतिश्चक्र में स्थित शुक्र

आदि ग्रह भी अपने अधिकार के अनुसार प्रकाशित होते हैं। अत्यन्त मूर्ख जो वनस्पति और लताएँ अश्वत्थ (पीपल) आदि, कूष्माण्ड आदि फल प्रधान लताएँ और पुष्प प्रधान तथा 'च' से पत्र प्रधान हैं वे भी औषधियां शाल (चांवल) आदि के साथ अपने अपने समय पर अपने अपने नक्षत्रों में, देश विशेषों में काल का अतिक्रमण न करते हुए पुष्प तथा फलों को ग्रहण करती हैं ।।४०-४१।।

आभास—चैतन्यरहिता अपि भीता इत्याह—

आभासार्थ—चेतनता रहित (जड़) हैं वे भी डरते है उसे कहते हैं—

श्लोक—**स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यतः ।**
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् । ४२।।

श्लोकार्थ—जिसके डर से नदियाँ बहती हैं और समुद्र भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। जिसके भय से अग्नि जलती है और जिस के भय से पर्वत के सहित पृथ्वी जल में नहीं डूबती ।।४२।।

सुबोधिनी–सरितो नद्योऽपि **भीताः** सत्यः **स्रवन्ति**। **उदधिर्भू**मेरुच्चोऽपि मर्यादातोऽग्रे **नोत्सर्पति**। **अग्निरपीन्धे** काष्ठादिभिर्ज्वलितो भवति, अन्यथा स्वयोनिं न दहेत्। **गिरिभिः** सह यद्भीत्या **भूरपि न मज्जति**। **अग्निर्ज्वलति यद्भीत्येति** वा पाठः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—नदियाँ भी डरती हुई बहती हैं। समुद्र पृथिवी से ऊँचा होते हुए भी अपनी मर्यादा से आगे नहीं सरकता। अग्नि लकड़ी आदि से जलती है यदि भय न हो तो लकड़ी जो अग्नि की उत्पत्ति का कारण है उसे कभी न जलाती। जिसके डर से ही पर्वतों के सहित पृथिवी भी डूबती नहीं। अहीं अग्नि ज्वलतियद्भीत्या ऐसा भी पाठ है ।।४२।।

आभास—तत्त्वान्यपि भीतानीत्याह—

आभासार्थ—तत्त्व भी डरते हैं उसे कहते हैं—

श्लोक—**नभो दधाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः ।**
लोकं स्वदेहं तनुते महान् सप्तभिरावृतः ।।४३।।

श्लोकार्थ—जिस काल के नियम से यह आकाश जीवित प्राणियों की श्वास प्रश्वास के लिये अवकाश देता है और महत्तत्व अहंकार रूप शरीर का सात आवरणों से युक्त ब्रह्माण्ड के रूप में विस्तार करता है ।।४३।।

सुबोधिनी–नभो दधातीति। **यस्य** कालस्य **नियमान्नभ** आकाशम्, **पदं** स्वर्गादिलोकानां स्थानम्, **अदस्तत्** प्रसिद्धं **दधाति**, आकाशोऽपि धारको जातोऽस्तीत्यर्थः। श्रुतावाकाशादिसृष्टि-

रिति आकाशो निरूपितः, पुराणादौ महदादिरिति सोऽप्युच्यते । **महान् स्वदेहमेव** लोकात्मकं **तनुते** । **सप्तभिः** प्रकृत्यहङ्कारपञ्चमहाभूतैरावृतः ।।४३।।

व्याख्यार्थ—जिस काल के नियम से आकाश स्वर्ग आदि लोकों के स्थान को धारण करता है ऐसा प्रसिद्ध है अर्थात् आकाश भी (जिसका कोई आकार नही जो आकाश रूप हैं) स्वर्ग आदि लोकों के स्थान को धारण करता है । वेद में आकाश आदि की सृष्टि बताई है इसलिये आकाश का निरूपण किया और पुराणों में महत्तत्व आदि से उत्पत्ति बताई इसलिये उसे भी यहाँ कहा है । महत्तत्व लोकात्मक स्वदेह को ही विस्तृत करता है । प्रकृत्ति अहङ्कार और पञ्चमहाभूत इन सात से आवृत्त अहङ्कार देह का विस्तार करते हैं ।।४३।।

आभास—ब्रह्मादयोऽपि भीता इत्याह—

आभासार्थ—ब्रह्मा आदि भी डरते हैं उसे कहते हैं—

श्लोक—**गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् ।**
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ।।४४।।

श्लोकार्थ—जिसके भय से सत्व आदि गुणों के नियामक विष्णु आदि देवगण जिनके अधीन यह सारा चराचर जगत् है अपने जगत् रचना आदि कार्यों में युग क्रम से तत्पर रहते हैं ।।४४।।

सुबोधिनी-**गुणाभिमानिन इति । गुणाभिमानिनो देवा** ब्रह्मादयः । रजःप्रभृतयो गुणाः, रजोभिमानी ब्रह्मा, सत्त्वाभिमानी आधिभौतिको विष्णुः, तमोऽभिमानी शिव इति । तेऽप्युत्पत्तिस्थितिप्रलयान् सर्वेषां कालानुसारेण कुर्वन्ति । **अनुयुगं** च एते **वशे वर्तन्ते** । अनेकधा अवतीर्याऽपि कार्यं कुर्वन्ति । **येषां** ब्रह्मादीनां **वशे एतच्चराचरं** जगदिति माहात्म्यम् ।।४४।।

व्याख्यार्थ—गुणाभिमानी देवता ब्रह्मा आदि रजः प्रभृति गुण हैं उनमें रजोगुणाभिमानी ब्रह्मा सत्वगुणाभिमानी आधिभौतिक विष्णु तमोभिमानी शिव हैं वे भी काल के अनुसार सबकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करते हैं । प्रत्येक युग के अनुक्रम से ये वश में रहते हैं । अनेक प्रकार से अवतार लेकर भी ये कार्य करते हैं । जिन ब्रह्मा आदि के वश में यह सारा चराचर जगत् है ऐसा जिनका माहात्म्य है ।।४४।।

आभास—एवं कालस्य माहात्म्यमुक्त्वा तस्य कार्यं वदन् उपसंहरति—

आभासार्थ-इस तरह काल के माहात्म्य को कहकर उसका कार्य कहते हुए उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।**
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनाऽन्तकम् ।।४५।।

श्लोकार्थ—वह अविनाशी काल स्वयं अनादि है किन्तु दूसरों का आदि कर्त्ता है स्वयं अनन्त है किन्तु दूसरों का अन्त करने वाला है यह पिता से पुत्र की उत्पत्ति कराता हुआ सारे जगत् की रचना करता है और अपनी संहार शक्ति मृत्यु के द्वारा यमराज को भी मार देता है ।।४५।।

सुबोधिनी । **सोऽनन्त इति** । स्वयमनन्तः, सर्वेषामन्तकरः; स्वयमनादिः, सर्वेषामादिकृत्; कार्यं जनयन्नप्यव्ययः, इतरबीजादिवद्व्यय-रहितः । उत्पत्तिरपि तस्य विचित्रा । **जनेनैव** उत्पन्नेनैव पित्रादिना, **जनं** पुत्रादिकं **जनयन्**, **मृत्युना** मरणरूपेण मारकमन्तकमपि मारयन्निव वर्तत इति माहात्म्यम् । अत एतत्परिज्ञानेनैव वैराग्यं भवतीत्युक्तम् । यस्तस्मान्न बिभेत्यस्मिन्नेव च तिष्ठति, तस्य गतिरुत्तरत्र वक्ष्यते ।।४५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
तृतीयस्कन्धे एकोनत्रिंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—काल स्वयं अन्त से रहित है परन्तु सबका अन्त करने वाला है, स्वयं अनादि है परन्तु सबका आदिकर्त्ता है । कार्य करते हुए भी विकार रहित है अर्थात् अन्य बीजों में जैसे विकार होता है इस तरह काल में विकार नहीं होता । उत्पत्ति भी उसकी विचित्र है । जो स्वयं उत्पन्न होने वाले पिता आदि हैं उन्हीं से पुत्र आदि को उत्पन्न करता हुआ और जो सबका मरणरूप मृत्यु है उससे अन्तक (यम) को भी मारते हुए की तरह रहता है यह उस काल का माहात्म्य है अतः ऐसा ज्ञान होने से ही वैराग्य हो जाता है यह इससे कहा गया । जो उस काल से भयभीत नहीं होता और इसी काल में रहता है उसकी गति आगे कही जायेगी ।।४५।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के गुनतीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

———

हमारे निर्धन के धन राम ।
चोर न लेत घटत नहिं कबहू, आवत गाढे काम ।।
जल नहिं बूढता, अग्नि न दाहत, है ऐसो हरि नाम ।
वैकुंठनाथ सकल सुख दाता, सूरदास सुख-धाम ।।
'सूरसागर'

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ।।

।। श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ।।

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (जीव मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—३०

गृहस्थी को काल से होने वाले दुःख

कारिका—**अभीतः कालकार्येषु यो मूढो वर्तते गृहे ।**
नदीप्रवाहे गृहवत् स दुःखीति निगद्यते ।।१।।

कारिकार्थ—जो नासमझ (मूर्ख) काल के कार्यों में भय न समझता हुआ घर में ही रहता है वह नदी के प्रवाह के अन्दर रहने वाले घर की तरह दुःखी कहा जाता है ।।१।।

कारिका—**बहिर्मुखो हि कालस्य विषयो नाऽऽत्मदर्शनः ।**
अतो बहिर्मुखे कालः लोकयोर्दुःखदः स्मृतः ।।२।।

कारिकार्थ—भगवद्रूप काल से जो बहिर्मुख होता है जो आत्मदर्शी नहीं होता वह काल का विषय होता है अतः बहिर्मुख को ही काल इस लोक में तथा परलोक में दुःख देने वाला कहा गया है ।।२।।

कारिका—**त्रिंशत्तमे तथाऽऽध्याये गृहस्थस्योभयोर्महत् ।**
लोकयोरुच्यते दुःखं पुनर्जन्मावधि स्फुटम् ।।३।।

कारिकार्थ—तीसवें अध्याय में जो गृहस्थ है उस को जन्म से लेकर पुनर्जन्म पर्यन्त जो जो महान् दुःख इस लोक में तथा परलोक में होते हैं वो कहे गये हैं ।।३।।

कारिका —**अष्टादशभिराद्यन्तमरणावधि वर्ण्यते ।**
पुनर्जन्मावधि परं श्लोकैः षोडशभिः पुनः ।।४।।

कारिकार्थ—अठारह श्लोकों से तो पहले जन्म से लेकर मरणपर्यन्त के दुःखों का वर्णन है और उसके अनन्तर सोलह श्लोकों से पुनर्जन्मावधि दुःखों का वर्णन है ।।४।।

आभास—कालस्य भगवतो विष्णोर्बहिर्मुखत्वे बाधकत्वमज्ञात्वा दुःखं प्राप्नोतीति वक्तु प्रथममज्ञानमाह—

आभासार्थ—काल जो भगवान् विष्णु है उस से बहिर्मुख होने पर उसकी बाधकता को नहीं जानकर जो दुःख प्राप्त करता है उसे कहने के लिये पहले अज्ञान को कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—**तस्यैतस्य जनो नूनं नाऽयं वेदोरुविक्रमम् ।**
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री कपिलदेवजी कहते है—माताजी ! जिस प्रकार वायु से उडाया जाने वाला मेघसमूह वायु के बल को नहीं जानता उसी प्रकार यह जीव बलवान् काल की प्रेरणा से भिन्न भिन्न अवस्थाओं में तथा योनियों में भ्रमण करता रहता है किन्तु उस काल के प्रबल पराक्रम को नहीं जानता ।।१।।

सुबोधिनी–तस्यैतस्येति । यः पूर्वं सर्वभयजनकत्वेनोक्तः, स एवाऽयं कालः । एवमपि **जन**स्तत्रैवोत्पन्नः प्राणी, **नूनं विक्रमं न वेद** । ननु यावन्न बाधते, तावत्कथं जानीयादित्याशङ्क्याऽऽह–**काल्यमानोऽपीति** । प्रेर्यमाणः, पीड्यमानो वा; तद्वशवर्त्यपि न जानाति । असम्बन्धिनः पीडा सोढुं शक्या कादाचित्की, अयं तु **वायोरिव घनावलि**स्तस्य वशे ।।१।।

व्याख्यार्थ—जिसे पहले सबको भय उत्पन्न करने वाला बताया था । वही यह काल है ऐसा होने पर भी प्राणी उसी काल में उत्पन्न होता है परन्तु वह इस काल के पराक्रम को नहीं जानता यह निश्चय है । शंका हो कि जब तक काल कोई बाधा न करे तब तक उसे कैसे जान सकता है उसका निवारण 'काल्यमानोऽपि' से करते हैं काल प्राणी को प्रेरणा करता रहता है अथवा काल से प्राणी पीड़ित होता है उसके वश में भी है तथापि उस काल को नहीं जानता । जिसका यदि कोई सम्बन्ध न हो उसके द्वारा पहुँचाई जाने वाली पीड़ा कदाचित् सही भी जा सकती है परन्तु इसका तो सम्बन्ध नित्य है उसको 'वायोरिव घनावलिः' इस दृष्टान्त से समझाते हैं जैसे मेघ समुदाय वायु के वश में है उसी तरह यह जीव काल के वश में है ।।१।।

आभास—सर्वकार्येषु तस्य पीडामाह—

आभासार्थ—सभी कार्यों में उसकी पीड़ा है उसे कहते हैं—

श्लोक—**यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे ।**
तं तं धुनोति भगवान् पुमान् शोचति यत्कृते ।।२।।

श्लोकार्थ—जीव सुख की अभिलाषा से जिस जिस वस्तु को बडे कष्ट से प्राप्त करता है उसी उसी को भगवान् काल नष्ट कर देते हैं ।।२।।

सुबोधिनी–यं यमर्थामिति । **सुखहेतवे**, महतोऽपि **दुःखेन यं यमर्थं** भार्यागृहादिकमुपादत्ते, तं तमर्थं कालो धुनोति, भगवत्त्वात्समर्थो जानाति च । ननु कैषा भगवतो लीला यत्सर्वेभ्यो दुःखं प्रयच्छतीत्याशङ्क्याऽऽह–**पुमान् शोचति यत्कृत इति** । यस्य भगवतः कृते अर्थे तदधीनं सर्वमिति तूष्णीं स्थातव्यम्, तदा स ईश्वरः पश्चान्न कुर्यात्; यदयं शोचति अतो धुनोतीति भावः । अनेन भगवतो दोषाभावो निरूपितः ।।२।।

व्याख्यार्थ अपने सुख के लिये अत्यधिक दुःख से जिन जिन स्त्री, घर आदि वस्तुओं को प्राणी प्राप्त करता है उन सबको वह काल नष्ट कर देता है इस बात को वह जानता है कि काल भगवान् है और सब कुछ करने में समर्थ है । शंका हो सकती है कि भगवान् की ये कौनसी लीला है कि सब को दुःख ही देते हैं इसका समाधान करते हैं 'पुमान्शोचतियत्कृते' जितने भी पदार्थ हैं वे सब भगवान् के लिये हैं और उनके अधीन है ऐसा समझकर प्राणी को चुपचाप बैठ जाना चाहिये तब भगवान् उसके लिये ऐसा नहीं करेंगे किन्तु उनका वह शोक करता है इसलिये भगवान् उसे नष्ट कर देते हैं । इससे भगवान् में कोई दोष नहीं है यह निरूपित हुआ ।।२।।

आभास—तथापि महतः किमेतत्कृत्यमत आह—

आभासार्थ - तथापि महत्पुरुषों का ऐसा क्या कार्य है इस पर कहते हैं—

श्लोक—**यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः ।**
ध्रुवाणि मन्यते मोहागृहक्षेत्रवसूनि च ।।३।।

श्लोकार्थ—यह दुष्ट बुद्धि मोह से इस नश्वर देह के सम्बन्धी पुत्र, पौत्र आदि के सहित घर खेत,धन इन सब को ध्रुव मानता है ।।३।।

सुबोधिनी–यदध्रुवस्येति । तस्य वैराग्यार्थमेवं करोति–यतोऽयम**ध्रुवस्य देहस्य**, नश्वरस्य अनुबन्धपुत्रादिसहितस्य सम्बन्धीनि गृहव्रीह्यादिक्षेत्रधनानि ध्रुवाणि मन्यते, तदर्थमायुश्च वृथा व्ययीकरोति । यतोऽयम्–**दुर्मतिः** । तदपि न प्रमाणात्, किन्तु **मोहादेव**; अतो दूरीकरणार्थं तथा करोतीति भावः ।।३।।

व्याख्यार्थ—जीव को वैराग्य हो इसके लिये भगवान् ऐसा करते हैं । क्योंकि यह जीव नश्वर शरीर के सम्बन्धी जो पुत्रादि और उनके सम्बन्धी घर, व्रीहि आदि, खेत तथा धन इनको

ध्रुव (कभी नष्ट न होने वाले) मानता है और उनके पीछे अपनी आयु को व्यर्थ ही नष्ट करता है। इसीलिये तो इसे दुर्मति बताया है। देह से सम्बन्धित पदार्थों को प्रमाण के द्वारा ध्रुव नहीं मानता किन्तु मोह से ऐसा मानता है। अतः इस मोह को दूर करने के लिये भगवान् वैराग्य कराते हैं ।। ३ ।।

आभास—ननु किं धनादिदूरीकरणेन ? निकृष्टयोनौ जातः स्वयमेव विरक्तो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि धन आदि को दूर करने की क्या आवश्यकता है निकृष्ट (नीच) योनि में जब उत्पन्न हो जायगा तो अपने आप विरक्त हो जायगा इसका उत्तर देते हैं—

श्लोक—**जन्तुर्वै भव एतस्मिन् यां यां योनिमनुव्रजेत् ।**
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ।।४।।

श्लोकार्थ—इस संसार में यह जीव जिस जिस योनि में जन्म लेता है, उसी उसी में आनन्द मानने लगता है और उससे विरक्त नहीं होता ।।४।।

सुबोधिनी-जन्तुरिति । **एतस्मिन्** संसारे, स्वभावत उत्कर्षापकर्षरहिते, स्वयं **जन्तुः** प्राणी **यां यां योनिम्**श्वयोनिम्, शूकरयोनिं वा, **अनुव्रजेत्** कर्मवशाद्गच्छेत्; **तस्यां तस्यामेव, निर्वृतिं** सुखम्, **स लभते** । स्त्रियमन्नं निद्रां च प्राप्नोति, यथा राजशरीरे, इन्द्रशरीरे वा; अतो न विरज्यते । तस्मान्न नीचयोनिसम्बन्धे वैराग्यम् ।।४।।

व्याख्यार्थ—स्वभाव से उत्कर्ष और अपकर्ष से रहित इस संसार में स्वयं प्राणी जिस जिस जैसे कुत्ते की या सूअर की योनि में कर्मवश से जाता है तो उसी उसी में वह सुख को प्राप्त करता है। उस योनि में भी उसे स्त्री, अन्न, नींद प्राप्त हो जाती है जिस तरह राजशरीर में अथवा इन्द्र शरीर में प्राप्त होती है अतः उसे वैराग्य नहीं होता इसलिये नीच योनि के सम्बन्ध से वैराग्य नहीं हो सकता है ।। ४ ।।

आभास—कर्मणा नरके जाते दारुणदुःखं दृष्ट्वा वैराग्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—कर्म के द्वारा जब नरक प्राप्त होगा तो उसके दारुण दुःख को देखकर वैराग्य हो जायगा ऐसी आशंका करके कहते हैं—

श्लोक—**नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति ।**
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ।।५।।

श्लोकार्थ—भगवान् की माया से यह जीव ऐसा मोहित हो रहा है कि कर्मवश नारकीय योनि में जन्म लेने पर भी वहाँ के भोगों में ही सुख मानने के कारण उसे भी छोड़ना नहीं चाहता ।।५।।

सुबोधिनी—नरकस्थोऽपीति । कुम्भीपाकादिनरका उक्ताः, तत्र नारकदेहा अपि निरूपिताः । तादृशानपि देहांस्ते त्यक्तुं न वाञ्छन्ति । नरकसम्बन्धिनी या निर्वृतिः, नरकस्थमज्जादिभक्षणसुखम्, यथाऽत्राऽमेध्यगर्ते कीटानाम् । अतस्तस्यां **निर्वृतौ सत्यां** तस्मिन् देहे गते सा गमिष्यतीति भयान्न**त्यक्तुं वाञ्छति** । नन्वेतद्दुःखात्मकं प्रत्यक्षसिद्धम्, कथं निर्वृतिरित्युच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—**देवमायाविमोहित इति** । मायामोहितो विपरीतमेव मन्यते, तीव्रवेदनामपि सुखत्वेन मन्यत इति । मायाया माहात्म्यख्यापनार्थं **देव**पदम् ।।५।।

व्याख्यार्थ—कुम्भीपाक आदि नरक कहे गये हैं और उन नरकों के नारक देहों का भी निरूपण किया है । वैसे देहों को भी वे छोड़ना नहीं चाहते । नरक सम्बन्धी जो सुख है नरक में मज्जा आदि का भक्षण ही सुख है । जैसे अपवित्र खड्डे में कीड़े आदि का भोजन होता है । अतः उस देह में उसे सुख होने से उस देह के चले जाने पर वह सुख भी चला जायगा इस भय से उस नारकीय शरीर को भी छोड़ना नहीं चाहता । वह दुःखदायी है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है फिर उसमें संतोष (सुख) कैसे होता है इस आशंका पर कहते हैं 'देवमाया विमोहितः' माया से मोहित है इसलिये वह दुःख को ही सुख मानता है अर्थात् तीव्र वेदना को भी सुखरूप से मानता है । माया का माहात्म्य ही ऐसा है इसको बताने के लिये देव पद दिया है । अर्थात् वह देव माया है इसलिये वह सब को मोहित करने में समर्थ है ।। ५ ।।

आभास—नन्वस्मिन्मानुषे जन्मनि पुत्रभार्यादिभिरवश्यं पोष्यैर्दुःखे दत्ते वैराग्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यदि ऐसी आशंका हो कि इस मनुष्य जन्म में पुत्र-स्त्री आदि जो अपने पोष्यवर्ग है जिनका हमे अवश्य पोषण करना पड़ता है वे जब दुःख देंगे तो वैराग्य हो जायगा इस शंका का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।**
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ।।६।।

श्लोकार्थ—यह मूर्ख अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, पशु, धन और बन्धु-बान्धवों में अत्यन्त आसक्त हो कर उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मनोरथ करता हुआ अपने को बहुत भाग्यशाली मानता है ।।६।।

सुबोधिनी—आत्मजायेति । **आत्मा** देहः, **जाया** स्त्री, **सुता** पुत्राः, **अगारं** गृहम्, **पशवः**, **द्रविणानि, बान्धवाश्च**; षडङ्गोऽयं प्राकृत आत्मा । साङ्गे तस्मिन्निरूढं मूलं यस्य, तादृ-

शान्तःकरणो भूत्वा, भाराक्रान्तोऽपि दुःखं प्राप्नुवन्नपि, **आत्मानम् बहु** कृतार्थम्, **मन्यते**। अतस्तैः प्रत्युत राग एव तस्य, न तु वैराग्यमिति भावः ॥६॥

व्याख्यार्थ—आत्मा (देह), जाया (स्त्री), सुतः (पुत्र), आगार (घर) पशु, धन और कुटुम्ब इस तरह यह छ अंग वाली प्राकृत आत्मा है। अङ्ग सहित इस आत्मा (देह) में जम गया है मूल जिसका उस प्रकार के अन्तःकरण वाला होकर इन सबके भार से दबा जाता हुआ दुःख पाता हुआ भी अपने को बहुत कृतार्थ मानता है। अतः उनसे वैराग्य होना तो दूर रहा उनमें तो अत्यन्त अनुराग ही होता है। इसलिये स्त्री पुत्र आदि से विरक्त होने की बात असंभव है ॥ ६ ॥

आभास—न च मन्तव्यम्, ते सुखदायिन एवेत्याह—

आभासार्थ- यदि भार्या पुत्र आदि से वैराग्य नहीं होता है तो ऐसा मानना चाहिये कि वे सुखदायी होंगे उस पर कहते हैं—

श्लोक—**सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना ।**
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥७॥

श्लोकार्थ—इनके पालन पोषण की चिन्ता से इसके सम्पूर्ण अङ्ग जलते रहते है तथापि दुर्वासनाओं से दूषित हृदय होने के कारण यह मूढ निरन्तर इन्हीं के लिये अनेक प्रकार के पाप करता रहता है ॥७॥

सुबोधिनी—सन्दह्यमानसर्वाङ्ग इति । एषां भार्यादीनामुद्वहनं पोषणम्, तदर्थं य **आधिः** तेन **सन्दह्यमानानि सर्वाङ्गानि** यस्य न केवलमिह लोके तत्कृतं दुःखं प्राप्नोति, किन्तु परलोकेऽपीत्याह—**करोतीति** । सर्वदा **मूढः** सन्, बाधकवाक्यान्यविचार्य, स्वतोऽप्यन्तःकरणशुद्धिरहितो **दुरितानि** दुष्टप्रकारेण धनोपार्जनादीनि, ऐन्द्रियकानि वा पापानि करोतीत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ– इन भार्या आदि उद्वहन अर्थात् पोषण उसके लिये जो मानसिक चिन्ता है उससे इसके सारे अङ्ग जलते रहते हैं केवल इसी लोक में इसको दुःख प्राप्त होता है ऐसी बात नहीं किन्तु परलोक में भी इसे दुःख ही प्राप्त होगा उसको 'करोत्यविरतं' आदि से कहा है यह सर्वदा मूर्ख होता हुआ कर्म करता है यह शास्त्रों के बाधक वाक्यों का तो विचार करता नहीं और स्वतः भी इसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है इसलिये दूषित प्रकार से धनोपार्जन आदि करता है तथा इन्द्रिय सम्बन्धी पाप करता है ॥ ७ ॥

आभास—एतावदपि कृत्वा नैहिकं सुखं प्राप्नोतीत्याह—**आक्षिप्तेति** त्रिभिः—

आभासार्थ - इतना करने पर भी इसे ऐहिक (इस लोक के) सुख की प्राप्ति नहीं होती उसे तीन श्लोकों से बताते हैं—

श्लोक—**आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया ।**
रहोरचितयाऽऽलापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ॥८॥

श्लोकार्थ—व्यभिचारिणी स्त्रियों द्वारा एकान्त में संभोगादि के समय बताये गये कपट रूपी पूर्ण प्रेम में तथा छोटे बच्चों की मीठी मीठी तोतली बातों में मन और इन्द्रियों के फँस जाने में सुख मानता है ॥८॥

सुबोधिनी—**असतीनां** व्यभिचारिणीनामुभयलोकनाशिकानां **स्त्रीणाम्, मायया** कपटेन वञ्चनार्थमेव कृतेन, **आक्षिप्तानि** स्त्रीवशे जातानि आत्मा इन्द्रियाणि यस्य । न हि परवशैरिन्द्रियैः सुखं भवति, स्त्रीसुखस्यैव प्रधानत्वात् । सा माया भगवद्भजनादिनाऽपि नापगच्छतीति ज्ञापयति—**रहोरचितयेति** । एकान्ते सा माया रचिता, एकान्तभक्त्यैवाऽपगच्छति; सा तु गृहस्थस्य न सम्भवतीत्यनुल्लङ्घ्या । **कलभाषिणां** सूक्ष्मपुत्राणामव्यक्तमधुरवाक्यानामालापैराक्षिप्तात्मेन्द्रियः, आक्षिप्तानि आत्मा इन्द्रियाणि च यस्य । अनेनैवैहिकसुखाभावो निरूपितः ॥८॥

व्याख्यार्थ—जो व्यभिचारिणी है इस लोक और परलोक को नष्ट करने वाली है उन्हें असती स्त्री कहा जाता है उन असती स्त्रियों की माया (कपट) जो पुरुषों को ठगने के लिये की जाती है उससे आत्मा और इन्द्रियाँ स्त्री के वश में हो जाती हैं स्त्री सुख सब सुखों में प्रधान है तो वह सुख पराधीन इन्द्रियों से प्राप्त नहीं होता । स्त्री के द्वारा जो माया की गई है वह माया भगवान् के भजन से कभी दूर नहीं होती । क्योंकि स्त्री की माया का असर एकान्त में उसकी सम्भोगादि सम्बन्धी बातों से हुआ है । अतः उस माया का असर भगवान् की एकान्त भक्ति से ही दूर हो सकता है और इस प्रकार की एकान्त भक्ति गृहस्थ से हो नहीं सकती क्योंकि उसका सम्बन्ध तो स्त्री से बना ही रहेगा तो वह माया का उल्लंघन कैसे कर सकता है । और अस्पष्ट (तोतले) बोलने वाले बच्चों के आलाप से इन्द्रियाँ और आत्मा आक्षिप्त (वश में) हो जाती है जब आत्मा और इन्द्रियां अपने अधीन नहीं है तो उनसे ऐहिक (लौकिक) सुख कभी हो नहीं सकता ॥ ८ ॥

आभास—स्पष्टं परलोकाभावमाह—

आभासार्थ—परलोक में भी उसे सुख प्राप्ति नहीं होगी उसे कहते हैं—

श्लोक—**गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः ।**
कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥९॥

श्लोकार्थ—गृहस्थ पुरुष घर के दुःख प्रधान कपट पूर्ण कर्मों में लिप्त हो जाता है । उस समय बहुत सावधानी करने पर यदि उसे किसी दुःखका प्रतिकार (उपाय) करने में सफलता मिल जाती है तो उसे ही वह सुख जैसा मान लेता है ॥९॥

सुबोधिनी-गृहेष्विति । गृहा धर्मप्रधाना इति लोकप्रसिद्धिः, परं तत्र कपटरूप एव धर्मः, धर्मच्छलः, धर्माभासो वा । यश्च प्रतिष्ठार्थं जनसमक्षमेव औदार्यं ख्यापयति, अन्यदा समागतेभ्यो जलमपि न प्रयच्छति, स तथोच्यते । **दुःखमेव तन्त्रं** परिकरो येषाम् । इह लोके दुःखम्, परलोकेऽपि कपटधर्मात् दुःखम् । तत्रैवाऽ**तन्द्रितः** सावधानः । स्त्रीणामर्थे धर्मे महत्कार्यं कृत्वा तासामाश्रमे समागतस्तृषया म्रियमाणो यथा कथञ्चित् पानीयं पीत्वा आत्मानं सुखिनं मन्यते, कृतार्थं च । तदाह-**कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यत इति** अत्र सुखं श्रुतमन्यगतं वा । **गृहीति** सर्वदा गृहभाराक्रान्तः । शिरःस्थभारजलपानवत् तस्य सुखमिति निरूपितम् ।।९।।

व्याख्यार्थ—लोक में यद्यपि ऐसी प्रसिद्धि है कि घर धर्मप्रधान है परन्तु वहाँ जो धर्म है वह कपट रूप ही है जिसे हम छलधर्म या धर्माभास कह सकते हैं । गृहस्थ पुरुष जो अपनी प्रतिष्ठा के लिये लोगों के सामने ही केवल अपनी उदारता को प्रकट करता है किन्तु घर पर आये हुए अतिथि को कभी जल भी नहीं पिलाता । उसे तो धर्माभास ही कहा जायगा । जो कपट-धर्म है वह दुःखतन्त्र होता है अर्थात् दुःख ही उसका परिकर होता है । इस कपट धर्म से इस लोक में तो दुःख होता ही है और परलोक में भी दुःख होता है । कपट धर्म में ही वह सावधान रहता है । स्त्रियों के अर्थ में तथा धर्म में महान् कार्य करके उन स्त्रियों के आश्रम (निवास-स्थान) में जब आता है तो जैसे प्यास के कारण जिसके प्राण निकले जाते हों वह किसी तरह पानी पीकर अपनी आत्मा को सुखी मानता है और कृतार्थ मानता है इसी तरह दुःख के लिये किये गये उपाय जिससे दुःख दूर हो जाता है सुख कुछ भी नहीं मिलता परन्तु दुःख के प्रतीकार (उपाय) को ही सुख जैसा मान लेता है । यहाँ सुने हुए अथवा अन्यगत सुख को ही सुख समझता है । गृही कहने का तात्पर्य है घर के भार से दबा हुआ जैसे सिर के भार से पीड़ित भार के हट जाने पर अपने को सुखी मानता है अथवा अत्यन्त प्यासा जल पीकर अपने को सुखी मान लेता है ठीक यही स्थिति गृहस्थ की है ।।९।।

आभास—ननु लोकद्वये सुखाभावेऽपि दुःखमपि न भविष्यतीति नाऽत्यन्तं गृहं निन्दितमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—हो सकता है कि इहलोक और परलोक दोनों में सुख का अभाव हो पर दुःख भी तो नहीं होगा इसलिये घर अत्यन्त निन्दित नहीं है ऐसी आशंका करके कहते हैं—

श्लोक—**अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान् ।**
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यधः पुमान् ।।१०।।

श्लोकार्थ—जहाँ तहाँ भयङ्कर हिंसावृत्ति के द्वारा धन सञ्चय (इकट्ठा) कर यह ऐसे लोगों का पोषण करता है जिन के पोषण से नरक में जाता है । स्वयं तो उनके खाने पीने से बचे हुए अन्न को ही खाकर रहता है ।।१०।।

सुबोधिनी—अर्थैरिति । इतस्ततः स्वकीयानां परकीयानां च या **गुर्वी हिंसा** पीडा, तया **आपादितैरर्थैः, तान्** पुत्रादीन् **पुष्णाति, येषां पोषेण, अधो** नरके गच्छति । नरकविशेषेषु सामान्यतः कुटुम्बपोषको रौरवे पततीत्युक्तम् । '**यो राज्ञः प्रतिगृह्णीयाल्लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः । स पर्यायेण यातीमान्नरकनेकविंशतिम् । तामिस्रमन्धतामिस्रम्**' इत्यादिमनुवाक्यानि । '**कुम्भीपाके महाघोरे पुनरावृत्तिवर्जिते । तुलापुरुषप्रतिग्राही ऋत्विग्भिः सह मज्जति**' इत्यादिशतशो वाक्यानि अहिंसयाऽप्युत्पादितधने श्रूयन्ते, ये पुनर्घातकास्तेषां किं वक्तव्यम् । अतोऽर्थैस्तत्कृतपोषणेन च सर्वथाऽधो याति । न चाऽत्र भोगः, यतः **शेषभुगुच्छिष्टभोजी** । ब्राह्मणादीन् हत्वा, स्त्रीणां मलनिवृत्तिस्थानकर्तारोऽपि लोके दृश्यन्ते, कस्तेषामिह लोकः परलोको वा भविष्यति । **पुमानिति** समर्थोऽपि भूत्वैवं नष्टो भवतीति ज्ञापितम् । **स्वयमिति** पाठे न पुत्रादयो गच्छन्ति नरके, किन्तु स्वयमेवेत्यर्थः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—जहाँ तहां स्वकीयों (अपनों) की या परायों की भयङ्कर हिंसा से संपादित धन से उन पुत्रादिकों का पोषण करता है जिनके पोषण से नरक में जाता है । अनेक प्रकार के नरकों में से वह कुटुम्ब का पोषण करने वाला सामान्य रूप से रोरव नरक में गिरता है ऐसा कहा है । 'जो राजा का प्रतिग्रह (दान) लेता है, जो लोभी है, और जो शास्त्र के विरुद्ध आचरण करता है वह क्रम से तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि इक्कीस प्रकार के नरकों में जाता है' इत्यादि अनेक मनुजी के वाक्य हैं 'जो तुलादान लेता है वह ऋत्विजों के सहित महा भयङ्कर कुम्भीपाक नरक में पड़ता है जहाँ से कोई पुनः लौटता नहीं' इत्यादि सैंकड़ों वाक्य बिना हिंसा के द्वारा उपार्जित किये गये धन में भी कहे गये हैं तो फिर जो घातक हैं उनके लिये क्या कहा जाय । अतः धन के द्वारा पुत्रादिकों के पोषण से तो सर्वथा नरक में जाता है । इस लोक में उसे भोग की प्राप्ति भी नहीं होती क्योंकि वह तो उनका बचा खुचा अन्न खाता है । ब्राह्मण आदि को मार कर स्त्रियों के मल निवृत्ति (मल त्याग) के स्थान को बनाने वाले भी दुनियां में देखे जाते हैं तो उसके लिये क्या तो यह लोक और क्या परलोक होगा । पुमान् शब्द इस बात को बताता है कि वह समर्थ होते हुए भी नष्ट होता है अर्थात् स्त्री हो तो उसे असमर्थ भी मान ली जाय पर पुरुष तो असमर्थ नहीं है । पुमान् की जगह स्वयं ऐसा भी पाठ है उस पाठ में ऐसा अर्थ होगा कि हिंसा आदि से धनोपार्जन कर कुटुम्ब का पोषण करने से नरक में स्वयं ही जाएगा पुत्र आदि नरक में नहीं जायेंगे ।।१०।।

आभास—एवं सामर्थ्यदशायां न कोऽपि धर्मो भोगो वा सिद्ध इत्युक्तम् । असामर्थ्ये तु सुतरां नरको भोगाभावश्चेत्याह द्वयेन—

आभासार्थ—जब वह समर्थ है उस दशा में भी उसको धर्म या भोग सिद्ध नहीं हुआ ऐसा कहा गया तब असामर्थ्य में तो निश्चित रूप से उसे नरक अथवा भोगों का अभाव होगा ही यह दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः**
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ।।११।।

श्लोकार्थ—बार बार प्रयत्न करने पर भी जब इस की जीविका नहीं चलती हो (तब)तो वह लोभवश अधीर हो जाने से दूसरे के धन की इच्छा करने लगता है ।११

सुबोधिनी–वार्तायामिति । प्रायेणाऽयं गृहस्थो वार्ताजीवनः । सा वार्ता कालवशात् पुनः पुनरारब्धाऽपि लुप्यमाना भवति । धनव्यतिरेकेण च न पोषः सिद्ध्यति, अतो लोभेनाऽभिभूतो विवेकधैर्यरहितश्च, परस्य श्रेष्ठस्याऽर्थे, गुर्वर्थे देवतार्थे वा, **स्पृहां कुरुते** चोरयितुं विचारयति । प्राप्तिस्तु दुर्लभेति स्पृहैवोक्ता । अनेन पारलौकिकं महद्दुःखमुक्तम् ।।११।।

व्याख्यार्थ—प्रायः यह गृहस्थ आजीविका जीवी है उस आजीविका का काल वश से बार बार आरम्भ करने पर यदि विनाश हो जाता है तो बिना धन के पोषण सिद्ध नहीं होता इसलिये लोभ से दबकर विवेक और धैर्य को खो बैठता है और श्रेष्ठ पुरुषों के धन की, गुरुधन की तथा देवधन की प्राप्ति की इच्छा करता है अर्थात् इनका धन कैसे चुराया जाय ऐसा सोचता है । परन्तु उस धन की प्राप्ति होना तो दुर्लभ है इसे सूचित करने के लिये 'स्पृहा' ऐसा शब्द दिया है वह केवल इच्छा ही करता है । इससे पारलौकिक महान् दुःख को कहा ।।११।।

आभास—ऐहिकसुखाभावमाह—

आभासार्थ -उसे इस लोक का भी सुख नहीं मिलता उसे कहते हैं—

श्लोक—**कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः ।**
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायन् श्वसिति मूढधीः ।।१२।।

श्लोकार्थ—मन्दभाग्य के कारण जब इसका कोई प्रयत्न नहीं चलता और यह मन्द बुद्धि धनहीन होकर कुटुम्ब के भरण पोषण में असमर्थ हो जाता है तब अत्यन्त दीन और चिन्तातुर हो कर लंबी लंबी साँसे छोड़ने लगता है ।।१२।।

सुबोधिनी–कुटुम्बेति । पूर्वोक्तन्यायेन कुटुम्बपोषणे असमर्थो भवति । दैवादपि तस्य धनप्राप्त्यभावमाह–**मन्दभाग्य इति** । अतोऽल्पमपि वृथा उद्यमो तस्य । सर्वथा धनेन कान्त्या च विहीनो भवति । ततोऽनालोचितयाचकः **कृपणो** भवति । तदा पूर्वसिद्धविषयान् केवलं **ध्यायन् श्वसिति**, यतोऽयं **मूढधीः** । तत्रापि परलोकार्थं यत्नरहितः ।।१२।।

व्याख्यार्थ—जीविका में बार बार आघात पहुँचने पर कुटुम्ब के पोषण में असमर्थ हो जाता है भाग्य से भी उसे धन प्राप्ति नहीं होती क्योंकि मन्द भाग्य है । इसलिये उसका स्वल्प उद्यम भी व्यर्थ हो जाता है । वह सब तरह से धन से और कान्ति से हीन होता है । किससे माँगना, किससे न माँगना इसका उसे विचार नहीं होता वह अति दीन हो जाता है । केवल चिन्ता करता है और लम्बी साँस छोड़ता है । क्योंकि यह तो मूर्ख बुद्धि है । और परलोक को सुधारने के लिये कोई यत्न नहीं करता ।।१२।।

आभास—एवं स्वतः सुखाभावं दुःखं चोक्त्वा परकृते आह—

आभासार्थ—इस तरह स्वतः सुख के अभाव को और दुःख को कह कर दूसरों के द्वारा किये जाने वाले सुख के अभाव को और दुःख को कहते हैं—

श्लोक—**एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।**
नाऽऽद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—इसे अपने पालन पोषण में असमर्थ देखकर स्त्री पुत्र आदि इसका पहले के समान आदर नहीं करते जैसे दुष्ट किसान बूढे बैल की उपेक्षा करता है ।।१३।।

सुबोधिनी—एवमिति । स्वपोषणासमर्थम् । तत्कलत्रादयः पूर्ववदादरमपि न कुर्वन्ति । भक्ष्यादिकमपि न प्रयच्छन्तीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—**कीनाशा** दुष्टकृषीवलाः, **गोजरं** वृद्धबलीवर्दम्, नाऽऽद्रियन्ते । तस्यान्नं छायां वा यथा न सम्पादयन्तीत्यनुभवार्थं दृष्टान्तः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—जब स्वयं के पोषण में भी असमर्थ होता है तो उसके स्त्री आदि पूर्व की तरह आदर भी नहीं करते । उसे खाने आदि को भी नहीं देते । इस में दृष्टान्त कहते हैं । दुष्ट किसान बूढे बैल का आदर नहीं करते उसे जैसे घास आदि नहीं खिलाते और न उसे छाया में बांधते हैं यह दृष्टान्त अनुभव के लिये दिया है ।।१३।।

आभास—एवमपकृतोऽपि न विरक्तो जायत इत्याह—

आभासार्थ—इतना अपमान होने पर भी उसे वैराग्य नहीं होता उसे कहते हैं—

श्लोक—**तत्राप्यजातनिर्वेदो भ्रियमाणः स्वयंभृतैः ।**
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ।।१४।।

श्लोकार्थ—इतना होने पर भी इसे वैराग्य नहीं होता । जिन्हें उसने स्वयं ने पाला था वे ही अब उसका पालन करते हैं वृद्धावस्था के कारण इसका रूप विकृत हो जाता है और मरणोन्मुख होकर घर में पड़ जाता है ।।१४।।

सुबोधिनी—तत्रापीति । पूर्वं **स्वयंभृतै**रधुना **भ्रियमाणो** भवतीत्यवैराग्ये हेतुः । अनेन निरभिमानतया तिष्ठतीति दोषार्थमभिमाननाश उक्तः । अवश्यं मरणलक्षणानि च तस्य जातानीत्याह—**जरयोपात्तवैरूप्य** इति । वलीपलितादिकं वैरूप्यम् । तदाऽयं मरणाभिमुख इति निश्चयः ।।१४।।

व्याख्यार्थ--पहले जिनको पाला था अब उनसे यह पाला जाता है यह अवैराग्य का कारण है। इससे निरभिमान होकर रहता है दोषों के लिये अभिमान का नाश कहा है। उस के मरण के आवश्यक लक्षण भी प्रकट हो गये हैं उन्हें 'जरयोपात्तवैरूप्यं' से कहते हैं शरीर पर झुरियों का पड़ना, बालों का सफेद हो जाना आदि विरूपता के कारण हैं तब यह मरण के उन्मुख हो जाता है यह निश्चय है ।।१४।।

श्लोक—**आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाऽऽहरन् ।**
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ।।१५।।

श्लोकार्थ--इसका शरीर रोगग्रस्त हो जाता है, अग्निमन्द पड़ जाती है, भोजन और पुरुषार्थ दोनों ही कम हो जाते हैं और कुत्ते की भांति स्त्री पुत्रादि से अपमान-पूर्वक दिये गये टुकड़ों को स्वयं लेकर खाता है ।।१५।।

सुबोधिनी–तथापि गृह एवाऽऽस्ते। **अवमत्या** अवमानेन, **उपन्यस्त**मोदनादिकम्, **गृहपाल इव** श्वेव, आहरन् स्वयमेव गृहीत्वा भक्षयन्नपि गृह एवाऽऽस्ते। एवं बाह्यक्लेशमुक्त्वा आन्तरं क्लेशमाह–**आमयावीति**। आमयावी रोगवान्, अजीर्णान्नो वा। तत्र हेतुः न प्रदीप्तोऽग्निर्यस्येति, तदा अल्पाहारो भवति। भोगाभावः पुरुषार्थाभावश्चोक्तः। चेष्टाऽप्यल्पैव भवति। अनेन स्वसिद्धान्यपि करणानि न सुखप्रदानि जातानीत्युक्तम् ।।१५।।

व्याख्यार्थ–तब भी घर में ही रहता है अपमान से दिये हुए भात आदि को कुत्ते की तरह स्वयं लेकर खाता हुआ भी घर में ही रहता है। इस तरह बाह्य क्लेश (बाहर के दुःख) को कहकर अब आन्तर क्लेश (अन्दर के दुःख) को कहते हैं आमयावी वह रोग वाला अथवा जिसे अन्न नहीं पचता ऐसा अजीर्ण रोगी हो जाता है क्योंकि उसकी अग्नि प्रदीप्त (तेज) नहीं होती तब अल्पाहार होता है इससे यह सूचित हुआ कि वह न तो भोग भोग सकता है और न पुरुषार्थ कर सकता है उसकी चेष्टा भी अल्प (थोड़ी) हो जाती है। इससे अपने सिद्ध करण (इन्द्रियाँ) भी सुख नहीं दे सकते ऐसा कहा ।।१५।।

आभास—अतिक्लेशमाह—

आभासार्थ–अतिक्लेश को कहते हैं—

श्लोक—**वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिना ।**
कासश्वासकृतायासः कण्ठे घुरघुरायते ।।१६।।

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः ।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ।।१७।।

श्लोकार्थ—मृत्यु का समय निकट आने पर वायु के उत्क्रमण से इसकी आँखों की पुतलियाँ चढ़ जाती है श्वास की नली कफ से रुक जाती है जिससे इसे खाँसने और श्वास लेने में बड़ा कष्ट होता है और कण्ठ में घुर घुर की आवाज होने लगती है। यह अपने शोकातुर बन्धु-बान्धवों से घिरा हुआ सोया रहता है मृत्यु पाश के वशीभूत हो जाने से उनके बुलाने पर भी नहीं बोल सकता है ॥१६-१७॥

सुबोधिनी—**वायुनोत्क्रमतोत्तार इति**। उत्क्रमता देहं परित्यज्य गच्छता, ऊर्द्ध गच्छता, प्राणेन उद्गते **तारे** अक्ष्णोर्यस्य, तादृशो भवति। तत्र हेतुः—कफेन संरुद्धा नाड्यो यस्य, तादृशेन वायुना। वायोर्मार्गे। मुखगतः, नासागतो वा कफेन रुद्धः; अतः कफरहितेन मार्गेण गच्छामीति विचार्य नेत्रयोराघातं करोति, तदा पुरुष उत्तारो भवति। लोकदृष्ट्या तस्य खेदो निरूपितः। तस्यापि दुःखानुभवमाह—**कासेति**। कासश्वासौ रोगविशेषौ, ताभ्यां कृत आयासो यस्य। तादृशोऽपि न विरज्यत इत्युक्तम्। **कण्ठे** पुनः **घुरघुरायते**। वाय्वनुकरणशब्दोऽयम्, घुरघुरवदाचरति। विड्वराहानुकरणशब्दोऽप्ययम्, तेनाऽस्य दुर्गतिः सूचिता तदापि गृहमध्य एव शयानो भवति। **बन्धुभिश्च परितः शोकार्त्तैः** परीतो भवतीति लौकिकव्यवहारोऽपि। व्यर्थमयं प्राणि स्वात्मानं नाशितवानित्यनुकरणमिव वर्ण्यते, न हि कृतकार्यं कश्चिच्छोचति। तदा कालपाशेनावृतः 'तात' इत्युच्यमानोऽपि **न ब्रूते** ॥१६॥१७॥

व्याख्यार्थ—वायुनोत्क्रमतोत्तारः का तात्पर्य है कि देह का परित्याग करके ऊपर की ओर जाते हुए प्राणों से आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ जाती है ऐसा होने का कारण यह है कि कफ से उसकी नाड़ियाँ रुक जाती हैं वैसे वायु से अर्थात् वायु के मार्ग में जब कफ से उस वायु का मार्ग रुक जाता है तो वह वायु कभी मुख से तो कभी नाक से निकलना चाहता है किन्तु मार्ग के रुक जाने से निकल नहीं सकता तब वह विचार करता है कि मैं कफरहित मार्ग से चला जाऊं इसलिये नेत्रों में आघात करता है (चोट पहुँचाता है) तब पुरुष की पुतलियाँ ऊपर चढ जाती हैं। यह खेद जो लोकदृष्टि से दीखता है उसका निरूपण किया। उसे जो दुःख का अनुभव होता है उसे कास (खाँसी) श्वास 'कृतायासः' से कहते हैं। खाँसी और श्वास ये दोनों रोग विशेष हैं उनसे उसे बहुत कष्ट होता है इतना होते हुए भी उसे वैराग्य नहीं होता। घुर-घुर यह वायु का अनुकरण शब्द है अर्थात् घुर घुर की तरह आचरण करता है यह शब्द ग्रामसूकर (गांव के सूअर) के अनुकरण का है इससे इसकी दुर्गति सूचित हुई। इतना होने पर भी घर में ही सोया रहता है। शोक करते हुए बन्धुओं से चारों ओर घिरा रहता है ऐसा लौकिक व्यवहार भी है। इस प्राणी ने व्यर्थ ही अपनी आत्मा को नष्ट किया इसलिये ही मानो वे इसका शोक करते हैं यदि कोई कृतार्थ हो तो उसका कोई शोक नहीं करता। हे पिता! ऐसा पुकारने पर भी काल के पाश में जकड़ा हुआ होने के कारण वह बोल नहीं सकता ॥१६–१७॥

आभास—एवं सर्वावस्थामुक्त्वा मुख्यं तस्य मरणमाह—

आभासार्थ—इस तरह उसकी सब अवस्था को कहकर अब मुख्य जो मरण है उसे कहते हैं—

श्लोक—**एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माऽजितेन्द्रियः ।**
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयाऽस्तधीः ।।१८।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जो मूढ (मूर्ख) पुरुष इन्द्रियों को न जीतकर निरन्तर कुटुम्ब पोषण में ही लगा रहता है रोते हुए स्वजनों के बीच वह अत्यन्त वेदना से अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है ।।१८।।

सुबोधिनी—एवमिति । कुटुम्बभरणे **व्यापृतात्मा** योजितचित्तः, अग्रेऽपि खेदं प्राप्तुम**जितेन्द्रियश्च** । अन्यकृतभगवन्नामश्रवणाभावार्थं स्वानां रुदतां सताम्, स्वयमपि स्मरणरहितः, **उरुवेदनया** अस्तबुद्धिर्म्रियते प्राणांस्त्यजति । अनेनाऽष्टादशविद्यानां वैयर्थ्यमुक्तम् ।।१८।।

व्याख्यार्थ—कुटुम्ब के पोषण में जिसने चित्त को लगा रक्खा है इससे इस लोक के खेद को बताया और अजितेन्द्रिय पद से आगे भी खेद की प्राप्ति होगी यह बताया है। दूसरों के द्वारा लिया जाने वाला जो भगवन्नाम है उसे भी वह नहीं सुनता क्योंकि उसके कुटुम्बी रोते रहते हैं उसमें वह सुनाई नहीं देता और अत्यन्त वेदना के कारण स्वयं भी भगवान् का स्मरण नहीं कर सकता । बुद्धिहीन होकर मर जाता है प्राणों का परित्याग कर देता है इस कथन से (बुद्धि के नष्ट हो जाने से) उसकी अठारह विद्याएँ व्यर्थ हो जाती है यह बात कही गई ।। १८ ।।

आभास—तस्य परलोकदुःखमाह—**यमदुता**वित्यादिषोडशभिः–

आभासार्थ—अठारह श्लोकों से इस लोक के दुःखों का वर्णन किया अब सोलह श्लोकों से परलोक के दुःखों को कहते हैं—

श्लोक—**यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।**
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ।।१९।।

श्लोकार्थ—जब उसे लेने के लिये अति भयङ्कर और रोषयुक्त नेत्रों वाले जो यमदूत आते हैं उन्हें देखकर वह भय के कारण मलमूत्र का परित्याग करता है ।१९।

सुबोधिनी—प्राणत्यागे यदि शुद्धो भवेत्, तदा पुत्रादिकृतसंस्कारैरपि सिद्धिं गच्छेत्; तदभावार्थं यमदूतयोरागमने भीतः, तयोर्दर्शनेन शकृदमेध्यम्, **मूत्रं** च, **त्रस्तहृदयः** सन् **विमुञ्चति** । प्राणोत्क्रमणसमय एवैतज्जातमिति न शौचादिविलम्बः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—प्राण त्याग के समय यदि शुद्ध हो तो पुत्र आदि के द्वारा किये हुए संस्कारों से भी सिद्धि हो जाय परन्तु ऐसा न होने से यमदूतों के आने पर डर जाता है और उनको देखकर भयभीत हृदय होता हुआ मलमूत्र का परित्याग करता है। जैसे ही प्राण निकले कि

उसी समय ऐसा होता है इसलिये शौच आदि में विलम्ब नहीं होती ।।१६।।

आभास—अतः पुण्याभावात्, तृणजलौकावत् देहसम्बन्धाच्च, यमनिर्मितो यातनादेहस्ताभ्यामेवाऽऽनीतः स्वदेहपरित्यागानन्तरमेव तं गृह्णातीत्याह—

आभासार्थ—पुण्य के अभाव से और तृणजलौका की तरह देह का सम्बन्ध होने से यम से निर्मित जो यातना देह है और जो उन यमदूत के द्वारा लाया गया था अपने देह परित्याग के अनन्तर ही उसे ग्रहण करता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।**
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ।।२०।।

श्लोकार्थ—वे यमदूत उसे यातनादेह में डाल देते हैं और फिर जिस प्रकार राजपुरुष (सिपाही) किसी अपराधी को ले जाते हैं उसी प्रकार उसके गले में रस्सी बांधकर हठात् (जबरदस्ती) यमलोक की लम्बी यात्रा में उसे ले जाते हैं ।।२०।।

सुबोधिनी—यातनादेह इति । तदा यमदूतौ अपानद्वारा निर्गतप्राणम्, यातनादेहे निरुध्य, आज्ञाकारिणमपि **बलात्पाशैर्गले बद्ध्वा दीर्घमध्वानं नयतः** । **यातन** पदेन देहसम्बन्ध एव क्लेशो निरूपितः । ननु बद्ध्वा नयनं किमर्थम् ? नरकस्त्वग्रे वक्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह—**दण्ड्यं राजभटा यथेति** । प्रवृत्तिमार्गस्थितं सर्वमेव यमदूतौ नयतः तत्र यो दण्ड्यः स बद्ध्वा नीयते । दण्डनज्ञापकं बन्धनम् । यथाऽधिकारिण राजभटा नयन्त्येव, दण्ड्यं तु बद्ध्वा नयन्तीति ।२०।

व्याख्यार्थ—अपान मार्ग से जिसके प्राण निकलते हैं उसे वे यमदूत यातना देह में रोककर आज्ञाकारी को भी जबरदस्ती पाशों से गले में बाँधकर लम्बे रास्ते में उसे ले जाते हैं। यहाँ यातना पद से देह से सम्बन्ध क्लेश का ही निरूपण है। शंका हो कि बाँध के क्यों ले जाते हैं क्योंकि नरक तो बाद में होता है इसका उत्तर देते हैं 'दण्ड्यं राजभटा' यथा जो प्रवृत्ति मार्ग में स्थित है उन सबको ही यमदूत ले जाते हैं उनमें जो दण्डनीय होता है उसे बाँधकर ले जाते हैं। दण्ड का ज्ञापक बन्धन है जैसे किसी अधिकारी को भी राजपुरुष ले जाते ही हैं परन्तु जो दण्डनीय होता है उसे बाँधकर ले जाते हैं ।।२०।।

आभास—मार्गेऽपि तत्कृतं क्लेशमाह—**तयोरिति** चतुर्भिः । पुरुषार्थचतुष्टयनाशक इति मार्गे चतुर्भिः क्लेशो निरूप्यते—

आभासार्थ—मार्ग में भी यमदूतों से दिये जाने वाले क्लेश को चार श्लोकों से कहते हैं, यह चार प्रकार के पुरुषार्थों को नष्ट करने वाला है। इसलिये मार्ग में इन चार श्लोकों के द्वारा क्लेश का निरूपण है—

श्लोक—तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन् ।।२१।।

श्लोकार्थ—उनके धमकाने से उसका हृदय फटने और शरीर काँपने लगता है । मार्ग में उसे कुत्ते नोचते हैं । उस समय वह अपने पापों को याद करके व्याकुल हो उटता है ।।२१।।

सुबोधिनी—दूतौ पुण्यपापयोरधिष्ठातृरूपौ । पुण्यस्याऽप्यकरणात् स क्रुद्धः, पापस्य करणात् द्वितीयः । उभाभ्यां निर्भिन्नं हृदयं यस्य । तयोरिति स्वरूपेणैव भयोत्पादकत्वात् षष्ठी निर्दिष्टा । महाभयेन हृदये भेदः, तर्जनैर्वा । वाग्दण्डनपूर्वकं ताडनं तर्जनम् । जातो वेपथुः कम्पो यस्य । अहोरात्राभिमानिन्यो देवता विकर्मसाक्षिण्यः श्वानः, तैश्च पथि भक्ष्यमाणो भवति । आर्तश्च भवति, रोगादिभिरिव व्याप्तः । स्वस्य अघमनुस्मरन्निति देवतासान्निध्यात्तस्य पूर्वज्ञानमुत्पद्यत इति ज्ञापितम् । प्राणोत्क्रमणक्षणप्रभृतिक्लेशावश्यकत्वात् पथि शुनां भक्षणमुक्तम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ—पुण्य और पाप के अधिष्ठाता रूप दोनों दूत पुण्य के भी न करने से प्रथम दूत क्रोध करता है और पाप के करने से दूसरा क्रोध करता है । दोनों से उसका हृदय फटता है । 'तयोः' पद से उनका स्वरूप ही ऐसा है कि जिसके देखने से भय हो जाय इसके लिये ही यहाँ षष्ठी का निर्देश है । महा भय से ही हृदय फटने लगता है अथवा उनके धमकाने से । वाणी के दण्डन पूर्वक ताड़न करना (धमकाना-डराना-फटकारना) तर्जन कहलाता है वेपथु अर्थात् कम्प जिसे हो रहा है । दिन और रात्रि की अभिमानिनी देवता जो विकर्म की साक्षिणी हैं वे ही श्वान (कुत्ते) हैं, वे मार्ग में उसे नोचते हैं । रोग से पीड़ित की तरह व्याकुल होता है । देवता के सानिध्य से उसे पहले का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे वह अपने पापों को याद करने लगता है यह इससे ज्ञापित होता है । जिस क्षण प्राण निकलते हैं उसी समय से उसे क्लेश होता है इसलिये मार्ग में कुत्तों का नोंचना यहाँ बताया है ।।२१।।

आभास—मार्गे दुःखान्तराण्यप्याह—

आभासार्थ—मार्ग में होने वाले अन्य दुःखों को भी कहते हैं—

श्लोक—क्षुत्तट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितश्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ।।२२।।

श्लोकार्थ—भूख, प्यास उसे बेचैन कर देती है तथा धूप, दावानल और लू से वह दुःखी हो जाता है । ऐसी अवस्था में जल तथा विश्राम स्थान से रहित तपी हुई रेती वाले मार्ग में जब उसे ले जाया जाता है उस समय उसकी चलने की शक्ति

नहीं रहती तब यमदूत उसकी पीठ पर कोड़े का प्रहार करते हैं तब उसे चलना ही पड़ता है ॥२२॥

सुबोधिनी–क्षुत्तृट्परीत इति । **क्षुत्तृषावपि** यातनासम्बन्धिन्यौ, अतस्ताभ्यां व्याप्तः । **अर्कदवानलावपि** तथा अनिलश्च । तैः सम्यक् तप्यमानः । सर्वतः क्लेशो निरूप्य इति अन्तःस्थकृततापः, बहिःस्थितकृततापश्च वर्णितः । मार्गकृतमप्याह–**पथि तप्तवालुक इति** । मार्गे सर्वत्र वालुकैव, साऽपि तप्ता । **कृच्छ्रेण चलतीति** तत्कृतपीडानुभवो निरूपितः । महावेदनाभावमाशङ्क्य ताडनेनैव तथात्वमिति वक्तुं ताडनमाह**पृष्ठे कशया च ताडित इति** । वेत्रताडनं मुख्यम्, तयोः सहजम् । **कशा** अश्वप्रहरणी, तयाऽपि ताडितः । **निराश्रमोदक इति** यमदूताभ्यां नीयमानमार्गे न च्छाया गृहवृक्षादिकृता, नाऽपि जलम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ--भूख और प्यास का सम्बन्ध यातना से है अतः भूख प्यास से युक्त होकर, अर्क (सूर्य) दव (वन की अग्नि) अनिल (वायु, लू) इनसे अत्यधिक तप जाता है । सब तरह से क्लेश का निरूपण किया जाता है इस तरह अन्तः स्थित कृत ताप और बहिः स्थित कृत ताप का वर्णन किया अब मार्गकृत ताप का भी वर्णन करते हैं । मार्ग में सर्वत्र रेती ही रेती है और वह भी तपी हुई है । उस रेत पर बड़ी कठिनता से चलता है इससे मार्गकृत पीड़ा के अनुभव का निरूपण किया । उसे अत्यधिक वेदना तो नहीं होती होगी ऐसी आशंका करके कहते हैं कि ताड़ना के द्वारा उसे अत्यधिक पीड़ा होती है उसी ताड़ना को 'पृष्ठे कशया च ताडित' से कहते हैं उसकी पीठ पर चाबुक का प्रहार किया जाता है यहां वेत्र (बेंत) से ताड़ना करना मुख्य है क्योंकि उन दोनों यमदूतों के लिये यह सहज है । घोड़ों के ऊपर जिससे प्रहार करते हैं उसे कशा (चाबुक) कहते हैं उससे भी उसको ताड़ित करते हैं । 'निराश्रमोदक' का तात्पर्य है कि दोनों यमदूत जिस मार्ग से उसे ले जाते हैं उस मार्ग में घर अथवा वृक्ष की छाया नहीं है और न जल है ॥ २२ ॥

आभास—गतिसाधनानां क्लेशरूपत्वमुक्त्वा तस्य क्लिष्टां गतिमाह—

आभासार्थ—गमन के साधनों की क्लेशरूपता का वर्णन करके उसकी गति (गमन या चाल) भी बहुत दुःखपूर्ण है इसे कहते हैं—

श्लोक—**तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।**
यथा पापीयसा नीतस्तरसा यमसादनम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—वह जहाँ तहाँ थककर गिर जाता है मूर्च्छा आ जाती है चेतना आने पर फिर उठता है इस प्रकार अति दुःख पूर्ण उस मार्ग में जैसे वधिक (शिकारी) वध्य (शिकार) को ले जाते हैं उस तरह उसे यमपुरी में ले जाते हैं ॥२३॥

सुबोधिनी–तत्र तत्रेति । प्रतिपदं **पतन् श्रान्तो** भवति, अतिवेदनया **मूर्च्छितश्च** । तयाऽपि यातनादेहत्वात् **पुनरुत्थितो** भवति । तथा नयने तारतम्यं ज्ञापयन् हेतुमाह–**यथा पापीयसा नीत इति । पापीयसा** घातकेन, अरण्ये वधार्थं नीतो भवति, व्याघ्रादिना वा । यथा पापयुक्तो वा यथा पापीयान् स्वकृतपापयुक्तो वा स्वकृतपापानुसारेण यो जातो देहः, यथा पापीयान्, तेन तरसा शीघ्रमेव यमसादनं नीत इति पापतारतम्ये दुःखतारतम्यं निरूपितम् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—पैंड़ पैंड़ पर गिरने से थक जाता है और अतिवेदना से मूर्छित हो जाता है । यातना देह होने के कारण मूर्च्छा से पुनः उठता है । उस तरह ले जाने में तारतम्य को बताते हुए हेतु कहते हैं । जैसे घातक (जल्लाद) के द्वारा वध करने के लिये जंगल में ले जाया जाता है अथवा बाघ आदि के द्वारा वध के लिये ले जाया जाता है वह जिस तरह के पाप से युक्त होता है अथवा जैसा पापी अपने किये हुए पाप से युक्त होता है उसका अपने किये हुए पाप के अनुसार जो देह उत्पन्न होता है उसको वैसा ही घातक उसी प्रकार के वेग से यमलोक को ले जाया जाता है । इस तरह पाप की अधिकता एवं कमी से स्वल्प (थोड़ा) एवं अधिक दुःख का निरूपण है ।। २३ ।।

आभास—बहुदूरं शीघ्रं नीयमानः क्लिश्यतीति प्रकारकृतमपि क्लेशमाह—

आभासार्थ—बहुत दूर शीघ्रता से ले जाया जाता हुआ क्लेश को प्राप्त होता है तथा प्रकार कृत क्लेश भी होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाऽध्वनः ।**
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ।।२४।।

श्लोकार्थ—यमलोक का मार्ग निन्यानवें हजार योजन है इतने लम्बे मार्ग में उसे दो या तीन मुहूर्त्त में ही वे यमदूत ले जाते है । जिस से उसे बहुत यातना प्राप्त होती है ।।२४।।

सुबोधिनी–योजनानामिति । कर्मभूमेः सकाशात् यातनास्थाने एकसहस्रयोजनन्यूनलक्षयोजनानि सन्ति, तदाह**सहस्राणि नवतिं नव चेति** । भूमेर्दलं तावदेव **अधस्ताद्भूमेः' इति** वचनात् सहस्रं योजनानि तस्या अधोभागः यातनाभूमेर्वा अर्वाक् । वराहकल्पानुसारेण चैतदुक्तम्, ब्रह्मकल्पेनाऽपि न विरुध्यते । **त्रिभिर्मुहूर्तैरिति** । पापाल्पत्वे । **द्वाभ्यामिति** पापाधिक्ये । एतावद्दूरमेतावत्कालेन नीतो यातनाः प्राप्नोति । तावद्दुःखं प्राप्नोतीत्यर्थः ।।२४।।

व्याख्यार्थ—कर्मभूमि से यातना स्थान की दूरी एक हजार कम एक लाख (निन्यानवे हजार) है इसी को नवतिं नव चाऽध्वनः से कहा है । भूमि का भाग भी उतना ही है 'अधस्ताद् भूमेः' इस वचन से एक हजार योजन का उसका नीचे का भाग है अथवा यातना भूमि से पूर्व है । यह वराहकल्प के अनुसार कहा गया है ब्रह्मकल्प से भी यह विरुद्ध नहीं है यदि पाप थोड़ा होता है तो तीन मुहूर्त में उसे कर्मभूमि से यातना भूमि तक ले जाते हैं और यदि पाप अधिक

हो तो दो ही मूहूर्त में ले जाते हैं। इतनी दूरी पर इतने समय में ले जाने के कारण उसे यातनाएँ होती हैं और पापानुसार उतना दुःख प्राप्त करता है ।।२४।।

आभास—तत्र प्रकीर्णपापानां यथापापं त्रिविधं नरकमाह त्रिभिः—

आभासार्थ—वहाँ प्रकीर्ण (फुटकल) पापों का पापों के अनुसार तीन प्रकार का नरक तीन श्लोकों से कहा है—

श्लोक—**आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।**
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृतं परतोऽपि वा ।।२५।।

जीवतः स्वाङ्गाभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैः स्मरद्भिश्चात्मवैशसम् ।।२६।।

कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो निपातनम् ।
पातनं गिरिश्रृङ्गेभ्यो रोधनं चाऽम्बुगर्तयोः ।।२७।।

श्लोकार्थ—वहाँ यमलोक में उस के शरीर को जलती हुई लकड़ी आदि के बीच में डाल कर जलाया जाता है, किसी नरक में स्वयं अथवा दूसरों के द्वारा काट काट कर उसे अपना ही मांस खिलाया जाता है। यमलोक में कुत्तों तथा गिद्धों द्वारा जीते हुए के ही अङ्गों को नोंचा जाता है। साँप, बिच्छू और डाँस आदि जिनको उसने मारा है वे उसे याद करके उस के शरीर को काटते हैं और शरीर को टूक टूक कर देते हैं तथा कहीं हाथियों से पछाड़ा जाता है कहीं पर्वत के शिखर से नीचे गिराया जाता है अथवा जल में या गड्ढे में डालकर बन्द कर दिया जाता है ।।२५।।२६।।२७।

सुबोधिनी—आदीपनमिति सात्त्विके पापे; **जीवत इति** राजसे; कृन्तनमिति तामसे। ज्वलदुल्मुकानि गात्रेषु वेष्टयित्वा **आदीपनं** ज्वालनम् । **आ**दिशब्देन तृणवस्त्रादिभिरपि वेष्टयित्वा दाहः । महापातकानामेतत् । अन्येषां तु **आत्ममांसादनं क्वापि** देशे। स्वेनैव कृतं कृन्तनम्, स्वदेहादुद्धृतम् । **परतोऽपि वा** अन्योद्धृतं वा। स्वत एव कृते पापे, अन्यप्रेरणया कृते। **जीवतः** स्वस्य गात्राणां शरीरावयवानामभ्युद्धारः श्वगृध्रादिभिः कृतः। तैरेव भक्ष्यत इति विशेषः। **यमसादन इति**। सर्वतो भयानकत्वं सूचितम्। **श्वानः** पूर्वमुक्ताः। **गृध्राः** पाषण्डाभिमानिनः। **सर्पवृश्चिकदंशाद्यैरिति। दंशाः** स्थूला मशकाः। **आ**दिशब्देन मत्कुणादयः। **आत्मवैशसं** पूर्वं स्वमारणम्। तैरपि कृतो गात्राभ्युद्धार इति योजना। इक्षुदण्डानामिव **अवयवशः कृन्तनम्**। गजव्याघ्रादिभ्यो **निपातनं** भक्षणार्थं प्रक्षेपः। **गिरिश्रृङ्गेभ्यश्चाऽधःपातनम्**. जले च निरोधनम्, **गर्ते** च। यथायथमेतानि पापफलानि ।।२५।।२६।।२७।।

व्याख्यार्थ—सात्विक पाप होने पर उसके शरीर को जलाया जाता है राजस पाप में जीते हुए के शरीर को कुत्ते, गीध आदि से नुचवाते हैं और तामस पाप में शरीर के टुकड़े करवाते हैं। जलती हुई लकड़ियों को शरीर के चारों ओर लगाकर जलाने को आदीपन कहते हैं आदि शब्द से जलती हुई घास अथवा कपड़ों से वेष्टित करके जलाया जाता है। महापातकी होने पर ऐसा किया जाता है। अन्य पापी किसी जगह अपने ही मांस को खाते हैं। अपने मांस को या तो स्वयं ही काट काटकर खाते हैं अथवा दूसरे उसके मांस को काटकर उसे खिलाते हैं। जो स्वतः पाप करता है वह स्वयं ही अपने मांस को काट कर खाता है तथा दूसरे की प्रेरणा से यदि पाप करता है तो दूसरे उसे उसके मांस को काट कर खिलाते है। जीवित के ही शरीर के अवयवों को कुत्ते, गीध आदि काट काट कर खाते हैं। अर्थात् उसके शरीर को कुत्ते आदि खाते हैं यह विशेषता है। यमसादन (यमलोक) पद से वह स्थान सब तरह से भयावना है यह सूचित होता है। कुत्ते जिनके लिये पहले कहा जा चुका है अर्थात् ये वे ही कुत्ते हैं जो दिन रात की अभिमानिनी देवता हैं और उसके पापों के साक्षी हैं वे इसके शरीर को टूक टूक करते हैं। गीध ये पाषण्डाभिमानी हैं। दंश से बड़े मच्छरों का ग्रहण है आदि शब्द से मांकण आदि लिये जाते हैं। पहले इस प्राणी ने हमें (दंश) आदि को मारा था उसे याद करके वे उस प्राणी के शरीर के अवयवों को अलग कर देते हैं। ईख की तरह उसके अवयवों को काटते हैं। हाथी, बाघ आदि उसे खाने के लिये पछाड़ते हैं। पर्वत के शिखरों से नीचे गिराते हैं जल में तथा गड्ढे में रोकते हैं। ये सब जिस जिस तरह का पाप होता है वैसे वैसे किया जाता है ॥ २५-२६-२७ ॥

आभास—प्रकीर्णकान्युक्त्वा मुख्यान्याह—

आभासार्थ—प्रकीर्ण (फुटकल) पापों को कहकर अब मुख्य पापों को कहते हैं—

श्लोक—**यास्तामिस्रान्धतामिस्ररौरवाद्याश्च यातनाः ।**
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः ॥२८॥

श्लोकार्थ—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि जो यातनायें हैं उन्हें स्त्री हो अथवा पुरुष उस को संसर्ग से होने वाले पाप के कारण भोगनी ही पड़ती है ॥२८॥

सुबोधिनी—यास्तामिस्रेति । अष्टाविंशति-**यातना** या उक्ताः, ता भुङ्क्ते । तासां लक्षण-मुत्तरत्र वक्ष्यते । स्त्रिया भोग्यत्वेन नरकानु-भवाभावमाशङ्क्याऽऽह—**नारी वेति** । भोग्यत्वां-शेऽपि नरकसम्बन्धार्थमाह—**मिथः सङ्गेनेति** । अन्योन्यसम्बन्धजनितपापेन **निर्मिता** यातनाः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रोरव आदि अट्ठाईस प्रकार की जो यातनायें कही गई हैं उनको वह भोगता है। इनका लक्षण आगे पञ्चमस्कन्ध में कहा जायगा। स्त्री तो भोग्य होती है इसलिये उसे तो नरकों का अनुभव नहीं होगा ऐसी आशंका पर कहा है 'भुङ्क्ते नरो वा नारी वा' चाहे स्त्री हो या पुरुष सबको यातना का अनुभव करना ही पड़ता है। संसर्ग के

कारण भोग्यत्व अंश में भी नरक का सम्बन्ध होता है अर्थात् एक दूसरे के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले पाप से जो निर्मित यातनायें हैं उन्हें भोगनी पड़ती हैं ।।२८।।

आभास—भयमात्रत्वमित्याशङ्क्य लोकदृष्टान्तेन सत्यत्वं साधयति—

आभासार्थ—इस प्रकार की यातनाओं का वर्णन केवल भय दिखाने के लिये होगा ऐसी आशंका करके लोक के दृष्टान्त से उसकी सत्यता सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः ! प्रचक्षते ।**
या यातना वै नारक्यस्ता इहाऽप्युपलक्षिकाः ।।२६।।

श्लोकार्थ—माताजी ! यहीं नरक और स्वर्ग हैं ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है जो नरक की यातनाएं हैं उस का यहाँ भी परिचय मिलता है ।।२६।।

सुबोधिनी-अत्रैव नरकः स्वर्ग इति । इष्टाधिकारिणां राज्यादयः, अनिष्टकारिणां राजदण्डादयश्च प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते । एतत्सर्वं यतोऽस्मिन्नेव लोके दृश्यत इत्यत्रत्या यातनास्तदुपलक्षिकाः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—जो इष्ट अधिकारी होते हैं उन्हें राज्य आदि प्राप्त होता है और जो अनिष्ट के अधिकारी होते हैं उन्हें राजदण्ड आदि मिलते हैं ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं । यह सब जब इस लोक में भी दिखाई देता है तो इन्हीं यातनाओं से नरक की यातनाओं का परिचय मिल जायगा ।।२६।।

आभास—एतत्सर्वं कुटुम्बपोषनिमित्तमेवेत्याह—

आभासार्थ—यह जो भी कुछ होता है वह सब कुटुम्ब के पोषण के निमित्त से ही होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भरिरेव च ।**
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ।।३०।।

श्लोकार्थ—इस तरह कुटुम्ब का ही पोषण करने वाला अथवा केवल अपना ही पेट भरने वाला पुरुष कुटुम्ब और अपने शरीर दोनों को यहीं छोड़कर मरने के अनन्तर अपने किये हुए पापों का ऐसा फल भोगता है ।।३०।।

सुबोधिनी-एवमिति । यस्य वा कुटुम्बं नाऽस्ति, सोऽप्येवमनुभवतीत्याह-**उदरम्भरिरेव चेति** । इहैव कुटुम्बमुदरं च त्यक्त्वा, पश्चात् **प्रेत्य**, तदुभयपोषनिमित्तं फलमीदृशमनुभवति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—जिसके कुटुम्ब नहीं होता है वह भी ऐसा अनुभव करता है उसे उदरम्भरिः से

कहा है अर्थात् जो केवल अपना ही पेट भरता है वह भी यहीं कुटुम्ब को और अपने पेट को छोड़कर मरकर उन दोनों के पोषण के निमित्त का ऐसा फल भोगता है ।।३०।।

आभास—सर्वेषां पापजनकद्रव्यानुभवेऽपि एक एव तत्फलं भुङ्क्ते इत्याह—

आभासार्थ—पाप से कमाये हुए द्रव्य का उपयोग तो सब करते हैं किन्तु पाप का फल तो वह अकेला ही भोगता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**एकः प्रपद्यतेऽध्वानं हित्वेदं सकलेवरम् ।**
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—शरीर के सहित इन सब को यहीं छोड़कर प्राणियों के द्रोह से किये गये पापरूप पाथेय (मार्ग के भोजन) को साथ ले कर वह अकेला नरक में जाता है ।।३१।।

सुबोधिनी—एक इति । कलेवरसहितमेतत्सर्वं परित्यज्य, एक एव यमलोकाध्वानं **प्रपद्यते**, कुशलपाथेयः, इतरपोथेयो वा । उभयविधानामपि प्रवृत्तिपराणां यमलोक एव गमनमिति ज्ञापयितुं **कुशलेतर**पदम् । **पाथेयं** पथि शम्बलम् । **भूतानां** प्राणिनां **द्रोहेण** यद्भृतम्, तदवश्यं भोक्तव्यमिति ज्ञापनार्थं पुनरुक्तम् ।।३१।।

व्याख्यार्थ—शरीर के सहित इन सबको छोड़कर अकेला ही यमलोक के मार्ग में जाता है पुण्य करने वाला कुशलपाथेय को लेकर और पाप करने वाला पापरूप पाथेय को लेकर जाता है । यहाँ कुशलेतर पाथेयः से यह ज्ञापित किया है कि पुण्य तथा पाप करने वाले दोनों ही प्रकार के प्राणियों का गमन यमलोक में ही होता है । पाथेय कहते हैं मार्ग का भोजन । भूत (प्राणी) उनके द्रोह से जो संचित किया है वह अवश्य ही भोगना पड़ता है इसे बताने के लिये पुनः कहा है ।।३१।।

आभास—ननु यमलोके वा प्रायश्चित्तं कुर्यात्, विवादं वा, 'न मयैव भक्षितम्' इति । तथा सति नरको न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—यदि ऐसी आशंका हो कि यमलोक में वो अपने पाप का प्रायश्चित कर लेगा अथवा केवल मैंने ही पाप की कमाई नहीं खाई है सबने मिलकर खाई है इसलिये सब दण्ड के अधिकारी हैं मैं ही दण्डनीय कैसे हूँ ऐसा विवाद भी कर सकता है ऐसा होने से उसे नरक न होगा इस आशङ्का का का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**दैवेनाऽऽसादितं तस्य शमलं निरये पुमान् ।**
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवाऽऽतुरः ।।३२।।

श्लोकार्थ—मनुष्य अपने कुटुम्ब का पेट पालने में जो अन्याय करता है उसका

भगवदिच्छा से कुफल (बुरा फल) वह नरक में भोगता है। उस समय वह इस तरह दुःखी होता है जैसे रोग ग्रस्त का धन लुट गया हो।।३२।।

सुबोधिनी—दैवेनेति । तत्र भगवदिच्छयैव तस्य **शमल**मुपस्थितम् भुङ्क्ते च; न तु तदन्यथा कर्तुं शक्यते । **शमलं** पापफलम् । **निरये** नरकभूमौ । **पुमानिति** स्वतन्त्रः । ननु भगवदिच्छया चेत् कस्य दोषोऽयमित्याशङ्क्याऽऽह—**कुटुम्बपोषस्येति** । अन्तर्दुःखमपि तस्येत्याह—**हृतवित्त इति** । यथा रोगग्रस्तदेहो वित्ते गते दुःखमनुभवति, एवं कुटुम्बे देहेऽपि गते तद्वासनाया विद्यमानत्वात् शमलं भुङ्क्ते । धर्माधर्माभ्यां कुटुम्बपोषकस्यैतदुक्तम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—वहाँ नरक में भगवान् की इच्छा से ही पाप का फल उपस्थित हुआ है उसे वह भोगता है उसको वह बदल नहीं सकता । शमल (पाप का फल) निरये (नरक भूमि में) पुमान् शब्द उसकी स्वतन्त्रता का द्योतक है । यदि भगवान् की इच्छा से पाप का फल उपस्थित होता है और उसे भोगता है तो इसमें किसका दोष है इस आशङ्का पर कहते हैं कि 'कुटुम्बोपोषस्य' कुटुम्ब के पोषण के कारण ऐसा होता है । हृतवित्त इव से उसको अन्तर्वेदना होती है यह बताया है । जिस तरह रोग से ग्रस्त देह वाला धन के चले जाने पर दुःख का अनुभव करता है उसी तरह कुटुम्ब के और देह के भी चले जाने पर उसकी वासना के विद्यमान (मौजूद) रहने से पापफल भोगता है । धर्म और अधर्म से कुटुम्ब पोषक की यह स्थिति बताई है ।।३२।।

आभास—केवलाधर्मेण कुटुम्बपोषकस्य फलमाह—

आभासार्थ—केवल अधर्म से कुटुम्ब का पोषण करने वाले के फल को कहते हैं—

श्लोक—**केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः ।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ।।३३।।**

श्लोकार्थ—जो पुरुष केवल पाप की ही कमाई से अपने कुटुम्ब का पोषण करने में व्यावृत्त रहता है । वह अन्धतामिस्र नरक में जाता है वह नरक सब नरकों से अत्यधिक कष्टप्रद है ।।३३।।

सुबोधिनी—केवलेनेति । पापोपार्जितेनैव द्रव्येण, व्याध इव, घातक इव वा, यः कुटुम्बं पोषयति; उत्सुको वा; सोऽन्धतामिस्रं याति । अस्मादन्धतामिस्रात् तद्भिन्नं दैत्यानामन्ते फलरूपम् । तदाह—**चरम**मिति । तत्र गतो न निवर्तते । तत्र च निवृत्त्यभावार्थमाह—**तमसः पदमिति** ।।३३।।

व्याख्यार्थ—पाप से कमाये हुए ही द्रव्य से व्याध (शिकार) की तरह या घातक (जल्लाद) की तरह जो कुटुम्ब का पोषण करता है अथवा कुटुम्ब में उत्कण्ठित होता है वह अन्धतामिस्र नरक में जाता है । इस अन्धतामिस्र से वह नरक भिन्न है जो दैत्यों का अन्तिम फलरूप है उसी को चरमं तमसः पदम् से कहा है अर्थात् वह नरक चरम है अंतिम है वहाँ जाने पर फिर लौटता

नहीं है नहीं लौटने में कारण है वह तमः का पद है ।।३३।।

आभास—तत्र कल्पान्तं स्थित्वा पुनरायातीत्याह—

आभासार्थ—वहाँ कल्पान्त तक रहकर पुनः लौटता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः ।**
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राऽऽव्रजेच्छुचिः ।।३४।।

श्लोकार्थ—मनुष्य जन्म मिलने के पूर्व जितनी भी यातनाएँ हैं उन सब को क्रम से भोगकर शुद्ध हो जाने पर वह फिर मनुष्ययोनि में जन्म लेता है ।।३४।।

सुबोधिनी–अधस्तादिति । नरलोकस्याऽधस्तात् यावतीर्यातनाः, ताः सर्वा एव क्रमेण, ऊर्द्धवमुखः सन्, अनुभूय, न तु सर्वाः सकृत्, किन्तु समनुक्रम्य । एकं नरकमारभ्य, तत् सम्यक् भुक्त्वा, पुनर्नरकान्तरं भोक्तुमारभत इत्यर्थः । पुनरत्रैव लोके शुद्धो भूत्वा **आव्रजे**-दित्यर्थः ।।३४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे त्रिंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—मनुष्यलोक के नीचे जितनी भी यातनाएँ हैं उन सबको क्रम से ऊपर मुँह कर अनुभव करके (मनुष्य लोक में आता है) वह सब यातनाओं को एक ही बार में नहीं भोगता किन्तु अनुक्रम से भोगता है अर्थात् एक नरक से यातना को भोगना आरम्भ करता है उस यातना को पूरी तरह से भोगकर फिर दूसरे नरक को भोगना आरम्भ करता है और नरकों को भोगकर शुद्ध होकर पुनः इसी (मनुष्य) लोक में आ जाता है ।।३४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के तीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

रे मन, गोविन्द के ह्वै रहिये ।
इहि संसार अपार विरत ह्वै, जम की त्रास न सहिये ।।
दुःख, सुख कीरति भाग आपने, आय परे सो गहिये ।
सूरदास भगवन्त भजन करि, अंत बार कछु लहिये ।।

"सूरसागर"

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (जीव मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—३१

जीव का गर्भ में आना और गर्भ में रहते हुए जीव द्वारा की गई भगवान् की स्तुति

कारिका—**एकत्रिंशे पुनस्तस्य गर्भादिकृतयातनाः ।**
जानतोऽपि पुनर्मोहो दुःखं चापि तथोच्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इकत्तीसवें अध्याय में पुनः उसकी (गर्भ आदि) के द्वारा की गई यातनाओं का वर्णन है। इनको जानते हुए भी उसको पुनः मोह तथा दुःख होता है उसका कथन है ॥१॥

कारिका—**कृतिः प्रधानं न ज्ञानं यावद्देहस्मृतिर्भवेत् ।**
अतस्त्यागो विधातव्यो ज्ञानं तस्मात्तु दुर्बलम् ॥२॥

कारिकार्थ—जब तक देह की स्मृति होती (रहती) है तब तक क्रिया मुख्य है इसलिये त्याग करना चाहिये उस त्याग से ज्ञान दुर्बल है ॥२॥

कारिका—**क्रिया चेद्विषमा जाता ज्ञानं तस्य न साधकम् ।**
क्रियां चेज्जनयेत्तद्धि तदुत्तममिहोच्यते ॥३॥

कारिकार्थ-यदि क्रिया विषम (विरुद्ध) हो जाय तो ज्ञान उसका साधक (सहायक) नहीं हो सकता। यदि ज्ञान क्रिया को उत्पन्न करता है तो वह यहाँ उत्तम कहा जाता है ॥३॥

कारिका—**अधर्माधिक्यतो धर्मं यः करोति गृही सदा ।**
बहुजन्मविपाकेन गर्भे तस्य भवेन्मतिः ।।४।।

कारिकार्थ—जो गृहस्थ सदा अधर्म से अधिक धर्म करता है तो अनेक जन्मों के विपाक से उसको गर्भ में मति (बुद्धि) उत्पन्न होती है ।।४।।

कारिका—**तामसत्वात्तु धर्मस्य न भूमौ नोत्तरे फलम् ।**
अतो गर्भे ज्ञानसिद्धिस्तादृशस्योच्यते हितम् ।।५।।

कारिकार्थ—धर्म के तामस होने से तो न तो यहाँ उससे फल मिलता है न परलोक में फल मिलता है अतः गर्भ में ज्ञान की सिद्धि उस प्रकार के जीव के लिये त्याग* रूप हित कहा है ।।५।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते नरकादिह लोके पुनरागमनमुक्तम् । ततश्च तस्य देह-सम्बन्धः कथमित्याशङ्क्य यदा योनौ रेतः निर्जीवमेव तिष्ठति, तदा स आगत्य कर्मणा प्रविशेदित्याह—

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में नरक से इस लोक में पुनः आगमन कहा था । इस लोक में उसको देह का सम्बन्ध कैसे होता है ऐसी आशंका करके जब योनि में वीर्य निर्जीव ही रहता है तब वह (जीव) कर्म से प्रेरित होकर प्रवेश करता है इसे कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच—श्लोक—**कर्मणा दैवतन्त्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।**
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहते हैं—माताजी ! जब जीव को मनुष्य शरीर में जन्म लेना होता है तो वह भगवान् की प्रेरणा से अपने पूर्वकर्मों के अनुसार देह प्राप्ति के लिये पुरुष के वीर्यकण के सहारे स्त्री के उदर में प्रवेश करता है ।।१।।

श्लोक—**कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।**
दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ।।२।।

श्लोकार्थ—वहाँ एक रात्रि में स्त्री के रज में मिलकर एक रूप 'कलल' बन जाता है । पाँच रात्रि में बुद्-बुद्रूप हो जाता है दस दिन में बेर के समान कठिन

---

* हीनाधिकार में ज्ञान के उपकारक होने पर भी उसकी निर्बलता से और अकिंचित्ता (थोड़ा होने) से त्याग की आवश्यकता है उसको समझाने के लिये त्याग का निरूपण है ।

हो जाता है और उसके बाद वह पेशी के आकार में अथवा अण्डे के **आकार** में परिणत हो जाता है ॥२॥

श्लोक—**मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।**
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥३॥

श्लोकार्थ—एक महीने में उसके सिर निकलता है दो मास में हाथ पाँव आदि अङ्गों का विभाग हो जाता है और तीन मास में नख, रोम, अस्थि (हड्डी) चम (चमड़ी) स्त्री, पुरुष के चिह्न तथा अन्यच्छिद्र (दूसरे छेद) उत्पन्न हो जाते हैं ॥३॥

श्लोक—**चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।**
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥४॥

श्लोकार्थ—चार मास में उस में मांस आदि सातों धातुएँ उत्पन्न हो जाती हैं, पाँचवें महीने में उसे भूख प्यास लगने लगती है और छठे महीने में जरा से वेष्टित होकर दाहिनी ओर कुक्षि (पेट) में घूमने लगता है ॥४॥

सुबोधिनी—कर्मणेति । भगवदिच्छाधीनेन कर्मणा **जन्तुरयं** जायमानो देहोत्पत्त्यर्थं पुंसो रेतः कणमाश्रित्य, **स्त्रियाउदरं प्रविष्टो** भवति । प्रथमत उदरप्रवेशः, पश्चात् रेतःकणाश्रयः । मुखनासिकाद्वारा च प्रवेशः। तस्मिन् प्रविष्ट एव तत्प्रयत्नेन धारितं रेतस्तिष्ठति । दैववशात् समानकाले प्रवेशो रेतःसम्भवश्च भवतः । तत्र दिनमात्रे स्थिते तद्रेतः **कललं** भवति । शुक्रशोणिते मिलिते भवतः । पञ्चरात्रेण बद्बुदाकारमुच्छूनं भवति । दशाहेन तु **कर्कन्धूर्भवति**, बदरीफलबीजसदृशं भवति । ततः परं **पेशी**, **अण्डं** वा भवति । अण्डाकारं वृत्तं वा अपूपाकृतिर्भवति । पुरुषश्चेदण्डम्, इतरौ चेत्पेशी । यो वा ऊर्द्ध्व गच्छेत्, सोऽण्डाकृतिर्भवति । यः पुनरधस्तत्र वा तिष्ठेत् स पेशी भवति । **ततः परं** दशदिवसानन्तरम् । मासेन तु शिरो निष्पद्यते एकदेशेन । मासयोर्द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्यादिसहितस्य **अङ्गस्य** देहस्य विशेषेण ग्रहः । देहाकृतौ निष्पन्नायां तत्राभिमानोऽपि विशिष्टो निष्पद्यत इत्यर्थः । बाहवः अङ्घ्रयश्च अङ्गानि यस्मिन् विग्रहे तादृशो भवतीति वार्थः । नखानि लोमान्यस्थीनि चर्माणि च **त्रिभिर्मासैर्भवन्ति** । लिङ्गस्य नवछिद्राणां च उद्भवः त्रिभिरेव मासैः । **धातवस्त्वगादयः** । यद्यप्यस्थि पूर्वं जातम्, तथाऽप्युत्तरोत्तरभावेन न जातमिति चतुर्भिः तथोद्भवः । क्षुत्तृषोः पञ्चभिरुद्भवः । षड्भिर्जरायुणा वीतो भवति । पुरुषत्वाद्दक्षिणे कुक्षौ भ्राम्यति ॥१॥२॥३॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् की इच्छा के अधीन कर्म से यह प्राणी उत्पन्न होता है तो देह की प्राप्ति के लिये पुरुष के रेतः कण (वीर्य) का आश्रय लेता है और वीर्य के द्वारा ही स्त्री के पेट में प्रविष्ट होता है । पहले तो जीव उदर में प्रवेश करता है पीछे रेतः कण का सहारा लेता है । उसका प्रवेश मुख और नासिका के द्वारा होता है । उसके प्रविष्ट होने पर ही उसके प्रयत्न से

वह धारण किया हुआ शुक्र (वीर्य) ठहरता है। भाग्यवश से समान समय में प्रवेश और शुक्र का संभव यह भी होता है। जब वह शुक्र एक दिन रहता है तब उसका कलल होता है अर्थात् शुक्र और स्त्री की रज मिल जाते हैं। पाँच रात्रि में बुद् बुद् के आकार की तरह ऊँचा उठता है। दस दिन में बेर के बीज की तरह हो जाता है। तदनन्तर पेशी अथवा अण्ड होता है अण्डे के आकार का गोल अथवा पूवे के आकार का होता है। पुरुष जीव अण्डाकार और स्त्री नपुंसक पेशी के आकार के होते हैं। अथवा जो ऊपर जाता है वह अण्डाकार होता है और जो नीचे अथवा वहीं ठहरता है वह पेशी होता है। दस दिन के अनन्तर एक मास में सिर का एक भाग निष्पन्न (उत्पन्न) होता है और दो महीनों में हाथ, पैर आदि के सहित देह का विशेष रूप से ग्रहण होता है। देह की आकृति के तैयार हो जाने पर उसमें विशिष्ट अभिमान भी उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् हाथ और पैर तथा अङ्ग जिसमें हैं ऐसा हो जाता है। नख, रोम, अस्थि (हड्डी) और चर्म ये तीन मास में होते हैं स्त्री पुरुष का चिह्न तथा इन्द्रियों के नौ छेदों का उद्भव (उत्पत्ति) भी तीन मासों में होता है। धातु से त्वचा आदि ली जाती है। यद्यपि अस्थि पहले ही तीसरे महीने में ही उत्पन्न हो जाती है तथापि उत्तरोत्तर भाव से वह नहीं होती है। इसलिये चार महीने में वैसी उसकी (अस्थि की) उत्पत्ति होती है भूख और प्यास की उत्पत्ति पाँच महीने में होती है। छ महीने में जरा से वेष्टित होता है। पुरुष होने के कारण दाहिनी कोख में घूमता है ॥ १--४ ॥

आभास—तस्य जीविकामाह—

आभासार्थ—उस जीव की जीविका को कहते हैं—

श्लोक—**मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसत्तमे ।**
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते सजन्तुर्जन्तुसंभवे ॥५॥

श्लोकार्थ—माता के खाये हुए अन्न जल आदि से उस की सब धातुएँ पुष्ट होने लगती है जन्तुओं के सहित वह प्राणी जिस में जन्तु उत्पन्न होते हैं ऐसे मलमूत्र के गढे में सोया (पड़ा) रहता है ॥५॥

सुबोधिनी—मातुरिति । भक्षितान्नपानाद्यैरेवैधद्धातुर्भवति। तस्यावस्थामाह—**असत्तमे** स्वस्यात्यन्तमयोग्ये विण्मूत्रयोर्गर्ते शेत इति। अन्येऽपि जन्तवः तत्र शेरते। **सजन्तुर्जन्तुभिः** सहितः। ननु क्व तत्र जन्तव इत्याशङ्क्याऽऽह—**जन्तुसंभव** इति। जन्तूनां सम्भवो यस्मिन् गर्ते ॥५॥

व्याख्यार्थ—खाये हुए अन्नपान आदि से उसकी धातुओं की वृद्धि होती है। वह अपने लिये जो अत्यन्त अयोग्य है ऐसे मलमूत्र के गर्त्त में सोता रहता है अन्य जन्तु भी वहीं सोते हैं इस तरह वह जन्तुओं के सहित सोता है। यदि शंका हो कि वहाँ जन्तु कहाँ से आते हैं उसके लिये जन्तु सम्भवे कहा है वह ऐसा स्थान है जहाँ यह पड़ा रहता है वहाँ जन्तु (क्रिमी) उत्पन्न होते रहते हैं उस गढे में यह सोता है (पड़ा रहता) है ॥५॥

आभास—तत्र क्लेशमाह—

आभासार्थ—वहाँ होने वाले क्लेश को कहते हैं—

श्लोक—**कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।**
मूर्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥६॥

श्लोकार्थ—वह सुकुमार होता है इसलिये वहाँ के भूखे कीड़े उस के अङ्ग को काटते हैं तब अत्यन्त क्लेश के कारण वह क्षण क्षण में मूर्छित हो जाता है ॥६॥

सुबोधिनी—कृमिभिः क्षतसर्वाङ्ग इति । शरीरमत्यन्तं सुकुमारमिति कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः प्रतिक्षणं मूर्छामाप्नोति । मूर्च्छाप्राप्तिदशायामुरुक्लेशो भवति । कृमीणां क्षते हेतुमाह—**क्षुधितैरिति** । मुहुर्दंशान्नितरां दुःखम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—शरीर उसका अत्यन्त सुकुमार (कोमल) होता है इसलिये कृमि (कीड़े) उसके सब अंग को क्षत (नोंचते) करते हैं जिससे वह प्रतिक्षण मूर्च्छा को प्राप्त होता है । मूर्च्छा प्राप्ति की दशा में उसे बहुत क्लेश होता है । कृमि क्यों उसे काटते हैं उसका कारण यह है कि वे भूखे होते हैं । बार बार काटने के कारण उसे बहुत दुःख होता है ॥६॥

आभास—आध्यामिकं दुःखमाह—

आभासार्थ उसके आध्यात्मिक दुःख को कहते हैं—

श्लोक—**कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।**
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥७॥

श्लोकार्थ—माता के खाये हुए कड़वे, तीखे, गरम, नमकीन, रूखे और खट्टे आदि उग्र पदार्थों का स्पर्श होने से उसके सारे शरीर में पीड़ा होने लगती है ॥७॥

सुबोधिनी—कटुतीक्ष्णेति । मधुर एव न बाधकः, अन्ये कट्वादयो बाधका एव । **आदि**-शब्देन द्रव्याण्यपरिणामतो बाधकानि । तेषां सम्बन्धार्थमाह—**मातृभुक्तैरुपस्पृष्ट** इति । जीवननाडिकाद्वारा मुखे रसः समायाति; बहिरपि स्पर्शो भवतीति सर्वाङ्गोत्थितवेदनो भवति ॥७॥

व्याख्यार्थ—केवल मधुर रस ही बाधक नहीं होता है बाकी कड़वे आदि सब रस तो बाधक ही हैं । आदि शब्द से अपरिणाम से (अपक्व) भी द्रव्य बाधक होते हैं । इन सब रसों आदि का सम्बन्ध माता के खाने से होता है । जीवन नाडिका के द्वारा मुख में रस आता है इससे उसे अन्तः वेदना होती है और बाहर भी स्पर्श होता है । इसलिये सारे अंग में वेदना उठती है ॥ ७ ॥

आभास—आधिदैविकीं पीडामाह—

आभासार्थ—आधिदैविकी पीड़ा को कहते हैं—

श्लोक—**उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।**
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ।।८।।

श्लोकार्थ—वह जीव माता के गर्भाशय में झिल्ली से लिपटा और आँतों से घिरा रहता है । उस का सिर पेट की ओर तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुड़े रहते हैं ।।८।।

सुबोधिनी–उल्बेनेति । बन्धनरज्जुवत् **उल्बेन** गर्भवेष्टकेन **तस्मिन्नेव** गर्ते सम्यक् वृतः, अन्त्रैश्च उल्बाद्बहिरप्यावृतः । एवं पीडितोऽपि शिरः स्वकुक्षौ कृत्वा भुग्नपृष्ठशिरोधर आस्ते । अयमुपद्रवो दैविकः ।।८।।

व्याख्यार्थ—गर्भ को वेष्टित करने वाली झिल्ली से बन्धन की रस्सी की तरह उसी गर्त्त में घिरा रहता है । झिल्ली के ऊपर आँतों से बाहर बंधा रहता है । इस तरह पीड़ित होते हुए भी सिर को अपनी कोख में करके पीठ और गर्दन उसकी मुड़ी हुई रहती है । यह उपद्रव दैविक है ।। ८ ।।

आभास—उपद्रवाणां फलमाह—

आभासार्थ—उपद्रवों का फल कहते है—

श्लोक—**अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे ।**
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम्
स्मरन् दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ।।९।।

श्लोकार्थ—वह पिंजड़े में बन्द पक्षी के समान पराधीन एवं अङ्गों को हिलाने-डुलाने में भी असमर्थ रहता है । इसी समय अदृष्ट की प्रेरणा से उसे स्मरण शक्ति प्राप्त होती है । तब अपने सैकड़ो जन्मों के कर्म याद करके पीड़ित होता है और उसका श्वास घुटने लगता है ऐसी अवस्था में उसे शान्ति क्या मिले ।।९।।

सुबोधिनी–अकल्प इति । स्वाङ्गचेष्टायामप्यकल्पः । स्वतः सामर्थ्यनाशाभावायाऽऽह—**शकुन्त इवे**ति । बाधककृतमेवासामर्थ्यम्; न तु स्वत इत्यर्थः । पूर्वोक्तप्रकारेण पूर्वोपार्जितधर्मवशाद्भगवदिच्छयोर्द्ध्वगन्तुर्गर्भे सर्वज्ञता भवतीत्याह—**तत्रे**ति । स्वस्यैव जन्मशतोद्भवं कर्म

स्मरन्, उत्पन्नेन शोकेन दीर्घं श्वसन्, किं नाम शर्म विन्दति, अपि तु न विन्दतीत्यर्थः । कर्माणि तु पूर्वोक्तानि, येषां स्मरणेन सुखसम्भावनाऽपि न भवति । एतादृशस्मरणे हेतुः—**दैवाल्लब्धस्मृतिरिति** ।।९।।

व्याख्यार्थ– अपने अंगों की चेष्टा में भी वह असमर्थ होता है। उसके सामर्थ्य का नाश स्वतः नहीं हुआ है किन्तु जैसे तोता आदि पिंजरे के अन्दर बन्द होने पर कुछ नहीं कर सकते इसी तरह यह भी कुछ नहीं कर सकता इसकी असमर्थता बाधकों के द्वारा की गई है स्वतः तो असमर्थ नहीं हैं पूर्वोक्त प्रकार से पूर्वोपार्जित धर्मवश से भगवान् की इच्छा से ऊर्ध्वगमन के कारण गर्भ में सर्वज्ञता होती है उसी को तत्र लब्धस्मृतिः से बताया है। वह जीव अपने ही सैंकड़ों जन्मों में उत्पन्न हुए कर्म को याद करता हुआ और उत्पन्न हुए शोक से लम्बी सांस लेता हुआ क्या सुख प्राप्त कर सकता है? अर्थात् कुछ सुख प्राप्त नहीं कर सकता । कर्म तो पहले कह दिये हैं जिनकी याद से सुख की संभावना भी नहीं होती है इस प्रकार के स्मरण में कारण बताते हैं 'दैवाल्लब्ध स्मृतिः' भाग्य से उसे स्मृति प्राप्त होती है ।।९।।

आभास—पूर्वजन्मस्मरणेन वैराग्ये जातेऽपि **'तरति शोकमात्मवित्'** इति श्रुतेर्ज्ञानमवश्यमपेक्ष्यत इति । यथा भगवदिच्छया पूर्वकर्मस्मृतिः, तथा जीवब्रह्मस्वरूपज्ञानमपि तस्य जातमित्याह—

आभासार्थ–पूर्व जन्म के स्मरण से वैराग्य होने पर भी ज्ञान की अपेक्षा रहती है क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है (मुक्त हो जाता है)' जिस तरह भगवान् की इच्छा से उसे पूर्व जन्म की स्मृति होती है उसी तरह जीव और ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान भी उसे हो जाता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽतिवेपितः ।**
नैकत्राऽऽस्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ।।१०।।

श्लोकार्थ—सातवें महीने के आरम्भ से ही उस में ज्ञान का उदय हो जाता है परन्तु प्रसूतिवायु से चलायमान रहने के कारण वह उसी उदर में उत्पन्न हुए विष्ठा के कीड़ों के समान एक स्थान पर नहीं रह सकता है ।।१०।।

सुबोधिनी–आरभ्येति । सप्तममासमारभ्य सप्तमान्मासादूर्द्ध्वं जन्मपर्यन्तं लब्धबोधो भवति । कालादीनां च पराक्रमं स्मृत्वाऽतिवेपितश्च भवति । वस्तुस्वभावैश्च वेपितो भवतीत्याह—**नैकत्राऽऽस्त** इति । प्रसूतिवातैर्वेपितः सन् नैकत्राऽऽस्ते । जातेऽपि ज्ञाने क्रियैव बलिष्ठेति ज्ञापयितुमाह—असत्तुल्यतां **विष्ठाभूरिवेति**। विष्ठायां जातो यथा कृमिः । ननु महतोऽस्य कथमेवं निन्दावचनं तत्राऽऽह—यतोऽयं **सोदरः** समानं उदरं यस्य । यद्ययं महान् स्यात् सोदरो न स्यात् । भगवत्प्रेरितवस्तुस्वभावानां बलिष्ठताप्रदर्शनं ज्ञानस्याप्रयोजकत्वं ज्ञात्वा भगवद्भजनार्थम् ।।१०।।

व्याख्यार्थ—सातवाँ मास जब प्रारम्भ होता है तब से अर्थात् सप्तम मास से लेकर जब जन्म होता है उस समय में उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है। काल आदि के पराक्रम को याद करके अत्यन्त काँपने लगता है। और वस्तु स्वभावों से भी कंपित होता है उसे कहते है 'नैकत्रास्ते' प्रसूति की वायुओं से कम्पित होकर एक जगह स्थिर नहीं रह सकता। ज्ञान हो जाने पर भी क्रिया ही बलिष्ठ होती है उसे जताते हुए कहते हैं 'विष्ठाभूरिव' उसमें असत्तुल्यता (अनुचितता) को कहते हैं जैसे मल में उत्पन्न होने वाला कृमि (कीड़ा) एक जगह नहीं रहता उसी तरह वह भी एक जगह नहीं रह सकता। यह जीव तो महान् है उसको विष्ठा के कीड़े के समान बताकर निन्दा करना तो अच्छा नहीं है उस पर कहते हैं यह सोदर है जहाँ विष्ठा के कीड़े आदि रहते हैं वहीं यह भी रहता है इसलिये इसे ऐसा कहा। यदि यह महान् होता तो कीड़ों के रहने के उस उदर में नहीं रहता ज्ञान हो जाने पर भी वह ज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता ऐसा जानकर भगवान् का भजन करना चाहिये। इसके लिये भगवान् से प्रेरित वस्तु स्वभावों की बलिष्ठता यहाँ बताई गई है ।।१०।।

आभास—अतस्तथा ज्ञात्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवानित्याह—

आभासार्थ—अत: वैसा जानकर उसने भगवान् की स्तुति की इसे कहते हैं—

श्लोक—**नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।**
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ।।११।।

श्लोकार्थ—चमड़ी आदि सप्त धातुमयी रस्सी से बंधा हुआ वह देहात्मदर्शी जीव अत्यन्त भयभीत होकर दीनवाणी से याचना करता हुआ हाथ जोड़कर उस प्रभु की स्तुति करता है जिसने उसे माता के गर्भ में डाला है ।।११।।

सुबोधिनी—**नाथमान** इति। **नाथमान** उपतप्यमानः। नाथृनाधृ याञ्चोपतापैश्वर्याशीःषु, इति धातुपाठात्। भगवन्तं वा नाथमानः स्तुवीतेत्यपि, अर्थात् स्वनिस्तारम्। **ऋषिरि**त्यलौकिकज्ञानस्य वृत्तत्वान्मन्त्रदर्शी। मन्त्रेण हि स्तुतः अलौकिक आत्मा प्रसन्नो भवति। ननु प्रसन्ने भगवति आविभूते स्तोत्रं कर्तव्यम्। अयमन्तर्यामी भगवान् नाविर्भूतो न प्रसन्नस्तत आह-**भीत** इति। स्तोत्रमुभयथाऽपि क्रियते, भीतेन, प्रसादविषयेण च। यद्यप्ययं प्रसादपात्रं न भवति, तथापि भीतः सन् प्रसादार्थं स्तोत्रं कुर्यात्। ननु गर्भान्निर्गमने जाते स्तोत्रं कर्तव्यं किमिदानीं स्तोत्रेणेत्याशङ्क्याऽऽह-**सप्तवध्रिरिति**। **वध्रि**श्चर्ममयी बन्धिका रज्जुः, तादृश्यः सप्त सन्ति त्वगाद्याः, तेन सर्वथा बद्धः विलम्बं न सहते। इयं स्तुतिःप्रार्थनार्थेति ज्ञापयति। **कृताञ्जलिरिति**। प्रेम्णो जातत्वात्सफलेयं स्तुतिरिति ज्ञापयितुमाह-**विक्लवया वाचेति**। फलं चेदानीं दुःखनिवृत्तिरेवेति **येनोदरेऽर्पित** इत्युक्तम् ।।११।।

व्याख्यार्थ—'नाथमान': का अर्थ है संतप्त होता हुआ नाथृ और नाधृ इन धातुओं का धातुपाठ में याञ्चा, उपताप ऐश्वर्य और आशी: ये अर्थ है। यद्वा अपने निस्तार के लिये भगवान्

से याचना करता हुआ स्तुति करता है। जीव को यहाँ ऋषि इसलिये कहा है कि उसे अलौकिक ज्ञान हो गया है जिससे वह मन्त्रदर्शी हो गया है मन्त्रदर्शी को ऋषि कहते हैं। मन्त्र से स्तुति किया गया अलौकिक आत्मा (भगवान्) प्रसन्न होता है। शंका होती है कि भगवान् प्रसन्न होकर जब प्रकट हो जाय तब स्तुति करनी चाहिये यह भगवान् तो अन्तर्यामी है प्रकट हुआ नहीं और न प्रसन्न हुआ है इस पर कहते हैं भीत: स्तुति दो तरह से की जाती है डर से अथवा प्रसन्न करने के लिये। यद्यपि यह जीव भगवान् की प्रसन्नता का पात्र नहीं है तथापि डरता हुआ भगवान् की प्रसन्नता के लिये स्तुति करता है। यदि आशंका हो कि गर्भ से बाहर निकल जाय तब स्तुति करनी चाहिये अभी स्तुति से क्या प्रयोजन है इस आशंका का उत्तर देते हैं सप्तवध्रि: चमड़े की बनी हुई रस्सी को वध्रि कहते हैं वैसी चमड़ी आदि सप्तधातु से बनी हुई सात रस्सियों से यह जकड़ा हुआ है इसलिये यह विलम्ब को सहन नहीं कर सकता है अत: गर्भ से बाहर निकलने के पहले ही स्तुति करता है। यह स्तुति प्रार्थना के लिये है इसलिये हाथ जोड़कर स्तुति करता है ऐसा कहा। जीव का भगवान् में प्रेम हो गया है इसलिये उसकी स्तुति सफल है इसको जताने के लिये 'विक्लवयावाचां' पद दिया है अर्थात् गद्गद् वाणी से स्तुति करता है। जिसने मुझे माता के गर्भ में डाला है ऐसा कहने का उसका प्रयोजन यह है कि इस स्तुति का फल इस दु:ख से निवृत्ति कराना ही है ।।११।।

कारिका **प्राणरक्षां पुरस्कृत्य दशभि: स्तोत्रमूचिवान् ।**
भक्तिप्रपत्ती कर्तव्ये इति शास्त्रार्थबोधनात् ।।१।।
शरणागमनं पूर्वं जीवब्रह्मविभाजनम् ।
जीवहीनत्वतश्चापि सत्सङ्गादेव तद्भवेत् ।।२।।
एवं हरिस्तु हितकृत् कृपाप्रार्थनमेव च ।
प्रत्युपकारासामर्थ्यं ज्ञानदातृत्वमेव च ।।३।।
संसारस्यातिदुष्टत्वं तदभावस्तु याच्यते ।

कारिकार्थ अपनी प्राण रक्षा को ही सामने रखकर दस श्लोकों से जीव ने स्तुति की है शास्त्रार्थ के बोधन से भक्ति और प्रपत्ति करनी चाहिये। दस श्लोकों में क्रम से पहले (१) शरणागमन (२) जीवब्रह्म का विभाग (३) जीव की हीनता (नमन) (४) सत्सङ्ग से ही वह होती है (५) भगवान् इस प्रकार हित करते हैं (६) और भगवान् की कृपा की प्रार्थना (७) भगवान् के उपकार का बदला चुकाने की असमर्थता (८) ज्ञानदातृता (९) संसार की अतिदुष्टता (१०) संसार के अभाव की याचना इनका इन श्लोकों में क्रमश: वर्णन है ।। १--३½ ।।

आभास—प्रथमत; शरणागमनमाह—

आभासार्थ--पहले शरणागमन को कहते हैं—

जीव उवाच—

श्लोक—**तस्योपपन्नमवितुं जगदिच्छयात्तनानातनोर्भुवि लसच्चरणारविन्दम् ।**
सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ।।१२।।

श्लोकार्थ—जीव कहता हैं—मैं बड़ा अधम हूँ भगवान् ने मुझे जो इस प्रकार की गति दिखाई है वह मेरे योग्य ही है। वे जगत् की रक्षा के लिये अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं। अतः मैं भी पृथ्वी के ऊपर विचरण करने वाले उन्हीं भगवान् के चरणारविन्दों की शरण ग्रहण करता हूँ ॥१२॥

सुबोधिनी–तस्येति। पूर्वधर्मवशात् अवतीर्णस्य हरेः पूर्वं भावक इति तमेव शरणं गच्छति। अद्याऽपि भक्तिमार्गेण न निविष्ट इति जगद्रक्षार्थं भगवदवतारमाह–**उपपन्नं** स्वेनैव निर्मितं जगदवितुं स्वेच्छया **आत्ताः** स्वीकृताः नाना तनवो येन। अत एव तादृशस्य लसच्चरणारविन्दं शरणं व्रजामि। भक्त्यर्थमेवैषा शरणागतिश्चरणनिरूपणात्। युक्तमेव यद्भीताः रक्षकस्य चरणशरणं गच्छन्तीति। तत्रापि पूर्ववद्बाधश्चेत् व्यर्थं (?) शरणागतिरित्यत आह–**अकुतोभयमिति**। नन्वयमेव दुःखदाता 'सुखं दुःखम्' इत्यादिवाक्यात्। ततश्च मारकस्य शरणागमनमनुचितमित्याशङ्क्याऽऽह – **येनेदृशी गतिरदर्शि**। यदि केवलमेतादृशी गतिं प्रयच्छेत् न तु ज्ञापयेत् तर्हि शरणं न गच्छेत्। यत्पुनर्ज्ञापयति, असत एतादृशी गतिरिति। तेनैवं ज्ञायते सत्त्वे नैवं गतिर्भविष्यतीति ज्ञापयति। तत्र सत्त्वं सति भगवति प्रवेशादेव सदसतोर्विभागः हेयत्वेन, ग्राह्यत्वेन च निर्द्धारितः। प्राकृतमसत् भगवान् सन्निति। यथा जीवस्य स्वरूपतः सतोऽपि असति प्रवेशे असत्त्वम्। तथा सति प्रवेशत्वमिति सत्प्रवेशार्थं भगवच्छरणागतिर्युक्तैवेत्यर्थः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—पूर्व धर्म के कारण अवतारी भगवान् में ही उसकी भावना होने से उन्हीं के शरण में जाता है आज तक भी भक्ति मार्ग में प्रवेश न होने से जगत् की रक्षा के लिए जो भगवान् का अवतार हुआ है उसे ही कहता है अपने ही से निर्मित इस जगत की रक्षा करने के लिऐ अपनी इच्छा से स्वीकृत किये हैं अनेक शरीर जिन्होंने अतएव वैसे भगवान् के सुन्दर चरणारविन्दों की शरण में मैं जाता हूँ। यह शरणागति भक्ति के ही लिये है क्योंकि उसमें चरणारविन्द का निरूपण है। यह बात ठीक भी है जो भयभीत होते हैं वे रक्षक के चरणों की ही शरण ग्रहण करते हैं। वहाँ भी यदि पूर्ववत् बाधा हो तो शरणागति व्यर्थ हो जाती है। अतः उसे अकुतोभय बताया है वहाँ शरणागत के लिए किसी का भय नहीं है। शंका हो कि ये ही तो दुःख देते हैं 'सुखं दुःखं' इत्यादि वाक्य इसको बताते हैं। इसलिये जो मारने वाला है उसकी शरण में जाना अनुचित है इस आशंका का निवारण 'येनेदृशी गतिरदर्शि' से किया है। यदि ऐसी गति देते हों और जतावे नहीं तब तो शरण में न जाय परन्तु केवल असत् (पाप कर्त्ता) की ऐसी गति होती है इसे तो बताते ही हैं तो उनकी शरण में क्यों न जाये। इससे यह जाना जाता है कि जो सत्व (पुण्यात्मा) होता है उसकी गति ऐसी नहीं होगी। उसमें सत्व (पुण्यात्मा) का ज्ञान सत् जो भगवान् है उनमें प्रवेश करने से ज्ञात होता है। जो सत् होता है वह प्राकृत पदार्थों को हेय (छोड़ने योग्य) समझता है और जो असत् होता है वह प्राकृत पदार्थों को ग्राह्य समझता है। इसी से प्राणी के सत् और असत् होने का निश्चय होता है। प्रकृति सम्बन्धी सब पदार्थ असत् हैं और भगवान् सत् हैं जैसे जीव स्वरूप में से सत् है परन्तु यदि असत् में प्रवेश करता है तो उसमें भी असत्पन निर्धारित होता है। वैसा होने से सत् में प्रवेश के लिए भगवान् की शरणगति ही युक्त हैं यह तात्पर्य है ॥१२॥

आभास—जीवब्रह्मणोः पूर्वोक्तसिद्धयर्थं रूपभेदमाह—

आभासार्थ—जीव और ब्रह्म में पूर्वोक्त विभाग की सिद्धि के लिये उनके रूप में भेद बताते हैं—

श्लोक—**यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम् ।**
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोधमातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ।।१३।।

श्लोकार्थ—जो इस माता के उदर में देह इन्द्रिय और अन्तःकरण रूपा माया का आश्रय कर पुण्य पाप रूप कर्मों से आच्छादित (ढके हुए) रहने के कारण बद्ध (बंधे हुए) से जान पड़ते हैं अपने सन्तप्त (तपे हुए) हृदय में स्फुरित होने वाले उन विशुद्ध अविकारी और अखण्ड बोधस्व रूप परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१३।।

सुबोधिनी—यस्त्वत्रेति । अत्रैव शरीरे यः शकुन्त इव बद्धः प्रतिभासते स जीवः । तस्य बन्धे हेतुः—**कर्मभिर वृतात्मेति** । कर्मभिरपि सम्बन्धे हेतुः । **भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायामिति** । **भूतानि** देहः, इन्द्रियाण्यन्तःकरणं च । आत्मानं व्यामोहयितुमेतद्रूपा माया जाता । अतस्तामवलम्ब्य आत्मत्वेनाधारत्वेन वा य आस्ते, स बद्ध इव जीवः । यस्तु तथाविधां मायां नावलम्ब्याऽऽस्ते, स विशुद्धः । अनेनादेहरूपता निरूपिता । इन्द्रियरूपताव्यावृत्त्यर्थमाह—**अविकारमिति** सर्वे विकारा इन्द्रियजन्याः । **अखण्डबोधमिति** अन्तःकरणरूपताव्यावृत्त्यर्थम् । एवंभूतोऽपि सन् अस्मत्कृपया स्वस्य सखित्वप्रतिपादनार्थमासमन्तात् **तप्यमाने हृदये अवसितं** प्रतीतम्, अत एव **नमामि** । अतो भगवतो दोषाभावो गुणाश्चोक्ताः । जीवस्य च दोषा उक्तास्तन्निवृत्त्यर्थं च नमनमिति निरूपितम् ।।१३।।

व्याख्यार्थ—जो इस शरीर में बन्धे हुए पक्षी की तरह प्रतिभासित होता है वह जीव है । उसके बन्धन में उसके कर्म कारण है उन कर्मों से वह घिरा रहता है । कर्मों के साथ उसके सम्बन्ध का कारण है देह इन्द्रियाँ और अन्तःकरण रूपा माया वह आत्मा को मोहित करने के लिये उत्पन्न हुई है । अतः उस माया का आत्मरूप से अथवा आधाररूप से अवलम्बन लेकर जो रहता है वह जीव बद्ध की तरह होता है और जो जीव उस तरह की माया का अवलम्बन (सहारा) नहीं लेता है वह विशुद्ध जीव है । इससे विशुद्ध आत्मा देह रूप नहीं है ऐसा निरूपण हुआ । इसी तरह विशुद्ध आत्मा अविकारी होने से इन्द्रिय रूप भी नहीं है क्योंकि सभी विकार इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं और विशुद्ध आत्मा अखण्ड बोध होने से अन्तःकरण रूप भी नहीं है ऐसा होते हुए भी हमारे ऊपर कृपा करने के लिये और मैं तेरा सखा (हितैषी) हूँ इस बात को प्रतिपादन (बताने) करने के लिये सब तरह तपे हुए हृदय में आप प्रतीत हो रहे हैं अतएव मैं आपको नमन करता हूँ । इस तरह भगवान् में दोषों का अभाव है तथा गुण है ऐसा कहा और जीव के दोष कहे तथा उसकी निवृत्ति के लिये नमन का निरूपण किया ।।१३।।

आभास—ननु किन्नमनेन ज्ञानेन हि माया निवर्तिष्यते, ततः कर्मसम्बन्धाभावे देहसम्बन्धाभावः, ततो मुक्तो भविष्यतीति मुक्त्यर्थं भगवन्नमनं न कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका करते हैं कि नमन की क्या आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान से ही माया निवृत्त हो जायेगी। यदि माया निवृत्त हो गई तो कर्म के सम्बन्धों का अभाव हो जायेगा और जब कर्म का सम्बन्ध ही नहीं रहेगा तो देह सम्बन्ध भी नहीं रहेगा तब मुक्त हो जायेगा इसलिये मुक्ति के लिये भगवान् को नमन नहीं करना चाहिये इस आशंका का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**यः पञ्चभूतरचिते रहितः शरीरे छन्नो यथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम्।**
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयोः पुमांसम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—मैं वस्तुतः शरीरादि से रहित (असङ्ग) होते हुए भी देखने में पाञ्चभौतिक शरीर से सम्बद्ध हूँ। अतएव इन्द्रिय, गुण, शब्दादि विषय और चिदाभासरूप जान पड़ता हूँ। इसलिये इस शरीरादि आवरण से जिनकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है उन प्रकृति और पुरुष के नियन्ता सर्वज्ञ परम पुरुष की मैं वन्दना करता हूँ ॥१४॥

सुबोधिनी—**यः पञ्चभूतरचित इति**। अयं देहः पञ्चभूतैरचितः, तानि च भूतानि भगवन्नियमितानि भगवदधीनान्येव। '**अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्**' इति वाक्यात्। तादृशे अन्याधीने शरीरे यो रहितस्तम्। तादृश एव शरीरे यश्छन्नः, यथावदिन्द्रियगुणार्थचिदात्मकः सोऽहं वन्द इति सम्बन्धः। शरीरस्याच्छादकत्वं तदैव भवति, यदि पूर्वं चिद्रूपोऽप्यन्यत्र सम्बद्धो भवति। यथा दर्पणगतः सूर्यः स्थाप्यते, प्रतिमागतो वा विष्णुः गन्धादिभिः पूज्यत इति। तदर्थं प्रथमतो देहसम्बन्धात्पूर्वमिन्द्रियादिसम्बन्धो निरूप्यते। यथेति दृष्टान्तेन वा शरीराच्छादनं स्थाप्यते। यथा अयं **इन्द्रियाणि गुणाः** अन्तःकरणरूपाः, **अर्थः** आधिभौतिकः, त्रितये प्रकाशार्थं यश्चिद्रूपेण प्रविष्टः, स चतुष्टयात्मा भवति। आध्यात्मिकादिरूपस्त्रितये वेदनरूपश्च। यथा अहमिन्द्रियादिसम्बद्धस्तथाऽऽत्मसम्बद्धोऽपीत्यर्थः। अतः एकस्मिन्नेव शरीरे विद्यमानयोः एको रहितो भवति, एकश्च छन्नो भवति। **तेन** कारणेन **अविकुण्ठमहिमानं** जीवस्यालौकिकोपकारकरणसमर्थम्, **ऋषिमेनं** पूर्वोपकारिणं पूर्वस्थितबाधकनिवृत्तये प्रकृतिपुरुषयोः **परं** नियन्तारम्, निराकारपक्षव्यावृत्त्यर्थं **पुमांसम्**। **वन्द** इति स्वस्य हीनतां निरूप्य पूर्वोक्तमेवानुवादेनोक्तम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—यह देह पञ्चमहाभूतों से रचित है वे सब पञ्चभूत भगवान् से नियमित हैं और भगवान् के ही अधीन हैं। जैसा कि 'अजनि च न यन्मयं तद विमुच्य नियन्तृ भवेत्' यह वाक्य है। जीव भगवन्मय होकर ही उत्पन्न हुआ है अतः वह जीव भगवान् से नियम्य है। भगवान् को छोड़कर और किसी से वह नियम्य नहीं है। उस प्रकार के अन्य के अधीन शरीर से

जो रहित (अलग) है उस पर पुरुष को और उस प्रकार के ही अन्याधीन शरीर में जो छिपा हुआ है उसको यथावत् इन्द्रिय, गुण और शब्द आदि विषय तथा चैतन्य के आभास रूप वह मैं प्रणाम करता हूँ ऐसा सम्बन्ध है। शरीर आच्छादक तभी हो सकता है जब चैतन्य रूप पहले अन्यत्र सम्बन्ध होता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य स्थापित किया जाता है अथवा प्रतिमा में आये हुए विष्णु की गन्ध पुष्प आदि से पूजा की जाती है। उसके लिये प्रथम तो देह सम्बन्ध से पहले इन्द्रिय सम्बन्ध का निरूपण किया जाता है अथवा यथेन्द्रिय गुणार्थ इस दृष्टान्त से शरीराच्छादन स्थापित किया जाता है। जैसे यह विशुद्ध आत्मा इन्द्रिय तथा अन्तःकरण रूप गुण आधिभौतिक अर्थ (शब्द आदि विषय) इन तीनों में प्रकाश के लिये चैतन्यरूप से प्रविष्ट होता है तब वह चतुष्ट-यात्मा होता है। इन तीनों में वह आध्यात्मिक रूप और वेदनरूप होता है जैसे 'अहं इन्द्रिय' आदि से सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा से भी सम्बन्ध है। अतः एक ही शरीर में दोनों विद्यमान रहते हैं परन्तु उनमें एक शरीर आदि से रहित है और एक उस शरीर से छन्न (छिपा हुआ) है। उस कारण से जिसकी महिमा कुण्ठित नहीं हुई है अर्थात् जो जीव के ऊपर अलौकिक उपकार करने में समर्थ है पूर्वोपकारी इस ऋषि को मैं नमन करता हूँ। पूर्व में जो बाधक थे उनकी निवृत्ति के लिये उसको प्रकृति और पुरुष से भी पर(नियामक)बताया है। वह निराकार आदि नहीं है इसको सूचित करने के लिये पुमांसम् पद दिया है अर्थात् पुरुष है, आकार रहित नहीं है। वन्दे मैं नमन करता हूँ—इससे अपने में हीनता का निरूपण करते हुए पूर्वोक्त का ही अनुवाद यहाँ किया है ॥१४॥

आभास—एवं शरणागतिर्नमनादिकं च भगवद्भक्तकृपयैव भवतीत्यार्षज्ञानेन स्मृत्वा भक्तसङ्गमिव प्रार्थयितुं तदनुग्रहं स्तौति—

आभासार्थ—इस तरह शरणागति और नमनादिक भगवद्भक्त की कृपा से ही होते हैं इसे आर्षज्ञान से स्मरण करके भक्त सङ्ग की तरह प्रार्थना करने के लिये भगवान् के अनुग्रह की स्तुति करता है।

श्लोक—**यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन् सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण ।**
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥१५॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् की माया से अपने स्वरूप की स्मृति नष्ट हो जाने के कारण यह जीव अनेक प्रकार के सत्त्वादिगुण और कर्म के बन्धन से युक्त इस संसार मार्ग में तरह-तरह के कष्ट पाता हुआ भटकता रहता है अतः उन परम पुरुष परमात्मा की कृपा के बिना और किस युक्ति से इसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो सकता है ॥१५॥

सुबोधिनी—यन्माययेति । स्वसामर्थ्ये गते शास्त्रतोऽप्यचिकित्स्ये अलौकिकद्वारा भगवद्भक्ता एव तं भगवत्परं कर्तुं शक्नुवन्तीति युक्तम् । अन्यथा स्वतः सामर्थ्ये एवं दुर्दशा न स्यात् । प्रतीकारो हि ज्ञानक्रिययोः सद्भावे भवति । तत्र ज्ञानाऽभावो **नष्टस्मृतिरिति** । श्रमप्रति-

पादनात् क्रिया, शक्त्यभावश्च । श्रमस्य नित्यमुत्पत्त्यर्थं **यस्य** भगवतो **मायया** मोहने करणभूतया **उरूणि** यानि **गुणकर्माणि** तैर्नितरां बन्धनं यत्र । एतादृशेऽस्मिन् सांसारिके मार्गे निरन्तरं चरन्निति मुक्तोऽपि निरन्तरं चरन् श्रान्तो भवति, किमुत बद्धः । सोऽपि बन्धः कर्मकृतः स्वतोऽपि मोचयितुमशक्यः । कर्माण्यपि न प्रायश्चित्तादिना निवर्तयितुं शक्यानि यतो भगवन्माययैव जायन्ते । गुणाश्च स्वभावभूताः, चित्तं तत्परमेव कुर्वन्ति । **अस्मिन्निति** निरन्तरं परिदृश्यमानत्वेन निवृत्तिर्दुर्घटा सूचिता । **पथी**ति अनिवृत्तिः सूचिता । कया युक्त्येति लौकिक उपायो न सङ्गच्छत इति युक्तम् ।।१५।।

व्याख्यार्थ—अपनी सामर्थ्य भी काम नहीं देती और शास्त्र से भी जिसकी चिकित्सा (इलाज) नहीं हो सकती तब अलौकिक के द्वारा भगवान् के भक्त ही उसे भगवत् पर (भगवान् में आसक्ति वाला) करने में समर्थ हो सकते हैं। यदि उसमें स्वतः सामर्थ्य होती तो ऐसी दुर्दशा न होती। उसका प्रतीकार (उपाय) ज्ञान और क्रिया इन दोनों के होने पर ही होता है। उनमें से इसमें ज्ञान का अभाव तो स्मृति के नष्ट हो जाने से ही स्पष्ट है और क्रिया तथा शक्ति का अभाव श्रम के प्रतिपादन से स्पष्ट है। श्रम की नित्य उत्पत्ति के लिये जिन भगवान् की करणभूत माया से मोहने में अनेक प्रकार के जो गुण कर्म हैं उनमें जहाँ निरन्तर बन्धन होता रहता है इस तरह के इस सांसारिक मार्ग में निरन्तर विचरण करता रहता है। यदि मुक्त भी निरन्तर इसमें विचरण करे तो श्रान्त हो (थक) जाता है तो फिर बद्ध (बंधे हुए) के लिये तो क्या कहा जाय। वह बन्धन भी तो कर्मकृत है अतः उस बन्धन से स्वयं मुक्त भी नहीं हो सकता। उन कर्मों को प्रायश्चित आदि भी दूर करने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि वे कर्म तो भगवान् की माया से ही उत्पन्न होते हैं। और गुण उसके स्वभावभूत हैं वे गुण चित्त को तत्पर (बन्धन को उन्मुख) कर देते हैं। 'अस्मिन्' यह सूचित करता है कि यह निरन्तर दिखाई देता है इसलिये इसकी निवृत्ति होना कठिन है। सांसारिक पथिक जब उस मार्ग में ही विचरण करता है तो उससे हट कैसे सकता है। 'कया-युक्तया' इसलिये कहा कि लौकिक उपाय इसके लिये संगत नहीं है। यह उचित ही है ।। १५ ।।

आभास—नन्वेवं भक्तकृपयैव कथं भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि ऐसा भगवत्कृपा से ही कैसे होता है उसका उत्तर देते हैं—

श्लोक—**ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देवस्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।**
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्त्तमानास्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ।।१६।।

श्लोकार्थ—मुझे जो यह त्रैकालिक ज्ञान हुआ हैं यह भी उनके सिवाय और किसने दिया है ? क्योंकि स्थावर जङ्गम समस्त प्राणियों में वे ही तो अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है। अतः जीवरूप कर्मजनित पदवी का अनुवर्तन करने वाले हम अपने त्रिविध तापों की शान्ति के लिये उन्हीं का भजन करते है ।।१६।।

सुबोधिनी—ज्ञानं यदेतदिति । यदेतदस्माकं जातं त्रैकालिकवस्तुविषयज्ञानं तद्भगवतैव दत्तम् अन्यथा यो हृदयस्थितो न भवति स कथं हृदये ज्ञान दधाति । अयं च स्थिरचरेष्वनुवर्तित:, स्वांशो यस्य येनेति वा । अयं हि स्वांशं जीव-मनुवर्तते । अन्तर्यामिरूपो वा अंश: सर्वत्र वर्तत इति, अयमेव ज्ञानमदधात् (?) । ननु (?) सर्वेन्द्रियादौ अधिष्ठातारो देवा: सन्ति, न ते ज्ञान प्रयच्छन्ति । अयं च सर्वेषु वर्तत इति; तथापि मह्यमेव दत्तवान् । अतोऽयं **कतमो देव:** अत्यन्तं क: परब्रह्मरूप: । अन्यदेवानां न कृत्यम् । **कतम** इत्यनेन विशेषतो वक्तुमप्यशक्य इत्युक्तम् । अत एवैतादृशमुपकारिणं **जावानां कर्मपदवीं** संसारमार्ग**मनुवर्तमाना वयं** सर्वं ताप-त्रयोपशमनाय भजेम । ये केचन जीवभावं प्राप्ता: तेषां दास्यं परमो धर्म: । देहभावं परि-त्यज्य ब्रह्मभावात्पूर्वं जीवभाव एव । प्रथम-प्रवृत्तत्वा**त्तापत्रयोपशमना**येत्युक्तम् । **वय**मिति बहुवचनं स्वसमानशीलानां सर्वेषां विज्ञापनार्थम् । भजनेनैव भगवान् कृपयतीति ।।१६।।

व्याख्यार्थ—हमको जो यह त्रैकालिक (भूत-भविष्य और वर्तमान) वस्तु विषयक ज्ञान हुआ है वह तो भगवान् ने ही दिया है । यदि वह भगवान् हृदय में स्थित न हो तो वह हृदय में ज्ञान कैसे दे सकता है । इस भगवान् का स्थावर और जंगम सब में अपना अंश लगा रहता है । 'अनुवर्तितांश:' में बहुव्रीहि समास है स्थिर (स्थावर) और चर (जंगम) में अनुवर्तित है अपना अंश जिसका अथवा जिससे यह भगवान् अपने अंश जीव का अनुवर्तन करता है अथवा अन्तर्यामी रूप भगवान् का अंश सर्वत्र है ही । इस अन्तर्यामी ही ने ज्ञान को धारण किया (दिया) है । शंका होती है कि सब इन्द्रिय आदि के अधिष्ठाता (नियामक) तो देवता हैं वे तो ज्ञान नहीं देते हैं । यह अन्तर्यामी तो सब में है ही परन्तु इसने मुझे (जीव को) ही ज्ञान दिया है । अत: यह देवता कौनसा है अर्थात् अत्यन्त परब्रह्म रूप यह कौन है ? इस तरह ज्ञान देने का काम अन्य देवताओं का नहीं है । 'कतम:' कहने का आशय यह है कि विशेष रूप से उसका वर्णन करना कठिन है । इसलिये ही ऐसे उपकारी को संसार मार्ग में भ्रमण करने वाले हम सब तीन प्रकार के ताप की शान्ति के लिये भजते हैं । जो जीव भाव को प्राप्त हो गये हैं उनका परम धर्म दास्य भाव है । देह भाव का परित्याग करके जब तक ब्रह्म भाव नहीं होता उसके पहले जीव भाव ही रहता है । जब तक जीव भाव रहता है तब तक त्रिविध ताप की शान्ति के लिये भजन है । जीव ने वयं (हम) का प्रयोग इसलिये किया है कि मेरे जैसे स्वभाव के जो भी हैं वे हम सब पर भगवान् भजन से ही कृपा करते हैं इसलिये 'भजेन' ऐसा कहा ।। १६ ।।

आभास—एवं भजनमुक्त्वा विज्ञापनमाह—

आभासार्थ—इस तरह भजन को कहकर अब अपनी बात कहता है—

श्लोक—**देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेह: ।**
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् ! कदा नु ।१७।

श्लोकार्थ—भगवन् ! यह देहधारी जीव दूसरो (माता) की देह के उदर के

भीतर मलमूत्र और रुधिर के कुएँ में गिरा हुआ है। उसकी जठराग्नि से इसका शरीर अत्यन्त संतप्त हो रहा है। उससे निकलने की इच्छा करता हुआ यह अपने महीने गिन रहा है। भगवन्! अब इस दीन को यहाँ से कब निकालोगे? ॥१७॥

सुबोधिनी—देहीति। अयं स्वलक्षणो देही। **अन्यस्य** मातृलक्षणस्य **देहविवरे** उदरे जठराग्निना भृशं तप्तदेहः; असृग्विण्मूत्रपूर्णे पतितः त्रिविधदुःखभोक्ता। माता भूतस्थानीया, अग्निर्दैविकः। अतस्त्रिविधदुःखपीडित **इतो विवसितु** निर्गन्तुमिच्छन् स्वमासान् गणयन् वर्तते पूर्वनिवृत्तान्। अग्रिममासानां नियमाभावात्। हे भगवन्! कदा वा निर्वास्यते। हे **भगवन्निति**। अत्र त्वमेव समर्थः। **कृपणधीरिति** धैर्याभाव उक्तः। अनन्तदुःखस्मरणात् गणनाकालेनाऽपि दुःखनिवृत्ति मत्वा, भवतेत्यर्थात्। एवं तत्र दुःखानुभवादन्यत्र गमनं प्रार्थितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—यह देही (जीव) माता के देह के पेट में माता के पेट की अग्नि से देह के अत्यन्त तप जाने से रक्त, मल और मूत्र से **भरे** हुए में पड़ा हुआ तीन प्रकार के दुःखों को भोगने वाला माता के पेट में इसे भौतिक तथा माता के पेट की अग्नि से इसे दैविक दुःख प्राप्त होता है। इसलिये त्रिविध दुःखों से पीड़ित यह जीव यहाँ से निकलने की इच्छा से अपने बीते हुए महीनों को गिनता रहता हैं। पीछे के बीते हुए महीनों को ही तो गिन सकता है आगे के महीनों का तो कोई नियम ही नहीं है कि कितने मीहने रहना हैं। हे **भगवन्**! अब कब तक निकालोगे? हे भगवन् इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि यहां से निकालने में आप ही समर्थ हैं। अब उस का धीरज छूट गया है यह 'कृपणधी' से बताया है। अनन्त (जिनका अन्त ही नहीं है) ऐसे दुःखों को याद करने से इन दुःखों के गिनने के समय से भी अपने दुःख की निवृत्ति को मान कर ऐसा करता है (महीने गिनता है) इस तरह वहाँ दुःखों का अनुभव होने से दूसरी जगह जाने के लिये प्रार्थना की है ॥१७॥

आभास—ननु कृतोपकारस्य ज्ञानदानलक्षणस्य प्रत्युपकारं चेत्कुर्यात्, तदाऽग्रे विवासनमपि कुर्यात्। प्रत्युपकाराऽभावे कथं करिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका करते हैं कि ज्ञान देकर जिस भगवान् ने उपकार किया है उस उपकार का यदि प्रत्युपकार करे (बदला चुकाए) तब आगे भगवान् उसे निकालें भी यदि प्रत्युपकार नहीं करता है तो भगवान् उसे कैसे निकालेंगे इस आशंका का उत्तर देते हैं—

श्लोक—**येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन।**
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे स्वामिन्! आप बड़े दयालु हैं आप जैसे उदार प्रभु ने ही इस दस मास के जीव को ऐसा उत्कृष्ट (उत्तम) ज्ञान दिया है। दीनबन्धो! इस अपने किए हुए उपकार से ही आप प्रसन्न हों क्योंकि आपको हाथ जोड़ने के सिवाय आपके उस उपकार का बदला तो कोई दे भी क्या सकता हैं? ॥१८॥

सुबोधिनी—येनेति । येन भवादृशेन, **असौ** मल्लक्षणः, **दशमास्य**: दशभिर्मासैः परिच्छिन्नः, ईदृशीं **गतिं** ज्ञानं सम्यक् ग्राहितः । ननु ग्राहकोऽन्यः कश्चिद्धर्माधिष्ठाता देवता, अहं त्वन्य इति किं मां प्रत्युच्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—**भवादृशेनेति** । **स** एव भवान्, भवत्सदृशो वा । किमनेन विचारेण किन्तु स्वेनैव कृतेन स तुष्यतु । यथा पङ्कमग्नां गामुद्धृत्य स्वयमेव तुष्यति, तथा स्वत एव भगवान् तुष्यतु, को नाम तस्य प्रतिविधि प्रत्युपकारं करिष्यति । स्वनिष्कृत्यर्थं चेत् किञ्चित्कुर्यात्तदाऽञ्जलिं कुर्यात्, न स्वतिरिक्तं कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—जिन आप जैसों ने इस मेरे जैसे को केवल दस महीने की ही परिमित(सीमित) अवधि में इस प्रकार का उत्तम ज्ञान दिया है । ऐसी आशंका करते हैं कि इस उत्तम ज्ञान का देने वाला धर्म का अधिष्ठाता कोई और ही देवता है मैं तो अन्य हूँ । इसलिये मुझे तू ऐसा क्यों कहता है इसका उत्तर 'भवादृशेन' से देते हैं जिनने ज्ञान दिया है वे ही तो आप हैं अथवा आप जैसा है । अस्तु इस विचार की कोई आवश्यकता नहीं है । आपने जो मेरे ऊपर उपकार किया है उसी से आप संतुष्ट हो जाए । जैसे कीचड़ में फँसी हुई गाय को कीचड़ से निकालकर कीचड़ में से निकालने वाला स्वयं प्रसन्न होता है अर्थात् मैंने इस गाय को बचाया है इसी तरह आपने भी इस जीव को ज्ञान दिया है इससे आपको प्रसन्नता होगी क्योंकि आपके इस उपकार का बदला कौन चुका सकता है । यदि कोई अपने को उपकार से मुक्त करना ही चाहता है तो उसके लिए केवल वह हाथ जोड़ दे । इससे अधिक (कुछ) नहीं कर सकता है ।। १८ ।।

आभास—ननु कं प्रत्येवमुच्यते(?)यतः कोऽपि नाभिव्यक्त इत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—आशंका करते हैं कि किसके प्रति ऐसा कहा जाता है क्योंकि कोई प्रकट तो दिखता नहीं । इसका उत्तर देते हैं—

श्लोक—**पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।**
यत्सृष्टयास तमहं पुरुषं पुराणं पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—प्रभो ! संसार के पशु पक्षी आदि अन्य जीव तो अपनी मूढ बुद्धि के अनुसार अपने शरीर में होने वाले सुख दुःखादि का ही अनुभव करते हैं किन्तु मैं तो आपकी कृपा से शम दम आदि साधन सम्पन्न शरीर से युक्त हुआ हूँ अतः आपकी दी हुई विवेकवती बुद्धि से आप पुराण पुरुष को अपने शरीर के बाहर और भीतर अहङ्कार के आश्रयभूत आत्मा की भाँति प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ ।।१९।।

सुबोधिनी—पश्यतीति । यद्यपि भगवान् नाभिव्यक्तः, अथाप्ययं **दमशरीरी** शमदमादिसाधकदेहसहितः । स्वयं सप्तवध्रिरपि येन भगवता सष्टया **धिषणया** बुद्ध्या स्वदेह एव **स्वयमपरो** नियामकत्वेनाऽन्यो भाति । स्वयं तु नियम्यत्वेन । अतस्तद्दत्तज्ञानेनैव तं पश्ये । सोऽहं कृतोपकारः तमुपकारिणं भगवन्तमहं शारीरः अस्मिन्नेव पुरे शेते यः तमिति प्रतीतिरुक्ता ।

पुराणमिति नागन्तुकत्वम्, अतः परिचयोऽप्युक्तः। देहाद्बहिः हृदि च प्रतीतम्, यथा चैत्यो जीवः तद्वदपि प्रतीतम्, सर्वभावेन सर्वत्र प्रतीतम्, यथा जीवप्रतीतौ न साधनाद्यपेक्षा तथा भगवानपि स्वतः स्फुरतीति तत्संस्कारकत्वेन नाऽन्यापेक्षा। ज्ञान तु साधनमुक्तमेव। अतो दृष्ट्वैव प्रार्थनादिकमिति न किञ्चिद्दूषणम् ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट नहीं हैं तथापि यह दम शरीरी-शम दम आदि के साधक देह सहित है। स्वयं तो यह 'सप्तवध्रि' है अर्थात् चमड़े की बनी हुई बाँधने की रस्सी को वध्री कहते और चर्म आदि उन सात रस्सी से जो बाँधा जाता है उसे सप्त वध्रि कहा जाता है। ऐसा होते हुए भी जिस भगवान् के द्वारा सर्जन की हुई वृद्धि से अपने शरीर में ही स्वयं नियामक रूप से दूसरा ही दिखता है और स्वयं (जीव) तो नियम्य रूप से दिखता है। इसलिये उसके दिये हुए ज्ञान से ही उसे मैं देखता हूँ। जिसने मेरे ऊपर ज्ञान देने का उपकार किया है उस उपकारी भगवान् को मैं वही सात बन्धनों से बँधा हुआ (जीव) इसी शरीर में रहने वाले पुरुष को जो इस शरीर रूप पुर में शयन करता है । मैं देखता हूँ शरीर में ही रहने के कारण उसकी प्रतीति स्पष्ट है। वह कहीं से आया है ऐसा भी नहीं है वह तो इसमें पूर्व से ही विद्यमान है इसको पुराणम् से स्पष्ट किया है और पुराना होने के कारण मेरा परिचित भी है यह भी इससे स्पष्ट है। वह केवल शरीर ही में प्रतीत हो ऐसी बात नहीं है किन्तु शरीर से बाहर और हृदय में भी वह प्रतीत है। जैसा यह चैतन्य जीव है उस तरह से भी प्रतीत है। अर्थात् सर्वभाव से सर्वत्र प्रतीत है। जिस तरह जीव की प्रतीति में साधन आदि की अपेक्षा नहीं है उसी तरह भगवान् भी स्वतः प्रतीत होते हैं उस प्रतीति में संस्कार रूप से किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। हां ज्ञान की अवश्य आवश्यकता है उस ज्ञान को तो यहाँ साधन कहा ही है। इसलिये जब भगवान् प्रत्यक्ष हैं तो उनको देखकर ही जीव प्रार्थना आदि करता है तो उसमें कोई दोष नहीं है ॥ १९ ॥

आभास—एवं सर्वत्र भगवद्दर्शने **'अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्'** इति भगवद्वाक्यात् किञ्चित्सुखं प्राप्य गर्भ एव गतव्यथः बहिर्बाधकं स्मृत्वा, अन्तरेव स्थितिं प्रार्थयति—

आभासार्थ—इस तरह सर्वत्र जब भगवान् के दर्शन होते हैं 'जो सर्वत्र ब्रह्म को जानता है तो वह मुक्त हो जाता है'। इस भगवान् के वचन से कुछ सुख को प्राप्त होकर गर्भ में ही उसकी पीड़ा निवृत्त हो गई और गर्भ से बाहर तो उसको सब बाधक हैं ऐसा स्मरण हो गया तब गर्भ में ही रहना चाहता हूँ ऐसी प्रार्थना करता है—

श्लोक—**सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासं गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपम् ।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया मिथ्यामतिर्यदनु (?) संसृतिचक्रमेतत् ॥२०॥**

श्लोकार्थ—भगवन् ! इस अत्यन्त दुःख से भरे हुए गर्भाशय में यद्यपि मैं बड़े कष्ट से रह रहा हूँ तो भी इससे बाहर निकलकर संसारमय अन्धकूप में गिरने की

मुझे सर्वथा इच्छा नहीं है क्योंकि उसमें जाने वाले जीव को आपकी माया घेर लेती है जिसके कारण उसको शरीर में 'अहं' बुद्धि हो जाती है और उसके परिणाम स्वरूप उसे फिर इस संसार चक्र में ही पड़ना होता हैं ।।२०।।

सुबोधिनी–सोऽहमिति । अस्मिन् गर्भे बहुदुःखवांस यथा भवति तथा वसन्नपि, इतो बहिर्न निर्जिगमिषे; यतो बहिरन्धकूपम् । यद्यपीदमपि सर्वतो वेष्टकं कूपप्रायम्, तथाऽप्यत्र ज्ञानमस्ति, बहिर्नास्तीत्यन्धकूपत्वम् । नन्विदं ज्ञानं तत्राऽप्यनुवर्तिष्यत इति चेत् तत्राऽऽह–**यत्रोपयातमिति** । गर्भाद्बहिर्निर्गतं जीवं भगवतो माया अनुल्लङ्घ्या **उपसर्पति** । ततो मायामोहितस्य मिथ्यादेहादावहंमतिर्भवति । तदनु **संसृतिचक्रं** जन्ममरणाद्यावृत्तिश्च भवति । अतः पुनरत्रागन्तव्यम्; अतो निर्गतस्य न कश्चित्पुरुषार्थः । **एतदिति** परिदृश्यमानमावश्यकमित्यर्थः ।।२०।।

व्याख्यार्थ—अत्यन्त दुःख से जिसमें रहा जाता है उस गर्भ में रहते हुए भी मैं इससे बाहर नहीं जाऊँगा क्योंकि बाहर तो अन्धेरा कुआँ है । यद्यपि यह गर्भ भी सब ओर से वेष्टक (मुझे घेरे हुए) है और कुए जैसा ही है तथापि यहाँ मुझे ज्ञान है बाहर वह ज्ञान नहीं है इसलिये गर्भ से बाहर अन्धेरा कुआँ है । यदि ऐसी आशंका हो कि गर्भ का ज्ञान बाहर भी रहेगा तो उसके लिये जीव कहता है कि गर्भ से बाहर निकले हुए जीव को भगवान् की माया जो किसी प्रकार से दूर नहीं की जा सकती वह 'उप सर्पति' समीप में आ जाती है तब माया से मोहित जीव को मिथ्या देह में अहंभाव हो जाता है उससे जन्म-मरण वाला यह संसार-चक्र हो जाएगा । अर्थात् जन्म लेने के अनन्तर मरना और मरने के अनन्तर पुनः (फिर) गर्भ में जाना इसलिये गर्भ से बाहर जाने पर जब पुनः यहाँ आना पड़ेगा तो यहाँ (गर्भ) से निकलने पर कौनसा पुरुषार्थ होगा । एतद् का तात्पर्य यह है कि जो यह दीख रहा है वह अवश्य होगा ही ।।२०।।

आभास—नन्वत्र स्थित्वा किं कर्तव्यं तदाह—

आभासार्थ—शंका हो कि यहाँ रहकर क्या कर सकेगा उस पर कहते हैं—

श्लोक—**तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्य आत्मानमाशु तमसः सुहृदाऽऽत्मनैव ।**
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ।।२१।।

श्लोकार्थ—अतः मैं व्याकुलता को छोड़कर हृदय में श्रीकृष्ण भगवान् के चरणों को स्थापित कर अपनी बुद्धि की सहायता से ही अपने को बहुत शीघ्र अनेक दुःखों वाले इस व्यसन से मैं मुक्त हो जाऊँगा ।।२१।।

सुबोधिनी–तस्मादहमिति । अत्रैव स्थित्वा वैक्लव्यं परित्यज्य, आत्मानं **तमसः** सकाशात्सुहृदा **आत्मनैव** भगवतैव **उद्धरिष्ये** । सङ्घाते पतितमात्मानं स्वरूपे स्थापयिष्यामि । तत्र सत्सङ्गादिकं नाऽपेक्ष्यते; यतः परमोपकारी भगवानेव सर्वं संपादयति । ननु किमुद्धारेण अत्रैव स्थित्वा भगवानिव कथं न स्वतन्त्रो भवेदित्याशङ्क्याऽऽह–**भूय इति** । यथाऽनेकरन्ध्रं

व्यसनं मे मा भविष्यत्; अत्र स्थितत्वैव तथा भगवद्ध्यानलक्षणमुपायं करिष्यामि, यथा व्यसनं न भविष्यति। जाते तु व्यसने प्रतीकारः कठिनः। अत्रापि व्यसनं भविष्यतीति चेत्तत्राऽह—**मे उपसादितविष्णुपादः**। उपसादितौ विष्णुपादौ येन स उपसादितविष्णुपात्; तादृशस्य मे। तत्र तु मायामोहादुपसादनं भविष्यति नवेति सन्देहः। एवमध्यवसायान्ता स्तुतिरुक्ता, भगवत्स्तोत्रस्य फलं चोक्तम्। यत्र क्वचित्स्थित्वा भगवच्चरणोपसादनं कर्त्तव्यमिति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—यहीं रहकर व्याकुलता को छोड़कर अपनी आत्मा के अज्ञान से, अपनी ही आत्मा रूप परम सुहृद भगवान् से ही उद्धार करूँगा। यह आत्मा जो अपने को देह रूप मान रही है उसे अपने स्वरूप में अब स्थित कर दूँगा। इसके लिये मुझे सत्संग आदि की भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि परम उपकारी भगवान् ही सब सम्पादन कर देंगे। ऐसी आशंका करते हैं कि उद्धार की क्या आवश्यकता है यहीं रहकर भगवान् की तरह क्यों नहीं स्वतंत्र होता है इस पर कहते हैं। जिसमें अनेक प्रकार के छिद्र हैं ऐसा व्यसन (दुःख) मुझे न हो इसके लिये यहाँ (गर्भ में) ही रहकर भगवान् के ध्यान रूप उपाय को करूँगा जिससे व्यसन नहीं होगा। जब व्यसन हो जायेगा तो उसका उपाय कठिन है। यदि यहाँ (गर्भ में) भी व्यसन हो गया तो उसका उत्तर देते हैं 'उपसादितविष्णुपादः' यहाँ तो मैंने भगवान् के चरणों को प्राप्त कर लिया है गर्भ से बाहर तो माया और मोह लग जायेंगे अतः वहाँ तो भगवान् के चरणारविन्दों की प्राप्ति होगी अथवा नहीं इसमें सन्देह है। इस तरह अपने अध्यवसाय (निश्चय) पर्यन्त स्तुति कही भगवान् की स्तुति का फल भी कहा। जहाँ कहीं भी रहकर भगवान् के चरणों की उपसत्ति (प्राप्ति) करना यही कर्तव्य है ॥२१॥

आभास—एवं जीवस्योर्द्ध्वगमनार्थं बीजसंस्कारमुक्त्वा, तादृशस्योर्द्ध्वगतिं वक्तुं जननमाह—

आभासार्थ—इस तरह जीव की ऊर्ध्वगति के लिये बीज संस्कार कह कर उस तरह के जीव की ऊर्ध्वगति को कहने के लिये उसके जन्म को कहते हैं—

कपिल उवाच—श्लोक—**एवं कृतमतिर्गर्भो दशमास्यः स्तुवन्नृषिः।**
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री कपिलदेवजी कहते हैं—वह दस महीने का जीव गर्भ में ही जब इस प्रकार विवेक सम्पन्न होकर भगवान् की स्तुति करता है तब उस अधोमुख बालक को प्रसवकाल की वायु तत्काल बाहर जाने के लिये फेंक देती है ॥२२॥

सुबोधिनी–एवं कृतमतिरिति। दशमासपरिच्छिन्नो **गर्भः स्तुवन् ऋषिर्भूत्वा** निश्चयमतिर्जातः। मन्त्राऽदर्शित्वे भजनं न स्यादिति। **'कृतिर्बलिष्ठा'** इति पूर्वमुक्तत्वात् सूतिमारुतस्तादृशमपि प्रसूत्यै प्रसवार्थम**वाचीनं क्षिपति**। अधोमुखो भवतीत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—दस महीने का गर्भ स्तुति करता हुआ ऋषि (निश्चय बुद्धि वाला) हो गया है। मन्त्र द्रष्टा को ऋषि कहते हैं जब तक मन्त्रदर्शी न हो तब तक उससे भजन नहीं हो सकता। 'कृति बलवती होती है', यह पहले कह चुके हैं अतः प्रसूति की वायु उस ऋषि जीव को भी प्रसव के लिये नीचे की ओर फेंकती है अर्थात् वह गर्भ अधोमुख हो जाता है ।।२२।।

आभास—ततः किमत आह—

आभासार्थ—उसके अनन्तर क्या होता है उसे कहते है—

श्लोक—**तेनाऽवसृष्टः सहसा कृत्वाऽवाक्शिर आतुरः ।**
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ।।२३।।

श्लोकार्थ—उस प्रसूति वायु से सहसा फेंका जाने पर वह बालक अत्यन्त व्याकुल हो नीचे सिर करके कठिनाई से बाहर निकलता है। उस समय उसके श्वास की गति रुक जाती है और पहले की स्मृति उसको नष्ट हो जाती है ।।२३।।

सुबोधिनी—तेनाऽवसृष्ट इति । तेन वायुना, **अवसृष्टः** ततः प्रक्षिप्तः **कृच्छ्रेण विनिष्क्रामतीति** सम्बन्धः। **सहसेति** सावधानाभावार्थम्। अवाक् शिरो भूत्वा, शिरः अवागधोमुखं कृत्वा वा प्रथमत आतुरो भवेत्; व्यसनस्य प्राप्तत्वात्; ततोऽतिकृच्छ्रेण निष्क्रामति। निष्क्रमणे हेतुः—**निरुच्छ्वास इति**। अन्तरुच्छ्वासस्थानाऽभावात् **हतस्मृतिरपि** भवति। अन्यथा क्रियायाः प्राबल्यं न स्यात्, साधनशास्त्राणां च वैयर्थ्यापत्तेः ।।२३।।

व्याख्यार्थ—उस प्रसूति वायु से नीचे की ओर फेंका जाने पर अत्यन्त कठिनता से निकलता है इस तरह इसका सम्बन्ध है। सहसा पद इस बात को बताता है कि वह सावधान भी नहीं हो सकता। नीचे सिर वाला होकर अथवा नीचा मुँह करके भय से घबड़ा जाने के कारण पहले से ही ऐसा हो जाता है। उसे दुःख प्राप्त हुआ है अतः ऐसी स्थिति हो जाती है और तदनन्तर अति कठिनता से निकलता है। बाहर निकलने का कारण बताते हैं कि निरुच्छ्वासः भीतर उसको श्वास लेने की जगह ही नहीं है अतः वह बाहर आता है उस समय उसकी पूर्व स्मृति (पहिले की याददास्ती) भी नष्ट हो जाती है। यदि उसको पूर्व स्मृति रहती तो क्रिया की प्रबलता न होती और यदि पूर्व स्मृति रहती तो साधन शास्त्रों की आवश्यकता ही न रहती ।।२३।।

आभास—निष्क्रमणानन्तरं कृत्यमाह—

आभासार्थ—निकलने के बाद जो वह करता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**पतितो भुवि विण्मूत्रे विष्ठाभूरिव चेष्टते ।**
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ।।२४।।

श्लोकार्थ—पृथ्वी पर माता के मूत्र में और स्वयं की विष्ठा (मल) में पड़ा हुआ वह बालक विष्ठा के कीड़े की तरह छटपटाता हैं। उसके गर्भावास का सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति अर्थात् देहाभिमान रूप अज्ञान दशा को प्राप्त होकर बार बार जोर जोर से रोता है ।।२४।।

सुबोधिनी–पतित इति । **विष्ठा** स्वस्यैव, **मूत्रं** गर्भोदकम् । पश्चाद्भुवि पतितः; प्रथमतो **विष्ठाभूरिव चेष्टते** । क्रियाव्यतिरेकेण ज्ञानस्याऽप्रयोजकत्वज्ञानार्थं निन्दावचनम् । तत्तु ज्ञानं ज्ञापकमेवेति प्रसूतिवायुना तदुपहृतिमाह–**रोरूयतीति** । गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः देहोऽहमिति बुद्ध्वा रोरूयति रोदिति । शब्दमात्रं करोतीति रोरूयतीत्युक्तम् । यथा सर्वस्वे गते प्राणी शब्दं करोति ।।२४।।

व्याख्यार्थ—विष्ठा (मल) तो उसकी ही होती है और मूत्र गर्भ का जल होता है। पीछे पृथ्वी पर पड़ जाता है पहले वह मल के कीड़े की तरह छटपटाता है। क्रिया के बिना ज्ञान अप्रयोजक (व्यर्थ) होता है इसलिये उसका सारा ज्ञान निष्फल है उसकी निन्दा की गई है। वह ज्ञान जो इसे गर्भ में हुआ था वह ज्ञान उसका ज्ञापक मात्र ही था वह भी प्रसूति की वायु से उपहृत हो गया (दब गया) अतः खूब रोने लगा। जब ज्ञान चला गया तो उसकी गति अब विपरीत हो गई। मैं देह हूँ ऐसा ज्ञान हो गया अर्थात् जो पहले गर्भ में उसे यह ज्ञान था कि मैं देह (संघात) से अलग हूँ ऐसा ज्ञान था अब वह अपने को मैं देह हूँ ऐसा मानने लग गया और रोने लगा। केवल शब्द मात्र ही करता है, इसलिये 'रोरूयति' ऐसा कहा। जैसे किसी का सर्वस्व चला जाय वह प्राणी चिल्लाता है इस तरह वह भी शब्द मात्र ही करता है ।।२४।।

आभास—उत्पन्नस्य बाल्यदुःखमाह—

आभासार्थ—उत्पन्न होने पर बाल्यावस्था के दुःख को कहते हैं—

श्लोक—**परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः ।**
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ।।२५।।

श्लोकार्थ—फिर जो लोग उसके अभिप्राय को नहीं समझ सकते उनके द्वारा उसका पालन पोषण होता है। ऐसी अवस्था में उसे जो प्रतिकूलता प्राप्त होती है उसको मना करने की शक्ति भी उसमें नहीं होती ।।२५।।

सुबोधिनी–परच्छन्दमिति । बालकस्य इच्छामविदुषा जनेन **पुष्यमाणो** भवति, ततोऽनभिप्रेतमापन्नो भवति । क्षुधया रोदने औषधम्, व्यथायां तु अन्नमिति । **प्रत्याख्यातुं** निराकर्तु-**मनीश्वरः** असमर्थः । अतो महद्दुःखमुक्तम् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—बालक की इच्छा को न जानने वाले लोगों से वह पोषित होता है। अतः उसकी इच्छा के विपरीत सब होता है। भूख के कारण जब बच्चा रोता है तो उसे औषध देते हैं और जब उसे पीड़ा हो रही हो उस समय अन्न देते हैं। वह इस विपरीतता के लिये उन्हें रोक भी नहीं सकता। इसलिये उसे महान् दुःख होता है यह बताया गया है ॥२५॥

आभास—पीडाक्षुदभावदशायामपि दुःखमाह—

आभासार्थ—पीड़ा और भूख के समय होने वाले दुःख का निरूपण तो पूर्व श्लोक में किया गया है किन्तु उसे पीड़ा और भूख न हो उस दशा में भी दुःख होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुस्वेदजदूषिते ।**
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥२६॥

श्लोकार्थ—जब उस बालक को शिशु अवस्था में मैली-कुचैली खाट (चारपाई) पर सुला दिया जाता है तो जिसमें खटमल आदि स्वदेत्र जीव चिपटे रहते हैं तब उसमें शरीर को खुजलाने की उठने अथवा करवट बदलने की सामर्थ्य न होने के कारण वह बहुत कष्ट पाता हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—**शायित इति** । अशुचिपर्यङ्के शायितो भवति । दशदिवसपर्यन्तं सूतीगृहस्थानां पदार्थानां शुद्धयभावः । अनेन तस्य ज्ञानोत्पत्तौ प्रतिबन्ध उक्तः । **जन्तवो** मत्कुणादयः, **स्वेदजा** मशकाः, **तैर्दूषितेति** सुतरां सोपद्रव उक्तः । अधर्माध्र्धसनाच्च ज्ञानं नोत्पन्नमित्युक्तम् । व्यसनप्रतीकारे अशक्तिमाह—**नेश इति** । अङ्गानां कण्डूयने असमर्थः; आसने उत्थाने चेष्टने वा । किन्तु सर्वदा पतितस्तिष्ठतीत्यनिवृत्तौ हेतुः । अनेनाध्यात्मिकं दुःखमुक्तम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—मैले कुचैले पलंग पर सुला दिया जाता है क्योंकि दस दिन तक सूतिका गृह में स्थित्त पदार्थों की शुद्धि का अभाव होता है। ऐसे अपवित्र स्थान में उसको ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जन्तु से माकड़ (खटमल) आदि और स्वेदज (जुँवों) से मच्छर आदि से दूषित होने से अत्यन्त उपद्रव होता है। अधर्म के कारण और दुःख के कारण उसे ज्ञान नहीं हुआ यह कहा। अब दुःख के प्रतीकार में उसकी अशक्ति को कहते हैं नेशः 'कण्डूयनेऽङ्गानां:' शरीर को खुजलाने में असमर्थ है बैठने उठने और चेष्टा करने में भी वह असमर्थ है किन्तु सर्वदा वह पड़ा ही रहता है अतः उसके दुःखों की निवृत्ति नहीं होती इससे उसका आध्यात्मिक दुःख बताया गया है ॥२६॥

आभास—भौतिकं दुःखमाह—

आभासार्थ—भौतिक दुःख को कहते हैं—

श्लोक—तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः ।
रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ।।२७।।

श्लोक—इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च ।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः ।।२८।।

श्लोकार्थ—उसकी कोमल त्वचा को डाँस, मच्छर और खटमल आदि उसी प्रकार काटते हैं जैसे बड़े कीड़े को छोटे कीड़े काटते हैं । इस समय उसका गर्भावस्था का ज्ञान चला जाता है और केवल रोता है ।।२७।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार बाल्य और पोगण्ड अवस्थाओं के दुःख भोग कर वह बालक युवा होता है उस समय इसे इच्छित भोग यदि प्राप्त नहीं होते हैं तो अज्ञान वश उस का क्रोध उद्दीप्त हो उठता है और वह शोकाकुल हो जाता है ।।२८।।

सुबोधिनी–तुदन्तीति । **आमा** अपक्वा **त्वक्** यस्य । **दंशाः** स्थूलमशकाः; **मत्कुणा** लोहितवर्णाः खट्वाकीटाः । **आदि**शब्देनान्येऽपि वस्त्रकीटादयः । उभयोर्ज्ञानाभावमाह–**रुदन्तमिति** । विगतं ज्ञानं तस्य; अतोरोदिपि; अन्यथा सहेत् । ततोऽप्यन्यं सजातीयं मत्वा दशन्तीत्याह–**कृमयः कृमिकं यथे'त** । स्थूलः कृमिः कृमिकः । **इति** दुःखमतिबाल्ये **एवं**प्रकारकमेव **शैशवं** पञ्चवर्षपर्यन्तम् । नरकादागतो विद्याधनयुक्ते कुले न भवतीत्यतिदरिद्राणां गृहे दुःखमेतादृशमेव । पौगण्डमपि तत्र दुःखम् । पञ्चमवर्षादूर्ध्वं नववर्षपर्यन्तं पौगण्डम् । तत्राऽप्येतज्जातीयमेव दुःखम्; अतो दुःखाभिभूतस्य न ज्ञानमिति भावः । अग्रे ज्ञानं भविष्यतीत्याशङ्क्य तत्र कामादयो बाधका भवन्तीत्याह–**अलब्धाभीप्सित इति** । न लब्धमभीप्सितं येन; अभीप्सितमप्यज्ञानात् । अज्ञानादेव इद्धो मन्युर्यस्य । इद्धमन्युना वा शोकेन च अर्पितो भवति । कामक्रोधशोका उत्पन्नाः ज्ञानमुत्पादयितुं न प्रयच्छन्तीत्यर्थः ।।२७।।२८।।

व्याख्यार्थ—अपक्व (कच्ची) है त्वचा जिसकी उसको दंश (बड़े मच्छर) डांस मत्कुण (लाल रंग के खाट के कीड़े) आदि शब्द से और भी वस्त्र के कीड़े (जूँ) आदि । दोनों ही में ज्ञान का अभाव है उसे कहते हैं यदि कीड़ों को यह ज्ञान होता कि हमारे काटने से इसे दुःख होता है इसलिये यह रोता है तो उसे नहीं काटते परन्तु रोते हुए को भी काटते ही रहते हैं और उस शिशु का भी ज्ञान चला गया है अतएव वह भी रोता है अन्यथा उनके काटने की पीड़ा को सह लेता । उसके अनन्तर भी वे कृमि [कीड़े] उस बच्चे को अपना ही सजातीय कीड़ा मानकर काटते हैं उसमें दृष्टान्त देते हैं 'कृमयः कृमिक यथा' मोटे कृमि को कृमिक कहते हैं उस कृमिक को छोटे कृमि जैसे काटते हैं । अत्यन्त बाल्यावस्था में इस तरह का दुःख होता है । पाँच वर्ष तक की शैशव अवस्था है उसमें भी इसी प्रकार का दुःख होता है । क्योंकि नरक से जब मनुष्य लोक में आता है तो उसका जन्म विद्वानों के यहाँ अथवा धनवानों के यहाँ नहीं होता किन्तु दरिद्रियों के यहाँ होता है तो उनके घर में ऐसा ही दुःख होता है । पौगण्ड अवस्था

में भी दु:ख है। पाँच वर्ष के बाद नौ वर्ष पर्यन्त पौगण्ड अवस्था मानी गई है। उस में भी इसी प्रकार का दु:ख है। अत: दु:ख से अभिभूत को ज्ञान नहीं हो सकता यह इसका भाव है। कदाचित् युवावस्था में उसे ज्ञान हो जायगा। ऐसी आशंका हो तो वह भी नहीं होता उस अवस्था में भी काम आदि बाधक होते हैं उसी को 'अलब्धा भीप्सित:' से बताया है जवानी में वह जिसको चाहता है उसे यदि उसकी प्राप्ति नहीं होती तो उसका क्रोध बढ़ जाता है किसी को चाहना भी अज्ञान ही है और अज्ञान से ही उसका क्रोध बढ़ता है। बढ़े हुए क्रोध से अथवा शोक से वह उनके अर्पित हो जाता है काम क्रोध और शोक जब उत्पन्न होते हैं तो ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देते ।।२७-२८।।

आभास—तत: पुष्टस्य सुतरां ज्ञाननाशहेतूनाह—

आभासार्थ—इसके बाद जैसे ही वह पुष्ट होता है उसका ज्ञान भी सुतरां नष्ट हो जाता है ज्ञान नाश के उन हेतुओं को कहते हैं—

श्लोक—**सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।**
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मन: ।।२६।।

श्लोकार्थ—ज्यों-ज्यों उसकी देह बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसका अभिमान और क्रोध भी बढ़ता जाता हैं जिससे काम के अधीन होकर (वह) जीव अपना ही नाश करने के लिये कामी पुरुषों के साथ वैर करता है ।।२६।।

सुबोधिनी—सह देहेनेति। यथा देहो वर्द्धते, तथा मानो मन्युश्च; मन्युस्तु देहवृद्धिमपि नापेक्षते। अभिमानस्यैव तदपेक्षेति पृथग्वचनम्। **आत्मन: अन्ताय** नाशाय कामिषु **विग्रहं करोति**। एकवस्तुविषये कामश्चेद्बहूनां तदा बलिष्ठैर्बहुभिरितरो हन्यते। तदा पूर्ववत् स्वतन्त्रसुकृताभावान्नेष्टसिद्धि: ।।२६।।

व्याख्यार्थ—जिस तरह देह बढ़ती है उसी तरह उसका अभिमान और क्रोध भी बढ़ता है क्रोध के लिये तो देह वृद्धि की भी आवश्यकता नहीं है। अभिमान को ही देह वृद्धि की आवश्यकता है इसलिये 'मन्युना' पद से क्रोध को अलग कहा है अपने ही अन्त के लिये कामियों से शत्रुता (लड़ाई) करता है। जब एक ही वस्तु के विषय में अनेकों की कामना होती है तब अनेक बलवानों से दूसरा मारा जाता है। तब पूर्ववत् ही स्वतन्त्र रूप से सुकृत का अभाव होने से इष्ट सिद्धि नहीं होती ।।२६।।

आभास—वाक्यज्ञानं दूरापास्तमिति वक्तुं प्रत्यक्षतोऽपि दृष्टे यत्र ज्ञानं न भवति तत्र किं वक्तव्यमन्यस्माद्भविष्यतीत्याह—**भूतैरिति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—वाक्य से यदि ज्ञान नहीं होता हैं तो उस की बात तो दूर रही परन्तु प्रत्यक्ष

देखने पर भी जहाँ ज्ञान नहीं होता तो वहाँ क्या कहा जाय फिर अन्य से किस से होगा इसे दो श्लोकों से कहते है ।

श्लोक—**भूतैः पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।**
अहं ममेत्यसद्ग्राहः करोति कुमतिर्मतिम् ।।३०।।

श्लोकार्थ—खोटी बुद्धि वाला वह अज्ञानी जीव पञ्चभूतों से रचे हुए इस देह में मिथ्या आग्रह के कारण निरन्तर 'मैं' और 'मेरे पन' का अभिमान करने लगता है ।।३०।।

सुबोधिनी—आकाशादिपञ्चमहाभूतैरारब्धे देहे **देही** देहाभिमानवान् पूर्वज्ञानरहितः असकृदहंममेतिर्मतिं करोति; यतोऽयं कुमतिः । दृश्यत एव भूतादिजनितत्वं देहे । एवं प्रत्यक्षदृष्टेऽपि चेदबुधः । अबोधे हेतुः–देहाभिमानी, सर्वदा वासनावशाद्भौतिकत्वे ज्ञातेऽप्यहं ममाऽभिमानो भवति । अयमभिमानः स्वतो न निवर्तत इत्यसकृदित्युक्तम् । **असद्ग्राह इति** परबोधवैयर्थ्यम् । स्वतो युक्त्यनुसन्धानाऽभावाय **कुमतिरिति** ।।३०।।

व्याख्यार्थ—आकाश आदि पञ्चमहाभूतों से आरम्भ किये गये शरीर में यह जीव जो देह के अभिमान वाला है वह पूर्वज्ञान से रहित होकर निरन्तर यह 'मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसी बुद्धि करता है क्योंकि यह कुबुद्धि है । शरीर में महाभूतों से उत्पत्ति होना प्रत्यक्ष दीखता है । इस तरह प्रत्यक्ष देखे गये को भी जो नहीं जानता है तो वह तो अबुद्ध (मूर्ख) ही है । उसके अबोध होने में कारण बताते हैं । वह देहाभिमानी है । सर्वदा वासना के वश से उसके देह को भौतिक जानते हुए भी 'मैं और मेरा' अभिमान होता है । यह अभिमान स्वतः (अपने आप) नहीं मिटता क्योंकि अभिमान असकृत् निरन्तर रहता हैं जिसकी निरन्तर स्थिति हो उसकी निवृत्ति कैसे हो। दूसरा उसे समझावे तो भी नहीं समझता क्योंकि असद्ग्राह उसका ऐसा आग्रह हैं कि दूसरे की बात को मानने के लिये कभी तैयार नहीं । स्वयं यदि किसी युक्ति के अनुसन्धान से उसका यह आग्रह छूट जाएगा यह भी असम्भव है क्योंकि वह तो कुमति है, कुबुद्धि है उसे कभी अच्छी बात सूझेगी ही नहीं ।।३०।।

आभास—एवं देहे अहंममेतिबुद्धौ स्थिरायां यद्भवति तदाह—

आभासार्थ—इस तरह देह में अहंता और ममता बुद्धि जब स्थिर हो जाती है तब जो होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् ।**
योऽनुयाति ददत् क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ।।३१।।

श्लोकार्थ—यह उसी शरीर के लिये कर्म करता है जो शरीर इसे अनेक प्रकार

के क्लेश देता है और अविद्या के द्वारा उसी देह के कर्म से बंधा रहने के कारण जन्म-मरण रूप संसार को प्राप्त करता है ।।३१।।

सुबोधिनी—तदर्थमिति । देहार्थं कर्म कुरुते । कर्मणा च बद्धो जन्ममरणरूपं ससारं **याति** । देहोऽपि तं न त्यजतीत्याह—**योऽनुयातीति** । **यो** देहः सर्वदा क्लेशं ददत्, **अनु** पश्चाद्याति । यतः आत्मना स बद्धः । प्रथमतोऽविद्या, ततः कामः, ततः कर्माणि, तैर्बन्धनं यस्य । एव देहाभिमानेन नष्टो भवतीत्युक्तम् ।।३१।।

आभासार्थ—देह के लिये कर्म करता है और कर्म से बंधकर जन्म मरण रूप संसार को प्राप्त करता है । 'योऽनुयाति' का तात्पर्य यह है जैसे देह के लिये ये कर्म करता है उससे विरक्त नहीं होता उसी तरह देह भी इसे नहीं छोड़ती । जो देह सर्वदा क्लेश देती हुई पीछे लगी रहती है क्योंकि वह आत्मा से बंधा हुआ है । पहले तो अविद्या होती है उसके बाद काम और तब कर्म और उन कर्मों से जिसका बन्धन है इस तरह देह के अभिमान से वह नष्ट होता है यह इसमें कहा गया ।।३१।।

आभास—एतदुपरि असत्सङ्गश्चेत्, तदा नष्ट एव जात इत्याह—

आभासार्थ—बुद्धि में अहंता ममता स्थिर हो जाय और उस के ऊपर फिर असत्संग हो जाय तब तो नष्ट ही हो जाता है—

श्लोक—**यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।**
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ।।३२।।

श्लोकार्थ—संसार मार्ग में चलते हुए यदि इसका कदाचित् जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय के भोगों में लगे हुए विषयी पुरुषों का समागम हो जाय और उनका अनुगमन करने (पीछे चलने) लगता है तो उसकी भी पूर्ववत् ही स्थिति होती है ।३२।

सुबोधिनी—यद्यसद्भिरिति । पुनः पथि पूर्वोक्त एव संसारमार्गे असद्भिः सह आस्थितः सन् रमते । तदा पूर्ववत् तमो विशति । अतो न तस्य किञ्चिद्वक्तव्यं व्याख्यातत्वात् । **असद्भिरिति** षष्ठ्यर्थे वा तृतीया । असतां लक्षणम्—शिश्नोदरार्थे कृत उद्यमो यैरिति न भगवदर्थे । अनेन गृहस्थाः सर्व एवासन्त इत्युक्तम् । यद्यन्येऽप्येतादृशाः सुतरां असन्तः । अवर्जनीयतया यस्तिष्ठेत् यो वा न रतः तयोर्न नाश इत्युक्तम् । **जन्तुरि**त्यल्पबुद्धिः, अतो रमणम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—पुनः पूर्वोक्त ही संसार मार्ग में असत्पुरुषों के साथ रहते हुए रमता है तो पूर्ववत् ही तम (अंधकार) में प्रवेश करता है । उसके लिये विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके लिये पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है । 'असद्भिः' में षष्ठी के अर्थ में तृतीया है । असत्पुरुषों का ऐसा अर्थ होगा । असत्पुरुष कैसे होते हैं उनका लक्षण बताते हैं 'शिश्नोदर

कृतौद्यमैः' जिनका उपस्थ इन्द्रिय और पेट भरने के लिये ही उद्यम होता है। भगवान् के लिये नहीं वे असत् कहे जाते हैं। इस लक्षण से सब गृहस्थ असन्त हैं यह कहा गया। गृहस्थ के अतिरिक्त भी जो इस तरह के हैं वे सभी निश्चित रूप से असन्त हैं। जो अवर्जनीयता से रहता है अथवा जो उनमें अनुराग नहीं करता उन दोनों तरह के जीवों का विनाश नही होता। जन्तुः कहने का आशय यह है कि वह अल्प बुद्धि है इसी से तो असत् पुरुषों में अनुराग करता है ॥ ३२ ॥

आभास—असतां सङ्गस्य दोषमाह—

आभासार्थ—असज्जनों के संग का दोष कहते हैं—

श्लोक—**सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।**
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जिनके संग से सत्य, शौच (पवित्रता) दया, मौन, बुद्धि, धन, लज्जा, यश, क्षमा, शम और दम तथा ऐश्वर्य इनका नाश हो जाता हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—सत्यमिति । पुरुषे द्वादशगुणा मोक्षे अन्तरङ्गाः, यैर्मोक्षो भवत्येव । ते नश्यन्तीति तान् गणयति**सत्यं** यथार्थता, कायवाङ्मनोगता नश्यति । **शौचमपि** शुद्धत्वं तथा । **दया** परदुःखप्रहाणेच्छा । **मौनं** वृथालपनिवृत्तिः । **बुद्धि**र्भगवद्विषयिणी, सन्मार्गविषयिणी वा । **श्रीर्धनं**, शोभा च । **ह्री**र्लज्जा । **यशः** कीर्तिः, **क्षमा** शान्तिः । **शमो** मनोनिग्रहः । **दम** इन्द्रियाणाम् । **भगो** भाग्यमैश्वर्यादिभगवद्धर्माः । एते असतां सङ्गमात्रेणैव गच्छन्ति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—पुरुष में बारह गुण मोक्ष में अन्तरङ्ग हैं उनसे मोक्ष होता ही है। वे सब नष्ट हो जाते हैं उन्हें गिनाते हैं। (१) सत्य–यथार्थता शरीर वाणी और मन में रहती है वह नष्ट हो जाती है। (२) शौच–शरीर वाणी और मन की पवित्रता वह भी नष्ट हो जाती है। दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा (३) दया है। व्यर्थ की बातें न करना (४) मौन है। भगवद्मार्ग विषयक अथवा सन्मार्ग विषयक (५) बुद्धि। (६) 'श्री'-धन और शोभा। (७) ह्रीः-लज्जा। (८) यश-कीर्ति। (९) क्षमा-शांति। (१०) शम-मन का निग्रह। (११) दम-इन्द्रियों का निग्रह। (१२) भग-भाग्य तथा ऐश्वर्य आदि भगवद् धर्म। ये सब असज्जनों के सङ्ग मात्र से चले जाते हैं ॥ ३३ ॥

आभास—मोक्षप्रेप्सोः तत्सङ्गो न कर्तव्य इति वदन्, असतां विशेषमाह—

आभासार्थ—मोक्ष चाहने वाले को असज्जनों का संग नहीं करना चाहिये ऐसा कहते हुए असज्जनों की विशेषता कहते हैं—

श्लोक—**तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।**
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ।।३४।।

श्लोकार्थ—उन अत्यन्त शोचनीय स्त्रियों के खिलौने क्रीडा मृग अशान्त, मूढ और देह को आत्मा जानने वाले असत्पुरुषों का संग कभी भी नहीं करना चाहिये ।।३४।।

सुबोधिनी—तेष्विति । यथा भगवत्सम्बन्धिनो भागवता: सन्त: षड्गुणयुक्ता भवन्ति । एवं असन्तोऽप्यसन्मूलदैन्यरूपं षट्दोषयुक्तं प्राप्ता भवन्तीति षट् दोषा उच्यन्ते । तेषामन्त:करणे कदापि न शान्ति: । अनेन सत्त्वगुणाभाव उक्त: । प्रायिकं रजोऽपि नास्तीत्याह—**मूढेष्विति** । शास्त्रार्थज्ञानरहिता मूढा: । खण्डित आत्मा विषयैर्येषाम् । पूर्वापरानुसन्धानाभावार्थं खण्डनम् । **असाधुषु** अनाचारेषु । एवं चतुष्टयमुक्त्वा निषेधमाहपुरुषार्थचतुष्टयबाधकत्वात्, **शोच्येषु** साधूनाम् । सत्यामपि प्रज्ञायां भगवदग्रहणात् । योषितां च ते क्रीडामृगा: । षडेतानि लक्षणानि प्रत्येकमसत्त्वसाधकानीति चकार: ।।३४।।

व्याख्यार्थ—जिस तरह भगवत्सम्बन्धी भगवद्भक्त छ: गुणों से युक्त होते हैं उसी तरह असज्जन भी हैं । असत् ही हैं मूल जिनका ऐसे दैन्यरूप छ: दोषों से युक्त होते हैं वे असज्जन हैं । वे छ: दोष कहे जाते हैं (१) उनके अन्त:करण में कभी शान्ति नहीं होती इससे उनमें सत्व गुण का अभाव है यह कहा गया । (२) प्राय: जो सब में होता है वह रजोगुण भी उनमें नहीं होता ऐसे शास्त्रार्थ ज्ञान से रहित मूढ होते हैं । (३) विषयों से खण्डित हो गई है आत्मा जिनकी पूर्व और पर के अनुसन्धान के अभाव से आत्मा खण्डित हो जाती है । (४) अनाचारी असज्जन इस तरह चार दोषों को बता कर अब ये चार दोष पुरुषार्थ के बाधक हैं इसलिये इनका निषेध कहते हैं । (५) सज्जनों के लिये वे शोचनीय है क्योंकि बुद्धि के होने पर भी भगवान् का उन्हें ज्ञान नहीं है (६) स्त्रियों के क्रीडा मृग (खिलौने) हैं । ये असज्जनों के छ लक्षण हैं । इनमें एक एक लक्षण भी असज्जनता का साधक है । वह 'च' से बताया गया है ।। ३४ ।।

आभास—तत्रापि ये स्त्रीसङ्गिन:, स्त्रियश्च मुख्यतया असच्छब्दवाच्या, इति तत्सङ्गाभावमाह—

आभासार्थ—उनमें भी जो स्त्री सङ्गी है उनका और मुख्य रूप से स्त्रियाँ असत् शब्द से कही जाती हैं उनका सङ्ग न करना उसे कहते हैं—

श्लोक—**न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गत: ।**
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत: ।।३५।।

श्लोकार्थ—जीव को अन्य किसी के संग से वैसा मोह और बन्धन नहीं होता

जैसा स्त्री और स्त्रीयों के सङ्गियों का संग करने से होता है ।।३५।।

सुबोधिनी–न तथाऽस्येति । **अस्य** पुरुषस्य मोक्षेप्सोः धनैरश्वै र्स्त्रादिभिश्च तथा मोहो न भवेत्, यथा योषितां सङ्गात् । **पुंस** इति प्रतियोगित्वम् । यथा वा तत्सङ्गिनां सङ्गात्, योषित्सङ्गापेक्षयाऽपि तेषां सङ्गो नाशकः । उपायपूर्वकं नाशजननात् ।।३५।।

व्याख्यार्थ—मोक्ष को चाहने वाले इस पुरुष को धन, ऐश्वर्य, वस्त्र आदि से भी वैसा मोह नहीं होता जैसा स्त्रियों के संग से होता है । 'पुंस' यह पद उसकी प्रतियोगिता (पुरुष में स्त्रीत्व का अभाव है) को बताता है । अथवा जिस तरह स्त्रियों के संगियों का संग स्त्रियों के संग की अपेक्षा भी नाशक है क्योंकि वह उपाय पूर्वक नाश करने वाला है । ३५।।

आभास—तत्र स्त्रिया नाशकत्वं जातित्वेनैव, न तु व्यभिचारादिदोषत्वेनेति वक्तुमाह—

आभासार्थ—स्त्री जाति ही पुरुष का विनाश करने वाली है उसमें व्यभिचार आदि दोष हों तब ही वह नाशक है ऐसा नहीं है इसे कहने (बताने) के लिये कहते हैं—

श्लोक—**प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।**
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी गतत्रपः ।।३६।।

श्लोकार्थ—एक बार अपनी पुत्री सरस्वती को देखकर ब्रह्माजी भी उसके रूप लावण्य से मोहित हो गये थे और उसके मृगी रूप होकर भागने पर उसके पीछे निर्लज्जता पूर्वक मृग रूप होकर दौड़ने लगे थे ।।३६।।

सुबोधिनी–प्रजापतिरिति । कथा पूर्वमुक्ता । **स्वां दुहितरं** वाचं तद्रूपेण **धर्षितः** गतविवेकः । तद्रूपपरित्यागेऽपि न त्यक्तवानित्याह–**रोहिद्भूतामिति** । तदर्थमात्मानमपि नाशितवानित्याह–**ऋक्षरूपीति** । रोहिदृक्षौ सजातीयस्त्रीपुरुषवाचकौ । **गतत्रप इति** मरीच्यादिषु पश्यत्स्वपि नग्नः स्फुटावयवश्च ।।३६।।

व्याख्यार्थ—इसकी कथा इसी स्कन्ध के बारहवें अध्याय के २० वें श्लोक में कही गई है । 'स्वांदुहितरं' अपनी वाणी (सरस्वती) को उसके रूप से धर्षित (गत्तविवेक) हो गये । सरस्वती ने अपने रूप का परित्याग करके मृगी के रूप को धारण कर लिया था तथापि ब्रह्माजी ने अपने आप को नष्ट कर दिया था अर्थात् उसके मृगी बनने पर ब्रह्माजी मृग बनकर उसके पीछे दौड़े । रोहित् और ऋक्ष दोनों एक ही जाति के हैं और स्त्री पुरुषवाचक है । गतत्रपः इसलिये कहा कि मरीचि आदि के देखते हुए भी ब्रह्माजी नग्न ही सब अवयव जिनके प्रत्यक्ष दीख रहे थे इस अवस्था में अपनी पुत्री के पीछे दौड़े थे ।।३६।।

आभास—अतः स्वरूपतः कश्चित्सङ्गे जातेऽपि दोषरहितो भविष्यतीति नाशङ्कनीयमित्याऽह—

आभासार्थ—इसलिये स्वरूप से कोई स्त्री का संग होने पर दोष रहित होगा ऐसी आशंका ही न करना उसे कहते हैं—

श्लोक—**तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान् ।**
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ।।३७।।

श्लोकार्थ—उन ब्रह्माजी ने मरीचि आदि प्रजापतियों की तथा मरीचि आदि ने कश्यपादि की और कश्यप आदि ने देवता मनुष्य आदि सब प्राणियों की सृष्टि की उन सब में केवल एक ऋषि प्रवर नारायण को छोड़कर ऐसा कौन पुरुष हो सकता हैं जिसकी बुद्धि स्त्री रूपिणी माया से मोहित न हो ।।३७।।

सुबोधिनी—तत्सृष्टेति तेन ब्रह्मणा **सृष्टाः** मरीच्यादयः, **तत्सृष्टाः** कश्यपादयः, **तत्सृष्टं** सर्वमेव जगत् । **कोन्विति** वितर्के । **न** खण्डिता धीर्यस्य । तादृशः कोऽपि नास्तीत्यर्थः । एकोऽस्ति नारायणस्तथाभूतः स इत्येकादशे वक्ष्यते । न केवलं सा नाशयति, किन्तु तस्यामाविष्टा आधिदैविकी भगवन्माया, सा यो षिन्मयी । सर्वधनादिरूपाऽपि योषित्प्रधाना । यद्यपि मार्कण्डेयोऽपि तथोक्तः, तथापि कल्पान्तरे सोऽन्यथा भविष्यतीति नारायण एवोक्तः ।।३७।।

व्याख्यार्थ—उन ब्रह्माजी ने जिनकी सृष्टि की है वे मरीचि आदि और उन मरीचि आदि ने जिनकी सृष्टि की है वे कश्यप आदि और उनने जिसकी सृष्टि की है वह सारा ही जगत् । 'को नु' यह वितर्क में है अर्थात् ऐसा कौन है जिसकी बुद्धि खण्डित न हुई हो, अर्थात् वैसा कोई भी नहीं है केवल है तो एक नारायण वैसे है यह एकादश स्कन्ध में कहा जायगा । केवल वह स्त्री नाश नहीं करती (बुद्धि का नाश) है किन्तु उसमें जिसका आवेश है ऐसी आधिदैविकी माया है वह स्त्रीमयी है । वह नष्ट करती है । वह भगवन्माया सर्वसाधन रूप होते हुए भी 'योषित्-पन' (स्त्री पन) उसमें मुख्य है । यद्यपि मार्कण्डेयजी भी योषित् रूप माया से खण्डित बुद्धि नहीं हुए थे किन्तु कल्पान्तर में वे भी अखण्डित नहीं रहेंगे इसलिये ऐसे केवल नारायण ही हैं ऐसा यहाँ कहा गया ।।३७।।

आभास—स्त्रीणां मायात्वमुपपादयति—

आभासार्थ—स्त्रियों में मायात्व का उपपादन (सिद्ध) करते हैं—

श्लोक—**बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।**
या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम् ।।३८।।

श्लोकार्थ—मेरी माया के बल को देखो। यद्यपि सब रूप वाली माया बलिष्ठ है परन्तु स्त्रीमयी माया अति बलिष्ठ हैं। उसका बल कहते हैं। जो सब दिशाओं को जीत लेते हैं उनको भी स्त्रियाँ जीत लेती हैं ॥३८॥

सुबोधिनी–बलमिति । मे मायाया बलं पश्य । यद्यपि सर्वरूपैव माया बलिष्ठा, तथापि स्त्रीमयी अतिबलिष्ठा । तस्या बलमाह–**या करोतीति** । दिग्जयिनोऽपि स्त्रीजिता इति ।३८।

व्याख्यार्थ—मेरी माया के बल को देखो। यद्यपि सब रूप वाली माया बलिष्ठ है परन्तु स्त्रीमयी माया अति बलिष्ठ है। उसका बल कहते हैं। जो सब दिशाओं को जीत लेते हैं उनको भी स्त्रियाँ जीत लेती हैं ॥३८॥

आभास—सामान्यतः तस्याः सङ्गं दूषयित्वा योगे सुतरांबाधकत्वमाह—

आभासार्थ—सामान्यतः स्त्रीसंग को दुषित करके योग में तो स्त्री का सङ्ग अत्यन्त ही बाधक है यह कहते है—

श्लोक—**सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।**
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मभावो वदन्ति यां निरयद्वारमस्य ॥३९॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष योग के परम पद पर आरूढ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा अनात्मा का विवेक हो गया हो वह स्त्रियों का सङ्ग कभी न करे क्योंकि स्त्रियों का संग उन पुरुषों के लिये नरक का खुला द्वार बताया गया है ॥३९॥

सुबोधिनी–सङ्गं न कुर्यादिति । प्रमदास्विति योगेन सुरूपास्तरुण्यो निषिद्धाः । **जात्विति** कदाचिदपि । योगस्य परं पारमारुरुक्षुः । सङ्गत्यागे सामर्थ्यमाह–**मत्सेवयेति** । प्रतिलब्ध **आत्मभावो** भगवद्भावो येन । अन्यथा सा मोहयेदेव । योगो हि स्वात्मयोजकः । एतमेवात्मानं संस्कारविशेषैः भगवद्भावपर्यन्तं नयति । तस्य रेत एव स्थानम् । तदसति प्रविष्टं नरकं प्रापयतीत्यस्य योगस्य यां योषितं निरयद्वारं प्राहुः । अनेन स्वत उद्यमो निवारित इति बुद्धम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—'प्रमदासु' का आशय यह है कि जो स्त्रियाँ साधनों के द्वारा सुरूप हो उन तरुणियों का निषेध है। जातु का अर्थ है कभी भी। जो योग के पर पार को प्राप्त करना चाहता है। सङ्ग त्याग में किस सामर्थ्य की आवश्यकता है उसे बताते हैं 'मत्सेव या प्रतिलब्धात्म भावः' मेरी सेवा से प्राप्त किया है आत्मभाव (भगवद्भाव) जिसने वह सङ्ग त्याग कर सकता है अन्यथा तो स्त्री रूपी माया मोहित कर ही देती है। योग अपनी आत्मा का योजक है। इसी आत्मा को संस्कार विशेषों से भगवद्भाव पर्यन्त योग ही ले जाता है। योग का स्थान 'रेतस्' (शुक्र) ही है अन्नमय मन है ऐसा श्रुति ने सिद्ध किया है और रेतस् जो है वह

मनोरूप है और मनोरूप होने के कारण चित्त के साथ उसका भेद नहीं है और योग चित्त की वृत्तियों का निरोध रूप है अतः योग की स्थिति रेतस् (चित्त) में ही है वह रेतस् (शुक्र) यदि असत् में प्रविष्ट हो तो नरक में ले जाता है इसलिये इस योग का जिस स्त्री को नरक का द्वार बताया गया है उसका संग कभी न करे। इसके लिये स्वतः उद्यम का निवारण किया है यह शास्त्र से जाना गया है ।।३९।।

आभास—शास्त्रान्तरानुरोधेन स्वत आगतायामबाधामाशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—अन्य शास्त्रों के अनुरोध से स्वतः आई हुई स्त्री में तो कोई बाधा नहीं है इस आशङ्का पर कहते हैं—

श्लोक—**योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता ।**
तामीक्षेताऽऽत्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ।।४०।।

श्लोकार्थ—भगवान् की रची हुई यह स्त्री रूपिणी माया धीरे-धीरे सेवा आदि के मिस (बहाने) से पास आती है इसे घास से ढके हुए कुएँ के समान अपनी मृत्यु ही समझें ।।४०।।

सुबोधिनी—योपयातीति । शनैः शनैरिति हृदयं प्रविशन्ती सा योषिन्मायैव । एतद्व्यामोहार्थमेव देवेन निर्मिता । तस्या व्यामोहकत्वे सिद्धे स्वस्यासुरत्वमपि सिद्धम् । अतः संसारोऽन्धंतमश्च । अतस्तामात्मनो मृत्युमीक्षेत । आपाततस्तथाज्ञानाभावे हेतुः—**तृणैः कूपमिवावृतमिति** । हस्तिबन्धनार्थे तथा क्रियते ।।४०।।

व्याख्यार्थ—धीरे धीरे हृदय में प्रवेश करती हुई वह स्त्री रूपी माया ही है जीव को मोहित करने के लिये ही भगवान् ने बनाई है । जब वह व्यामोहक ऐसा सिद्ध हो जाता है तो स्वयं में असुरत्व भी सिद्ध हो जायगा । फिर तो अन्धतम संसार होता है इसलिये स्त्री रूपिणी माया को अपनी मृत्यु के रूप में देखे । ऊपर ऊपर से वैसा ज्ञान नहीं होता उसका कारण यह है कि 'तृणैः कूपमिवावृतम्' हाथी को पकड़ने वाले पहले एक कूआ खोदते हैं उसे घास से ढक देते हैं पास में एक बनावटी हथिनी को खड़ी कर देते हैं हाथी उस हथिनी को देखकर ज्यों ही आता है कूएँ में गिर जाता है और पकड़ने में आ जाता है ऐसे ही पुरुष उस स्त्री रूपिणी माया से आकृष्ट होकर बन्धन में पड़ जाता है ।।४०।।

आभास—नचैतदन्यस्त्रीपरं मन्तव्यमित्याह—

आभासार्थ—ऊपर का दृष्टान्त तो अन्य स्त्री के विषय में मानना चाहिये अपनी स्त्री में तो बन्धन नहीं होगा इस पर कहते हैं—

श्लोक—**यां मन्यते पतिर्मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।**
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ।।४१।।

श्लोकार्थ—पति मेरी माया को अपनी भार्या रूप में मानता है और भार्या मेरी ही माया को जो पतिरूप में भासित होती है उसे पति मानती है अथवा स्त्री में आसक्त रहने के कारण तथा अन्त में स्त्री का ही ध्यान रहने से जीव को स्त्री योनि प्राप्त होती है इस तरह स्त्री योनि को प्राप्त हुआ जीव पुरुष रूप में प्रतीत होने वाली मेरी माया को ही धन, पुत्र और गृह आदि देने वाला अपना पति मानता रहता है ।।४१।।

सुबोधिनी—यां मन्यत इति । यां मन्मायां पतिर्भार्यात्वेन मन्यते । भार्या पुनर्ऋषभायतीं पतित्वेन भासमानाम् । एवमुभयोरन्योन्यं माया । **पति**मिति पाठे स्त्रिया एष उपदेशः । ननु स्त्रिया मुक्तिर्नास्तीति किमुपदेशेनेत्यत आह—**स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्त** इति । न हि स निसर्गतः स्त्रीरूपः, किन्तु स्त्रीसङ्गतः स्त्रीत्वं प्राप्तः, तस्य पतिर्माया । **वित्तापत्यगृहप्रदमिति** पत्युर्विशेषणं संसारजननाय ।।४१।।

व्याख्यार्थ—पति जिस मेरी माया को में भार्यारूप से मानता है और भार्या पुरुष रूप में प्रतीत होने वाली मेरी माया को पति रूप मे मानती है इस तरह दोनों में अन्योन्य माया है अर्थात् पुरुष के लिये स्त्री माया और स्त्री के लिये पुरुष माया है । यदि 'पतिम्' ऐसा पाठ हो तो इस श्लोक में स्त्री को ही उपदेश है ऐसा समझना । आशंका हो कि स्त्री की तो मुक्ति होती ही नहीं तो उसे उपदेश देना व्यर्थ है इस पर कहते हैं कि 'स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तः' जीव स्वभाव से स्त्री रूप नहीं है किन्तु स्त्री के सङ्ग से वह स्त्रीपन को प्राप्त हो गया है अतः उस (जीव) का पति माया है और वह पति (माया) 'वित्तापत्यगृहप्रद' है अर्थात् वह पति स्त्री को धन, संतान और घर रूप संसार स्त्री के लिये उत्पन्न कर देता है ।। ४१ ।।

आभास—पूर्वसंस्कारवशादात्मज्ञाने वृत्ते पातिव्रत्यं स्वधर्म इति तत्परित्यागे दोषो भविष्यति नवेति शङ्का न कर्तव्या, किन्तु तं पतिमात्मनो मृत्युमेव जानीयादित्याह—

आभासार्थ—पूर्व संस्कार वश से आत्मज्ञान हो जाने पर पातिव्रत्य स्वधर्म यदि उसका परित्याग किया जायगा तो उसमें दोष होगा या नहीं ऐसी शंका न करना किन्तु उस पति को अपनी मृत्यु ही जानना ऐसा कहते हैं—

श्लोक—**तमात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम् ।**
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ।।४२।।

श्लोकार्थ—जिस प्रकार व्याध का गायन कानों को प्रिय लगने पर भी पशु-पक्षियों को फँसा कर उनके नाश का ही कारण होता है उसी प्रकार पति, सन्तान, घर आदि को विधाता की निश्चित की हुई मृत्यु ही जाने ।।४२।।

सुबोधिनी—तमात्मन इति । पतिरपत्यं गृहं च । एतदात्मकं मृत्युं तं प्रसिद्धं विजानीयात् । पूर्वमेव प्रारब्धवशादेवं जातम् । अधुनाप्येवंभावे सर्वथा नाश इति पुनः पुनः प्रवृत्तत्वात् दैवोपसादितं मृत्युं जानीयात् । नन्वनुभवेन तदनुसारिवाक्यैश्चानन्दजनकत्वमनुभूयते, तथा सति कथं मृत्युत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—**मृगयोर्गायनं** **यथेति** । यद्यपि **मृगयु**र्व्याधः मृगान् युनक्तीति धृत्वा मृगान् क्रीडति । आरण्यापेक्षया ग्राम्यानुत्तमान् भक्ष्यान् प्रयच्छति, गीतं च श्रवणसुखं करोति, तथापि बन्धकः । पारतन्त्र्यं च महद्दुःखहेतुः । अत ऐहिकं सुखं पारलौकिकं च सुखं तत्प्रसङ्गजनितं बन्धहेतुत्वादुपेक्ष्यमेवेत्यर्थः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—पति, सन्तान और घर ये ही जिसके रूप हैं उसे ही अपनी मृत्यु जानना चाहिये । पहले ही प्रारब्धवश से ऐसा हुआ है और अब भी ऐसा होने से सर्वथा नाश ही है इस तरह बार बार प्रवृत्त होने से उसे प्रारब्ध से प्राप्त मृत्यु ही जाने । यदि ऐसी आशंका हो कि जिन पति आदि को तुम मृत्यु बता रहे हो वे तो अनुभव से और उनके अनुसारी वाक्यों से आनन्द को उत्पन्न करने वाले हैं ऐसा अनुभव हो रहा है ऐसा होने पर उन्हें मृत्यु कैसे बताया इसका उत्तर देते हैं 'मृगयोर्गायन' यथा यद्यपि व्याध (शिकारी) हरिणों को पकड़ता है और उन मृगों से क्रीड़ा करता है । जङ्गल की अपेक्षा उन्हें गांव में होने वाले उत्तम पदार्थ खाने को देता है और कानों को अच्छा लगने वाला गाना भी उन्हें सुनाता है परन्तु इतना होने पर भी वह है तो बन्धक (कैद करने वाला) परतन्त्रता महान् दुःख का कारण है । अतः ऐहिक (लौकिक) सुख और पारलौकिक सुख जो इनके प्रसङ्ग से उत्पन्न होते हैं वे सब बन्धन के हेतु हैं अतः उनकी उपेक्षा करनी चाहिये ।।४२।।

आभास—एवं सङ्गदोषं सर्वं निरूप्य देहदोषं निरूपयति—देहेनेति चतुर्भि—

आभासार्थ—इस तरह सब सङ्गदोषों का निरूपण कर देह दोष का निरूपण चार श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—**देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।**
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ।।४३।।

श्लोकार्थ—जीव के उपाधिभूत लिङ्ग देह के द्वारा पुरुष एक लोक से दूसरे लोक में जाता है और अपने प्रारब्ध कर्मों को भोगता हुआ निरन्तर अन्य देहों की प्राप्ति के लिये दूसरे कर्म करता रहता है ।।४३।।

कारिका—**नित्यास्मात् संसृतिः पुंसस्तथापि वशगो ह्ययम् ।**
दोषार्थमेव तच्चापि न द्वाभ्यां साधनं क्वचित् ।।१।।

कारिकार्थ—देह दोष से ही इस जीव को नित्य संसार होता है तथापि यह उसी के वश में रहता है। वह वश में रहना भी दोष के लिये है इन दोनों से कोई साधन भी नहीं होता है। ।।१।।

सुबोधिनी–आदौ देहकृत एवास्य संसार इत्याह–जीवस्थानं प्राप्तेन देहेन लोकाल्लोकान्तरमनुव्रजन् कर्मफलंभुञ्जान एवाविरतं कर्माणि करोति। दोषत्रयं देहस्य निरूपितम्, निरन्तरं परिभ्रमणेन नैकत्र स्थिति; कर्मफलभोगः, कर्मकरणं चेति। अन्ते कर्मनिरूपणात् पुनरावृत्तिरप्युक्ता ।।४३।।

व्याख्यार्थ—सर्वत्रः प्रथम इस को संसार देहकृत ही है इसे कहते हैं। जीव स्थान को प्राप्त देह (लिङ्ग शरीर) से एक लोक से दूसरे लोक में जाता है और कर्म के फल को भोगता हुआ निरन्तर कर्मों को करता है। इससे देह के तीन दोषों का निरूपण किया (१) निरन्तर घूमना एक जगह न रहना। (२) कर्मफल का भोग (३) कर्म का करना। अन्त में कर्म का निरूपण किया है इससे देह की पुनरावृत्ति का भी निरूपण होता है ।।४३।।

आभास—दोषार्थं चाऽयं वशे जात इत्याह—

आभासार्थ—दोष के लिये यह वश में हुआ है इसे कहते हैं—

श्लोक—**जीवस्य ह्यनुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।**
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु संभवः ।।४४।।

श्लोकार्थ—जीव का उपाधिभूत लिङ्ग शरीर तो मोक्ष पर्यन्त उसके साथ रहता है तथा भूत इन्द्रिय और मन का कार्य रूप स्थूल शरीर इसका भोगाधिष्ठान है। इन दोनों का परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणी की मृत्यु है और दोनों का साथ-साथ प्रकट होना जन्म कहलाता है ।।४४।।

सुबोधिनी–जीवस्येति। भूतेन्द्रियमनोमयः आधिभौतिकादिरूपः चैतन्यव्यतिरेकेण न समर्थो भवतीति चिद्रूपस्य जीवस्यानुगो भवति। युक्तश्चायमर्थः। अचेतनो हि चेतनमपेक्षत इति। तथात्वे दोषमाह–**तन्निरोधं** इति। जन्ममरणे दोषः, तत्र मरणस्य स्वरूपमाह–**तन्निरोधोऽस्य मरणमिति। अस्य जीवस्य तन्निरोधो** देहनिरोधो मरणम्। नितरां रोधः सजातीयप्रवाहानुत्पादनम्। सूक्ष्मैस्तदवयवैर्ध (?) मन्तिरसहकृतैः पश्चात्सन्तत्यन्तरोत्पादनम्। इन्द्रियमनसामपि विशिष्टानां भिन्नत्वादन्यत्वमेव। तस्मिन्निरुद्धे तदभिमानात् मृङ् प्राणत्याग इति धातोर्येन प्रयत्नेन धृतः प्राणः स प्रयत्नः शरीरादिसाध्यो भवतीति तेषु निरुद्धेषु प्रयत्नोऽपि गच्छतीति योगस्तथा निरुक्तः। कालकर्मस्वभावानां तत्तद्देवाधिष्ठितानां नियामकत्वादप-

मृत्युप्रभृतीनां व्यवस्था। उत्पत्तेः स्वरूपमाह– **आविर्भावस्तु सम्भव इति**। यो देहस्याविर्भावः स एव जीवस्य सम्भव उत्पत्तिरित्यर्थः। सर्वत्र हि भगवत्स्वरूपे सर्वे पदार्थाः सन्तीति पूर्व-मुक्तम्। यत्र यावद्दूरे पदार्थानाविर्भावयति, तावदाविर्भवन्ति। यत्र पुनः कारणेषु निविष्टो देहमाविर्भावयति तत्राविर्भवतीति तथोक्तम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—यह देह भूतेन्द्रिय मनोमय है अर्थात् आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधि-दैविक रूप है। चैतन्य के बिना वह देह किसी कार्य के करने में समर्थ नहीं होती इसलिये वह चैतन्य रूप जीव के पीछे लगी रहती है। यह उचित भी है। अचेतन (देह) चेतन की अपेक्षा रखती है। ऐसा होने से जो दोष होता है उसे कहते हैं 'तन्निरोधोऽस्य मरणम्' जन्म मरण में दोष आता है उसमें मरण का स्वरूप यह बताते हैं देह का निरोध होना ही जीव का मरण है। नितरांरोध को 'निरोध' कहते हैं अर्थात् सजातीय प्रवाह की उत्पत्ति न होना निरोध है। धर्मान्तर से सहकृत सूक्ष्म उसके अवयवों से उसके आगे किसी की उत्पत्ति न होना निरोध है। भूतविशिष्ट* इन्द्रिय और मन से ये अलग ही हैं ये तो अन्य ही हैं। देह के निरुद्ध होने पर देहाभि-मानी जीव की मृत्यु कही जाती है। 'मृङ्' धातु का प्राण त्याग अर्थ है अतः जिस प्रयत्न के द्वारा प्राण धारण होता है वह प्रयत्न शरीर आदि से ही साध्य होता है अर्थात् शरीरादि से ही प्राण का धारण होता है, जब शरीर आदि का निरोध हो जाने पर उनका प्रयत्न भी चला जाता है तब उसकी मृत्यु कही जाती है। तथापि अन्य शास्त्रों में देह और प्राण का वियोग होना ही मृत्यु है परन्तु सूक्ष्म विचार से देखा जाय तो शरीरादि में जब प्राण धारण का प्रयत्न नहीं रहता तो उसे ही मृत्यु कहते हैं। जिसकी अपमृत्यु होती है वहाँ तो शरीरादि में प्राण धारण प्रयत्न रहता है वहाँ क्यों मृत्यु होती है उसकी व्यवस्था ऐसे समझना कि काल कर्म और स्वभाव ये अपने-अपने देवताओं के अधिकार मे हैं और ये ही उनके नियामक हैं इस लिये उनकी बलिष्ठता से देह का प्रयत्न रहते हुए भी उसकी मृत्यु हो जाती है। इस तरह मृत्यु का स्वरूप बताकर अब उत्पत्ति का स्वरूप बताते हैं 'आविर्भावस्तु सम्भवः देह' का जो आवि-र्भाव है उसे ही जीव की उत्पत्ति कहते हैं सब जगह भगवत्स्वरूप में सब पदार्थ हैं यह पहले कहा जा चुका है। अतः जहाँ जितनी दूरी पर पदार्थों को भगवान् प्रकट करना चाहते हैं वहीं पर उसी जगह उनका आविर्भाव (प्रकट) होता है और जहाँ कारणों में निविष्ट (रहने वाले) देह का भगवान् आविभाव करना चाहते हैं वहीं पर वह आविर्भूत (प्रकट) होता है इस तरह उत्पत्ति कही गई है ॥४४॥

आभास—ननु देहोत्पत्तिप्रलयाभ्यां जीवस्य तथात्वं कथमिति चेत्तत्राऽऽह—

---

* मन अन्नमय है जैसा कि श्रुति में बताया है 'अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्'। हे सौम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमय है इसी न्याय से इन्द्रियों की भी वृद्धि और उत्पत्ति में भी इनको देह से भिन्न समझना चाहिये—(प्रकाश)

आभासार्थ—शंका होती है कि जब उत्पत्ति और प्रलय (मरण) देह का होता है तो जीव की उत्पत्ति अथवा मृत्यु क्यों कही जाती है उस पर कहते हैं—

श्लोक—द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।
तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—द्रव्यों की उपलब्धि (प्राप्ति) के स्थान रूप इस स्थूल शरीर में जब उनके ग्रहण करने की योग्यता नहीं रहती यह उसका मरण है और स्थूल शरीर ही 'मैं हूँ' इस अभिमान के साथ उसे देखना उसका जन्म है ॥४५॥

सुबोधिनी—द्रव्योपलब्धिस्थानस्येति । द्रव्याणां रूपादीनामुपलब्धेर्ज्ञानस्य **यत्स्थानं** गोलकरूपम्, तस्य यदा द्रव्येक्षायोग्यता द्रव्येक्षायामयोग्यता काचकामलादिभिर्भवति, तदैव चक्षुषोऽप्ययोग्यता भवति, तदैव द्रष्टुरपि । गोलके आच्छन्ने प्रमाणप्रमात्रोरप्ययोग्यता । तदाह—**द्रष्टृत्वायोग्यतानयोरिति** । दर्शनकरणत्वं कर्तृत्वं च । अनयोः करणकर्त्रोरयोग्यतेत्येकश्लोकपाठेऽर्थः । श्लोकद्वयपाठे तु **द्रव्योपलब्धिस्थानस्य** सर्वद्रव्यव्यवहारसाधकस्य देहस्य यदा **द्रव्येक्षायां** सर्वद्रव्यव्यवहारे अयोग्यता **तत्पञ्चत्वं** मरणमित्यर्थः । यस्य यः स्वभावः स चेत्सर्वात्मना निवृत्तः, तदा कारणे लीन इति ज्ञातव्यम् । तथा पञ्चभूतेभ्यः आविर्भूतो देहः स्वकार्यं चेन्न करोति, तदा कारणत्वात् पञ्चत्वमेव । जीवस्य तु तथात्वमहंमानात् । **द्रव्यदर्शनं** द्रव्याणामुपलम्भः श्वासादिकार्यकरणसामर्थ्यम्; सैव देहस्योत्पत्तिः । मध्ये प्रविश्याभिमानाज्जीवस्य च ॥४५॥

व्याख्यार्थ—रूप, रस आदि द्रव्य हैं उनकी उपलब्धि ज्ञान का जो स्थान गोलकरूप है उसमें जब द्रव्य को देखने की योग्यता नहीं होती है जैसे चक्षु में काच (मोतिया) कामला आदि होता है तब नेत्र में देखने की योग्यता नहीं रहती । तब देखने वाले की भी योग्यता नहीं रहती । गोलक के आच्छन्न (आवृत) हो जाने पर प्रमाण में और प्रमाता में दोनों में अयोग्यता हो जाती है उसी को 'दृष्टृत्वा योग्यतानयोः' से कहा है अर्थात् देखने में जो देखने वाला है उसकी और देखने में सहायक जो नेत्र हैं उन दोनों में देखने की योग्यता नहीं रहती । करण (नेत्र) और कर्त्ता इन दोनों में अयोग्यता होती है । यह एक श्लोक पाठ रखने पर अर्थ होता है जब दो श्लोकों का पाठ रखते हैं तो उस समय 'सब द्रव्य व्यवहार के साधक देह की जब द्रव्य को देखने में सर्व द्रव्य व्यवहार में अयोग्यता होती है उसे मरण कहा जाता है' ऐसा अर्थ होता है । जिसका जो स्वभाव होता है वह यदि सर्वात्मरूप से निवृत्त हो जाता है तब वह कारण में लीन हो गया है ऐसा जानना चाहिये । उसी तरह पञ्चमहाभूतों से आविर्भूत यह देह अपना काम नहीं करता तब वह अपने कारणपन में आ जाता है अर्थात् देह पृथिवी आदि पाँच भूतों से आविर्भूत होता है और काम करने लगता है जब काम करना बंद कर देता है तो पुनः अपने कारण रूप में हो जाता है पञ्चता को प्राप्त हो जाता है । जीव की मृत्यु तो वह अपने को देहरूप मानता है इस अहंत्व के कारण होती है । और जब द्रव्यों की उपलब्धि होती है उसमें श्वास आदि कार्य करने की सामर्थ्य आ जाती है उसे ही देह की उत्पत्ति कहा

जाता है । शरीर में प्रवेश करके शरीर के अभिमानी जीव की भी उत्पत्ति कही जाती है ॥ ४५ ॥

आभास—तत्र दृष्टान्तमाह—

आभासार्थ—उसमें दृष्टान्त कहते हैं—

श्लोक—**यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा ।**
तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥४६॥

श्लोकार्थ—नेत्रों में जब किसी दोष के कारण रूपादि को देखने की योग्यता नहीं रहती तभी उनमें रहने वाली चक्षु इन्द्रिय भी रूप देखने में असमर्थ हो जाती हैं । और जब नेत्र और उनमें रहने वाली इन्द्रिय दोनों ही रूप देखने में असमर्थ हो जाते हैं तभी इन दोनों के साक्षी जीव में भी वह योग्यता नहीं रहती ॥४६॥

सुबोधिनी—यथाक्ष्णोरिति । अक्ष्णोर्गोलकयोः द्रव्यावयवस्य रूपादेः यदैव दर्शनायोग्यता, काचकामलादिभिस्तदैव चक्षुष इत्यादि पूर्ववत् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—आँखों के दोनों गोलकों में द्रव्य के अवयव जो रूपादि हैं उनको देखने की जब उसमें योग्यता नहीं रहती काच कामला आदि तभी आँख को रूप दर्शन में अयोग्यता होती है इसकी स्पष्टता पूर्व श्लोक की व्याख्या में आ गई है ॥४६॥

आभास—एवं सर्वेषां बाधकत्वे किं कर्तव्यमिति चिन्तां परिहरन् शास्त्रार्थमुपसंहरति–तस्मादिति द्वयेन त्याज्यकर्तव्यभेदेन । तत्र प्रथमं त्याज्यमाह—

आभासार्थ—इस तरह सबके बाधक होने पर क्या करना चाहिये इस चिन्ता का परिहार करते हुए शास्त्रार्थ का त्याज्य और कर्त्तव्य इस भेद से दो श्लोकों में उपसंहार करते हैं उनमें पहले त्याज्य को कहते हैं—

श्लोक—**तस्मान्न कार्यः संत्रासो न कार्पण्यं न संभ्रमः ।**
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥४७॥

श्लोकार्थ—अतः मुमुक्षु को मरण आदि से भय, दीनता अथवा मोह नहीं होना चाहिये । उसे जीव के स्वरूप को जानकर धीरता से निःसंग भाव से विचरण करना चाहिये ॥४७॥

सुबोधिनी—तस्मादिति। त्रयं त्यक्तव्यम्, भयं, दैन्यं, संभ्रमश्च। उत्तालता संभ्रमः। देहादीनां पूर्वमेव सिद्धत्वात्तत्कार्यबाधनमपि पूर्वमेवानुवर्तत इत्यङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषायेति न्यायेन भयं त्यक्तव्यम्। एते दुष्टास्त्याज्या एवेति, एतन्निर्वाहार्थं कार्पण्यमपि त्यक्तव्यम्। एतद्बाधकानामस्मन्मित्रत्वात् स्वस्य कर्तव्याभावात् का उत्तालता। जीवस्य गतिरुक्तैव, अतो जीवगतिं बुद्ध्वा देहगतिदोषातिक्रमं सोढ्वा, धीरो भूत्वा, बाधकं सङ्गं त्यक्त्वा चरेन्नैकत्र तिष्ठेदित्यर्थः ॥४७॥

व्याख्यार्थ—भय, दीनता और संभ्रम इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये। संभ्रम का अर्थ है उत्तालता (उत्कण्ठा) देह आदि तो पहले ही सिद्ध है तो उनके कार्य का बाध भी पहले ही उनका अनुवर्तन करता है इस तरह अङ्गीकार की हुई ग्लानि दोष जनक नहीं है इसलिये भय छोड़ देना चाहिये। ये दुष्ट तो छोड़ने ही के योग्य हैं इसके निर्वाह के लिये दीनता का भी परित्याग करना चाहिये। इसके जो बाधक हैं वो हमारे मित्र है इसलिये उनके प्रति मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है इसलिये मेरी उत्तालता किसलिये है जीव की गति कही जा चुकी है। अतः जीव गति को जानकर देह गति के दोषों का अतिक्रमण सहन करके धीर होकर बाधक संग का परित्याग करके विचरण करे एक जगह स्थिर न रहे ॥४७॥

आभास—एवं बहिः स्थितिरुक्ता। अन्तः स्थितिमाह—

आभासार्थ--इस तरह बाह्य स्थिति कही गई अब अन्तः स्थिति को कहते हैं—

श्लोक—**सम्यग्दर्शनया बुद्धया योगवैराग्ययुक्तया।**
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—इस माया मय संसार में योग वैराग्य युक्त सम्यग् ज्ञानमयी बुद्धि से शरीर को लोकानुसारी करके उसके प्रति अनासक्त रहते हुए विचरण करना चाहिये ॥४८॥

सुबोधिनी—सम्यगिति। सम्यगात्मदर्शनं यस्याम्। तस्या बुद्धेर्योगो वैराग्यं चाङ्गम्। तया स्वात्मानं स्थिरीकृत्य मायया विशेषेण रचिते लोके कलेवरं **न्यस्य** लोकानुसारिणं कृत्वा **स्वयं चरे**दुदासीनो भवेदित्यर्थः ॥४८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे एकत्रिंशाध्यायविवरणम्।

व्याख्यार्थ—सम्यग् (अच्छी तरह) से है आत्मदर्शन (ज्ञान) जिसमें उस बुद्धि के योग और वैराग्य अङ्ग हैं। उस बुद्धि से अपनी आत्मा को स्थिर करके माया के द्वारा विशेष रूप से रचित लोक में इस कलेवर (शरीर) को न्यस्य (लोकानुसारी) करके स्वयं उदासीन होकर विचरण करे ॥४८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के इकतीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (जीव मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—३२

गृहस्थी के धर्म

कारिका—**कालस्य बाधकत्वे हि निषिद्धात् फलमीरितम् ।**
निषिद्धरूपता चोक्ता पुण्यस्य फलमीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—काल बाधक होने से निषिद्ध है उस निषिद्ध से होने वाले फल को कहा तथा उसकी निषिद्ध रूपता कही । अब पुण्य का फल कहा जाता है ॥१॥

कारिका—**त्रिविधस्यापि धर्मस्य द्वात्रिंशे फलमुच्यते ।**
ज्ञानं मुख्यं फलं तस्य ससाधनमिहोच्यते ॥२॥

कारिकार्थ—धर्म तीन प्रकार का है उस तीन प्रकार के धर्म का फल बत्तीसवें अध्याय इस में कहा गया है । उसका मुख्य फल ज्ञान है । उसको साधन सहित यहाँ कहा गया है ॥२॥

कारिका—**अधोगतिर्मध्यगतिः पूर्वमत्र निरूपिता ।**
उत्तमा मोक्षपर्यन्तं यथा स्यात्तदिहोच्यते ॥३॥

कारिकार्थ—पहले इसमें अधोगति और मध्यगति का निरूपण है उत्तम गति मोक्ष पर्यन्त जिस तरह होती है वह यहाँ कही जायगी ॥३॥

आभास—तत्र प्रथमं तामसधर्मं सफलमाह चतुर्भिः—

आभासार्थ—उनमें पहले फल सहित तामस धर्म को चार श्लोकों से कहते हैं—

कपिल उवाच—श्लोक—**अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन्गृहे ।**
काममर्थं च धर्मान्स्वान्दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री कपिलदेव जी कहते हैं, माताजी ! जो पुरुष घर में रह कर सकाम भाव से गृहस्थ के धर्मों का पालन करता है और उनके फल स्वरूप अर्थ एवम् काम का उपभोग करके फिर उन्हीं का अनुष्ठान करता रहता है ।।१।।

कारिका—**पुरुषार्थत्रयं तस्य तदर्थं साधनं परम् ।**
फलं च तादृशं तस्य तस्य नाशश्च वर्ण्यते ।।१।।

कारिकार्थ—'तामस धर्म के धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ हैं और उन पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये परम साधन का वर्णन है। उसको फल भी वैसा ही प्राप्त होता है तथा उस फल के नाश का वर्णन है ।।१।।'

सुबोधिनी—अथेति । प्रथमं स्वरूपमाह—**अथेति** । ऊर्द्ध्वगतित्वाद्भिन्नः प्रक्रमः । यो गृहमेधीयानेव धर्मानाचरति; आश्रमधर्मा अपि गृहस्थानुगुणा इति गृहमेधीयानेवेत्युक्तम् । **धर्मानेवे**ति निषिद्धव्यावृत्तिः । **आवसन्नि**त्युभयत्र सम्बन्धः । धर्मात्मा गृहे तिष्ठान्निति । सुतरां काम्यकर्मपर इत्याह—**धर्ममर्थं च कामं च** । धर्मे बहुवचनम्, पश्चान्निरूपणं च, तस्य मोक्षोपयोगमपि ज्ञापयितुम् । यथाऽन्नं भुक्त्वा कृष्याद्यन्नमुत्पादयति । धनेन धनं वर्द्धयति । धर्मेणापमृत्युं दूरीकृत्य पुनर्धर्मं वर्द्धयतीति तथा तं **पिपर्ति** पूरयति ।।१।।

व्याख्यार्थ—पहले तामस धर्म का स्वरूप कहते हैं। ऊर्ध्व गति होने से यहाँ क्रम बदल गया है अतः उसको बताने के लिये 'अथ' शब्द दिया है । जो गृहस्थ धर्मों का ही आचरण करता है। आश्रम धर्म भी गृहस्थ के अनुगुण हैं इसलिये 'गृहमेधीयानेव' ऐसा कहा । गृहस्थ धर्मों का आचरण निषिद्ध नहीं है इसको बताने के लिये 'धर्मानेव' ऐसा पद दिया है। 'आवसन्' पद का सम्बन्ध 'गृहमेधीयान्' और 'धर्मान्' इन दोनों के साथ है। धर्मात्मा घर में रहते हुए जो काम्य-कर्म ही करता है उसे कहते हैं धर्म-अर्थ-कामं च, धर्म को काम और अर्थ के बाद में कहा एवम् उसमें बहुवचन का निर्देश किया उसका तात्पर्य यह है कि धर्म मोक्ष में भी उपयोगी है। जैसे खेती आदि अन्न का (बीज का) भक्षण करके फिर अन्न को उत्पन्न करती है इसी तरह धन से धन को बढाता है। धर्म से अपमृत्यु (असमय में होने वाली मृत्यु) को दूर करके फिर धर्म को बढाता है उसी तरह उनको पूर्ण करता है ।।१।।

आभास—एवं धर्मार्थकामपरोऽपि तद्विषयत्वेन भगवत्परश्चेत्तदापि न काचिच्चिन्ता, भगवत एव मोक्षपर्यवसानात् । अतस्तादृशोऽपि भगवद्वैमुख्येनैव सर्वं करोतीत्याह—

आभासार्थ—इस तरह धर्म, अर्थ और काम में तत्पर रहता हुआ भी यदि उन्हीं धर्म अर्थ काम से भगवत्पर हो तब तो कोई चिन्ता नहीं क्योंकि मोक्ष का पर्यवसान तो भगवान् ही हैं। अतः जो गृहस्थ धर्म अर्थ काम परक होते हुए भी भगवान् से विमुख होकर ही सब करता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः ।**
यजते क्रतुभिर्देवान् पितॄंश्च श्रद्धयान्वितः ।। २ ।।

श्लोक—**तच्छ्रद्धया क्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।**
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ।। ३ ।।

श्लोकार्थ—और वह कामनाओं से मोहित होने के कारण भगवद्धर्मों से विमुख हो जाता है और यज्ञों के द्वारा श्रद्धा पूर्वक देवता तथा पितरों की आराधना करता रहता है उसकी बुद्धि उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त रहती है देवता और पितर ही उसके उपास्य रहते हैं अतः वह चन्द्र लोक में जाकर उनके साथ सोमपान करता है। और पुण्य क्षीण होने पर इसी लोक में पुनः लौट आता है ।। २-३ ।।

सुबोधिनी—स चापीति । भगवान् कामं दूरीकरोतीति कामरक्षार्थं भगवत्परित्यागः, कामेन विवेकाभावो वा । भगवद्धर्मेषु भगवानेव सेव्यो न त्वन्यः । तद्वैमुख्यात् नानाविधैः क्रतुभिर्देवान् पितॄंश्च यजते । सर्वत्राग्निहोत्रादिकर्मसु देवेषु पितृषु च तृप्तिर्भवतीति तदर्थं यः कर्माणि करोति स राजस इति । वस्तुतो देवादिश्रद्धया क्रान्तमतिः पितृदेवसन्तर्पणमेव व्रतं यस्य तादृशस्तैः साधितं फलं प्राप्नोतीत्याह—**गत्वेति** । **चान्द्रमसं** लोकं गत्वा पञ्चाग्निविद्यया पुनरिहैवेष्यति । **सोमपा** इति न सोमव्यतिरिक्तयागैरिदं फलं सिध्यतीत्युक्तम् ।।२।।३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् काम को दूर कर देते हैं इसलिये काम की रक्षा के लिये भगवान् को छोड़ देते हैं अथवा काम से उनका विवेक नष्ट हो जाता है। भगवद्धर्मों में भगवान् सेव्य (उपास्य) होते हैं अन्य उपासना का विषय नहीं होता। भगवान् से वहिर्मुख होने के कारण ही अनेक प्रकार के यज्ञों से देवताओं और पितरों की उपासना करते हैं सब जगह अग्नि होत्र आदि कर्मों में देवताओं एवम् पितरों की तृप्ति होती है इसलिये उनके लिये जो कर्म करता है वह राजस है। वास्तव में तो देवता आदि की श्रद्धा से जिसकी बुद्धि आक्रान्त है (घिरी हुई है) वह पितरों एवम् देवताओं की तृप्ति जिससे हो ऐसा जिसका कर्म है उस प्रकार के कर्मों से साधित फल को वह प्राप्त करता है। वह चन्द्रलोक को जाकर पुनः पञ्चाग्निविद्या से यहाँ आ जाता है। सोमपाः का तात्पर्य यह है कि सोमयाग से अतिरिक्त अन्य यज्ञ से यह फल सिद्ध नहीं होता ।।२-३।।

आभास—तस्य फलस्य परिमितकालत्वमाह—

आभासार्थ—उसका फल परिमित (निश्चित) काल तक ही होता है—

श्लोक—**यर्दैवाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः ।**
तदा लोकाः क्षयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ।।४।।

श्लोकार्थ—जिस समय प्रलय काल में शेषशायी भगवान् शेषशय्या पर शयन करते हैं उस समय सकाम गृहस्थाश्रमियों को प्राप्त होने वाले ये सब लोक भी लीन हो जाते हैं ।। ४ ।।

सुबोधिनी–यदैवेति । यदैव भगवान् शेते, तदैव तेषां लोकाः क्षयं यान्ति । तच्छयनं वर्षास्वपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह–**अहीन्द्रशय्यायामिति** । शेषशायी तदैव शेते । संवत्सरान्तेऽपि तादृशः प्रलयो भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह–**अनन्तासन** इति । **हरिरिति** भगवच्छयनं सर्वसुखार्थम् । तदा गृहमेधिनां लोकाः क्षयं यान्ति । तेषामेव लोकानां क्षयो न तु त्रिलोक्याः ।४।।

व्याख्यार्थ—जब भगवान् शयन करते हैं तभी उनके लोकों का क्षय हो जाता है भगवान् का शयन तो वर्षाकाल (चतुर्मास) में भी होता है यहाँ वह शयन नहीं समझना किन्तु भगवान् जब शेष की शय्या पर शयन करते हैं तब एक वर्ष के अन्त में भी वैसा प्रलय होता है वह भी न लिया जाय इसके लिये अनन्तासन ऐसा कहा गया है । अनन्त का आसन जब भगवान् ग्रहण करते हैं तब लोक का क्षय होता है ।भगवान् को हरि इसलिये कहा गया है कि उनका सोना सबके सुख के लिये होता है । तब इन गृहस्थियों के लोकों का क्षय हो जाता है । केवल उनके ही लोकों का क्षय होता है त्रिलोकी का क्षय नहीं होता ।।४।।

आभास—अथ सात्त्विकानां निष्कामानां धर्मं सफलमाह—

आभासार्थ—अब यहाँ से निष्काम सात्विकों के धर्म को तथा उसके फल को कहते हैं—

श्लोक—**ये स्वधर्मं न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे ।**
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धमेधसः ।।५।।

श्लोकार्थ—जो अपने धर्म का अर्थ और भोग विलास के लिये उपयोग नहीं करते किन्तु भगवान् की प्रसन्नता के लिये ही उनका पालन करते हैं वे संग रहित कर्मों में अनासक्त प्रशान्त शुद्ध चित्त हैं ।। ५ ।।

सुबोधिनी–ये स्वधर्ममिति । फलार्थं धर्मं कृत्वा देहादिकं प्रसाद्य तेन पुनर्न धर्मं कुर्वन्ति सोऽदोहः । अपेक्षिताकरणे हेतुः–**धीरा इति** । धर्मार्थं तु धर्मं दुहन्त्येव, अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह–

कामार्थहेतव इति । कामः अर्थश्च हेतुः धर्मदोहे तादृशं धर्मदोहं न कुर्वन्ति । तेषां निवृत्तिधर्मेऽधिकारमाह—**निःसङ्गा** इति । बहिःसङ्गपरित्यागः, तत्सङ्गेन च यानि कर्माणि क्रियन्ते तेषामपि परित्यागः । अन्यथा सापेक्षत्वादन्यतरपरित्यागो न सम्भवति । **प्रशान्ताश्चेति** इन्द्रियविक्षेपाभावः, रजोगुणाभाव उक्तः । विवेकवती शुद्धा मेधा येषाम् । एवं साधनचतुष्टयमुक्तम्, वैराग्यम्, संन्यासः, योगः, साङ्ख्यश्चेति ।।५।।

व्याख्यार्थ—फल प्राप्ति के लिये धर्म करके देह आदि का प्रसादन करके उससे फिर धर्म नहीं करते उसे 'अदोह' कहा गया है। उनको धीर इसलिये कहा गया है कि वे अपेक्षित को भी नहीं करते हैं। धर्म के लिये तो धर्म का दोहन करते ही हैं अतः धर्म की व्यावृत्ति के लिये ही 'कामार्थ हेतवे' ऐसा कहा जो काम और अर्थ के लिये धर्म का दोहन (उपयोग) नहीं करते हैं। अर्थात् धर्म का काम एवम् अर्थ के लिये जो उपयोग होता है ऐसा धर्म दोह वे नहीं करते। 'निःसङ्गाः' से उनका निवृत्ति धर्म में अधिकार बताया है। बाहर जो सङ्ग का परित्याग होता है उसमें बाह्य संग से जितने भी कर्म किये जाते हैं उनका भी परित्याग होता है। अन्यथा सापेक्ष होने से उनमें किसी एक का परित्याग सम्भव नहीं अर्थात् परित्याग साथ ही में होता है। प्रशान्त का अर्थ इन्द्रियों में विक्षेप का अभाव इन्द्रियों में विक्षेप रजोगुण से होता है यदि उनमें विक्षेप न हो तो यह स्पष्ट है कि उनमें रजोगुण का अभाव है। 'शुद्धमेधसः का विग्रह वाक्य शुद्धामेधायेषाम् ऐसा है इसका अर्थ है विवेक वाली बुद्धि जिनमें है उनको शुद्धमेधसः कहते हैं इस तरह इन चार पदों से चार साधन कहे वे ये हैं—(१) वैराग्य (२) संन्यास (३) योग और (४) सांख्य ।।५।।

आभास—तदनन्तरधर्माभावे पातित्यं स्यादिति तद्धर्मनिरूपणपूर्वकं दोषत्रयाभावमाह—

आभासार्थ—उसके अनन्तर धर्म के अभाव में पातित्य हो जायगा इसलिये उस धर्म के निरूपण पूर्वक तीन दोषों का अभाव कहते हैं—

श्लोक—**निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहंकृताः ।**
स्वधर्माख्येन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ।। ६ ।।

श्लोक—**सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।**
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ।। ७ ।।

श्लोक—**द्विपरार्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।**
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ।। ८ ।।

श्लोकार्थ—निवृति धर्म परायण ममता रहित और अहङ्कार शून्य पुरुष स्वधर्म पालन रूप सत्व गुण के द्वारा सर्वथा शुद्ध चित्त हो जाते हैं। वे अन्त में सूर्य

मार्ग के द्वारा सर्वव्यापी पूर्ण पुरुष श्री हरि को ही प्राप्त होते हैं। जो काल आदि के एवं ब्रह्मा आदि के नियन्ता हैं जगत् के उपादान कारण और उसकी उत्पत्ति पालन एवं संहार करने वाले हैं जो लोग परमात्म दृष्टि से हिरण्य गर्भ की उपासना करते हैं वे दो परार्द्ध में होने वाले ब्रह्मा जी के प्रलय पर्यन्त उनके सत्यलोक में ही रहते हैं ॥६-८॥

सुबोधिनी–निवृत्तेति । निवृत्तिधर्मा वैराग्योपाधयः, भगवद्धर्माः; चतुर्थाश्रमधर्माश्च । तत्र **निरता** इति तद्धर्मैरेव नित्यसिद्धिः । अहंममेतिदोषद्वयाभावमाह–**निर्ममा निरहङ्कृता इति** । अन्तःकरणाशुद्धिश्च महान् दोष इति साधनपूर्वकं तदभावमाह–**स्वधर्माख्येनेति** । **स्वधर्माः** दास्यरूपाः, निवृत्तिधर्मास्तूक्ता एव । अत एव स्वधर्म इत्याख्या यस्य । तादृशेन **सत्त्वेन** गुणेन परितः शुद्धेन चेतसा । एवं ज्ञानकर्मणोः फलम्–**सूर्यद्वारेणेति** । **पुरुषं** प्रकृतेः परम् । ब्रह्माण्डात्मकं व्यावर्त्तयति–**विश्वतोमुखमिति** । सर्वतोमुखः साकारात्मा । ततोऽपि पुरुषोत्तमं यान्तीति तमेव पुरुषोत्तमं विशिनष्टि–**परे** कालादयः **अवरे** ब्रह्मादयः, तेषां नियन्ता सर्वस्यापि समवायी । अस्योत्पत्त्यादिनिमित्तं च । साकारं च नियन्तारं समवायिनिमित्तकम् । तेषां कालनियममाह–**द्विपरार्द्धावसान** इति । **तु**शब्दः कल्पान्तरव्यावृत्त्यर्थः । ते तावत् **परस्य** ब्रह्मणो लोकमध्यासते । यतस्ते **पराचिन्तकाः**, पुरुषोत्तमत्वेन चिन्तयन्ति; परस्य भगवतो वा ॥६–८॥

व्याख्यार्थ—निवृत्ति धर्म (वैराग्य जिनकी उपाधि है) वे धर्म भगवद्धर्म और चतुर्थ आश्रम के धर्म उनमें जो लगे रहते हैं उनको उन्हीं धर्मों से नित्य सिद्धि होती है। निर्ममा और निरहङ्कृताः से अहंता और ममता ये दो दोष जिनमें नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्तःकरण की अशुद्धि भी महान् दोष हैं उनका भी उनमें साधन पूर्वक अभाव है उसको स्वधर्माख्येन से बताया है। दास्य रूप धर्म स्वधर्म है निवृत्ति धर्म तो पहले ही कहे जा चुके हैं। इसीलिये स्वधर्म है आख्या (नाम) जिसका इस प्रकार के सत्व गुण से सब ओर से शुद्ध चित्त से इस तरह के ज्ञान का और कर्म का फल सूर्य द्वारगति से कहते हैं वे सूर्यमार्ग से प्रकृति से पर पुरुष को (प्राप्त करते हैं) ब्रह्माण्डात्मक पर पुरुष को नहीं लेना किन्तु जो विश्वतोमुखम् सर्वत्र जिसके मुख हैं साकारात्मक है उससे भी 'पर' जो पुरुषोतम है उसको प्राप्त होते हैं उस पुरुषोत्तम का विशेषण दिया है परावरेशं पर से तो काल आदि लिये जाते हैं और अवर से ब्रह्मा आदि लिये जाते हैं उनके भी जो नियन्ता हैं और जो सबका समवायी कारण है इन सब की उत्पत्ति आदि का तथा सबका निमित्त कारण भी है। साकार और इनका नियामक समवायी और निमित्त कारण हैं। उनके काल का नियम बताने के लिये द्विपरार्द्धावसाने कहा दो परार्द्ध में जिनका अवसान होता है 'तु' शब्द यहाँ अन्य कल्प की व्यावृत्ति के लिये दिया है वे 'पर' जो ब्रह्मा है उनके लोक में निवास करते हैं। क्योंकि वे पुरुषोत्तमरूप से अन्य का चिन्तन करते हैं। अथवा 'पर' जो भगवान् है उनका चिन्तन करते हैं ॥ ६-७-८ ॥

आभास—भगवद्भक्तानामेव तादृशधर्मयुक्तानां पुरुषोत्तमप्राप्तिः; नान्येषामिति वक्तुमन्येषां प्रकृतावेव लयमाह–**क्ष्माम्भोऽनलेति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ—जो भगवान् के भक्त हैं उन्हीं को एवम जो उस प्रकार के धर्म से युक्त हैं उनको पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है अन्यों को नहीं इस बात को कहने के लिये अन्य का लय तो प्रकृति में ही होता है उसे दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक — **क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थभूतादिभिः परिकृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः ।**
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा कालं पराख्यमनुभूय पुनः स्वयम्भूः ।।६।।

श्लोकार्थ—जिस समय देवता आदि से श्रेष्ठ ब्रह्माजी अपने द्विपरार्द्ध काल के अधिकार को भोगकर पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश-मन-इन्द्रिय उनके विषय और अहङ्कारादि के सहित सम्पूर्ण विश्व का संहार करने की इच्छा से गुणयात्मा स्वयम्भू (ब्रह्मा) जी अपने सौ वर्ष की आयु को पूरी करके तब अव्यक्त में प्रवेश करते हैं ।।६।।

सुबोधिनी—केचित्तु परस्य ब्रह्मणः परत्वेन भगवत्त्वेन चिन्तका इति पूर्वफलमपि हिरण्यगर्भोपासकानामेवेत्याहुः—तद्भिन्नप्रक्रमे निमित्ताभावात् चिन्त्यम् । त्रैविध्यस्यैव वक्तव्यत्वाच्च । **क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्ति** पञ्च भूतानि, मनश्च इन्द्रियाणि, **अर्था** विषयाः, **भूतादिरहङ्कारस्तैः** परितः कृतम्, वृतं वा ब्रह्माण्डम्, सर्वमेव **प्रतिसञ्जिहीर्षुः** प्रतिकूलेन संहर्तुमिच्छुः । यदा भगवानेवं भवति तदा स्वयम्भूर्ब्रह्मा प्रकृतिं विशति । यर्हि गुणत्रयात्मा न तु भगवद्भक्तः । तस्य ब्रह्मत्वे फलम्—**पराख्यं कालमनुभूयेति ।** परशब्देन ब्रह्मणः शतवर्षमायुः, न तु मुक्त्यर्थं ब्रह्मा जात इति । **पुनरिति** पूर्वमपि स एवंविध एव ।।६।।

व्याख्यार्थ— किन्हीं का ऐसा कहना है कि जो 'पर' अर्थात् ब्रह्म का परत्व रूप से (भगवत्व रूप से) चिन्तन करते हैं इसलिये पूर्वकाल भी हिरण्य गर्भ ब्रह्मा के उपासकों को ही होता है ऐसा उनका कहना विचारणीय है क्योंकि उस भिन्न प्रक्रम में कोई निमित्त नहीं है और यहाँ तो त्रिविधता ही कही गई है । पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत मन इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा भूतादि से अहंकार लिया गया है । इनसे सब तरह से किये गये अथवा इनके सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जब प्रतिकूल से संहार करने की इच्छा करते हैं भगवान् जब ऐसे होते हैं तब स्वयम्भू ब्रह्मा प्रकृति में प्रवेश करते हैं । जब ब्रह्मा गुणत्रय से सम्बन्धित रहता है तो उसका प्रकृति में प्रवेश होता है और जब वह भगवद्भक्त होता है तो उसका प्रकृति में प्रवेश नहीं होता । ब्रह्मत्व होने पर उसे (ब्रह्मा को) जो फल होता है उसे 'पराख्यं काल मनुभूय' से कहा है यहाँ पर शब्द से ब्रह्मा की आयु के सौ वर्ष लिये जाते हैं । ब्रह्मा मुक्ति के लिये उत्पन्न नहीं हुए हैं, ब्रह्मा तो पहले भी इसी प्रकार के थे । इसे पुनः शब्द से बताया है ।।८।।

आभास—तत्सहचरा अपि प्रकृतावेव लीना भवन्तीत्याह—

आभासार्थ—ब्रह्मा के सहचर है वे भी प्रकृति में लीन होते हैं—

श्लोक—**एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।**
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः ।१०।

श्लोकार्थ—इस तरह अपने देह का परित्याग करके जो राग रहित योगी है और जिन्होंने प्राणायाम के द्वारा अपने मन को वश में कर लिया है वे निरभिमानी ब्रह्म के साथ अक्षरात्मक पुरुष को जो प्रकृति और पुरुष का उत्पन्न करने वाला है उसे प्राप्त करते हैं ।।१०।।

सुबोधिनी–एवं परेत्येति । ये **परेत्य** मृत्वा, लोकान्तरे वा गत्वा, **भगवन्तमनुप्रविष्टा** नारदादयोऽधिकारिणः, ये वा **योगिनः** योगाधिकारयुक्ताः । **विरागा** इति योगफलतत्फलानि निरूपितानि । तानि येषां जातानि ते तु ब्रह्मतुल्याः । अतस्तेनैव **साकं** ब्रह्मणा सह अमृतमक्षरात्मकं **पुरुषं पुराणं** पुरुषत्रयादतिरिक्तं ब्रह्मशब्दवाच्यम्, मूलभूतं **प्रधानं** प्रकृतिपुरुषोत्पादकमुपयान्ति, न तु पुरुषोत्तमे गच्छन्ति । तत्र हेतुः–**अगताभिमानाः** । न गतः अभिमानो येषाम् । वस्तुतस्तु कर्ता भगवान् । नारदादयस्तु आत्मानं मन्यन्ते । अतोऽक्षर एव लयः । पुनरागमनं च वक्ष्यति । यद्यप्यक्षरमपि भगवानेव, तथापि सृष्टीच्छावशग इति पूर्वमुक्तम् । **अमृतमिति** तत्स्थानानाशाय । **पुरुषमिति** मतान्तरव्युदासाय । **पुराणमिति** । पुरुषान्तरव्युदासाय । **ब्रह्मेति** अक्षरत्वख्यापनाय । **प्रधानमिति** '**आसीज्ज्ञानमयो ह्यथः**' इत्यत्र एकादशे वक्ष्यति प्रकृतिपुरुषहेतुत्वेन । अत एवाक्षरोपासकानामपि भगवान् स्वसायुज्यमेवाऽऽह । **एवकारे**णाक्षरप्रवेशं वारयति–**ते प्राप्नुवन्ति मामेवेति** । ब्रह्मानन्दस्य लक्ष्म्यात्मकत्वादानन्दाभावे फलं न किञ्चिदित्यत एतेषामपि निरोधमात्रं न तु तद्गतफलसम्बन्धः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्येति तस्यापि तावान् स्वरूपानन्द एव ।।१०।।

व्याख्यार्थ– जो मरकर अथवा लोकान्तर में जाकर भगवान् में प्रविष्ट नारद आदि अधिकारी अथवा जो योगी हैं योगाधिकार से युक्त हैं यहाँ विराग शब्द से योग का फल और तत्फल (ब्रह्म साहचर्यफल) अथवा लोकान्तरगमन फल का निरूपण है । ये फल जिसको हो गये हैं वे तो ब्रह्म तुल्य ही हैं । अतः उसी (ब्रह्मा) के साथ अमृत जो अक्षरात्मक पुरुष हैं और पुराण जो पुरुषत्रय से अतिरिक्त जो ब्रह्म शब्द वाच्य है मूलभूत जो प्रकृति और पुरुष उनके उत्पन्न करने वाले हैं उनको प्राप्त होते हैं, वे पुरुषोत्तम में नहीं जाते । क्योंकि वे अगताभिमान हैं उनका अभिमान गया नहीं हैं । 'अगताभिमानाः' का विग्रह 'न गतः अभिमानो येषाम्' ऐसा है । वास्तव में तो कर्त्ता भगवान् ही हैं । नारद आदि तो अपने को कर्त्ता मानते हैं वास्तव में वे कर्ता नहीं हैं अतएव नारद आदि का अक्षर मेलयं होता है और पुनरागमन भी होता है इसे आगे कहेंगे । यद्यपि अक्षर भी भगवान् ही हैं तथापि अक्षर ब्रह्म सृष्टि की इच्छा के वशीभूत है यह पहले कहा जा चुका है । अमृत का अर्थ है उस स्थान का कभी नाश नहीं होता । यहाँ पुरुषम् तो ब्रह्म निराकार है इस मत को दूषित करने के लिये कहा है । पुराणं यह पदक्षर पुरुष न लिया जाय इसके लिये है । यहाँ शंका होती है कि प्रधान शब्द तो प्रकृतिवाचक रूप से प्रसिद्ध है तो फिर यहाँ अक्षर ब्रह्म को प्रधान इस नाम से क्यों सम्बोधित किया है । इस प्रकार की आकाँक्षा होने पर उसका तात्पर्य 'आसीज्ज्ञानमयो

ह्यर्थः' इस श्लोक से वहाँ एकादश स्कन्ध में प्रकृति और पुरुष के हेतु रूप से उसे कहेंगे । इसीलिये अक्षर ब्रह्म की उपासना करने वालों को भगवान् अपना सायुज्य प्रदान करते हैं ऐसा कहा है । 'तेनैव' में जो 'एव' शब्द कहा है उससे उसका अक्षर ब्रह्म में प्रवेश नहीं होता ऐसा निषेध करने के लिये है । कहा भी है 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' वे मुझे ही प्राप्त करते हैं । ब्रह्मानन्द लक्ष्म्यात्मक (लक्ष्मीरूप) होने से आनन्द के अभाव में फल कुछ नहीं होता इसलिये इनका भी निरोधमात्र ही होता है उसमें होने वाले फल का सम्बन्ध नहीं होता । 'जो कामना से रहित श्रोत्रिय है उसे आनंद की प्राप्ति होती है । इसे श्रुति में भी श्रोत्रिय को जो आनंद बताया है वह भी जीवानंद मात्र ही है वह साधन की अधिकता से अधिक अभिव्यक्त (प्रकट) होता है परन्तु वह ब्रह्मानन्द नहीं है ।।१०।।

आभास—अतो भगवद्भजनमवश्यं कर्तव्यं भगवदानन्दार्थमित्याह—

आभासार्थ—सब आनन्द से ब्रह्मानन्द अधिक है ऐसा जब सिद्ध हो गया तब उस (भगवदानन्द की प्राप्ति के लिये भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये उसे कहते हैं—

श्लोक—**अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।**
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ? ।।११।।

श्लोकार्थ—इसलिये माताजी ! अब तुम भी अत्यन्त भक्ति-भाव से उन श्री हरि के ही चरण की शरण ग्रहण करो, समस्त प्राणियों का हृदय कमल ही उनका मन्दिर है और तुमने भी मुझ से उनका प्रभाव सुन ही लिया हैं ।।११।।

सुबोधिनी—अथेति । यतोऽभिमाने महत्यपि ज्ञाने योगे वा न सम्यक् कार्यसिद्धिः । अतो भगवद्भजनमेव कर्तव्यम्, न तु ब्रह्मादीनामिव वैयर्थ्यमुचितमित्यर्थान्तरत्वम् । तं पुरुषोत्तमम् । तत्प्राप्त्यर्थमाह—**सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयमिति** । यतोऽत्रैवान्तर्यामिभजने तत्प्राप्तिर्भविष्यतीति भावः । मन्त्रप्रकारेण भजनं व्यावर्त्तयति—**श्रुतानुभावमिति** । श्रुतोऽनुभावो यस्य । भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा भगवन्मार्गानुसारेण शरणं व्रज । **भावेनेति** स्नेहपूर्वकं भक्त्या सह वा प्रपन्ना भव । **भामिनीति** सम्बोधनमुत्तमस्यैव विश्वासो भवतीति तदर्थम् । भामिनी महती स्त्री ।।११।।

व्याख्यार्थ—क्योंकि अभिमान होने पर महान् ज्ञान हो या योग हो तथापि उनसे सम्यक् (पूरी) कार्य सिद्धि नहीं होती । अतः भगवद्भजन ही करना चाहिये, भगवद्भजन की ब्रह्मा आदि के भजन की तरह व्यर्थता उचित नहीं हैं इसीलिये इस श्लोक में कहे गये फलात्मक स्वरूप की पूर्व श्लोक से भिन्नता है । 'तं' से यहाँ पुरुषोत्तम लिये जाते है । सब प्राणियों के हृदय कमलों में उन्होंने निवास कर रक्खा है इससे उन भगवान् की प्राप्ति बताई अर्थात् अन्तर्यामी के भजन से उनकी प्राप्ति हो जायगी यह उक्त कथन का भाव है मन्त्र के प्रकार से उनका भजन नहीं होता, इसे 'श्रुतानुभावं' से बताया है सुना है अनुभाव जिसका, भगवान् के माहात्म्य को सुनकर भगवन्

मार्ग के अनुसार उनकी शरण ग्रहण कर अथवा स्नेह पूर्वक भक्ति के साथ उनकी प्रवृत्ति करो, भामिनी उत्कृष्ट (उत्तम) स्त्री को कहते हैं इसलिये यहाँ भामिनी सम्बोधन कहा है अर्थात् हे माता ! तुम उत्तम हो इसलिये तुम्हें ही इस पर विश्वास होता है ।।११।।

आभास—यतो न प्रकारान्तरेण पुनरावृत्तिरहितं फलं भवति । अतो भगवानेव सेव्य इति वक्तुं सर्वसाधनसम्पत्तिर्यथा ब्रह्मादीनां तथा नाऽन्यस्य भविष्यति । तेऽपि चेन्न मुक्ताः किं ज्ञानादिसाधनैरिति पूर्वोक्तं भगवद्भजनं दृढीकर्तुं ब्रह्मादीनां वृत्तान्तमाह—**आद्य** इति चतुर्भिः—

आभासार्थ—क्योंकि अन्य प्रकार से पुनरावृत्ति रहित फल नहीं हो सकता । इसलिये भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये इस बात को कहने के लिये सब प्रकार की साधन सम्पत्ति जिस तरह ब्रह्मा आदि के पास है वैसी और किसी के पास नहीं होगी । यदि वे भी मुक्त न हुए तो फिर ज्ञान आदि साधनों से क्या होगा इसलिये पूर्वोक्त भगवद्भजन को दृढ़ करने के लिये चार श्लोकों से ब्रह्मा आदि का वृत्तान्त कहते हैं—

श्लोक—**आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः ।**
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः ।।१२।।

श्लोकार्थ—वेदगर्भ ब्रह्माजी भी जो समस्त स्थावर जङ्गम प्राणियों के आदि कारण हैं मरीचि आदि ऋषियों योगेश्वरों सनकादिकों तथा योगप्रवर्तक सिद्धों के साथ (पूर्ववत् उत्पन्न हो जाते हैं) ।।१२।।

कारिका—**स्वरूपतो महत्त्वं च दोषस्तत्फलमेव च ।**
पुनरप्यधिकारित्वमन्येषां च निरूप्यते ।।१।।

कारिकार्थ—(१) स्वरूप से महत्व (२) उनका दोष (३) उनका फल (४) अन्यों का पुनः अधिकारी होना इनका इन चार श्लोकों में वर्णन है ।।१।।

सुबोधिनी—प्रथमं तेषां सर्वसाधनसहितं रूपमाह—**स्थिरचराणामाद्य** उत्पादकः, महत्त्वमुक्तम् । **वेदगर्भ** इति ज्ञानादिसर्वसाधनान्युक्तानि । **ऋषिभिः सहेति** सत्सङ्गः । ये सनत्कुमारादयोऽपि योगेश्वराः योगफलं नियमयितुं शक्नुवन्ति किं पुनः प्राप्तुम् । **कुमार**शब्देन तेषां कालजयोऽपि सूचितः । केवलमधिष्ठातृदेववन्न योगनियामकत्वम्, किन्तु योगसिद्धिरप्यस्तीत्याह—**सिद्धैरिति । योगप्रवर्तकैरिति** अन्येभ्योऽपि स्वसमानफलदानसामर्थ्यं सूचितम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—सब से पहले उनका सब साधनों से युक्त रूप का यहाँ कथन हैं । जो स्थावर और जङ्गम के उत्पन्न करने वाले हैं यह उनका महत्व कहा है । वेदगर्भः से उनमें ज्ञान आदि सर्व साधन कहे गये हैं । 'ऋषिभिः सह' से उनका सत्सङ्ग बताया । सनत्कुमार आदि भी योगेश्वर हैं

वे योग के फल पर अपना नियन्त्रण रखने में समर्थ हैं तो फिर वे योग का फल प्राप्त करें इसके लिये तो कहना ही क्या। सनत्कुमारादि को कुमार कहा जाता है इसका आशय यह है कि उन्होंने काल को भी जीत लिया है जिससे उनकी अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता वे सदा पाँच या छः वर्ष की आयु के समान ही रहते हैं। उन (सनत्कुमारों) का योग के ऊपर नियमन केवल अधिष्ठाता की तरह नहीं है किन्तु उन्हों को योग सिद्धि भी है यह सिद्धैः से स्पष्ट है। वे योग के प्रवर्तक है 'योग प्रवर्तकैः' से उन में अन्य लोगों को भी अपने ही समान फल देने की सामर्थ्य है यह सूचित होता है ।।१२।।

आभास—तेषां दोषमाह—

आभासार्थ- उनके दोष को कहते हैं—

श्लोक—**भेददृष्टयाभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा ।**
कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ।।१३।।

श्लोकार्थ—निष्काम कर्म के द्वारा आदि पुरुष पुरुष-श्रेष्ठ सगुण ब्रह्म को प्राप्त होकर भेद दृष्टि और कर्तृत्व के अभिमान के कारण (पुनः पूर्ववत् प्रकट हो जाते हैं) ।।१३।।

सुबोधिनी—भेददृष्टयेति । अन्ततो गत्वा वयं मुक्ता नाऽन्यो मुक्त इति; अभिमानो वयमपि कर्तार इति; एवं दोषद्वयेन कृत्वा यद्यपि निःसङ्गं कर्म कुर्वन्ति, तथापि कर्तृत्वाभिमानात् सगुणमेव ब्रह्म गच्छन्ति पूर्वोक्तम् । स्वापेक्षया हीनभावव्यावृत्यर्थमाह—**पुरुषं पुरुषर्षभमिति** । पुरुषो विराट् स हि स्वयमेव । स्वोत्तमस्तु प्रकृतिपुरुषो भवति । ततः पुरुषर्षभः अक्षरात्मा ।।१३।।

व्याख्यार्थ—अन्ततोगत्वा वे भी हम मुक्त हो गये हैं अन्य कोई मुक्त नहीं हुआ है इस अभिमान से तथा हम भी कर्त्ता हैं इन दो दोषों के कारण यद्यपि वे निःसंग कर्म करते हैं परन्तु फिर भी वे कर्तृत्व के अभिमान के कारण सगुण ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं जो मुख्य जीव नाम वाला अक्षर है जिसका कथन पहले किया है वह अक्षर इनकी अपेक्षा हीन नहीं है इसे बताने के लिये पुरुषं पुरुषर्षभम् ऐसा कहा। पुरुष से तो विराट् लिया जाता है वह तो वेदगर्भ ब्रह्मा स्वयं ही है। अपने से उत्तम तो प्रकृति पुरुष है और उससे भी श्रेष्ठ पुरुषर्षभ अक्षरात्मा है ।।१३।।

आभास—तत्र गतस्य पुनरावृत्तिमाह—

आभासार्थ—वहाँ गये हुए की भी पुनरावृति होती है—

श्लोक—**स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।**
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ।।१४।।

श्लोकार्थ—भगवान् की इच्छा से जब सृष्टि का समय होता है तब काल रूप ईश्वर की प्रेरणा से गुणों में क्षोभ होने पर पूर्वोक्त ये सब पूर्ववत प्रकट हो जाते हैं ।।१४।।

सुबोधिनी–स संसृत्येति । **स** ब्रह्मा अक्षरमपि प्राप्य **संसृत्य** सम्यक् तत्र परिभ्रमणं कृत्वा **पुनः** प्रत्यागमनकाले, ईश्वरमूर्तिना कालेन **गुणव्यतिकरे जाते** प्रकृतिपुरुषयोरुद्गमानन्तरमनुद्गमे वा क्षोभमात्रे जाते यथापूर्वं महदादिद्वारा ब्रह्माण्डे उत्पन्ने तत्र नारायणनाभिकमलात् यथापूर्वं प्रजायते । एवमक्षरे गतस्यापि पुनरावृत्तिरुक्ता ।।१४।।

व्याख्यार्थ—वह ब्रह्मा अक्षर को प्राप्त होकर भी उस अक्षर में अच्छी तरह परिभ्रमण करके पुनः जब उसके आने का समय होता है तब ईश्वर मूर्ति काल से गुण का व्यतिकर होने पर अर्थात् पुरुष और प्रकृति के उद्गम के अनन्तर अथवा उद्गम न होने पर भी जब प्रकृति में क्षोभमात्र होता है जैसे पहले महत् आदि के द्वारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होने पर वहाँ नारायण के नाभि कमल से पूर्व की ही तरह उत्पन्न हो जाता है । इसी तरह अक्षर में जाने पर भी पुनरावृत्ति होती है ऐसा कहा है ।।१४।।

आभास—अन्येषामप्याह—

आभासार्थ—अन्यों का भी पुनरागमन होता है उसे कहते हैं—

श्लोक—**ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं तत्तेषां धर्मेण निर्मितम् ।**
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ।।१५।।

श्लोकार्थ—ब्रह्मा की तरह पूर्वोक्त ऋषि गण भी अपने २ कर्मानुसार ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य को भोगकर भगवदिच्छा से गुणों में क्षोभ होने पर पुनः इस लोक में आ जाते हैं ।। १५ ।।

सुबोधिनी–ऐश्वर्यमिति । परमेष्ठिसभायां यदैश्वर्यं प्रसिद्धं तत्तेषां निवृत्तिधर्मेण निर्मितम्, आधिदैविके महत्तत्त्वे, अक्षरे वा अनुभूय गुणव्यतिकरे सति पुनरायान्ति । **सतीति** सम्बोधनं वा । ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं वा यान्तीति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—परमेष्ठी की सभा में जो ऐश्वर्य प्रसिद्ध है वह ऐश्वर्य उनके निवृत्ति धर्म के द्वारा निर्मित है आधिदैविक महत्तत्व में अथवा अक्षर में उसका अनुभव करके जब गुणों में क्षोभ होता है तब पुनः यहाँ पुनरावृत्ति हो जाती है । अथवा सति यह सम्बोधन है । ऐश्वर्य अथवा पारमेष्ठ्य को प्राप्त करते हैं ।।१५।।

आभास—एवं भगवन्मार्गानुसारेण भगवद्भजनाभावे ब्रह्मादीनामप्येषा गतिरिति निरूप्य, ये पुनस्तामसा ऐहिकाः; ते भजनाभावे सर्वथा नष्टा भविष्यन्तीति किं

वक्तव्यमिति वक्तुं तामसधर्मप्रवर्तकानां स्वरूपसाधनफलान्याह–षड्भिः—

आभासार्थ—इस तरह भगवन्मार्ग के अनुसार भगवान् का भजन न करने पर ब्रह्मा आदि की भी यह गति होती है इसका निरूपण करके जो तामस हैं और इस लोक के जीव हैं वे यदि भजन नहीं करेंगे तो वे सर्वथा नष्ट ही हो जायेंगे। इसके लिये तो और क्या कहा जाय इसको कहने के लिये तामस धर्म के प्रवंतकों का स्वरूप उनका साधन तथा उनके फलों को छः श्लोकों से कहते हैं--

श्लोक—**ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।**
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥१६॥

श्लोक—**रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।**
पितृन्यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जिनका चित्त इस लोक में आसक्त है जो कर्मो में श्रद्धा रखते हैं वे वेद में कहे हुए काम्य और नित्य कर्मों का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करने में ही लगे रहते हैं। उनकी बुद्धि रजोगुण की अधिकता से कुण्ठित रहती है, हृदय में कामनाओं का निवास रहता है और इन्द्रियाँ उनके वश में नहीं होती बस अपने घरों में ही आसक्त हो कर वे नित्य प्रति पितरों की पूजा में लगे रहते हैं ॥१६-१७॥

कारिका—**तेषां स्वधर्मकरण दोषाश्चापि चतुर्विधाः ।**
भगवद्विमुखाश्चैते लौकिकाश्चापि ते सदा ।
मामप्राप्य निवर्तन्त इति तेषां निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—जिनका चित्त इस लोक में आसक्त है अथवा जो राजस हैं उनका (१) स्वधर्म करण (२) उनके चार प्रकार के दोष (३) इनकी भगवान् से विमुखता (४) वे सदा लौकिक (लोक वार्ता के सुनने वाले) ही होते हैं। (५) मुझे वे प्राप्त नहीं होते (६) पुनः वे लौट कर आ जाते हैं इनका निरूपण है ॥१॥

सुबोधिनी—ये त्विहासक्तमनस इति। राजसानामिति वा। प्रथमतस्तेषां स्वधर्ममाह—**इह** संसारे आसक्तं मनो येषामिति बहिर्मुखाः, कर्ममार्ग एव श्रद्धान्विताः, संसारे साधकत्वात्कर्मणाम्। **अप्रतिषिद्धानि** लौकिकानि कुर्वन्ति। **नित्यान्यप्य**ग्निहोत्रादीनि सर्वाण्येव कुर्वन्ति। इहासक्त्या पुनरागमनम्। कर्मणा पुनर्जन्म। अप्रतिषिद्धकरणान्नाधोगतिः। नित्यकरणात् पितृलोकः। '**स्वकर्मणा पितृलोकः**' इति श्रुतेः। **रजसा** गुणेन **कु**ण्ठितं मनो येषाम्। अयं सहजो दोषो विक्षेपात्मा। **कामात्मानः** आगन्तुको दोषः काम एव। अत एवा**ऽजितेन्द्रियाः** संसर्गदोषवन्तः। **पितृन् यजन्तीति** स्वपितृपितामहानामेव यागं कुर्वन्ति। तेन नालौकिकभजनम्। अयं लोकमध्य एवेति गुणाभावार्थमुक्तः। **गृहेष्वभिरताशया** इति कदाचिदपि मोक्षाभावार्थमुक्तः ॥१६॥१७॥

व्याख्यार्थ—पहले तो उनका (तामसों का) स्वधर्म कहते हैं। 'इहासक्त मनसः' का विग्रह वाक्य है 'इह आसक्तं मनोयेषाम्' यहाँ संसार में आसक्त हैं मन जिनका ऐसे बहि-र्मुख उनकी कर्म मार्ग में ही श्रद्धा होती है क्योंकि संसार में कर्म ही तो साधक हैं। वे अनिषिद्ध (जिनका निषेद्ध नहीं है) ऐसे लौकिक कर्म करते हैं। नित्य जो अग्नि होत्र आदि हैं उन सबको भी वे करते हैं। उनकी यहाँ (इस लोक में) आसक्ति होने से उनका पुनरागमन (पीछा आना) होता है। कर्म से पुनर्जन्म होता है। अनिषिद्धकर्मों के करने से उनकी अधोगति नहीं होती और नित्य कर्मो के करने से उनको पितृ लोक की प्राप्ति होती है। क्योंकि श्रुति में कहा है नित्य कर्म करने से पितृ लोक प्राप्त होता है 'स्वकर्मणा पितृलोकः' रजोगुण से कुण्ठित है मन जिनका ऐसा इस लिये कहा कि उनमें विक्षेपात्मा यह सहज दोष है और कामात्मानः काम ही आगन्तुक दोष है इसीलिये तो वे अजितेन्द्रियरूप संसर्ग दोष वाले हैं। वे केवल अपने पिता पितामह आदि का ही याग करते हैं यह पितॄन् यजन्ति से कहा है उनका यह भजन, भजन नहीं है। क्योंकि पितृयाग लौकिक ही है इसलिये गुणाभाव के लिये उसे कहा। 'गृहेष्वभिरताशयाः' का भाव यह है कि उनका मन घर में फँसा रहता है इसलिये कभी भी उनका मोक्ष नहीं होता ॥१६–१७॥

आभास—तेषां भगवद्वैमुख्ये हेतुः—

आभासार्थ—वे भगवान् से बहिर्मुख क्यों है? उसमें हेतु देते हैं—

श्लोक—**त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः।**
कथायाः कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥१८॥

श्लोकार्थ—ये लोग धर्म-अर्थ और काम में ही लगे रहते हैं इस लिये जिनके महान् पराक्रम अत्यन्त कीर्तनीय हैं उन भवभयहारी श्रीमधुसूदन भगवान् की कथा-वार्ताओं से तो ये विमुख रहते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी–त्रैवर्गिका इति। धर्मार्थकामेष्वेव ते साधवः। अत एव **हरिमेधसो** वासुदेवाद्विमुखाः। हरिः सर्वदुःखहर्त्री मेधा बुद्धिर्यस्य। बुद्धिमात्रेणैव संसारं नाशयिष्यतीति भयाद्विमुखाः। कथाया अपि विमुखाः, तद्वार्त्तामपि न कुर्वन्ति। कथनीया उरवो विक्रमा यस्य। पराक्रमश्रवणे सर्वेषामभिरुचिः, लोकरुच्याऽपि न शृण्वन्ति। स्वपुरुषार्थनाशकत्वं ज्ञात्वा निषिद्धमिव परित्यजन्तीति भावः। **मधुद्विष** इति जगत्कर्तृब्रह्मभक्षकनाशकत्वेन भगवन्निरूपणात्तदभजने कृतघ्नताऽपि सूचिता। पापनाशार्थमपि न भजन्त इति निरूपितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—वे धर्म-अर्थ और काम में ही भले हैं अत एव भगवान् वासुदेव से विमुख (बहिर्मुख) हैं। हरिमेधसः का अर्थ हैं सब दुःखों को हरण करने वाली है बुद्धि जिसकी भगवान् अपनी बुद्धि मात्र से ही संसार को नष्ट कर देंगे इस भय से वे हरि से विमुख रहते हैं। उनसे ही नहीं उनकी कथा से भी विमुख रहते है। अर्थात् भगवान् की बात तक नहीं करते हैं। जिनके महान् पराक्रम कीर्तनीय हैं ऐसे भगवान् के पराक्रम के सुनने में सबों की अभिरुचि होती है परन्तु

वे तो लोक रुचि से भी नहीं सुनते । हमारे पुरुषार्थ को यह भगवत्कथा नष्ट कर देगी ऐसा जानकर उसका निषिद्ध की तरह परित्याग कर देते हैं यह इसका भाव है । यहाँ भगवान् को 'मधुद्विषः' इसलिये कहा है कि ब्रह्माजी का जो जगत् की सृष्टि करने वाले हैं उन्हीं को यह मधु खाने लगा था तो भगवान् ने उसका वध कर दिया ऐसे भगवान् का यहाँ निरूपण किया है उनका यदि भजन न किया जाय तो कृतघ्नता भी होती है यह इससे सूचित होती है । अपने पापों को नष्ट करने के लिये भी भजन नहीं करते हैं इसका भी निरूपण है ।।१८।।

आभास—ननु ते स्वधर्मनिष्ठाः परधर्मत्वेन ज्ञात्वा न भजन्तीति चेत्तत्राऽऽह—

आभासार्थ—शंका हो कि वे स्वधर्म निष्ठ होने से भगवद्भजन को परधर्म समझ कर भजन नहीं करते हैं उसका उत्तर देते हैं—

श्लोक — **नूनं दैवेन निहता ये चाऽच्युतकथासुधाम् ।**
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ।।१६।।

श्लोकार्थ—जैसे विष्ठाभोजी सूकर आदि जीवों के विष्ठा के चाहने के समान जो मनुष्य भगवत्कथामृत को छोड़ कर निन्दित विषय वार्ताओं को सुनते हैं वे तो अवश्य ही विधाता के मारे हुए हैं, उनका बड़ा ही मन्द भाग्य है ।।१६।।

सुबोधिनी—नूनमिति । ते हि लोकवार्ता शृण्वन्ति न तु भगवत्कथाम् । अतो धर्मव्यापृता भगवत्कथाया अनवकाशान्निवर्तन्त इति न शङ्कनीयं किन्तु ते दैवेनैव निहताः, प्रतिकूलेन्द्रियदानात् । भगवता ते चेद्बधिराः कृताः स्युः, तदा यथास्थाने एव तिष्ठेयुः । तदपि नास्तीति नूनं दैवेन निहता । यतः विद्यमानामपि तां कथां हित्वा तत्रापि सुधारूपाम् । असतां गाथाः **'यास्तु श्रुताः'** इति वाक्योक्तधर्मयुक्ताः शृण्वन्ति । ननु शास्त्रात्कथं न निवर्तन्ते तत्राऽऽह—**पुरीषमिव विड्भुज** इति । भगवता तथैव ते उत्पादिताः, विद्यमानेऽपि स्वन्ने सूकरादयः स्वभक्षमेव भक्षयन्ति । तेषां जिह्वा न रसान्तरं गृह्णाति ।।१६।।

व्याख्यार्थ—वे लोग विषय वार्ताओं को तो सुनते हैं किन्तु भगवत्कथा को नहीं सुनते । शंका हो कि वे तो धर्म में संलग्न रहते हैं अतः उनको अवकाश ही नहीं मिलता है इसलिये भगवत् कथा को नहीं सुनते है इसका उत्तर देते है दैवेन निहता ! उनको विधाता ने प्रतिकूल इन्द्रियाँ दी हैं अतः वे तो विधाता के मारे हुए हैं । भगवान् यदि उनको बहिरे कर देता तो वे यथा स्थान में ही बैठे रहते परन्तु वह भी तो नहीं है क्योंकि वे तो भाग्य के मारे हुए ही हैं । इसलिये तो कथा के विद्यमान होते हुए भी उसका परित्याग करते हैं । कथा में यदि नीरसता हो तो उसे न भी सुने किन्तु कथा तो अमृत रूप हैं । उसे छोड़कर वे तो असत् गाथाओं को सुनते हैं जिनका वर्णन "यास्तुश्रुताः"—आदि वाक्यों में बताये हुए धर्म से युक्त होती है । शंका हो कि शास्त्र का अध्ययन करने पर भी वे असद्गाथाओं के सुनने का परित्याग क्यों नहीं करते उसके लिये कहते हैं 'पुरीषमिव विड्भुजः' विष्ठाभोजी सूकर की तरह वे विषय सम्बन्धिनी वार्ता ही को सुनते है, क्योंकि

भगवान् ने उनको वैसा ही उत्पन्न किया है जैसे सूकर अच्छे अन्न के होते हुए भी अपने भक्ष्य को ही खाते हैं। उनकी जीभ दूसरे रस को ग्रहण ही नहीं करती है ॥१६॥

आभास—एवं तेषां स्वरूपसाधनप्रवृत्तिं दूषयित्वा फलमाह—

आभासार्थ—इस तरह उनकी स्वरूप साधन की प्रवृत्ति को दूषित करके फल को कहते हैं—

श्लोक—**दक्षिणेन पथाऽर्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते ।**
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः ॥२०॥

श्लोकार्थ—गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि (अन्त समय) तक सब संस्कारों को विधि पूर्वक करने वाले ये सकामः कर्म करने वाले सूर्य से दक्षिण ओर के पितृयान या धूममार्ग से पितरों के ईश्वर अर्यमा के लोक को जाते हैं और अपनी ही सन्तति के वश में उत्पन्न होते हैं ॥२०॥

सुबोधिनी–दक्षिणेनेति। दक्षिणमार्गा बहवः सन्ति, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह–**अर्यम्ण** इति। अर्यमाऽत्र यमः, मुख्ययमस्य स्वाधिकारप्रच्युतौ स यमो भवतीति पूर्वमुक्तत्वात् '**अबिभ्रदर्यमा दण्डम्**' इति वाक्यात्। अनेन मुख्ययमश्चेत्तिष्ठेत्तदा तेषाँ सापि गतिर्न भवेदिति सूचितम्। तस्य वैष्णवत्वात्, तद्वक्ष्यति षष्ठे। येन मार्गेण यमो गच्छति क्रूरात्मा, स भयानको मार्गः, परं नाधोगतिरूपः, किन्तु तल्लोकात्मकः। यत्राग्निष्वात्तादयः पितरस्तिष्ठन्ति, तेन पथा ते पितृलोकं व्रजन्ति। अनेन मार्गक्लेशः तत्र नीत्यभावश्च सूचितः। पुनरावृत्तिमाह–**प्रजामनु प्रजायन्त** इति। प्रजा स्वस्यान्तःकोशः, तस्य स्वयमन्तःकोशा भवन्ति, पुत्रगृहे पुत्रा भवन्तीत्यर्थः। ननु श्राद्धादिना मोक्षो भवतीति श्रूयते सुदरिद्रोपाख्याने, तत्कथमुच्यते पितृलोकादागतस्य जन्मेत्याशङ्क्य, तेषां पुत्रगृहे जन्मैव मोक्ष इति श्रुत्यर्थं वक्तुं प्रजामनु प्रजायन्त इति श्रौतं पदमुक्तम्। '**प्रजामनु प्रजायन्ते तदु ते मर्त्यामृतम्**' इति श्रुतेः। तत्रापि नाल्पस्य तत्, किन्तु **श्मशानान्ता** निषेकाद्या वैदिक्यः क्रियाः कृता येषु ते **श्मशानान्तक्रियाकृतः** ॥२०॥

व्याख्यार्थ—दक्षिण मार्ग बहुत से हैं किन्तु उनमें से अन्य किसी मार्ग से न जाकर अर्यमा के मार्ग से जाते हैं। यह अर्यमा यम है जब मुख्य यम अधिकार से च्युत हो जाता है, अधिकार से हटा दिया जाता है तब वह अर्यमायम होता है यह पहले 'अबिभ्रदर्यमा दण्डम्' इस से कहा जा चुक है। वह अर्यमा वैष्णव है उसे छठे स्कन्ध में कहेंगे। जिस मार्ग से क्रूरात्मा यम जाता है वह मार्ग भयानक है किन्तु अघोगतिरूप नहीं है वह लोकात्मक है। उस लोक में अग्निष्वात्तादि पितर निवास करते हैं। उस मार्ग से वे पितृलोक को जाते हैं। इस से मार्ग का क्लेश और वहाँ नीति का अभाव सूचित होता है। पितृलोक में गये हुए उनका पुनरागमन 'प्रजामनु प्रजायन्ते' से बताया है। प्रजा (सन्तान) जो अपना अन्तःकोश है उसके वे स्वयं अन्तःकोश हो जाते हैं अर्थात् पुत्र के घर में पुत्र होते हैं। शंका होती है कि सुदरिद्रो पाख्यान में ऐसी श्रुति है कि श्राद्ध के द्वारा उनका

मोक्ष हो जाता है, तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि पितृलोक से लौटने पर उसका जन्म होता है ऐसी आशंका करके कहते हैं। उनका पुत्र के घर में जन्म होना ही मोक्ष है इस प्रकार का श्रुति का अर्थ है इस को बताने के लिये ही 'प्रजामनु प्रजायन्ते' ऐसा श्रुति पद ही यहाँ दे दिया है श्रुति पूरी इस प्रकार है 'प्रजामनुप्रजायन्ते तदुते मर्त्यामृतम्' उसमें भी अल्प विधि के पालन करने वाले का जन्म आदि नहीं होता किन्तु गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त जिनकी वैदिक क्रिया होती है वे ही अपने पुत्र के वंश में जन्म ग्रहण करते है ।।२०।।

आभास—एवं बहुवारगमनागमनाभ्यामिहैव लोके जायस्व, म्रियस्वेति मार्गं गत्वा ततोऽपि सर्वथा क्षीणसुकृताः देवानां चक्षुष्याग उत्पाद्य तैर्विभ्रंशितोदयाः सन्तः तदवध्यानजनितपापाः पूर्ववदधोलोकेषु गच्छन्तीत्याह—

आभासार्थ—इस तरह अनेक बार गमन (जाने) और आगमन (आने) से यहीं पर लोक में जन्म लो और मरो इस प्रकार के मार्ग में जाकर उसके अनन्तर भी सब प्रकार से पुण्य का क्षय हो जाने पर देवताओं की दृष्टि में अपराध को उत्पन्न करते हैं जिससे उनकी उन्नति नष्ट हो जाती है और उसके अवध्यान से उनमें पाप उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये वे पूर्ववत् अधो (नीचे) लोकों में जाते हैं उसे कहते हैं—

श्लोक—**ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति ! ।**
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ।।२१।।

श्लोकार्थ—माताजी ! पितृलोक के भोग भोग लेने पर जब उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवता लोग उन्हें वहाँ के ऐश्वर्य से च्युत (अलग) कर देते है और फिर उन्हें विवश होकर तुरन्त ही उस लोक से गिरना पड़ता है ।।२१।।

सुबोधिनी—तत इति । पुनरिमं लोकमिति तत पुनरूर्द्ध्वगमनाभावः सूचितः । **सतीति** सम्बोधनं तेषु रागाभावबोधनार्थम् । देवैरेव विवशाः । **सद्य** इति विलम्बाभावार्थम्, विलम्बेन नाशे जाते प्रतिक्रियां करिष्यन्तीति तथोक्तम् । अन्तकालेऽपि प्रतिक्रियाकरणनिवृत्त्यर्थं **विभ्रंशित उदयो येषा**मित्युक्तम् । तदैव सर्वस्वनाशो मरणं चेतिवत् । उदयो धनाद्यैश्वर्याणि ।।२१।।

व्याख्यार्थ—'पुनर्लोकमिमम्' इसलिये कहा कि वहाँ से फिर वे ऊपर नहीं जा सकते । 'सति' यह सम्बोधन इसलिये है कि उनमें तुम्हारा अनुराग नहीं है । देवताओं से ही वे विवश किये जाते हैं । उनके पतन में जरा भी बिलम्ब नहीं होती इसको सूचित करने के लिये 'सद्यः पद दिया है । शीघ्र पतन इसलिये होता है कि विलम्ब से यदि उनका नाश हो तो कदाचित् वे उसका प्रतीकार (उपाय) कर सकेंगे । अन्तकाल में भी वे प्रतिक्रिया नहीं कर सकते हैं उस को बताने के लिये 'विभ्रंशितोदयाः' ऐसा कहा है उसी समय मरने की तरह सर्वनाश हो जाता है उदय से धनादि ऐश्वर्य लिये जाते है उन से वे भ्रष्ट हो जाते है ।।२१।।

आभास—एवं भगवद्भजनार्थमेव तन्निन्दामुक्त्वा प्रकृतमाह—

आभासार्थ—इस तरह भगवद्भजन के लिये ही उनकी निन्दा को कहकर प्रकृत को कहते हैं—

श्लोक—**तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।**
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—इसलिये माताजी ! जिनके चरण कमल सदा भजन करने के योग्य हैं, उन भगवान् का तुम उन्हीं के गुणों का आश्रय लेने वाली भक्ति के द्वारा सब प्रकार से भजन करो ।।२२।।

सुबोधिनी–तस्मात्त्वमिति । ये केचिद्यथा-कथञ्चिद्भवन्तु नाम, त्वं सर्वभावेन भगवन्तं भजस्व । यावन्ति रूपाणि भजनीयानि ऐहिक-पारलौकिकसाधनानि, देहमारभ्येश्वरपर्यन्तं यावन्तो भजनीयाः यैर्यैर्भावैश्च ते सर्वे भावा भगवत्येव कर्तव्या इति **सर्वभावः**। **परमेष्ठिनमिति** । परमोत्कर्षस्थानस्थितं पुरुषोत्तममिति यावत् । भक्त्यैव च भजनं न मार्गान्तरेण, अन्यस्य तथा साधकत्वाभावात् । सापि भक्तिस्तद्गुणानेवाऽऽश्रित्य वर्तते, अन्यथा कालादिभिरुपहता भवति । लोकादिभिः प्रतिबन्धात् कदाचिदपि भजनाभावमाशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह–**भजनीयपदाम्बुजमिति** । सर्वैरेव भजनीयं पदाम्बुजं यस्य । साभिमानमार्गाणां सर्वेषां पुनरावृत्तिहेतुत्वान्निरभिमानमार्गः समाश्रयणीयः, स तु भगवन्मार्ग एवेति निश्चीयते । अन्यथा स्वस्य पूर्वसंस्कारे बलिष्ठे विद्यमाने शास्त्रीयज्ञानं प्रकृत्यविवेकेन कर्तृत्वमित्यादि दुर्बलमेव मत्वा न कदाचिदप्यहङ्कारनिवृत्तिर्भवेत् । भगवानेव सर्वं करोतीत्युक्तेऽपि भजनाभावे न सिद्ध्यतीति भजनमवश्यं कर्तव्यमित्युक्तम् ।।२२।।

व्याख्यार्थ—अन्य कोई जैसा करना चाहें वैसा करें परन्तु तुम तो सर्वभाव से भगवान् का भजन करो । सर्वभाव का आशय यह है कि जितने भी भजन करने योग्य भगवान् के रूप हैं एवं जो इहलोक के और परलोक के साधन हैं तथा देह से लेकर ईश्वर पर्यन्त जितने भी जिन जिन भावों से भजने योग्य हैं वे सब भाव भगवान् में ही करने चाहिये इसे ही सर्वभाव कहते हैं। परमेष्ठिनम् से परमोत्कर्ष स्थान स्थित पुरुषोत्तम का ग्रहण है । भगवान् का भजन भक्ति मार्ग के अनुसार ही करना मार्गान्तर के अनुसार नहीं करना । अन्य मार्ग इस तरह के साधक नहीं है । वह भक्ति भी ऐसी हो कि जो भगवान् के गुणों का आश्रय लेने वाली हो । अन्यथा काल आदि उसके बाधक हो जायेंगे । लौकिक के द्वारा प्रतिबन्ध होने से कदाचित् भजन नहीं हो सकेगा ऐसी आशंका करके उसके निराकरण के लिये 'भजनीय पदाम्बुजम्' ऐसा कहा सबों के ही भजनीय हैं चरणकमल जिनके यह भक्ति मार्ग निरभिमान मार्ग है अन्य मार्ग साभिमान है अतः उन मार्गों का सहारा लेने से पुनरावृत्ति होती है । भगन्मार्ग ही निरभिमान मार्ग है ऐसा निश्चित है अतः उसका ही सहारा लेना चाहिये । यदि साभिमान मार्ग से भी पुनरावृत्ति नहीं होती हो तो अपने बलवान् पूर्व संस्कार के विद्यमान होने पर शास्त्रीय ज्ञान प्रकृत्ति के अविवेक से अर्थात् प्रकृत्ति से अपने को

अलग न समझने से उसमें रहने वाले कर्तृत्व को अपने में समझता है जिस से शास्त्र से जो उसे यह ज्ञान हुआ था कि कर्तृत्व प्रकृति का है उस ज्ञान को वह दुर्बल ही है ऐसा मानता है जिससे उसके अहङ्कार की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। शास्त्र यद्यपि कहता हो कि सब कुछ भगवान् ही करता है तथापि भजन के अभाव में उसे विश्वास नहीं होता अतः भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये ।।२२।।

आभास—तस्य मोक्षपर्यवसायित्वं स्वमार्गानुसारेणाऽऽह–**वासुदेव** इत्यष्टभिः—

आभासार्थ—वह भगवद्भजन मोक्ष तक को देने वाला है उसे अपने मार्ग के अनुसार आठ श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।**
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ।।२३।।

श्लोकार्थ—भगवान् वासुदेव के प्रति किया हुआ भक्ति योग शीघ्र ही वैराग्य और ब्रह्म साक्षात्कार रूप ज्ञान की प्राप्ति करा देता है ।।२३।।

कारिका—**ज्ञानवैराग्यजननं परीक्षा ज्ञानसम्भवे ।**
ततश्च निरहङ्कारो ज्ञानमेव हरिः परः ।।१।।

कारिका—**वैराग्यस्यापि माहात्म्यं युक्तिस्तज्जननेऽपि च ।**
तदर्थं च जगज्जातं वैराग्ये सर्वनिश्चयः ।।२।।

कारिकार्थ—(१) ज्ञान वैराग्य की उत्पत्ति (२) ज्ञान होने पर ज्ञान की परीक्षा (३) तदनन्तर अहङ्कार राहित्य (४) ज्ञान ही परब्रह्म है (५) वैराग्य का माहात्म्य (६) वैराग्य के होने में युक्ति (७) उसी के लिये यह जगत् उत्पन्न हुआ है (८) वैराग्य में ही सब है ऐसा निश्चय होता है।

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं भक्तेर्मोक्षसाधकत्वं ज्ञानवैराग्यजननद्वारेति भक्त्या ज्ञानवैराग्योत्पत्तिमाह—**वासुदेव** इति। **वासुदेवे भगवतीति** हृदये आविर्भूते भगवति प्रत्यक्षतया **भक्तियोगः** फलसाधक इत्युक्तम्। प्रथमतः स्वसामर्थ्यादेवाऽऽशु वैराग्यं ज्ञानं च जनयति। ज्ञानं प्रतीकविषयमपि भवतीति विशिनष्टि—यज्ज्ञानं ब्रह्म दर्शयतीति, ब्रह्मदर्शनरूपं वा। यस्मिन् जाते ब्रह्माऽऽविर्भवति। तद्देवतारूपं ज्ञानम्। मननादिना वा साधने सम्पन्ने साक्षात्कार इति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—उनमें पहले भक्ति से ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न होते हैं तब उस भक्ति से मोक्ष होता है। भक्ति से ज्ञान वैराग्य की उत्पत्ति कैसे होती है उसे कहते हैं, जब भगवान् वासुदेव हृदय में आविर्भूत होते हैं तब भगवान् में प्रत्यक्ष रूपता से भक्तियोग फल साधक होता है यह इससे कहा गया है। सर्व प्रथम भक्ति अपनी सामर्थ्य से ही वैराग्य और ज्ञान को उत्पन्न करती है। ज्ञान प्रतीक विषयक भी हो सकता है इसलिये ज्ञान का विशेषण ब्रह्मदर्शनं ऐसा दिया है जो ज्ञान ब्रह्म

को दिखा दे अथवा जो ज्ञान ब्रह्म दर्शन रूप हो। उस ज्ञान के होने पर ब्रह्म आविर्भूत होता है। वह ज्ञान देवता रूप है। अथवा मनन आदि साधन के सम्पन्न होने पर साक्षात्कार का होना।२३।

आभास—ज्ञानस्य परीक्षामाह—

आभासार्थ—ज्ञान की परीक्षा को कहते हैं—

श्लोक—**यदाऽस्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः।**
न विगृह्णाति वैषम्यं विप्रियं प्रियमप्युत ।।२४।।

श्लोकार्थ—सभी विषय भगवद्रूप होने के कारण समान हैं अतः जब इन्द्रियों की वृत्ति के द्वारा भी भगवद्भक्त का चित्त उनमें प्रिय अप्रिय रूप विषमता का अनुभव नहीं करता सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन करता है ।।२४।।

सुबोधिनी–यदाऽस्येति। **अस्य** ज्ञानाधिकारिणः पुरुषस्य, चित्तं वस्तुतः **समेष्वेवार्थेषु** पाञ्चभौतिकेषु भगवदाधारेषु भगवद्रूपेषु वा, इन्द्रियवृत्तिभिः स्वरागजनिताभिः यदा वैषम्यं न गृह्णाति। तस्य वैषम्यस्य स्वरूपमाह–**विप्रियं प्रियमिति**। रागकृतमेवेत्युक्तम्–उतेति। प्रकारान्तरमप्युक्तं साध्वसाध्वित्यादि ।।२४।।

व्याख्यार्थ—इस ज्ञानाधिकारी पुरुष का चित्त वास्तव में समान ऐसे पाञ्चभौतिक अर्थों में जिनका भगवान् ही आधार है अथवा जो भगवद्रूप है उनमें स्वराग से जनित इन्द्रियों की वृत्ति से जब विषमता का ग्रहण नहीं करता है। विप्रियं प्रियं इन से विषमता का स्वरूप बताते हैं किसी को प्रिय अथवा अप्रिय जानना ये ही विषमता है। ऐसी विषमता राग के द्वारा ही होती है उस को बताने के लिये 'उत' यह पद दिया है। अथवा 'उत' से साधु (अच्छा) और असाधु (बुरा) यह प्रकारान्तर भी बोधित होता है ।।२४।।

आभास—किमेवं निदर्शनसहिते ज्ञाने भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—

आभासार्थ—इस तरह निदर्शन (दृष्टान्त) सहित ज्ञान के होने पर क्या होता है इस आकांक्षा पर कहते हैं—

श्लोक—**स तदैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं निःसङ्गं समदर्शनम्।**
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ।।२५।।

श्लोकार्थ—उसी समय वह संग रहित सब में समान रूप से स्थित त्याग और ग्रहण करने योग्य दोष और गुणों से रहित अपनी महिमा में आरूढ अपनी आत्मा का ब्रह्मरूप से साक्षात्कार करता है ।।२५।।

सुबोधिनी—स तदैवेति। ज्ञानरूपं प्राप्तेनाऽऽत्मनैवाऽऽत्मानं स्वस्वरूपं प्रकृतिसङ्गरहितं सर्वत्र समदर्शनरूपम् । प्रकृतितद्विकारोपधानरहितमित्यर्थः । हेयोपादेयरहितं प्रवर्तकनिवर्तकसर्वशास्त्राणां पर्यवसानरूपं पदमारूढं साध्यांशरहितमीक्षते । मुक्तरूपं वाऽऽत्मानमेव पश्यतीत्यर्थः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—ज्ञानरूप को प्राप्त हुए आत्मा से ही आत्मा को अपने स्वरूप को प्रकृति के संग से रहित सर्वत्र समदर्शन रूप अर्थात् प्रकृति और प्रकृति के विकार के आवरण से रहित तथा त्याज्य और ग्राह्य से रहित अर्थात् प्रवर्त्तक निवर्त्तक सब शास्त्रों का पर्यवसा रूपन आरूढ पद (साध्यांश-रहित) को देखता है अथवा मुक्तरूप आत्मा को ही देखता है ऐसा अर्थ है ।।२५।।

आभास—ननु ज्ञान एव जाते कथमेवं भवति, न हि ज्ञानं वस्तूत्पादयति । अतः स्वभावत एवात्मा तादृश इति मन्तव्यम् । ततश्च न साङ्ख्यसिद्धिः, किन्तु मायावादिनामिव मतं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य ज्ञानस्यैव तत्सम्पादकत्वमुपपादयति—

आभासार्थ—शंका होती है कि केवल ज्ञान हो जाने पर ही ऐसा कैसे होता है ज्ञान, वस्तु को तो उत्पन्न नहीं कर सकता है । अतः आत्मा स्वभाव से ही वैसी है ऐसा मानना चाहिये । तब तो सांख्य की सिद्धि नहीं होगी* परन्तु मायावादियों जैसा मत सिद्ध होगा । ऐसी शंका हो तो नीचे के श्लोक से यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का सम्पादक है ।

श्लोक—**ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।**
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ।।२६।।

---

*सांख्य में कहा है कि जैसे कपड़े में मैलापन होता है उसी तरह आत्मा का प्रकृति एवं उस प्रकृति के विकार के सम्बन्ध हो जाने से आगन्तुक बन्ध होता है और जिस तरह क्षार (खार) से वस्त्र का शोधन हो जाता है उसी तरह नित्य और अनित्य वस्तु का उक्त रीति से विवेक हो जाने पर वैसी आत्मा साध्य होती है । आत्मा स्वतः सिद्ध नहीं है । इस प्रकार आत्मा की अविद्या निवृत्ति से विस्मृत कण्ठमणि स्मरण न्याय से पीछे है वैसा ज्ञान होता है ऐसा स्वीकार करते हैं । इसलिये ज्ञान से यदि अहंकार की निवृत्ति अङ्गीकार करेंगे तो इससे सांख्य की सिद्धि नहीं होती है । किन्तु ऊपर बताई हुई प्रक्रिया से सांख्य की सिद्धि होती है । विस्मृत कण्ठमणि स्मरण न्याय का तात्पर्य यह है कि जैसे किसी ने मणि को तो गले में पहन रक्खी है परन्तु उसे उसकी याद न रही तो वह उस मणि को इधर उधर ढूंढता है उसे मिलती नहीं फिर उसे जब उसकी याद आ जाय कि अरे वह मणि तो मेरे गले में हो है । इसको 'विस्मृत कण्ठमणि स्मरण' न्याय कहते हैं । अतः इस तरह ज्ञान से अहंकार की निवृत्ति स्वीकार करेंगे तो वह मत मायावादियों जैसा हो जायगा ऐसी आशंका करके ज्ञान ही मोक्ष का सम्पादक है । मोक्ष का लक्षण है 'अन्यथारूप का परित्याग कर स्वरूप में व्यवस्थित होना ही मुक्ति है' 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' वैसा होने पर क्रिया के द्वारा जैसे वस्त्र में शुद्धि आती है उसी तरह यहाँ आत्मा में ज्ञान से शुद्धि करके उसके स्वरूप का आविर्भाव किया जाता है उसका २६ वें श्लोक में उपपादन किया है—'प्रकाश'

श्लोकार्थ—वही ज्ञान स्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है, वही ईश्वर है, वही पुरुष है, वही एक भगवान् स्वयं जीव, शरीर, विषय, इन्द्रियों आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है ।।२६।।

सुबोधिनी–ज्ञानमात्रमिति । **ज्ञानं** नामाविर्भूतं नित्यं केवलोपनिषद्वेद्यं चैतन्यम्, तदेव ब्रह्मशब्देनोच्यते ब्रह्मप्रकरणे । तदेव पुनः स्वेच्छयाविर्भूतैश्वर्य**मीश्वरशब्दे**नोच्यते । यस्मिन्नाविष्टे प्राकृतोऽपि पुरुषः 'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्' इति मन्यते । अतस्तदेवेश्वररूपं ब्रह्मरूपं च । उपाख्यानान्तरेऽपि अन्तर्दृष्टया बोधनभेदप्रकारेणाऽऽत्मेत्युच्यते । तदेव ज्ञानमन्तर्दृष्टया आत्मत्वेन दृष्टं **परमात्म**शब्देनोच्यते । तदेव च पुनर्बहिर्दृष्टया दृष्टमीश्वरशब्देन कालशब्देनोच्यते । स एव च पुनरुपास्यरूपेण व्यवहाररूपेण च दृष्टः पुमान् त्रिविधपुरुषरूपेण भासते । अतो मूलभूते तस्मिन्नाविर्भूते सर्वमेव सङ्गच्छत इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । नन्वेकमेव वस्तु कथमनेकधा भवतीत्याकाङ्क्षायामाह–**दृश्यादिभिरिति** । द्रष्टुर्भावभेदेनैव एक एव भगवान् बहुधा ईयते । भावास्तु पृथक् । यथैक एव देवदत्तः पित्रादिशब्दैरनेकभावैर्व्यवह्रियते, भवति च तथा । तथापि यस्य यो भाव उत्पद्यते, तं प्रति तथैवेति तथैवार्थसिद्धिः । अतो मूलरूपाविर्भावार्थं यत्नः कर्तव्य इति सिद्धम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—ज्ञान ही आविर्भूत नित्य, केवल उपनिषद् वेद्य चैतन्य है । ब्रह्म प्रकरण में ज्ञान ही ब्रह्म शब्द से कहा जाता है, वहीं ज्ञान अपनी इच्छा से आविर्भूत ऐश्वर्य वाला होता है तो ईश्वर शब्द से कहा जाता है । जिस में उस ईश्वरत्व का आवेश हो जाता है तो प्राकृत पुरुष भी अपने को 'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठित्' मेरे से ही यह सब उत्पन्न हुआ है और यह सब मेरे में ही प्रतिष्ठित है ऐसा मानता है । इसलिये वह ज्ञान ही ईश्वर रूप और ब्रह्म रूप है ।* वही ज्ञान अन्तर्दृष्टि से आत्मत्व रूप से देखा जाने पर परमात्मा शब्द से कहा जाता है । वही ज्ञान यदि बहिर्दृष्टि से देखा जाने पर ईश्वर शब्द से अथवा काल शब्द से कहा जाता है । वही ज्ञान यदि उपास्यरूप से और व्यवहार रूप से देखा जाय तो वह पुरुष तीन क्षर-अक्षर-पुरुषोत्तम रूप से भासित होता है । अतः मूलभूत उसके आविर्भूत होने पर सभी संगत होता है इसलिये कोई बात युक्ति रहित नहीं है । शंका हो सकती है कि एक ही वस्तु (ज्ञान) अनेक प्रकार से कैसे भासित होती है उसका उत्तर दृष्यादिभिः से देते हैं—दृष्टा के भाव के भेद से ही एक ही भगवान् बहुत रूप से प्रतीत होता है । भाव तो अलग अलग हैं । जैसे देवदत्त तो एक ही होता है किन्तु वह किसी का पिता किसी का भाई किसी का पुत्र आदि अनेक भावों से व्यवहार में आता है वह वैसा होता भी है । भगवान् के एक होने पर जिसका जो भाव होता है उसके लिये वह वैसा ही हो जाता है और उसके अर्थ की सिद्धि भी उसी तरह होती है । इसलिये मूलरूप के आविर्भाव के लिये प्रयत्न करना चाहिये ऐसा सिद्ध होता है ।।२६।।

---

* शारीर ब्राह्मण और मैत्रेयी ब्राह्मण आदि उपाख्यान में अन्तर्दृष्टि से बोधन भेद प्रकार से उसी ज्ञान को आत्मा कहते है । 'प्रकाश'

आभास—ज्ञानस्य प्रशंसां स्वरूपं चोक्त्वा वैराग्यस्य प्रशंसास्वरूपाण्याह—**एतावानेवेति** चतुर्भिः—

आभासार्थ—ज्ञान की प्रशंसा और उसका स्वरूप कह कर वैराग्य की प्रशंसा और उसके स्वरूपों को चार श्लोको से कहते हैं—

श्लोक—**एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।**
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु सर्वतः ।।२७।।

श्लोकार्थ—सम्पूर्ण संसार में आसक्ति का अभाव हो जाना बस यही योगियों के सब प्रकार के योगसाधन का एकमात्र अभीष्ट फल है ।।२७।।

सुबोधिनी—प्रथमतः सर्वेषां शास्त्राणां वैराग्यमेव फलमिति प्रमाणनिर्णयमाह । संपूर्णेनापि योगेन । योगशास्त्रे सर्वेषामेव ज्ञानभक्तिकर्मादीनां योगशब्दवाच्यतैव । अतो योगिनः सर्वैरेवोपायैरयमेवार्थो युज्यते । यद्यदा सर्वतश्चेदसङ्गो भवति । **तुशब्दः** पक्षान्तरं व्यावर्तयति । ये वैराग्यं नाभिमन्यन्ते, वैराग्याभावे ज्ञानमेव न भवेत् । जातं वा न किञ्चित्कार्यं कुर्यात्, दोषस्यानिवृत्तत्वात् । सर्वथा निवृत्ते दोषे स्वप्रकाशरूप आत्मा आविर्भाविष्यतीति कोऽपि न तत्र प्रयासः कर्तव्यः । अतः सर्वशास्त्राणां फलं वैराग्यम ।।२७।।

व्याख्यार्थ—प्रथम तो सब शास्त्रों का वैराग्य ही फल है यह बताया अब प्रमाण निर्णय कहते हैं । सम्पूर्ण योग से भी वैराग्य होता है । योग का फल कह देने मात्र से कैसे सब प्रमाणों का निर्णय होता है ऐसी आकांक्षा करके कहते है कि योगशास्त्र में ज्ञान-भक्ति-कर्म आदि सब को योग शब्द से ही कहा जाता है इसका तात्पर्य यह हुआ कि योग पद से सब साधनों के संग्रह में उसके फल कथन से ही उसके बोधक प्रमाण का निर्णय कहा गया है अतः वैराग्य का माहात्म्य यहाँ सिद्ध किया है इसलिये योगी के लिये सभी उपायों से ये ही अर्थ युक्त है । 'यत्' का अर्थ है जिस समय सब और से सङ्ग रहित होता है । इसमें अन्य कोई पक्ष नहीं है यह 'तु' शब्द से बताया है । जो वैराग्य को नहीं मानते हैं तो वैराग्य के बिना ज्ञान नहीं हो सकता । यदि ज्ञान हो भी गया तो उससे कोई कार्य नहीं हो सकता क्यों कि दोष तो निवृत्त हुए ही नहीं है । यदि दोष सब तरह से निवृत्त हो जाय तो स्वप्रकाश रूप आत्मा आविर्भूत हो जायगी इसमें किसी प्रकार के प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है । अतः सब शास्त्रों का फल वैराग्य है ।।२७।।

आभास—एवं प्रमाणविचारेण वैराग्योत्कर्षमुक्त्वा प्रमेयविचारेणाप्याह—

आभासार्थ—इस तरह प्रमाण विचार से वैराग्य का उत्कर्ष कहकर प्रमेय विचार से भी कहते हैं—

श्लोक—**ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।**
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ।।२८।।

श्लोकार्थ—ब्रह्म एक है, ज्ञान स्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्यवृत्तियों वाली इन्द्रियों के द्वारा भ्रान्ति वश शब्दादि धर्मों वाले विभिन्न पदार्थों के रूप में भास रहा है ।।२८।।

सुबोधिनी–ज्ञानमेकमिति । वस्तुत: सर्वं जगद् बोधान्वयव्यतिरेकानुसरणात् बोधमात्रमित्यवसीयते । य: कश्चन लौकिको वैदिक:, सर्वोऽपि व्यवहार: बोध एव पर्यवसित इति । यथा सर्वे तरङ्गा: समुद्रे पर्यवसिता इति । अत एकमेव ज्ञानं **पराचीनै**: प्राकृतैरिन्द्रियैर्व्यापकत्वात्, बृंहणत्वाच्च निर्गुणमेव, गुणानां तदतिरिक्तानामभावाद् घटपटाद्यर्थरूपेण भ्रान्त्याऽवभाति । अत: शुक्तिका रजतवत् प्रतिभासत इति वस्तुविचारेणाऽपि तत्रासक्तिर्नोचिता । ते हि प्राकृता: स्वबुध्धनुसारेणैव तद्गृह्णन्ति । एकदेशग्रहणेन, स्वस्वभावग्रहणेन च तदन्यथा गृहीतं भवति । अत: स्वेन्द्रियादिधर्मा एव तत्रारोप्य गृह्यन्त इति ख्यातिवादा बहुविधा उत्पन्ना: । धर्माणामेव वस्तुत: प्रतिभानमित्यन्यख्याति: । आधारमपि पुरस्कृत्य तत्र कञ्चनार्थं परिकल्प्य ग्राहकधर्मसम्बन्धादन्यथेत्यप्याहु: । यथा प्रतीतिर्भ्रान्ता तथा कल्पनापीति नात्यन्तमाग्रह: कर्तव्य: । शब्दादिधर्मवांश्चायम् । **आदिशब्देनार्था:**, (?) तद्वच्छब्दधर्मादयो गृहीता: । ते च धर्मा अनादिवासनया स्फुरन्तीति मिथ्यावादिनोऽप्येकदेशिवैराग्यप्रवेशेन संगृहीता भवन्ति ।।२८।।

व्याख्यार्थ—वास्तव में सम्पूर्ण जगत् बोधमात्र ही है ऐसा निश्चय होता है इसकी बोधमात्रता अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करती है । जो भी कोई लौकिक अथवा वैदिक सारा ही व्यवहार बोध में पर्यवसान को प्राप्त होता है 'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्' यहाँ पर सकल वस्तु स्वरूप की सद्रूपता जैसे सदन्वयव्यतिरेक के अनुसरण से सिद्ध होती है उसी तरह यहाँ सकल व्यवहार का बोधनान्वय व्यतिरेक के अनुसरण से बोध में पर्यवसान होने से बोधरूपता सिद्ध होती है । यहाँ शंका होती है कि बोध से होने वाला भी व्यवहार भासित नहीं होता है अत: उस का भी पर्यवसान सन्मात्र में ही होना बोध में उसका पर्यवसान नहीं होगा इसका उत्तर यह है कि जैसे तरंगे जल से उत्पन्न होती है किन्तु उनका पर्यवसान (समावेश) समुद्र में होता है इसलिये उनको समुद्र की तंरगे कहा जाता है इसीलिये तरंगों में उत्पन्न होने वाला भी फेन, समुद्र-फेन कहा जाता है तरंगफेन या जल फेन नहीं कहा जाता । इसी तरह सब व्यवहार सत् से उत्पन्न होने पर तथा उसी में उनका पर्यवसान होने पर भी सत् व्यवहार बिना ज्ञान के होता नहीं इसलिये सब व्यवहारों का बोध में पर्यवसान (समावेश) होता है । इसलिये मूलज्ञान का सत् से अभेद है ऐसा समझना चाहिये । इसलिये एक ही ज्ञान पराचीन (बाहर की ओर देखने वाली) प्राकृत इन्द्रियों से व्यापक होने के कारण एवं महत्व के कारण निर्गुण ही रहता है । क्यों कि उनसे अतिरिक्त न होने से गुणों का 'घट' 'पट' आदि अर्थ रूप भ्रान्ति से भान होता है । अर्थात् जो जिस से उत्पन्न होता है वह उससे अलग नहीं होता जैसे मिट्टी से घट उत्पन्न होता है तो वह मिट्टी से अलग कैसे रह सकता है । इस तरह बहिर्मुख प्रतीति से भ्रान्ति का निरूपण करके अब वैराग्य को उत्पन्न करने वाली युक्ति को वहाँ स्पष्ट करते हैं । जैसे सीप में चांदी का भान होता है परन्तु वस्तु विचार से भी उसमें आसक्ति उचित नहीं है । तात्पर्य यह है कि सीप में जो चांदी का ज्ञान हो रहा है वह केवल बुद्धि रूप होने पर भी उस से अलग ही भासित होता है । उसी तरह सब जगत् की

वस्तुएँ ब्रह्मात्मक ज्ञानरूप (सब ब्रह्मरूप) होने पर भी उससे (ब्रह्म से) अतिरिक्त (घट', 'पट', स्त्री, पुत्र आदि) रूप से भासित होती है इसलिये आपाततः सामने दीखने वाले रूप में आसक्ति न करना इस तरह यहाँ प्रमेय स्वरूप विचार में ही वैराग्य को जन्म देने वाली युक्ति है। अर्थात् जगत् के स्त्री, पुत्र, धन आदि सकल पदार्थ ब्रह्मरूप हैं ऐसी समझ रहेगी तो उनमें आसक्ति नहीं होगी किन्तु उनसे वैराग्य उत्पन्न होगा। यहाँ यह शंका होती है कि यदि सब वस्तु ज्ञान रूप है तो फिर उनकी अर्थ रूप (घट पट आदि) से प्रतीति क्यों होती है इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियाँ पराचीन हैं इन्द्रियें बाह्य पदार्थों को तो देख सकती हैं किन्तु अन्तरात्मा को नहीं देख सकती हैं। इसलिये जो सामान्य होते हैं वे अपनी बुद्धि के अनुसार ही उनको जानते हैं अर्थात् उन इन्द्रियों से उन्हें ब्रह्म तो दीखता नहीं घट(घड़ा) पट (कपड़ा) आदि लौकिक पदार्थ ही दिखाई देते हैं शंका होती है कि किसी एक व्यक्ति को ऐसी भ्रान्ति होती हो तब तो ऐसा कहना ठीक होगा किन्तु सबको जगत् के पदार्थ 'घट' 'पट' स्त्री पुत्र आदि के रूप में ही प्रतीत होते हैं तो इस प्रतीति को हम भ्रम कैसे कह सकते हैं इसका उत्तर यह है कि व्यापक जो सर्वाकार ज्ञान है उसका जो एक देश है कोई आकार और परिच्छेद उसके ग्रहण से इन्द्रियों का जो बाह्य पदार्थों को देखने का स्वभाव है उससे जगत् के पदार्थ ब्रह्म रूप से नहीं दिखाई देते किन्तु अर्थ ('घट' 'पट' आदि) रूप से दीखते हैं अतः अपनी इन्द्रियों के जो अनन्त धर्म हैं उनका आरोप करके ही जो ग्रहण किया जाता है इससे अनेक प्रकार के ख्यातिवाद उत्पन्न होते हैं। जब अनन्त ख्यातिवाद हैं तो फिर किसी एक ही ख्याति को सर्वजनीन नहीं कह सकते तब तो सर्वजनीन न होने से उस ज्ञान को भ्रान्त ही कहा जायगा। उन ख्यातिवादों की एक दिशा बतलाते हैं। जहाँ वस्तु के धर्मों की ही प्रतीति होती हो उसे अन्य ख्याति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी ने सीप को पड़ा हुआ देखा वह चांदी के समान चमक रहा था उस चमक को देख कर उसने यह तो विचार नहीं किया कि चमकने वाली वस्तु क्या है उसने तो चमक को देखकर उसे चांदी समझ लिया इसमें अन्य रूप की ख्याति है इसी तरह कड़वे गुड़ में रस की दिशा का बराबर ज्ञान न होने पर किसी दिशा को पूर्व समझ लेना इत्यादि में जैसे सीप चांदी नहीं है गुड़ में कड़वापन नहीं है जिस को यह पूर्व समझ बैठा है वह पूर्व नहीं है परन्तु बुद्धि में केवल इस तरह की समझ होती है इसे अन्य ख्याति कहते हैं। ऐसे ही अन्यथा ख्याति भी होती है उसमें कोई आधार अवश्य होता है जैसे सीप में चांदी का जो ज्ञान हो रहा है उसमें पहले देखी हुई चांदी का जो धर्म है उस धर्म का सीप में भेद ज्ञात नहीं होता इसलिये सीप में चांदी समझने वाली इन्द्रियों का जो धर्म रूप दोष है उस दोष के सम्बन्ध से सामने पड़ी हुई सीप चांदी के रूप में दिखाई देती है इसे अन्यथा ख्याति कहते हैं। यहाँ जैसे प्रतीति होना भ्रम है उसी तरह सीप आदि में चांदी आदि की कल्पना भी भ्रम है इसलिये सीप आदि में चांदी का भ्रम हो रहा है ऐसा कहो या सीप में चांदी की कल्पना है इसमें विशेष आग्रह अनावश्यक है अन्यथा ख्याति की तरह ही सीप में अनिर्वचनीय रजत (चांदी) की उत्पत्ति होती है उसकी गणना भी अन्यथा ख्याति में ही है । इस तरह सभी प्रतीतियों को असार्व-जनिक बताकर उनको अनादरणीय बताया है वास्तव में तो विवेक धैर्याश्रय में 'सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च' उस ब्रह्म के सब जगह सब हैं और उसमें सब सामर्थ्य है ऐसा कहा

है इससे तथा 'सर्वं सर्वमयम्' सब सर्वमय है इस तापनीय श्रुति से तो अख्यातिवाद[1] ही ब्रह्म-वादियों का सिद्धान्त है ऐसा बोधित होता है। शब्द आदि धर्म वाला भी यह अर्थ रूप ज्ञान धर्म है। शब्दादि में जो आदि शब्द है उस अर्थ की तरह ही शब्द धर्म आदि का यहाँ ग्रहण है। वे धर्म अनादि वासना के कारण स्फुरित होते हैं इस तरह मिथ्या वादियों का भी एक देशी वैराग्य में उनका भी यहाँ ग्रहण हो जाता है ॥२८॥

---

(१) ख्यातियाँ अनेक प्रकार की हैं जैसे आत्मख्याति, असत् ख्याति, अख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, सत्ख्याति, अन्यथा ख्याति जहाँ स्वयं ज्ञान की ही ख्याति हो अर्थात् विषयरूप से भान हो उसे आत्मख्याति कहते हैं। जैसे सीप में यह चांदी है यहाँ ज्ञान का ही चांदी के रूप में भान हो रहा है। यहां कोई बाह्य पदार्थ नहीं है इसलिये यह घड़ा है इत्यादि में ज्ञान ही का विषयरूप से भान होता है इस आत्म ख्याति को मानने वाले योगाचार बौद्ध हैं।

अविद्यमान चांदी आदि की जो ख्याति (प्रतीति) होती है उसे असत्ख्याति कहते हैं जैसे—सीप में यह चांदी है इस तरह प्रतिभासित होने वाली वस्तु ज्ञान रूप नहीं हो सकती 'यह चांदी है' इस तरह अन्तर्मुखाकारता से भासित नहीं है न वह अर्थरूप है क्योंकि रजत (चांदी) से साध्य जो अर्थ क्रियाकारिता (गहनों का निर्माण) नहीं है इसलिये असत् ही रजत वहाँ प्रतीत हो रही है अतः यह असत्ख्याति है इसके मानने वाले माध्यमिक बौद्ध हैं।

विवेका ख्याति को अख्याति (अप्रतीति) कहते हैं सीप में यह चांदी है यहाँ प्रत्यक्ष तथा चांदी का स्मरण इस तरह दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं उस में यह (सीप) तो प्रत्यक्ष का विषय है और हाट में रहने वाली चांदी स्मरण का विषय है उन प्रत्यक्ष और स्मरण के विषय जो सीप और चांदी इनका इन्द्रिय दोष के कारण भेद ज्ञान नहीं हो रहा है अतः इसे भेदाख्याति या विवेकाख्याति कहते हैं। इसके मानने वाले मीमांसक हैं।

सत्व और असत्वरूप से अनिर्वचीय जो रजत आदि की ख्याति (प्रतीति) है उसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। सीप में यह चांदी है यहाँ रजत (चांदी) तो सत्य नहीं है क्योंकि आगे उसका बोध होगा यदि सत्य चांदी होती तो उसका बोध नहीं होता। प्रतीत हो रही है अतः चांदी असत् है ऐसा भी नहीं कह सकते जो असत् हो उसकी तो प्रतीति कभी होती नहीं जैसे बांझ का लड़का इसलिये इसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं इसके मानने वाले अद्वैतवादी शांकमतवाले हैं।

विद्यमान विषय की ही ख्याति (प्रतीति) होती है, सीप में यह चांदी है यहाँ सीप में रहने वाले जो चांदी के अंश हैं उन्हीं की प्रतीति हो रही है 'वह ही उसके समान होता है जो उस द्रव्य का एक देश होता है' इस नियम से पञ्चीकरण प्रक्रिया से सीप में चांदी के अंश विद्यमान हैं, अदृष्ट के कारण सीप के अंश अधिक हैं किन्तु उनकी प्रतीति नहीं हो रही है और चांदी के अंश थोड़े हैं फिर भी उनकी प्रतीति हो रही है इसलिये सीप में जो चांदी का ज्ञान हो रहा है वह यथार्थ ही है वहाँ ज्ञान का विषय विद्यमान है जब विषय व्यवहार बाधित

शेष पाद टिप्पणी पृष्ठ ३०७ पर देखे।

आभास—तानेव भेदान् गणयति युक्त्या विचारयन्निव—

आभासार्थ—युक्ति से विचार करते हुए की तरह तत्वों के उन्हीं भेदों को गिनाते हैं—

श्लोक—**यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।**
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ।।२९।।

श्लोकार्थ—जिस प्रकार एक ही परब्रह्म महत्तत्व वैकारिक, राजस और तामस तीन प्रकार का अहङ्कार, पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियरूप बन गया और फिर वही स्वयं प्रकाश इनके संयोग से जीव कहलाया उसी प्रकार उस जीव का शरीररूप यह ब्रह्माण्ड भी वस्तुतः ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म से ही इसकी उत्पत्ति हुई है ।।२९।।

सुबोधिनी-यथेति । तत्त्वानां तद्भावापन्नत्वेन तत्त्वशब्दवाच्यत्वोपपत्तेः, यथा महदादयः प्राकृतैर्धर्मैः कृत्वा तत्त्वशब्दवाच्या जायन्ते । वस्तुतोऽन्यधर्मवत्त्वेन ज्ञानमेव तत्तच्छब्दवाच्यम् । एवमिदानीमपि प्रतीयमानमित्यर्थः । अहङ्कारस्यानेकरूपत्वादहंपदस्यात्मशब्दवाच्यत्वाच्च तत्सन्देहनिवृत्त्यर्थं **रूपपदम्** । **त्रिवृत्त्रिविधः** । ततः सर्वे पञ्चविधाः, मात्राभूतप्राणादिरूपाः । **एकादशविध** इन्द्रियरूपः । मध्ये **स्वराडिति** पुरुषो नारायणः । इन्द्रियाद्यपेक्षारहित इति ततः पूर्वं निरूपितः । **तस्य वपुर्विराट्**, अण्डं तस्यावरकं जगत्तस्यैव मध्ये कार्यम् । यतो धर्मसहितज्ञानप्रतीत्यैव केवलमवभासते ।।२९।।

व्याख्यार्थ—तस्य भावः तत्वम् उस रूप में हो जाना इस तरह तत्वों की तत्व शब्द वाच्यता युक्ति से सिद्ध होती है । जिस तरह महत् आदि प्राकृत (प्रकृति के) धर्मों से तत्व कहे जाते हैं । वास्तव में तो अन्य धर्म वेत्ता से ज्ञान ही उन शब्दों से कहा जाता है । जैसे भ्रान्ति से महत् आदि प्रकृति के धर्मों के कारण तत्व कहे जाते हैं उसी तरह अब प्रतीयमान भी तत्व शब्द से कहे जाते हैं । अहङ्कार के अनेक रूप होने से और अहं पद के आत्मशब्द वाच्य होने से यहाँ सन्देह होगा इसलिये अहं के साथ रूपपद को जोड़ दिया है । अहङ्कार वैकारिक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का है । इसके बाद मात्रा, महाभूत और प्राण आदि

—पृष्ठ ३०६ की पाद टिप्पणी का शेष

होगा तो उसे भ्रम कहेंगे इस तरह इस सत्ख्याति के मानने वाले विशिष्टाद्वैत वादी रामानुज हैं ।

अन्यथास्थित वस्तु की अन्य रूप से प्रतीति को अन्यथाख्याति कहते हैं अन्यथास्थित जो सीप रूप अर्थ है उसकी अन्यथा अर्थात् चांदी के रूप से प्रतीति हो रही है अतः इसे अन्यथा ख्याति या विपरीत ख्याति कहते हैं इसके मानने वाले नैयायिक तथा जैन हैं । —'प्रकाश'

रूप से पाँच प्रकार का है। इन्द्रिय रूप वह ग्यारह प्रकार का है। मध्य में स्वराट् पुरुष नारायण है। इस विराट् को इन्द्रिय आदि की अपेक्षा नहीं है इसलिये इसका निरूपण पहले किया है। उस नारायण का शरीर विराट् है और अण्ड उसका आवरण है उस अण्ड के अन्दर जगत् है जो उस नारायण का कार्य है। इसलिये धर्म सहित ज्ञान प्रतीति से ही वह केवल अवभासित है ॥ २९ ॥

आभास—साधितं युक्त्या फलमुखेन साधयति—

आभासार्थ—युक्ति से उसकी सिद्धि कर दी अब फल मुख से उसका साधन करते हैं—

श्लोक—**एतद्धि श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।**
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्तः परिपश्यति ॥३०॥

श्लोकार्थ—किन्तु इसे ब्रह्मरूप वही देख सकता है, जो श्रद्धा, भक्ति और वैराग्य तथा निरन्तर योगाभ्यास के द्वारा एकाग्रचित्त और असङ्ग बुद्धि हो गया है ॥३०॥

सुबोधिनी–एतद्धीति । एतत्पूर्वोक्तं विरक्तः परिपश्यति, नाविरक्तः । एतच्च वैराग्यं भगवतः षष्ठो गुण इति ततः पूर्वं पञ्चभिः पदार्थसाधकैः सिध्यतीति तत्साधकत्वेन पञ्चसाधनान्याह–अत्रार्थे आस्तिक्यबुद्धिर्भगवति बुद्धिः, अष्टाङ्गो योगश्चेति गुणत्रयम् । दोषाभावद्वयमाह–**समाहितात्मा निःसङ्ग** इति । अन्तर्बहिः सङ्गाभावो निरूपितः । एवं सप्तविधः शास्त्रार्थो निरूपितः । भगवत्प्रतिपादकत्वेन, गुणानां प्रत्येकप्रकारप्रतिपादकत्वेन च । अतः शास्त्राणां निरूपणभेदेषु परस्परविरोधो नाशङ्कनीयः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार पूर्व श्लोक में बताये गये ब्रह्म के स्वरूप को विरक्त देख सकता है जो विरक्त नहीं है वह नहीं देख सकता। यह वैराग्य भगवान् के 'यश' 'श्री' आदि जो छः गुण हैं उनमें यह छठा गुण है इसलिये उसमें पूर्व पदार्थ के साधक जो पाँच गुण हैं उन पाँच गुणों के साधक रूप पाँच साधनों को कहते हैं इनमें आस्तिक्य बुद्धि, भगवान् में बुद्धि और अष्टाङ्ग-योग ये तीन गुण हैं। समाहित आत्मा और निःसङ्ग इससे दो दोषों का अभाव बताया इससे अन्तः संग के अभाव का और बहिः संग के अभाव का निरूपण किया। इस तरह सात प्रकार के शास्त्रार्थ का निरूपण किया। भगवत्प्रतिपादकत्व से और गुणों के प्रत्येक प्रकार के प्रतिपादकत्व से निरूपण किया। इसलिये शास्त्रों के निरूपण में जो भेद हैं वे एक दूसरे से विरुद्ध हैं ऐसी आशंका नहीं करना ॥ ३० ॥

आभास—उपसंहरति—

आभासार्थ—अब इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**इत्येतत्कथितं गुर्वि ! ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ।**
येनावबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥३१॥

श्लोकार्थ—पूजनीय माताजी! मैंने तुम्हें यह ब्रह्म साक्षात्कार का साधनरूप ज्ञान सुनाया। इसके द्वारा प्रकृति और पुरुष के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है ।३१।

सुबोधिनो—इत्येतदिति । हे गुर्वि एतावदुपदेशेऽपि नाऽहं गुरुः, किन्तु त्वमेव गुरुः । आज्ञया परं निरूपितमिति। **इतीति** समाप्त्यर्थे । एतत्सर्वं ज्ञानमेव निरूपितम् । सप्तविधोऽपि सिद्धान्तो ज्ञानविद एवेति तेन उपसंहारः । अनेन ब्रह्माविर्भावो भवतीति ब्रह्माविर्भावः फलमुक्तम् । यद्यपि देवहूत्या पृष्टम्, '**जिज्ञासयाऽहं प्रकृतेः पुरुषस्य**' इति । तदप्यनेनैव भवतीत्याह—**येनावबुध्यत** इति । एवं सप्तविधं ज्ञानशास्त्रम्, भक्तिशास्त्रं चापरम्, तस्य च बहुविधा भेदा उक्ताः । स हि क्रियाप्रधानः । यथा पुरुषस्य स्वरूपम्, गुणाः, कर्माणि चेति । तत्र स्वरूपप्रतिपादकं वैदिकं शास्त्रम्, षडन्यानि गुणप्रतिपादकानि । क्रियाप्रतिपादकं च भक्तिशास्त्रम् । तेषां भिन्नान्यैव सर्वेषां फलानि ।।३१।।

व्याख्यार्थ—हे गुर्वि ! यह संबोधन इसलिये है कि इतना उपदेश मैंने तुम्हें दिया तथापि मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ किन्तु गुरु तो तुम ही हो। अर्थात् तुमने मुझे जो आज्ञा दी थी उससे मैंने निरूपण किया था। 'इत्येतत्' यहाँ जो इति शब्द है वह समाप्ति के अर्थ में है। यह सब निरूपण ज्ञान का ही किया है। सात प्रकार का भी सिद्धान्त ज्ञानवेत्ता के ही लिये है इसलिये उसका उपसंहार है। इससे ब्रह्म का आविर्भाव होता है इसलिये ब्रह्माविर्भाव फल कहा। यद्यपि देवहूति ने पूछा था कि 'मैं प्रकृति और पुरुष की जिज्ञासा से तुम्हें पूछ रही हूँ' वह भी इसी से ही होता है इस को 'येनावबुध्यते' से बताया है। इस तरह सात प्रकार का ज्ञान शास्त्र और दूसरा भक्तिशास्त्र उसके बहुत प्रकार के भेद कहे। वह क्रिया प्रधान है, जैसे पुरुष का स्वरूप, गुण और कर्म है उनमें स्वरूप प्रतिपादक वैदिकशास्त्र हैं, अन्य छः गुण के प्रतिपादक हैं और क्रियाप्रतिपादक भक्ति शास्त्र है इन सब के फल अलग अलग ही हैं ।।३१।।

आभास—तत्र स्वरूपमुख्यभक्तिशास्त्रयोरेकं फलमित्याह—

आभासार्थ—उनमें स्वरूप और मुख्य भक्ति शास्त्र इन दोनों का एक फल है इसे कहते हैं—

श्लोक—**ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।**
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ।।३२।।

श्लोकार्थ—हे देवि ! निर्गुण ब्रह्म विषयक ज्ञानयोग और मेरे प्रति किया हुआ भक्तियोग इन दोनों का फल एक ही है उसे ही भगवान् कहते हैं ।।३२।।

सुबोधिनी—ज्ञानयोगश्चेति । **मन्निष्ठ** इति षण्णां व्युदासः । **नैर्गुण्यो भक्तिलक्षण** इति निर्दुष्टो भक्तिमार्ग उक्तः । द्वयोरप्येकमेव फलम्, भक्त्याऽपि भगवान् प्राप्यते धर्मी मुख्येनाऽपि ज्ञानेन । अत एव भगवच्छब्देन लक्ष्यते भगवच्छब्दो वा लक्षणं यस्येति । अतः शास्त्रद्वयमेकं षडन्यान्यङ्गशास्त्राणीति सिद्धम् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—'मन्निष्ठः' ऐसा कहने से छः को हटा दिया है। नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः का तात्पर्य है कि भक्ति मार्ग में कोई दोष नहीं है ऐसा कहा। दोनों का भी एक ही फल है। भक्ति से भी भगवान् प्राप्त होते हैं और धर्मी (भगवान्) मुख्य ज्ञान से भी प्राप्त होते हैं। अतएव भगवान् शब्द से वे लक्षित होते हैं अथवा भगवत् शब्द है लक्षण जिसका ऐसा भी अर्थ हो सकता है। अतः दोनों शास्त्र एक हैं और अन्य छः अङ्ग शास्त्र है ऐसा सिद्ध हुआ ।।३२।।

आभास—नन्वेको भगवान् कथमनेकविधानि शास्त्राणीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

आभासार्थ—शंका होती है कि भगवान् तो एक है और शास्त्र अनेक प्रकार के कैसे हैं इस को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

श्लोक—**यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।**
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः ।।३३।।

श्लोकार्थ—जैसे रूप, रस, गन्ध आदि अनेक गुणों का आश्रयभूत एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से अनुभूत होता है वैसे ही शास्त्रों के विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही भगवान् की अनुभूति अनेक प्रकार से होती है ।।३३।।

सुबोधिनी—यथेन्द्रियैरिति । यथा रूपरसगन्धस्पर्शवत् द्रव्यं सर्वैरेवेन्द्रियैः पृथक् पृथक् प्रतीयते । चक्षू रूपपुरस्कारेण पदार्थं गृह्णाति, रसना रसपुरस्कारेण, घ्राणं गन्धपुरस्कारेणेत्यादि । एवमनेकधर्मयुक्तो भगवान् तद्धर्मपुरस्कारेण प्रतिपाद्यत इति सर्वेषां शास्त्राणामेक एव भगवान् तत्तद्धर्ममुख्यतया नाना ईयते ।।३३।।

व्याख्यार्थ—जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, वाला द्रव्य सभी इन्द्रियों से अलग अलग प्रतीत होता है। चक्षु इन्द्रिय रूप को ही मुख्य रूप से ग्रहण करती है, रसना (जीभ) इन्द्रिय रस को ही मुख्यरूप से ग्रहण करती है, घ्राण (नासिका) इन्द्रिय गन्ध को ही मुख्यरूप से ग्रहण करती है। इसी तरह अनेक धर्मों से युक्त भगवान् उन धर्मों से मुख्यरूप से प्रतिपादित किया जाता है इसलिये सब शास्त्रों का एक ही भगवान् उन उन धर्मों की मुख्यता से नाना रूप से जाना जाता है ।।३३।।

आभास—किञ्च, सर्वैरेव साधनैरेक एव प्राप्यत इत्याह—**क्रिययेत्यादित्रिभिः**—

आभासार्थ—और सभी साधनों से एक ही तो प्राप्त होता है, इन तीन श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपः स्वाध्यायमर्शनैः ।**
आत्मेन्द्रियजयेनाऽपि संन्यासेन च कर्मणाम् ।।३४।।

श्लोक—**योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।**
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ।।३५।।

आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ।।३६।।

श्लोकार्थ—नाना प्रकार के कर्म कलाप, यज्ञ, दान, तप, वेदाध्ययन, वेद का विचार, मन और इन्द्रियों के संयम और कर्मों के त्याग से, विविध अंगों वाले योग, भक्ति योग, निवृत्ति और प्रवृत्ति रूप सकाम और निष्काम दोनों प्रकार के धर्म आत्मतत्व के ज्ञान और दृढ़ वैराग्य इन सभी साधनों से सगुण निर्गुणरूप स्वयं प्रकाश भगवान् को ही प्राप्त किया जाता है ।।३४।।३५।।३६।।

सुबोधिनी—क्रियया स्नानादिस्मार्तक्रियया, **क्रतुभिर्यज्ञैः, दानैस्तुलापुरुषादिभिः, तपः, स्वाध्यायो** वेदाध्ययनम्, अवमर्शो विचारो मीमांसा । **आत्मान्तःकरणमिन्द्रियाणि च तेषां जयः । सन्यासः** अहंममेत्यादिसर्वपरित्यागः । **कर्मणामि**त्यावश्यकत्वज्ञापकम् । विविधाङ्गो योगः षडङ्गोऽष्टाङ्ग इत्यादि । भक्तियोगोऽप्यनेकविधः । धर्मो यो विधीयते वैराग्यरागोपाधिभेदेन द्विविधः, अतस्तयोर्भेदमाह—**यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमानि**ति । **आत्मतत्त्वावबोधः** साङ्ख्यम् । **दृढेन वैराग्येणे**ति विरक्तिशास्त्रम् । एवं सर्वैरेव साधनैरेक एव भगवान् पृथक् पृथगीयते । ननु सोपाधीनां गुणप्राप्तिः निरुपाधीनां चाऽऽत्मप्राप्तिरिति कथमेकफलमित्याशङ्क्याऽऽह—स एव **सगुणो निर्गुणः स्वदृगात्मा** चेत्यर्थः ।।३४।। ।।३५।।३६।।

व्याख्यार्थ—क्रियया से स्नान आदि स्मार्त्त क्रियाओं का ग्रहण है । क्रतुभिः,–यज्ञों से, दानैः-तुला पुरुष आदि दानों से, तप से, वेदाध्ययन से, अवमर्शः का अर्थ है विचार मीमांसा । आत्मा—अन्तःकरण एवं इन्द्रियों को जीत लेने से, अहंता ममता आदि सब के परित्यागरूप संन्यास से कर्मणाम् जो आवश्यक कर्मों के परित्याग से, छः अथवा आठ जिसके अंग है ऐसे विविध अंग वाले योग से, भक्तियोग के भी अनेक प्रकार हैं उस से, वैराग्य और राग इन दो प्रकार के भेद वाला धर्म जो किया जाता है । उस दो प्रकार के धर्म के भेद को प्रवृत्ति और निवृत्ति वाला कहा है । आत्मतत्वावबोध से सांख्य का ग्रहण है । दृढेन वैराग्येण से विरक्तिशास्त्र का ग्रहण है । इस तरह सभी साधनों से एक ही भगवान् अलग अलग जाना जाता है । शंका होती है कि जो उपाधि सहित है उनको गुण प्राप्ति होती है और निरुपाधिकों को आत्म प्राप्ति होती है तो फिर सब का एक ही फल कैसे कहा इसका उत्तर यह है कि वह भगवान् सगुण, निर्गुण एवं स्वदृक्-आत्मा है ।३४-३६।

आभास—एवमेकं फलमुपपाद्य, उक्तानां भक्तिभेदानां सगुणनिर्गुणभेदप्रतिपादनार्थं चातुर्विध्यमाह—

आभासार्थ--इस तरह एक फल का उपपादन कर के कहे गये जो भक्ति के भेद हैं उन में सगुण निर्गुण भेदों के प्रतिपादनार्थ उनके चार प्रकार को कहते हैं—

श्लोक—**प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् ।**
कालस्य चाऽव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ।।३७।।

श्लोकार्थ—माताजो ! सात्विक, राजस, तामस और निर्गुण भेद से चार प्रकार से भक्तियोग का और जो प्राणियों के जन्म आदि विकारों का हेतु हैं तथा जिसकी गति जानी नहीं जाती उस काल का स्वरूप मैं तुम से कह चुका हूँ ।।३७।।

सुबोधिनी-प्रावोचमिति । भेदः पारमार्थिक इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः । ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनः, रामानुजाश्चेति तमोरजःसत्वैर्भिन्नाः । अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः । एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः "**अभिसन्धाय यो हिंसाम्**" इत्यादिभिः वैराग्यार्थं कालस्याप्यव्यक्तगतेः स्वरूपमुक्तम् । अव्यक्ततायां हेतुः—**योऽन्तर्धावति जन्तुष्विति** ।।३७।।

व्याख्यार्थ—भेद वास्तविक है ऐसा शास्त्र को पुरस्कृत करके तीन प्रकार का भक्तियोग कहा । इस समय भक्ति के उन तीन भेदों को मानने वाले विष्णुस्वाभिमत का अनुसरण करने वाले तथा तत्ववादी एवं रामानुज हैं उनका यह भेद क्रमशः तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण से अलग अलग है हमारे द्वारा (आचार्य चरणों द्वारा) प्रतिपादित भेद निर्गुण है, इस तरह यह चारों प्रकार का भेद भगवान् ने प्रतिपादित किया है । 'अभिसन्धाय यो हिंसाम्' इत्यादि से वैराग्य के लिये अवयक्त (अप्रकट) गति वाले काल का भी स्वरूप कहा । काल अव्यक्त है उसमें हेतु देते है योऽन्तर्धावति जन्तुषु जो प्राणियों में अन्दर ही अन्दर जन्ममरण रूप अपना कार्य करता रहता है ।।३७।।

आभास—तस्य वैराग्यशेषत्वप्रतिपादनायाऽऽह—

आभासार्थ—वह वैराग्य का अङ्ग है इसे प्रतिपादन करने के लिये कहते है—

श्लोक—**जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः ।**
यास्वनुप्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ।।३८।।

श्लोकार्थ—हे देवि ! अविद्याजनित कर्म के कारण जीव की अनेकों गतियाँ होती हैं, उनमें जाने पर वह अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता ।।३८।।

सुबोधिनी—जीवस्येति । त्रिविधा गतयो जीवस्योक्ताः, प्रत्येकं बहुविधाः, अविद्याकर्मनिर्मिता इति । सर्वा एव अज्ञानोपाधिकर्मनिर्मिताः **प्रावोचमितिसम्बन्धः** । तासां कथनस्य प्रयोजनमाह—**यास्वनुप्रविशन्निति** । **यासु** गतिषु कर्मणा स्वयमनुप्रविशन्नात्मनो गतिं न वेद । अत एव तत्प्रवेशाभाव एवाऽऽत्मगतिर्भवतीति निषेधार्थमुक्तमित्यर्थः ।।३८।।

व्याख्यार्थ—जीव की तीन प्रकार की गति कही है उनमें अविद्या कर्म से निर्मित प्रत्येक गति बहुत प्रकार की हो जाती है । ये सब गतियाँ अज्ञान जिसकी उपाधि है उस कर्म से निर्मित हैं जिन्हें मैंने तुम्हें कह दिया । उनके कहने का प्रयोजन यास्वनुप्रविशन्नात्मा से कहा है जिन गतियों में कर्म से स्वयं ही अन्दर प्रवेश करता हुआ जीव अपनी गति को नहीं जानता । अतएव उन गतियों में प्रवेश न करने पर ही आत्म-ज्ञान होता है यह वर्णन गति में प्रवेश के निषेध के लिये किया है ।।३८।।

आभास—एवं सर्वमेव सिद्धान्तमुक्त्वा, इयं सर्गलीलेति, अस्या वक्तारो भविष्यन्तीति येष्वेतद्वक्तव्यं येषु च न वक्तव्यम्, तानुभयान् भेदेन निर्दिशति **नैतत् खलायेति** चतुर्भिः—द्वाभ्यां निषेधमाह—

आभासार्थ—इस तरह सारे ही सिद्धान्त को कहकर यह सर्ग-लीला है इसके जो वक्ता होंगे और जिनके लिये यह कहनी चाहिये और जिनको नहीं कहनी चाहिये उन दोनों का भेद चार श्लोकों से निर्देश करते हैं—

श्लोक—**नैतत् खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् ।**
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ।।३९।।

न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे ।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि ।।४०।।

श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायाऽनसूयवे ।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ।।४१।।

बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम् ।
निर्मत्सराय शुचये यस्याऽहं प्रेयसां प्रियः ।।४२।।

श्लोकार्थ—मैंने तुम्हें जो ज्ञानोपदेश दिया है उसे दुष्ट, उद्धत, घमण्डी, दुराचारी और धर्मध्वजी (ढोंगी) पुरुषों को नहीं सुनाना चाहिये । जो विषय लोलुप हों, गृहासक्त हों, मेरा भक्त न हों, मेरे भक्तों से द्वेष करने वाला हो उसे भी इस का उपदेश कभी नहीं करे । जो अत्यन्त श्रद्धालु, भक्त, नम्र, दूसरों के प्रति दोष दृष्टि न रखने

वाला, सब प्राणियों से मित्रता रखने वाला, गुरु सेवा में तत्पर, बाह्य-विषयों में अनासक्त, शान्तचित्त, मात्सर्य से शून्य और पवित्र चित्त हो और मुझे परम प्रियतम मानने वाला हो, उसे इस का उपदेश करे ।।३९–४२।।

सुबोधिनी—खलः सूचकः परमर्मभेदी राजसभासु प्रसिद्धः । अनुरोधात् तस्योपदेशः प्राप्नोति । **अविनीतः स्तब्धः** श्रद्धारहितः स्पष्टः । भिन्नो मतान्तरैः । **धर्मध्वजः** पाखण्डी । **लोलुप** इन्द्रियविषयेष्वतिचपलः । गृहेष्वारूढं चित्तं यस्य सर्वथा गृहस्थः, मम चाऽभक्तः, मम भक्तानां सर्वेषामेव वा द्वेषी । एवं नवविधा अवक्तव्या निरूपिताः । एकादशविधाश्च वक्तव्याः, अन्ये मध्यमाः । श्रवणे परमश्रद्धावान् । भक्तो भगवतः । विनीतो वक्तरि सर्वत्र च, असूयारहितश्च । तथा सर्वप्राणिषु कृता मैत्री येन । शुश्रूषायामभितो रतिर्यस्य । बाह्येष्वर्थेषु जातो विरागो यस्य । शान्तं च चित्तं यस्य । मात्सर्यरहितो निर्मत्सरः । शुचिर्यः पापादिना नाभिभूतः । अथवा **शुचय** इति सर्वत्र विशेषणं पूर्वोक्तनवविधस्यापि । यस्य चाऽहं प्रेयसामपि प्रियः तस्मै सर्वथा वक्तव्यम् । सर्वगुणदोषविचाराभावेनेति पृथगुक्तम् ।।३९-४०-४१-४२।।

व्याख्यार्थ—जो दूसरे के मर्म का भेद न करता है उसे खल कहते हैं ऐसे लोग राज सभा में हुआ करते हैं । अनुरोध करने पर उसे भी उपदेश दिया जा सकता है । अविनीत-उद्धत, स्तब्ध-श्रद्धारहित यह स्पष्ट ही है । जो मतान्तरों से भिन्न बुद्धि रखता हो धर्मध्वज=पाखण्डी । इन्द्रयों के विषयों में जो अत्यन्त चपल होता है उसे लोलुप कहते हैं । जिनका चित्त एकदम घर में आसक्त हों ऐसे गृहस्थ को और जो मेरा भक्त नहीं है तथा जो मेरे भक्तों से द्वेष रखता हैं अथवा सबसे द्वेष रखने वाला हो इस तरह नौ को इसका उपदेश न करे और ग्यारह प्रकार के पुरुषों को इसका उपदेश करे । इनसे बचे हुए बाकी के मध्यम हैं । श्रवण में जिसकी अत्यन्त श्रद्धा हो, भगवान् का भक्त हो, उपदेशक के सामने अथवा सभी से नम्र हो, जिसमें असूया न हो, जो सब प्राणियों से मित्रता रखता हो, जिसका शुश्रुषा में सब तरह से अनुराग हो बाह्य अर्थों में जिसका वैराग्य हो । जो शान्तचित्त हो, जिसमें मात्सर्य न हो, शुचि (पवित्र) जो पाप आदि से दबा न हो, अथवा शुचये को सबका विशेषण समझना तथा पहले के जो नौ प्रकार के हैं उनका भी विशेषण समझना । जिसको मैं परमप्रिय होऊं उसे तो सब प्रकार से उपदेश करना ही चाहिये । यस्यांह प्रेयसां प्रियः ऐसा अलग इसलिये कहा कि उसमें सभी तरह के गुणदोषों का विचार नहीं होता है ।।३९–४०–४१–४२।।

आभास—एवं कथने श्रोतृगुणदोषानुक्त्वा, श्रोतुर्वक्तुश्च फलमाह—

आभासार्थ—ऐसा कहने में श्रोताओं के गुणदोषों को कहकर श्रोता और वक्ता के लिये फल कहते हैं—

श्लोक—**य इदं शृणुयादम्ब ! श्रद्धया पुरुषः स्वदृक् ।**
यो वाऽभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च मे ।।४३।।

श्लोकार्थ—माता ! जो पुरुष मुझ में चित्त लगा कर इसका श्रद्धापूर्वक एक बार भी श्रवण या कथन करेगा वह मेरे परम पद को प्राप्त होगा ।।४३।।

सुबोधिनी—य इदमिति । अम्बेति सम्बोधनं स्नेहसूचकम् । श्रवणे श्रद्धा मुख्यमङ्गम् । **पुरुष** इति यः पुरुष एव न तु स्त्रिया वञ्चनार्थं मायापुरुषः । **स्वदृगित्**यात्मदर्शी, अबहिर्मुख उक्तः । बहिर्मुखस्य वक्ष्यमाणं फलं न भवतीति वक्तापि चेन्मच्चितः भगवत्प्रीत्यर्थमेव न धनाद्यर्थं कथयति । युक्तं ह्युभयोर्मत्पदवीगमनम् । चकारात् कामितं च प्राप्नोतीति ।।४३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—अम्ब ! यह सम्बोधन स्नेह का सूचक है । श्रवण में श्रद्धा मुख्य अङ्ग है । पुरुषः का तात्पर्य है कि जो पुरुष ही हैं न कि स्त्री को ठगने के लिये माया पुरुष हो । स्वदृक = आत्मदर्शी जो बहिर्मुख न हो । बहिमुर्ख को कहा जायेगा तो कुछ फल नहीं होगा वक्ता भी मेरे में ही चित्त लगाने वाला हो अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ ही उसका प्रवचन हो न कि धन आदि मुझे मिले इसके लिये उसका प्रवचन हो । अतः श्रोता और वक्ता ये दोनों मेरे परम पद को प्राप्त होंगे ऐसा कहना उचित ही है । इसमें 'च' आया है उसका अर्थ है कि उनका चाहा हुआ फल भी मिलता है ।।४३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के बतीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

चतुर्विध भक्ति

देवहूति यह सुनि पुनि कह्यौ । देह-ममत्व घेरि मोहिं रह्यौ ।
कर्दम-मोह न मन तें जाइ । तातें कहियै सुगम उपाइ ।
कपिल कह्यौ, तो हूँ भक्ति सुनाऊँ । अरु ताकौ ब्यौरौ समुझाऊँ ।
मेरी भक्ति चतुर्बिध करै । सनै-सनै तें सब निस्तरै ।
ज्यों कोउ दूरि चलन कौं करै । क्रम-क्रम करि डग-डग पग धरै ।
इक दिन सो उहाँ पहुँचै जाइ । त्यौं मम भक्त मिलै मोहिं आइ ।
चलत पंथ कोउ थाक्यौ होइ । कहै दूरि, डरि मरिहै सोइ ।
जो कोउ ताकौं निकट बतावै । धीरज धरि सो ठिकानैं आवै ।
तमोगुनी रिपु मरिबौ चाहै । रजोगुनी धन कुटुम्बऽवगाहै ।
भक्त सात्विकी सेवै संत । लखै तिन्हैं मूरति भगवंत ।
मुक्ति-मनोरथ मन में ल्यावै । मम प्रसाद तें सो वह पावै ।
निर्गुन मुक्तिहुँ कौं नहिं । मम दरसन ही तें सुख लहै ।
ऐसौ भक्त सुमुक्त कहावै । सो बहुरचौ भव-जल नहिं आवै ।
क्रम-क्रम करि सबकी गति होइ । मेरौ भक्त नसै नहिं कोइ ।

हरि-विमुख की निंदा

हरि तैं बिमुख होइ नर जोइ। मरिकै नरक परत है सोइ।
तहाँ जातना बहु बिधि पावै। बहुरौ चौरासी मैं आवै।
चौरासी भ्रमि, नर-तन पावै। पुरुष-वीर्य सौं तिय उपजावै।
मिलि रज-वीर्य बेर-सम होइ। द्वितिय मास सिर धारै सोइ।
तीजे मास हस्त-पग होहि। चौथ मास कर-अँगुरी सोहि।
प्रान-वायु पुनि आइ समावै। ताकौं इत-उत पवन चलावै।
पंचम मास हाड़ बल पावै। छठैं मास इंद्री प्रगटावै।
सप्तम चेतनता लहै सोइ। अष्टम मास सँपूरन होइ।
नीचैं सिर अरु ऊँचैं पाव। जठर अग्नि कौ व्यापै ताव।
कष्ट बहुत सो पावै उहाँ। पूर्वजन्म-सुधि आवै तहाँ।
नवम मास पुनि बिनती करै। महाराज, मम दुख यह टरै।
ह्याँ तैं जो मैं बाहर परौं। अहनिसि भक्ति तुम्हारी करौं।
अब मोपै प्रभु, कृपा करीजै। भक्ति अनन्य आपुनी दीजै।
अरु यह ज्ञान न चित तैं टरै। बार-बार यह बिनती करै।
दसम मास पुनि बाहर आवै। तब यह ज्ञान सकल बिसरावै।
बालापन दुख बहु बिधि पावै। जीभ बिना कहि कहा सुनावै।
कबहूँ बिष्ठा मैं रहि जाइ। कबहूँ माखी लागैं आइ।
कबहूँ जुवाँ देहिं दुख भारी। तितकौं सो नहिं सकै निवारी।
पुनि जब षष्ठ बरष कौ होइ। इत उत खेल्यौ चाहै सोइ।
माता-पिता निवारैं जबहीं। मन मैं दुख पावै सो तबहीं।
माता-पिता पुत्र तिहिं जानैं। वहऊ उनसौं नातौ मानैं।
वर्ष व्यतीत दसक जब होइ। बहुरि किसोर होइ पुनि सोइ।
सुन्दर नारी ताहि बिबाहै। असन-बसन बहुबिधि सो चाहै।
बिना भाग सो कहाँ तैं आवै। तब वह मन में बहु दुःख पावै।
पुनि लछमी-हित उद्यम करै। अरु जब उद्यम खाली परै।
तब वह रहै बहुत दुख पाइ। कहँ लौं कहौं, कह्यो नहिं जाइ।
बहुरौ ताहि बुढ़ापौ आवै। इंद्री-सक्ति सकल मिटि जावै।
कान न सुनै, आँखि नहिं सूझै। बात कहैं सो कछु नहिं बूझै।
खैबेहूँ कौं जब नहिं पावै। तब बहु विधि मन मैं पछितावै।
पुनि दुख पाइ-पाइ सो मरै। बिनु हरि-भक्ति नरक मैं परै।
नरक जाइ पुनि बहु दुख पावै। पुनि-पुनि यौंहीं आवै-जावै।
तऊ नहीं हरि-सुमिरन करै। तातैं बार-बार दुख भरै।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

तृतीय स्कन्ध

मुक्त सृष्टि (जीव मुक्ति) प्रकरण

अध्याय—३३

कपिलदेवजी का पधारना और देवहूतिजी की मुक्ति

कारिका—**एवमष्टभिरध्यायैर्मताष्टकमुदीरितम् ।**
सर्वेषां तु फलं मुक्तिरतः साऽत्र निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस तरह आठ अध्यायों से आठ[1] मत कहे । सबों का फल मुक्ति ही है इस लिये यहाँ (इस तेतीसवें अध्याय में) उसका निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**त्रयस्त्रिंशे तथाऽध्याये स्त्रिया मुक्तिरुदीर्यते ।**
सर्गस्तदवधिर्यस्माद्देवास्ते लीलयोद्गताः ॥२॥

त्रयस्त्रिंशाद्विधा लीला सर्गाख्या देवबान्धवी ।
वसवश्च तथा रुद्रा एक इन्द्रप्रजापती ॥३॥

आदित्याश्च यतः सत्त्वात्ते चतुर्दशधा मताः ।
मुक्तिः प्रसादाद्धि भवेन्न शास्त्रैः साधनैरपि ॥४॥

---

(१) मुख्य भक्ति, सांख्य, ज्ञान योग और अंग रूप वैराग्य के चार ऐसे आठ मत कहे ।
"प्रकाश"

कारिकार्थ—तैतीसवें अध्याय में स्त्री की मुक्ति कही गयी है। क्योंकि उत्पत्ति वहाँ तक ही होती है[1]। कारण के उन तैतीस देवताओं[2] की लीला से उत्पन्न हुई देवताओं की हित करने वाली सर्ग नाम की लीला दो प्रकार की है। एक (पक्ष) में वसु और रुद्र हैं दूसरे (पक्ष) में इन्द्र, प्रजापति और आदित्य हैं क्योंकि सत्व वाले वे चौहदे प्रकार के माने गये हैं। मुक्ति "भगवान् की कृपा से होती है" शास्त्रों से और साधनों से नहीं होती है ।।२।।३।।४।।

कारिका—**प्रसादश्च स्वतः प्रीते न सम्बन्धादिभिः क्वचित् ।**
अतः स्तोत्रं प्रसादश्च मुक्तिश्चापि फलं ततः ।।५।।

कारिकार्थ—कृपा जब भगवान् प्रसन्न हो तब होती है। बिना सम्बन्ध के कभी भी नहीं होती इसलिये स्तुति और कृपा कही गई है और इसके बाद मुक्ति रूप फल[3] उसी से होती है जिसका यहां निरूपण है ।।५।।

कारिका—**सर्गत्वख्यापनार्थाय वक्तुः स्थितिरुदीर्यते ।**
भगवत्त्वात्स्थितौ तस्य सर्वः सर्गः प्रतिष्ठितः ।।६।।

कारिकार्थ—यह सर्ग है यह बताने के लिये वक्ता (कपिलदेवजी) की स्थिति कही गई है उनके भगवान् होने के कारण उनकी स्थिति में सम्पूर्ण सर्ग का समावेश होता है ।।६।।

कारिका—**शास्त्रार्थेऽवगते सम्यक् प्रसादे यत्नवान् भवेत् ।**
अतः प्रसादनार्थाय तस्या यत्न उदीयते ।।७।।

कारिकार्थ—शास्त्रार्थ अच्छे प्रकार से समझने के बाद भगवान् को प्रसन्न कर उन की कृपा प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसे प्राप्त करने के लिये देवहूतिजी का प्रयत्न बताया गया है ।।७।।

---

(१) कारिका–२ में, तदवधिः का अर्थ है, वह मूल प्रकृति है अवधि जिस की ऐसा जो सर्ग (सृष्टि) अर्थात् मूल प्रकृति की मुक्ति हो जाने पर फिर आगे न तो सर्ग होगा और न बन्ध होगा। इस उतरावधि का बोध न करने के लिये स्त्री की मुक्ति हो जाने पर शास्त्र में सर्ग (सृष्टि) की समाप्ति हो जाती है। "प्रकाश"

(२) शंका होती है ऐसा होने पर तो तत्वों की मुक्ति में सर्ग (सृष्टि) की समाप्ति होती है। ऐसा सिद्ध होता है वह संख्या से विरुद्ध होता है। क्योंकि तत्व अट्ठाईस हैं इस आकांक्षा में निबन्ध में स्पष्ट किया है उसी के तात्पर्य को यहाँ 'दे वास्ते' से बताया है। 'यस्मात्' इस पद का यहाँ अन्वय है जिससे देवता ही मुक्ति के योग्य हैं वे देवता 'वसु' आदि भेद से तैंतीस संख्यक है भगवान् की लीला से उनका उद्गम हुआ है। सर्ग नामक लीला बन्ध तथा मोक्ष भेद से दो प्रकार की है। यह सर्ग लीला देव बान्धवी है अर्थात् देवहित कारिणी है आठ वसु और ग्यारह रुद्र ये

पाद टिप्पणी पृष्ठ ३१६ पर देखे।

मैत्रेय उवाच—

श्लोक—**एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।**
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री मैत्रेयजी कहते हैं-विदुरजी ! श्री कपिल भगवान् के ये वचन सुनकर कर्दमजी की प्रिय पत्नी माता देवहूति के मोह का पर्दा नीचे गिर गया और वे तत्व के प्रतिपादक सांख्य शास्त्र के ज्ञान की आधार भूमि भगवान् श्री कपिलजी को प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगी ।।१।।

सुबोधिनी—एवं निशम्येति । **एवं** पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वसिद्धान्तरहस्यं वचो निशम्य तुष्टावेति सम्बन्धः । एवं शास्त्रार्थपरिज्ञाने तत्प्रसादव्यतिरेकेण शास्त्रज्ञानसाधनफलसिद्धयो न भवन्तीति तत्प्रसादः प्राप्तव्य इति बुद्धिः केन धर्मेण तस्या जाता इत्याकांक्षायामाह—**जनित्रीति** । येन धर्मेण तादृशं पुत्रमुत्पादितवती । **सेति** प्रसिद्धा स्वधर्मैस्तपसा च । भर्त्तृमुक्त्याऽपि स्वस्य कार्यं सिद्धयतीति ज्ञापयितुमाह—**कर्दमस्य दयितेति** । **किलेति** तस्या धर्मः प्रसिद्धः । **देवहूतिरिति** देवानां हूतिर्यस्मादिति योगेनाऽपि देवसान्निध्यम् । एवं पञ्चधा तस्या माहात्म्यमुक्तम् । किञ्च, शास्त्रफलमपि तस्या जातमित्याह—**विस्रस्तमोहपटलेति** । पुत्रादिषु यो मोहः तदेव पटलं ज्ञानाच्छादकं तदधः पतितं यस्याः । अत एव तं पुत्रमप्यभिप्रणम्य, नमस्कारे मोहाभावो हेतुः गुरुत्वात् । स्तोत्रे भगवानेव हेतुः; अतः स्तोत्रमनुचितमित्याशङ्क्य, भगवतो ज्ञानकलावतार इति साङ्ख्यप्रवर्तकत्वादुपपादयति-**तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिमिति** । तत्त्वलक्षणो यो विषयो वाच्योऽर्थः, तेनाङ्किता चिह्निता या सिद्धिः साङ्ख्यशास्त्रम्, तत्त्वविषयेण चाङ्कितं यच्छास्त्रं तेन सिद्धं यज्ज्ञानं तस्य भूमिमाधारम् । पूर्वव्याख्याने प्रवर्तकं वा । तत्त्वविषयं वा ज्ञानं तत्त्वज्ञानं तेनाङ्किता या सिद्धिर्भगवतो ज्ञानकला, तस्या भूमिः ज्ञानकलावतार इत्यर्थः अतः स्तुत्यः ।।१।।

पृष्ठ ३१८ की पाद टिप्पणी का शेष ।

उन्नीस प्रकार हुए ये बन्ध कोटि में निविष्ट हैं तथा इन्द्र और प्रजापति तथा द्वादश आदित्य ये सत्व-कोटि को प्राप्त होकर वर्तमान हैं अतः ये चौदह प्रकार के मोक्ष कोटि में निविष्ट हैं इस तरह वैदिकता से इन का मोक्ष में ही पर्यवसान होता है । इसका बोध कराने के लिये उतनी ही अध्याय की संख्या कही है इसलिये उसका विरोध दोष जनक नहीं है । "प्रकाश"

(४) इस तरह शास्त्र की संगति आदि का प्रदर्शन करके विशेषाकार से अध्याय के अर्थ को कहते हुए अब मैत्रेय जी की उक्ति में संगति की याद दिलाते हैं—इसमें मैत्रेय जी के वचनानुसार धर्म आदि से मोक्ष होता है यह कथन उचित है यह बताने के लिये यहाँ मोक्ष की कथा कहते हैं ऐसा भाव है— "प्रकाश"

व्याख्यार्थ—इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से सब सिद्धान्त के रहस्यरूप वचन को सुनकर उनकी स्तुति की, ऐसा सम्बन्ध है। इस तरह शास्त्र का परिज्ञान होने पर भी कपिलदेवजी की कृपा के बिना शास्त्र का ज्ञान, साधन और फलसिद्धि नहीं हो सकती है अतः उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये इस तरह की बुद्धि देवहूति को किस धर्म से हुई इस आशंका पर कहते हैं जनित्री देवहूति ने जिस धर्म से वैसे पुत्र को उत्पन्न किया उसी धर्म से उसकी बुद्धि वैसी हुई। 'सा' का अर्थ है प्रसिद्ध वह स्वधर्मों से और तपस्या से प्रसिद्ध थी। 'कर्दमस्यदयिता' ऐसा इसलिये कहा कि अपने भर्ता की मुक्ति से भी अपना कार्य सिद्ध होता है। उस देवहूति का धर्म प्रसिद्ध था यह 'किल' शब्द से जाना जाता है। 'देवानां हूतिः यस्मात्' इस तरह के विग्रह वाक्य से भी देवहूतिः का अर्थ देव सांनिध्य होता है इस तरह पाँच तरह से उसका माहात्म्य कहा गया है और शास्त्र फल भी उसको हो गया यह 'विस्रस्तमोह पटला' से बताया है। पुत्र आदि में जो मोह है वह ही पटल है ज्ञान को ढकने वाला है परदा वह जिसके लिये नीचे गिर गया। कपिलदेवजी गुरु थे इसलिये तो पुत्र को भी प्रणाम किया इसमें मोह का अभाव ही कारण था स्तुति तो इसलिये की कि वे भगवान् थे। अतः देवहूतिजी का कपिलदेवजी की स्तुति करना अनुचित था ऐसी आशंका करके कपिलदेवजी को भगवान् के ज्ञान कला के अवतार माना है और उन्होंने सांख्य शास्त्र की प्रवृत्ति की इसे 'तत्त्व-विषयाङ्कितसिद्धिभूमिम्' से बताया है तत्त्व लक्षण जो विषय वाच्य अर्थ उससे अंकित (चिह्नित) जो सिद्धि सांख्य शास्त्र अथवा तत्त्व विषय से अंकित जो शास्त्र उससे सिद्ध जो ज्ञान उसकी भूमि (आधार) अथवा पूर्व व्याख्यान में प्रवर्त्तक यद्वा (तत्त्व) विषय जो ज्ञान उसे तत्त्व ज्ञान कहा जाता है उससे अंकित जो सिद्धि भगवान् की ज्ञान कला उसकी भूमि (आधार) अर्थात् ज्ञान कला का अवतार इसलिये वे स्तुति करने के योग्य थे ।।१।।

कारिक—**सर्वसिद्धान्तवक्तारं भक्तेर्विषयमेव च ।**
प्रसादे ह्यात्मदं देवं सप्तभिः स्तौति भास्करैः ।।१।।

प्रत्यक्षाश्चर्यहेतूक्तिः जन्मादेः करणाद्बृहत् ।
अवताराभंतालीला मत्तो दारोरिवोद्गतिः ।।२।।

नाम्नः स्तुत्यादिमाहात्म्यं नाम्नश्च हि हरेर्महत् ।
एवं तं भगवत्त्वेन स्तुत्वाऽन्ते नमनक्रिया ।।३।।

हरौ कृत्यमिहैतावदतस्तुष्ट इतीर्यते ।

कारिकार्थ—सर्व सिद्धान्त को कहने वाले और भक्ति के विषय को कहने वाले प्रसन्न होने पर आत्मा को देने वाले कपिलदेव जी की सात श्लोकों से स्तुति करती है। दो श्लोकों से प्रत्यक्ष आश्चर्य के कथन में हेतु बताना, तीसरे श्लोक में जगत् का कारण होने से ब्रह्मत्व का समर्थन करना अवतार तथा बाल लीला का कथन चौथे श्लोक में जैसे लकड़ी से अग्नि प्रकट होती है इस तरह मेरे से आपका प्राकट्य हुआ। नाम की स्तुति आदि तथा भगवान् के नाम का महान् माहात्म्य इस तरह कपिलदेवजी की भगवद्रूप से स्तुति करके अन्त में नमस्कार किया। भगवान् के विषय में यहाँ इतना ही कर्त्तव्य है अतः भगवान् प्रसन्न हुए ऐसा कहा जाता है ।।१–२–३½।।

आभास—प्रथमं तव दर्शनं दुर्लभमित्याह—

आभासार्थ—पहले तो आप का दर्शन ही दुर्लभ है इसलिये कहा—

श्लोक—**देवहूतिरुवाच—अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।**
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः ।२।

श्लोकार्थ—देवहूतिजी ने कहा—हे कपिलदेवजी ! ब्रह्माजी आपके ही नाभि-कमल से प्रकट हुए थे । उन्होंने प्रलयकालिक जल में शयन करने वाले आपके पञ्च-भूत, इन्द्रिय, शब्दादि विषय और मनोमय श्री विग्रह का जो सत्वादि गुणों के प्रवाह से युक्त सत्स्वरूप और कार्य एवं कारण दोनों का बीज है ध्यान ही किया था ।।२।।

सुबोधिनी—अथेति । यद्यप्यजो महान्, अथापि यद्वपुर्दध्यौ, न तु प्रत्यक्षतया दृष्टवान् । तस्य महत्त्वमाह—जातोऽप्यजत्वं प्राप्तः । **यज्जठराब्जजातः** यस्य नारायणस्य जठराब्जाज्जातः । माता तु भस्त्रा, पुत्रस्त्वात्मैव । पुत्रेण चेन्न दृष्टः कथमाविर्भावस्थानं द्रक्ष्यति, तच्छक्तेः सर्वस्याः कार्येण सह निर्गमात् । किञ्च, शयानो भगवान् सर्वैरपि द्रष्टुं शक्यते, न तु यो जागर्ति । तत्रापि सलिले शयानः अनन्यस्पष्टतया उपलभ्यत इति । किञ्च, भूतेन्द्रियादिभिर्व्याप्तं स्पष्टमुपलभ्यते, न तु तद्रहितम् । जगतामाधारभूतं च प्रत्यक्षं भवितुमर्हति, कारणं च प्रत्यक्षं भवति; अन्यथा कार्यमप्रत्यक्षं स्यात् । **अन्तःसलिले** सलिलमध्ये । भूतानि इन्द्रियाणि, अर्थास्तन्मात्राः, आत्मा अन्तःकरणं मनो बुद्धिरहङ्कारः चित्तमिति । एतैर्व्याप्तं '**भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः**' इति वाक्यात्पुरुषशरीरं भौतिकं भवति तैर्व्याप्तं तन्मयम् । गुणानां प्रवाहो यस्मिन् । **सत् व्यक्तमशेषस्याऽपि** जगतो बीजम्, स्वयमजस्तु भगवानेव । एवमपि न दृष्टवान्, मया तु दृष्टमित्याश्चर्यम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि 'अज' महान् हैं तथापि जो उनका शरीर है उसका ध्यान किया प्रत्यक्ष रूप में उसका दर्शन नहीं किया । उत्पन्न होते हुए भी अजत्व (अनुत्पन्नता) को प्राप्त हैं ये ही उनका महत्व है । यज्जठराब्जजातः' का अर्थ है जिन नारायण के नाभि कमल से जिनकी उत्पत्ति हुई । माता तो धोंकनी के समान है धोंकनी हवा को ग्रहण करके पीछे उसे निकाल देती है इसी तरह माता अपने पति से गर्भ को ग्रहण कर के निकाल देती हैं अतः भस्त्रा (धोंकनी) के समान है किन्तु पुत्र पिता की तो आत्मा ही है । जब पुत्र ने ही अपने आविर्भावस्थान को नहीं देखा तो अन्य उसे कैसे देख सकता है । उसकी सम्पूर्ण शक्ति का कार्य के साथ निर्गम हो गया । एक बात यह है कि सोये हुए भगवान् को सब देख सकते है किन्तु जो जगते है उन्हें कोई नहीं देख सकते । उस में भी जो जल में सोये हुये हो उनकी उपलब्धि कैसे हो । और भी जो पञ्चमहाभूत से व्याप्त इन्द्रियों वाला हो वह तो उपलब्ध हो सकता है किन्तु उस प्रकार की इन्द्रियों से रहित है उसको उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे हो । और जो जगत् का आधार भूत है वह प्रत्यक्ष हो सकता है, कारण प्रत्यक्ष होता है यदि कारण प्रत्यक्ष न हो तो कार्य भी अप्रत्यक्ष हो जायगा । अन्तः सलिले का अर्थ

है जल के मध्य में। भौतिक इन्द्रियाँ, अर्थ (तन्मात्रा) आत्मा अन्तःकरण, मन, बुद्धि और अहङ्कार तथा चित्त इन से व्याप्त भूतैर्यदा 'पञ्चभिरात्मस्सृष्टैः' इस वाक्य से पुरुष शरीर पाञ्चभौतिक होता है अतः उनसे व्याप्त होने के कारण वो भौतिक होता है। गुणों का प्रवाह है जिसमें सत् (व्यक्त) इस सम्पूर्ण जगत् का बीज है केवल स्वयं भगवान् ही अज है, इस तरह का होते हुए भी ब्रह्मा ने नहीं देखा मैंने तो देखा यह आश्चर्य है ।।२।।

आभास—नन्विदं रूपमन्यदेव, न तु ब्रह्मरूपमित्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका हो कि यह रूप तो अन्य है ब्रह्म रूप नहीं है इस आशंका पर कहते हैं—

श्लोक—**स एव विश्वस्य भवान् विधत्ते गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।**
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धिरात्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ।३।

श्लोकार्थ—आप निष्काम, सत्य संकल्प, सम्पूर्ण जीवों के प्रभु तथा सहस्रों अचिन्त्य शक्तियों से सम्पन्न हैं। अपनी शक्ति को गुण प्रवाह रूप से ब्रह्मादि अनन्त मूर्तियों में विभक्त करके उनके द्वारा आप स्वयं ही विश्व की रचना आदि करते हैं।३

सुबोधिनी–स एवेति । स एव भवान् यो ब्रह्मणा ध्यातः। यतो विश्वस्य सर्गादि विधत्ते। एतस्य जगत्कर्तृत्वं विश्वरूप इव तत्र दृश्यत इति तथोक्तम्। **गुणानां प्रवाहेण** अन्योन्यमेलनपरम्परया सृष्ट्यादौ करणेन विभक्तं वीर्यं यस्य। ब्रह्मादिरूपेषूत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपं वीर्यं विभक्तमित्यर्थः। कर्तृत्वेऽपि लौकिकवन्न कर्तृत्वम्, किन्तु चिन्तामण्यादिवदित्याह–**अनीह** इति। न विद्यते इहा चेष्टा यस्य। ननु चिन्तामण्यादौ परेच्छा नियामिका, तथा भगवतोऽपि अन्येच्छया सृष्टिकरणे जडता स्यादत आह–**अवितथाभिसन्धिरिति**। अभिसन्धिरभिसन्धानमिच्छेति यावत्। स्वेच्छयैव करोतीत्यर्थः। ननु तर्हि निमित्तं स्यादत आह–**आत्मेति**। सर्वस्य जगतः आत्मा स्वरूपं समवायिकारणमिति यावत्। नन्वेकस्य कथं द्विरूपता समवायित्वं निमित्तत्वं चेति तत्राऽऽह–**ईश्वर** इति। सर्वं कर्तुं समर्थो हीश्वरः। नन्वीश्वरोऽपि लोके युक्तिसिद्धमेव करोति, न तु युक्तिबाधितमित्याशङ्क्य युक्तिमाह–**अतर्क्यसहस्रशक्तिरिति**। अतर्क्याः सहस्रं शक्तयो यस्य। अत एकमाश्चर्यं समर्थितम् ।।३।।

व्याख्यार्थ—आप वे ही भगवान् हैं जिनका ब्रह्माजी ने ध्यान किया था। जिससे विश्व की सृष्टि आदि करते हैं। इस (ब्रह्मा) में जगत् का कर्त्तापन विश्वरूप की तरह वहाँ दीखता है अतः वसा कहा। आपने गुणों को एक दूसरे को मिलाने की परम्परा से सृष्टि आदि में वैसा करने से विभक्त है वीर्य जिसका अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव इन में आपने उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप को विभक्त कर दिया है। आप में कर्त्तापन तो है परन्तु लौकिक कर्त्ता की भाँति आप में कर्तृत्व नहीं। किन्तु चिन्तामणि आदि की तरह जिन में विकार न होते हुवे भी कर्तृत्व है। आप में किसी प्रकार की चेष्टा नहीं है अतः आप अनीह हैं। शंका होती है कि चिन्तामणि आदि में जो कर्तृत्व है वह दूसरे की इच्छा से है स्वयं की इच्छा से नहीं है इसी तरह भगवान् किसी की इच्छा से यदि

सृष्टि करते हैं तो भगवान् में जड़ता दोष आ जायेगा इस शंका के समाधान के लिये 'अवितथाभिसंधि' ऐसा कहा भगवान् अपनी इच्छा से ही सब करते हैं किसी की प्रेरणा से नहीं करते। तो फिर भगवान् निमित्त कारण होंगे इस के समाधान के लिये आत्म पद दिया है भगवान् सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है जगद् रूप हैं अर्थात् समवायी कारण हैं। एक ही भगवान् समवायी कारण भी हैं और निमित्त कारण भी हैं यदि शंका हो कि ऐसा तो हो नहीं सकता इसके लिये 'ईश्वर' पद दिया भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं जो सब कुछ कर सकता है वह ही तो ईश्वर कहा जाता है। एक आशंका और भी हो सकती है कि ईश्वर भी लोक में युक्ति सिद्ध ही करता है युक्ति बाधित नहीं करता इस आशंका पर 'अतवर्यसहस्रशक्तिः' ऐसा कहा हम जिसे सोच भी नहीं सकते ऐसी हजारों शक्तियाँ जिसकी हैं तो इस एक आश्चर्य का समर्थन तो इससे हो जायेगा ।।३।।

आभास—द्वितीयमाश्चर्यमाह—

आभासार्थ—दूसरे आश्चर्य को कहते हैं—

श्लोक—स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ ! कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः शेते स्म मायाशिशुरंघ्रिपानः ।।४।।

श्लोकार्थ—हे नाथ ! यह कैसी विचित्र बात है कि जिनके उदर में प्रलय काल आने पर यह सारा प्रपञ्चलीन हो जाता है और जो युगान्त में मायामय बालक का रूप धारण कर अपने चरण का अंगूठा चूसते हुए अकेले ही वट (बड़) वृक्ष के पत्ते पर शयन करते हैं उन्हीं आपको मैंने गर्भ में धारण किया ।।४।।

सुबोधिनी—स त्वं भृत इति । **स एव त्वं** चतुर्दशलोकात्मा **मे** मम जठरेण कथं **भृतो** धृतः। नन्वस्मादेव हेतोर्नाहं स इति चेत्तत्राऽऽह—**नाथेति**। हे नाथ स्वामिन् न ह्यन्यः स्वामी भवितुमर्हति। नन्वहं तवोदरे तदा सूक्ष्म एव स्थित इति चेत्तत्राह—**कथ नु यस्योदर एतदासीति**। तदेव भगवद्रूपं यद्विश्वाधारम्; गर्भस्थितिदशायां यदि विश्वाधारता न स्यात्, ब्रह्मत्वमपि न स्यादिति तदानीमपि विश्वाधारता वक्तव्या। तत्कथं जातमित्याश्चर्यम्। **एतदिति** ब्रह्माण्डरूपं स्थूलं प्रदर्शितम्। ननु 'परस्परविरोधे एकं त्याज्यम्' इति न्यायेन गर्भस्थितेर्दृष्टत्वात् जगदाधारत्वं नास्तीति मन्तव्यमिति चेत् युगान्ते वटपत्रे एक एव मायाशिशुर्भूत्वा अङ्घ्रिपानः अंगुष्ठं पिबन् यः शेते, स भवानिति। यथा तदा बाल्यम्, जगदाधारत्वं चोभयमविरुद्धम्, तथोदरेऽपीति भावः ।।४।।

व्याख्यार्थ—आप वही हैं जो चौदह लोकों की आत्मा हैं, मैंने आप को अपने उदर में कैसे धारण किया। यदि शंका हो कि इसलिये तो मैं बो भगवान् नहीं हूँ इसका उत्तर हे नाथ ! इस संबोधन से दिया है 'नाथ' का अर्थ स्वामी होता है तो भगवान् के अतिरिक्त और कौन स्वामी हो सकता है। यदि ऐसा कहो कि तेरे उदर में उस समय, मैं सूक्ष्म ही स्थित था उस पर कहती है कि 'कथं नु यस्योदर एतदासीत्' आप वे ही भगवद्रूप थे जो विश्व का आधार हैं गर्भस्थिति दशा

में यदि विश्वाधारता न हो तो ब्रह्मत्व भी नहीं होगा इसलिये उस समय भी आप में विश्वाधारता थी ऐसा कहना पड़ेगा अतःएव यह आश्चर्य है कि आप सम्पूर्ण विश्व के आधार होते हुए भी मेरे गर्भ में रहे। 'एतत्' पद से इस स्थूल ब्रह्माण्ड रूप का प्रदर्शन है। ऐसा एक न्याय है कि 'आपस में विरोध हो तो एक को छोड दो' तो यहाँ कपिलदेवजी की गर्भ में स्थिति तो देखी गई है अतः जो नहीं देखी गई ऐसी जगदाधारता को मत मानो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि युगान्त में वट (बड़) के पत्र (पत्ते) पर एक ही माया शिशु होकर जो अपने पैर के अंगूठे को चूसते हुए सोते थे वे ही भगवान् आप हैं। जिस तरह उस समय बालकपन और जगदारता दोनों ही विरुद्ध थे उसी तरह यहाँ उदर में भी आप ही की स्थिति थी और जगदाधार भी आप ही थे ॥४॥

आभास—नन्वेतसर्वं सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि, न तु देहभाजि मयीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—शंका होती है कि तुमने जो कुछ कहा है वह सच्चिदानन्द ब्रह्म में हो सकता है किन्तु मेरे जैसे देहधारी में यह सम्भव नहीं है इस आशंका पर कहते हैं—

श्लोक—**त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां निदेशभाजां च विभो ! विभूतये ।**
यथावतारास्तव सूकरादयस्तथाऽयमप्यात्मपथोपलब्धये ॥५॥

श्लोकार्थ—हे विभो ! आप पापियों का दमन और अपने आज्ञाकारी भक्तों का अभ्युदय एवं कल्याण करने के लिये स्वेच्छा से देह धारण किया करते हैं। अतः जिस प्रकार आपके वराह आदि अवतार हुए हैं उसी प्रकार यह कपिलावतार भी मुमुक्षुओं को ज्ञानमार्ग दिखाने के लिये हुआ है ॥५॥

सुबोधिनी—त्वं देहतन्त्र इति। एतदपि मुख्यसिद्धान्तानवगमात् गृहीतलीलाविग्रह इति लोकदृष्टिः, पुराणवाक्यानि च पाप्मनां प्रशमाय, आज्ञाकारिणां विभूतये च, त्वं **देहतन्त्रः** देहपरिकरः स्वीकृतमूर्तिः, देहाधीन इति वा प्रतीत्या। **विभो** इति सम्बोधनं प्रकृतोपयोगिसामर्थ्यबोधनाय। अनेन स्वेच्छया देहतन्त्रत्वमित्युक्तम्। तच्च स्वतन्त्रस्य परतन्त्रता न युक्तेत्याशङ्क्याऽऽह-**यथावतारा** इति। यथा सूकरादयः क्रियावतारास्तध्वतिरेकेण क्रिया नोपपद्यत इति, तथैवमवतारव्यतिरेकेण ज्ञानमपि न सम्भवतीति **आत्मपथोपलब्धये** आत्ममार्गसिद्धये ज्ञानाय अयमवतार इत्याह—**तथाऽयमिति**। अनेनाऽस्यावतारस्य प्रयोजनद्वयमुक्तम्। सद्रक्षाऽधर्मनाश इति सामान्यम्, आत्ममार्गभूतज्ञानार्थमिति विशेषप्रयोजनम्। ५॥

व्याख्यार्थ—मुख्य सिद्धान्त का ज्ञान न होने से ही आपको देहतन्त्र कहते हैं लीला विग्रह को आपने ग्रहण किया है यह लोकदृष्टि है और पुराणों का कहना है कि आपका देह धारण करना पापों के प्रशमन के लिये है तथा आज्ञाकारियों के अभ्युदय के लिये है। आप देहतन्त्र हैं अर्थात् देह परिकर स्वीकृत मूर्त्ति हैं अथवा प्रतीति से आप देह के अधीन हैं। विभो ! यह संबोधन प्रकृत में उपयोगी सामर्थ्य का बोध कराने के लिये है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् अपनी इच्छा से देह के अधीन हैं। किन्तु स्वतन्त्र की वह परतन्त्रता उचित नहीं है इस आशका पर कहते हैं कि

यथावतारा: जैसे सूकर (वराह) आदि क्रिया, अवतारों के बिना क्रिया हो नहीं सकती है उसी तरह इस ज्ञानावतार के बिना ज्ञान की भी संभावना नहीं है इसलिये आत्ममार्ग की सिद्धि के लिये अर्थात् ज्ञान के लिये यह आपका अवतार है इसको 'तथायम्' से बताया है इस अवतार के दो प्रयोजन कहे गये हैं। सज्जनों की रक्षा और अधर्म का नाश यह तो सामान्य प्रयोजन है और विशेष प्रयोजन है आत्ममार्ग, भूत ज्ञान का उपदेश है ।।५।।

आभास—एवं श्लोकद्वयेन द्वितीयमप्याश्चर्यं स्थापयित्वा, रूपे आश्चर्यद्वयं प्रतिपाद्य, नाम्न्याश्चर्यद्वयमाह—**यन्नामधेयेति** द्वाभ्याम्—

आभासार्थ इस तरह दो श्लोकों से दूसरे आश्चर्य का विश्वाधारता और अपने उदर में स्थिति इसको स्थापित करके रूप में दो आश्चर्यों का प्रतिपादन करके नाम में दो आश्चर्यों को दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।**
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ।।६।।

श्लोकार्थ—भगवन्! आपके नामों का श्रवण या कीर्त्तन करने से तथा भूले-भटके कभी कभी आपका वन्दन या स्मरण करने से ही कुत्ते का मांस खाने वाला चाण्डाल भी सोमयाजी ब्राह्मण के समान पूजनीय हो जाता है फिर आपका दर्शन करने से मनुष्य कृत-कृत्य हो जाय इसमे तो कहना ही क्या है ।।६।।

सुबोधिनी—नामश्रवणादेर्धर्मस्य धर्मद्वारा नाममाहात्म्यं साक्षान्नाम्नश्च । तत्र प्रथममाह— **यस्य** भगवतो नामधेयस्य गुरोः सकाशाच्छ्रवणानन्तरं यदनुकीर्तनम्, तेन **श्वादोऽपि** चाण्डालोऽपि सद्यः **सवनाय** सोमाभिषवयोग्यत्वाय **सद्य**स्तस्मिन्नेव जन्मनि अवकल्पते । कुतः पुनस्तव दर्शनात्, सोमाभिषवयोग्यो भवतीति किं वक्तव्यमित्यर्थः । श्रवणानन्तरं कीर्तनकथनाद्वैष्णवदीक्षया मन्त्रोपदेशपर इति कश्चित् । **सद्यः सवनायेति** 'सर्वमेधे वायवे चाण्डालम्' इति वाक्यात्, पर्यग्निकरणपर्यन्तं तद्योग्यत्वमित्यपरे । वस्तुतस्त्वाश्चर्यरूपं माहात्म्यमेव लौकिकोपपत्त्या चेत्सिध्येत्, आश्चर्यमेव न भवेत् । अधर्मसंस्कृतभूतविशेषैर्हि चाण्डालादिशरीरमारभ्यते; सर्वोत्कृष्टधर्मसंस्कृतभूतविशेषैस्तु ब्राह्मणशरीरम् । भगवन्नाम्ना दीक्षया प्राप्तेन वा सर्वान् दोषानौत्पत्तिकान् परिहृत्य, तान्येव भूतानि उत्कृष्टसंस्कारेण संस्कृतानि क्रियन्त इति नाम्नो युक्तमेव माहात्म्यम् । अनेन सर्वदोषनाशनपूर्वकसर्वगुणोपपादकत्वं नाम्न उक्तम् । श्रवणयोग्येनानुकीर्तनेन वा । श्रवणेन दोषनिवृत्तिः कीर्तनेन गुणाधानमिति वा । नन्वेतदत्याश्चर्यमुच्यत इत्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेन तदुपपादयति—**यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादिति । प्रह्वो** नम्रीभावो नमनमिति यावत् । नम्रीभावस्याऽऽख्यानमप्रसिद्धम्; स्मरणस्य तु वाल्मीकेः; स हि चण्डाल एव मार्गघातकः, ऋषेरुपदेशात्पूर्वं महर्षिभावनां कृत्वा पश्चाद्रामस्मरणेन तस्मिन्नेव जन्मनि वाल्मीकिर्जात इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । अत एव **क्वचिदि**त्युक्तम् । यत्र नाम

रूपं वा स्वसामर्थ्यं प्रकटयति, तत्रैवमेवेत्यतिप्रसक्तिरपि निवारिता। श्वादश्चाण्डालानामधमः। उत्कृष्टस्योत्तमत्वे कः सन्देह इत्यपिशब्दार्थः। ते दर्शनात् सवनाय पुनः कुतः कल्पते, पूर्वमेव जातत्वादित्यनकाराध्याहारपक्षेऽर्थः। अथवा कुत इति किमित्यर्थे अव्ययम्; किं पुनर्भगवद्दर्शनात्सवनाय कल्पत इति वक्तव्यमित्यर्थात्। एवं पर्यवसानवृत्त्या नामश्रवणादेर्माहात्म्यमुक्तम् ।।६।।

व्याख्यार्थ—नाम श्रवण आदि धर्म का धर्म के द्वारा नाम माहात्म्य और साक्षात् नाम का माहात्म्य इन दोनों में प्रथम नाम माहात्म्य को बताते हैं भगवान् के नाम को गुरु के द्वारा सुनकर जो कीर्त्तन किया जाता है उससे श्वाद: (कुत्ते का मांस) खाने वाला चाण्डाल भी शीघ्र सोमयाजी ब्राह्मण के समान बन जाता है 'सद्यः' का तात्पर्य यह है कि इसी जन्म में वह सोमयाजी के समान हो जाता है। फिर आप का जो दर्शन करे उसके लिये तो क्या कहा जाय। अर्थात् दर्शन करने वाला सोमयाजी के समान बन जाय इसमें तो क्या कहना। कुछ व्याख्याकारों का ऐसा अभिप्राय है कि 'श्रवणानुकीर्त्तनात्' का आशय यह है कि वैष्णव दीक्षा से पहले गुरु के द्वारा दीक्षा से मन्त्रोपदेशः ग्रहण करके उसका कीर्त्तन करना चाहिये क्योंकि यहाँ अनुकीर्त्तन शब्द मन्त्रोपदेश को बताता है। यह मत तन्त्रशास्त्रावलम्बियों का है। विज्ञानोपनिषद् के सोलहवें पटल में तो लिखा है कि 'सारी पृथ्वी को दीक्षित किया जाय तो फिर जो मन्त्रग्रहण करने के लिये आये हों उनको दीक्षित करने में तो संकोच ही क्या' 'दीक्षयेन्मेदिनी सर्वां किं पुनश्चोपसंतान' सद्यः सवनाय पद से श्रोतावलम्बिमत को कहते हैं 'सर्वमेघे वायवे चाण्डालम्' सर्वमेध वायव में चाण्डाल को भी पर्यग्नि करण पर्यन्त का अधिकार है ऐसा कहते हैं परन्तु ऐसा कहना कुछ उचित नहीं है अतः वास्तव में आश्चर्यरूप माहात्म्य ही लौकिक युक्ति से यदि सिद्ध होता हो तो वह आश्चर्य ही नहीं होगा। अधर्म से संस्कृत पञ्चमहाभूतविशेषों से चाण्डाल आदि शरीर का आरम्भ होता है और सर्वोत्कृष्ट महाभूत विशेषों से ब्राह्मण शरीर का आरम्भ होता है। भगवन्नाम से अथवा दीक्षा से प्राप्त भगवन्नाम से औत्पत्तिक सब दोषों का परिहार करके उन्हीं महाभूतों को उत्कृष्ट संस्कार से संस्कृत किये जाते हैं इसलिये नाम का माहात्म्य उचित ही है। उक्त कथन से नाम को सब दोषों का नाशकर के सब गुणों का उपपादक (उत्पन्न करने वाला) कहा गया अथवा श्रवणानुकीर्त्तनात् का अर्थ जिसको सुन सके इस तरह नाम का उच्चारण करना अथवा भगवन्नाम के सुनने से दोष की निवृत्ति होती है और कीर्त्तन से गुणों का आधान होता है यदि शंका हो कि यह तो अत्यन्त आश्चर्य की बात कही तो उसका कैमुतिक न्याय से उपपादन करते हैं अर्थात् भगवान् के नाम के श्रवण से और कीर्त्तन से सब दोषों का नाश और गुणाधान हो इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु भगवान् को नमन करने से और उनका स्मरण करने से भी दोषों का नाश और गुणों का आधान होता है। नमन करने वाले का आख्यान तो कोई प्रसिद्ध नहीं है स्मरण का तो वाल्मीकि का है वे पहले चाण्डाल थे जङ्गल में कोई मार्ग से आता जाता था तो उसे मार डालते थे, ऋषि के उपदेश से पहले महर्षि की भावना करके फिर राम के स्मरण से उसी जन्म में वाल्मीकि हो गये अतः उपर्युक्त कथन में कोई असंगति नहीं है। इसीलिये क्वचित् ऐसा कहा अर्थात् स्मरण से कहीं ऐसा होता है। जहाँ नाम और रूप अपनी सामर्थ्य प्रकट करते हैं वहीं पर ऐसा होता है इससे अतिप्रसक्ति (अतिव्याप्ति) का निवारण हो जाता है।

श्वाद: (कुत्ते का मांस खाने वाला) चाण्डालों में भी नीच होता है तो वह जब उत्तम बन सकता है तो उत्कृष्ट के उत्तम बनने में क्या सन्देह है यह अपि शब्द का अर्थ है। तुम्हारे दर्शन से फिर सवन (सोमयाजी) कैसे होगा क्योंकि वह तो पहले ही सोमयाजी हो चुका है इसलिये नकार का अध्याहार नहीं किया है उस पक्ष का अर्थ है अथवा कुत: यह अव्यय किम् (क्या) इस अर्थ में है। भगवान् के दर्शन से वह सोमयाजी क्या होगा इस तरह कहना चाहिये यह अर्थ से ही आ जाता है। इस तरह अन्ततोगत्वा नामश्रवणादि का माहात्म्य कहा है ।।६।।

आभास—साक्षान्नाम्नो माहात्म्यं प्रतिपादयन्, प्रह्लादवत् भगवत्सृष्टिमध्यत्वात् ब्राह्मणापेक्षया श्वपचो महानिति वदन् तत्र युक्तिमाह—

आभासार्थ—नाम का माहात्म्य साक्षात् प्रतिपादन करते हुए प्रहल्लाद की तरह भगवान् की सृष्टि के मध्य में होने से ब्राह्मण की अपेक्षा से श्वपच महान् है ऐसा कहते हुए उसमें युक्ति कहते हैं—

श्लोक—**अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।**
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ।।७।।

श्लोकार्थ—अहो ! वह चाण्डाल भी इसी से सर्वश्रेष्ठ है कि उस की जिह्वा के अग्रभाग में आप का नाम विराजमान् है। जो श्रेष्ठ पुरुष आप का नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तप, हवन, तीर्थ स्नान, सदाचार का पालन और वेदाध्ययन सब कुछ कर लिया ।।७।।

सुबोधिनी—**अहो बतेति** । न च वक्तव्यं ब्राह्मणाच्छ्वपचः कथं महानिति, न ब्रूमो वयं जात्या, स्वाचारेण, कर्मणा वा, श्वपचो महानिति; किन्तु हेत्वन्तरेणैव स महान् । तदाह—**श्वपचोऽतो गरीयानिति** । प्रथमतो नाममाहात्म्ये हृदयं प्रविष्टे पूर्वं ब्राह्मणमाहात्म्यं ज्ञातवत्या इदानीं हीनभावे **अहो** इत्याश्चर्यम् । ब्राह्मण्यदृष्ट्या **बतेति** खेदे । स्वस्य ब्राह्मण्याभावेनैतावत्कालं खिन्नायाः नाममाहात्म्ये अवगते सति बतेति हर्षे वा । अतो हेतोः श्वपचो गरीयान् । निर्वृतोऽपि ब्राह्मणः स्वस्य स्वकर्मणामुत्कर्षं ज्ञात्वा, कदाचिदन्यदुच्चारयेत्, अभिमानादिदोषयुक्तो वा भवेत्; अतस्तत्र नाम न तिष्ठेत् । अतो निरन्तरं नामस्थानं श्वपचाजेह्वैव, तस्यैव तथा दर्शनात्; स निरूपितो वाल्मीकिः । किञ्च, यज्जिह्वाग्रे विद्यमानमपि नाम तुभ्यं त्वदर्थमेव; न तु तेनाऽपि शुद्धौ जातायां कार्यान्तरं करोति; किन्तु यथा स रामकथामेव लोके प्रकटितवान् । एतन्नाममाहात्म्यमसम्भावितं मत्वा युक्त्या साधयति—**तेपुस्तप** इति । ये पूर्वजन्मनि प्रथमं तपस्तेपुः । ततः शुद्धब्राह्मणजन्मनि **जुहुवुः** यज्ञादिकं कृतवन्तः । ततोऽप्युत्कृष्टजन्मनि **सस्नुः** सर्वतीर्थाभिगमनं कृतवन्तः । ततोऽग्रिमजन्मनि **आर्याः** सन्तो जाताः वेदवेदार्थपरिनिष्ठिताः । ततोऽप्यग्रिमजन्मनि परमोत्कृष्टदेहं प्राप्य, व्यासवाल्मीकिशुकपराशरादिरूपा भूत्वा **ब्रह्माऽनूचुः**, ब्रह्मोपदेशकर्तारो जाताः । त एव नाम गृणन्ति । अतः

श्वपचस्याऽपि तथा नामग्रहणे केवलमल्पपाप-वशाद्भगवदिच्छया नाममाहात्म्यं ख्यापयितुं श्वपचत्वं जातमिति निरन्तरनामोच्चारणादव-सीयते। अयं महानेव तथा जात इति; अतो युक्तमुक्तमित्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण से श्वपच (चांडाल) महान् होता है ऐसा कैसे कहते हो उसका उत्तर देते हैं हम यह नहीं कहते कि वह चाण्डाल जाति से श्रेष्ठ होता है, या अपने आचार से अथवा कर्म से श्रेष्ठ होता है किन्तु जाति, आचार और कर्म से नहीं वह तो अन्य प्रकार के हेतु से महान् होता है उसे कहते हैं श्वपचोऽतोगरो-यान्यज्जिद्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम् पहले ही पहल देवहूतिजी के हृदय में नाम का माहात्म्य प्रविष्ट हुआ और ब्राह्मण का माहात्म्य तो वह पहले जानती ही थी अब ब्राह्मण को जब हीन बताया गया तो देवहूति जी को आश्चर्य हुआ इस आश्चर्य को "अहो !" से बताया है और 'बत' का अर्थ है खेद सो उसे ब्राह्मण्य दृष्टि से खेद भी हुआ। अथवा बत का अर्थ हर्ष भी है देवहूति जी को ब्राह्मण्य के अभाव से इतने समय तक खेद था किन्तु जब उसे नाम का माहात्म्य ज्ञात हुआ तो उसे प्रसन्नता हुई अर्थात् नाम का माहात्म्य ब्राह्मण्य से भी अधिक है। इसीलिये तो चाण्डाल श्रेष्ठ है। संतुष्ट ब्राह्मण भी अपने लिये अपने कर्मों का उत्कर्ष जानकर कदाचित् नाम से अतिरिक्त का उच्चारण करे अथवा अभिमान आदि दोष से युक्त हो जाय तो उस (ब्राह्मण) में नाम की स्थिति न हो। अतः निरन्तर नाम की स्थिति तो श्वपच (चाण्डाल) की जीभ पर ही होती है उसी को वैसा देखा गया है उसका निरूपण पहले कर दिया है जैसे वाल्मीकि। एक बात और भी है जिसकी जीभ के ऊपर विराजमान भी नाम आप के ही लिये है उस नाम से शुद्धि हो जाने पर भी उस नाम से अन्य कार्य नहीं करता है किन्तु जिस तरह वाल्मीकि ने राम कथा (रामायण) को ही लोक में प्रकट किया था। कदाचित् शंका हो कि इस तरह नाम का माहात्म्य तो असम्भव है ऐसा मानकर युक्ति से उसे सिद्ध करते हैं। जिन्होंने पूर्वजन्म में तप किया था तब शुद्ध ब्राह्मण रूप में जन्म हुआ उस जन्म में उन्होंने यज्ञादिक किये उससे उनका उत्कृष्ट जन्म हुआ तब उन्होंने सब तीर्थों में जाकर स्नान किया तब फिर उनका जब अग्रिम जन्म हुआ तो वे आर्य (सन्त) वेद वेदार्थ में परिनिष्ठित हुए। उसके अनन्तर जो फिर उनका जन्म हुआ तो उन्होंने परम उत्कृष्ट शरीर को प्राप्त कर व्यास (वाल्मीकि) शुक (पराशर) आदि रूप में होकर ब्रह्म का उपदेश दिया वे ही तो नाम का उच्चारण करते हैं। इसी तरह श्वपच भी नाम ग्रहण में थोड़े पाप के कारण भगवान् की इच्छा से नाम के माहात्म्य को प्रसिद्ध करने के लिये उसमें श्वपचता हुई है यह बात नामोच्चारण से निश्चित होती है अर्थात् यह था तो महान् ही किन्तु नाम के माहात्म्य को प्रसिद्ध करने के लिये श्वपच हुआ है इसलिये जो कहा गया है वह युक्त ही है ॥७॥

आभास—एवं भगवतो माहात्म्यं साक्षात्परम्परया चोक्त्वा, अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं तं **नमस्यति**—

आभासार्थ—इस तरह भगवान् के माहात्म्य को साक्षात् एवं परम्परा से कहकर अपने मनोरथ की सिद्धि के लिये उसे नमन करते हैं—

श्लोक—तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ।।८।।

श्लोकार्थ—कपिलदेवजी ! आप साक्षात् परब्रह्म हैं, आप ही परम पुरुष हैं, वृत्तियों के प्रवाह को अन्तर्मुख कर के अन्तःकरण में आप का ही चिन्तन किया जाता है । आप अपने तेज से माया के कार्य गुण प्रवाह को शान्त कर देते हैं तथा आपके उदर में सम्पूर्ण वेदतत्त्व निहित हैं । ऐसे साक्षात् विष्णु स्वरूप आप को मैं प्रणाम करती हूँ ।।८।।

सुबोधिनी—तं त्वामहमिति । तं पूर्वोक्तप्रसिद्धियुक्तम्, त्वां तथैव परिदृश्यमानम् । व्यवहारे पुत्रत्वान्नमस्कारानौचित्यमाशङ्क्याऽऽह—**परं ब्रह्मेति** । जीवानां मध्ये अयं व्यवहारः, न तु परब्रह्मणि; तस्य लौकिकसम्बन्धकृतगुणदोषौ न स्तः । **पुमांसमिति** स एव सर्वत्र पुरि वर्तत इति । किञ्च, उपास्यो भवानेव । यतः **प्रत्यक् स्रोतस्यन्तर्मुखे** चित्ते सम्यग्विभाव्यो भवान् 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' इति श्रुतेः । स भवान् अतो भवान् फलरूपः, साधनरूपश्च । एवं भगवदवतारत्वमुक्त्वा, तत्रापि विशेषमाह—**स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहमिति** । स्वस्यैव तेजसा चिच्छक्त्या स्वप्रकाशज्ञानेन ध्वस्तो गुणप्रवाहो देहाद्यध्यासो येन । अतो मोक्षेप्सोः ज्ञानकलावतीर्ण एव सेव्य इत्युक्तम् । अतस्तमेव वन्दे । **विष्णुमिति** तस्य मूलरूपकीर्तनम्, वेदार्थरूपं वा । प्रमाणमाह—**वेदगर्भमिति** । तवैव निःश्वसिता वेदा इत्यर्थः ।।८।।

व्याख्यार्थ—आप पूर्वोक्त प्रसिद्धि से युक्त हैं इसे बताने के लिये 'तं' पद दिया है । 'त्वाम्' पद इसलिये है कि जैसे आप दीख रहे हैं वैसे ही हैं । व्यवहार में तो कपिलदेवजी पुत्र हैं अतः उनको नमस्कार करना उचित नहीं है इस आशंका के समाधानार्थ परं ब्रह्म पद दिया है आप पुत्र नहीं परब्रह्म हैं । जीवों में पुत्र आदि व्यवहार होते हैं परब्रह्म में ऐसा व्यवहार नहीं होता अर्थात परब्रह्म में लौकिक सम्बन्धकृत गुण-दोष नहीं होते । वह ही सब पुर (शरीर) में रहता है इसलिये उसे पुमान् कहा है । और उपास्य भी आप ही हैं क्योंकि अन्तर्मुखचित्त में आप ही जानने योग्य हैं श्रुति में भी कहा है 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' किसी धीर पुरुष ने ही प्रत्यग् आत्मा का निरीक्षण किया था । जिसने प्रत्यग् आत्मा का निरीक्षण किया वे ही आप हैं अतः आप फलरूप हैं और साधनरूप हैं । इस तरह कपिलदेवजी को भगवदतार बताकर उनमें भी विशेषता बताने के लिये स्वतेजसा ध्वस्तगुण प्रवाहम् कहा अपने ही तेज से चित्त शक्ति से अपने प्रकाश ज्ञान से ध्वस्त (नष्ट) कर दिया है गुणप्रवाह—देहाध्यास जिसने । अतः मोक्ष की इच्छा रखने वाले को ज्ञान कला से अवतार ग्रहण करने वाले कपिल देवजी की ही सेवा करनी चाहिये ऐसा कहा गया । अतः उन्हीं आप को मैं प्रणाम करती हूं । मूलरूप को कहने के लिये विष्णुम् ऐसा कहा अथवा आप वेद के अर्थ रूप हैं इसको कहने के लिये विष्णुम् कहा है । 'वेदगर्भम्' यह पद इसमें प्रमाणरूप है क्योंकि वेद आप ही के तो निश्वास रूप है ।।८।।

आभास—एवं स्तुते मातुरभिप्रायं ज्ञात्वा प्रसन्नो जात इत्याह—

आभासार्थ—ऐसी स्तुति करने पर माता के अभिप्राय को जानकर वे प्रसन्न हो गये इसे कहते हैं—

श्लोक—**मैत्रेय उवाच—ईडितो भगवानेवं कपिलाख्यः परः पुमान् ।**
वाचा विक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सलः ॥९॥

श्लोकार्थ—श्री मैत्रेयजी कहते हैं—माता के इस प्रकार स्तुति करने पर मातृ-वल्लभ परम पुरुष भगवान् कपिलदेवजी ने उनसे गम्भीर वाणी में कहा ॥९॥

सुबोधिनी-ईडित इति । स्तोत्रमस्य युक्तमिति ज्ञापयितुमाह-**भगवानिति** । **एवमीडितः** । **कपिल** इत्याख्यामात्रम्, वस्तुतः पर एव पुमान्, कार्यभगवत्त्वव्यावृत्त्यर्थमुक्तम् । **विक्लवया वाचेति** तस्यां दयोत्पत्तिः सूचिता । मातुः स्तोत्रमात्रमेव महदिति **मातरमि**त्याह । अयं च प्रसादः सर्वथा न मर्यादाकृतः, किन्तु पुष्टिकृत इत्याह-**मातृवत्सल** इति । मातरि वत्सलः ।९।

व्याख्यार्थ—कपिल देवजी की स्तुति करना उचित था उसे बताने के लिये भगवान् कहा है अर्थात् वे पुत्र नहीं भगवान् थे अतः स्तुति उचित थी । एवमिडितः (इस तरह स्तुति) की । कपिल यह तो उनका नाम मात्र कहा है वास्तव में तो वे परपुरुष (भगवान्) ही थे । कार्य में भगवत्व की व्यावृत्ति के लिये उनका नाम कहा । विक्लवया वाचा इसलिये कहा कि कपिलदेवजी को माता के ऊपर दया उत्पन्न हो गई थी । माता का स्तुति करना ही बहुत अधिक है अतः 'मातरं' पद दिया । यह कृपा सब तरह से मर्यादा से नहीं की किन्तु पुष्टि (अनुग्रह) से की इस को 'मातृवत्सलः' पद से सूचित किया है माता में स्नेह का होना मातृवत्सल कहा जाता है ॥ ९ ॥

आभास—प्रसादमार्गमाहात्म्ये क्रमेणाऽऽह—

आभासार्थ—प्रसाद मार्ग का माहात्म्य बताते हुवे क्रम से कहते हैं—

कपिल उवाच—श्लोक—**मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे ।**
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि ॥१०॥

श्लोकार्थ—कपिलदेवजी ने कहा—माताजी ! मैंने तुम्हें जो यह सुगम मार्ग बताया है, इसका अवलम्बन करने से तुम शीघ्र ही परमपद को प्राप्त कर लोगी ॥१०॥

सुबोधिनी-मार्गेणेति । हे मातः ! **अनेन** मदुक्तेन मार्गेण भगवद्ध्यानयुक्तयोगेन कर्तुं-सुकरेण । मया **उदितेनेति** अन्योक्तकथने तदङ्गताङ्गान्तरापेक्षा अस्ति, नवेति सन्देहोऽपि भवेत्,

मयैवोक्तमिति नात्राऽन्यापेक्षा । अत एव सम्यगास्थिता अचिरादेव **परां काष्ठामसंप्रज्ञातसमा**धिम्, ततो भगवत्सायुज्यं च **अवरोत्स्यसि** प्राप्स्यसीति वर: ।।१०।।

व्याख्यार्थ—हे माता! इस मेरे कहे हुए मार्ग से और करने में सहज ऐसे भगवद्ध्यान से युक्त योग से वह भी मेरे द्वारा कहा गया है दूसरा यदि कहता तो उसमें अन्य अङ्गों की अपेक्षा है या नहीं यह सन्देह भी होता मैंने ही कहा है इसलिये इसमें अन्य की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है। अत: ठीक तरह से इसके आराधन से परांकाष्ठाम् उत्तम स्थिति (असंप्रज्ञात समाधि ऐसी समाधि जिसमें आत्मा के सिवाय किसी का भान नहीं रहता है) को प्राप्त होगी और उसके अनन्तर भगवत्सायुज्य को प्राप्त कर लेगी यह केवल कथनमात्र ही नहीं है वरदान है ।। १० ।।

आभास—स्वोक्तमार्गस्योत्कर्षं चाऽऽह —

आभासार्थ—अपने कहे हुए मार्ग की उत्कृष्टता को कहते हैं—

श्लोक—**श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः ।**
येन मामभयं यायान्मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः ।।११।।

श्लोकार्थ—तुम मेरे इस मत पर विश्वास करो, ब्रह्मवादी लोगों ने इसका सेवन किया है, इसके द्वारा तुम मेरे जन्म-मरण रहित स्वरूप को प्राप्त कर लोगी। जो लोग मेरे इस मत को नहीं जानते हैं, वे जन्म मृत्यु के चक्र में पड़ते हैं ।।११।।

सुबोधिनी—**श्रद्धत्स्वैतादिति** । फलमप्यहमेवेत्याह—**मह्यमिति** । एतन्मत्सम्बन्धिमतं प्रामाणिकम्, यतो ब्रह्मवादिभिर्जुष्टम् । अवश्यं फलसाधकमित्याह—येन **मामभयं यायादिति** । येन मतेन, अभयमिति स्वस्य फलत्वम्, एतन्मतानभिज्ञास्तु मृत्युमेव ऋच्छन्तीत्यन्यनिन्दयाऽप्येतद्दृढीकृतम् । मृत्युप्राप्तिस्तु स्वकारणादेव । तस्माद्विधेयप्रशंसार्थमेव एतदुक्तं सर्वभावेन तत्र श्रद्धार्थम् ।।११।।

व्याख्यार्थ—'मह्यं' इसलिये कहा कि इसका फल भी मैं ही हूँ। यह मेरा बताया हुआ मत प्रामाणिक है क्योंकि ब्रह्मवादी लोग इसका आचरण करते हैं। यह मत अवश्य ही फलसाधक हैं 'येन मामभयं यायातु' जिस मत से अभय स्वरूप फल को प्राप्त करेगी। इस मत से जो अनभिज्ञ हैं वे तो मृत्यु को ही प्राप्त करते हैं। इस तरह दूसरे की निन्दा से इसे दृढ कर दिया। मृत्यु प्राप्ति तो अपने ही कारण से होती है। इसलिये विधेय की प्रशंसा के लिये ही यह कहा है जिससे सर्वभाव उस विधेय में श्रद्धा हो ।।११।।

आभास—एतावदुक्त्वा तां कृतकृत्यां ज्ञात्वा, ततः स्वयं निर्गत इत्याह—

आभासार्थ—इतना कह कर देवहूतिजी को कृतकृत्य जानकर उसके बाद कपिलदेव जी स्वयं वहाँ से निकल गये—

श्लोक—**मैत्रेय उवाच —इति प्रदर्श्य भगवानुशतीमात्मनो गतिम् ।**
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ।।१२।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार अपने श्रेष्ठ आत्म ज्ञान का उपदेश देकर कपिलदेवजी अपनी ब्रह्मवादिनी माता की आज्ञा लेकर वहाँ से चले गये ।।१२।।

सुबोधिनी–इतीति कथनमात्रेणैव वक्तुर्माहात्म्यात्तस्या शास्त्रार्थज्ञानं भविष्यतीत्यभिप्रायेणाऽऽह–**भगवानिति** । गतिश्चोशती कमनीया । स्वस्यैव गतिरिति स्वेनैव ज्ञायते, नान्येनेति ज्ञापितम् । तयापि तदुक्तोऽर्थो हृदये निश्चित इति ज्ञापयितुमाह–**स्वमात्रेति** । सापि पूर्वभाषां परित्यज्य शास्त्रार्थदाढर्च्याद्ब्रह्मवादिनी जाता । यस्त्वत्यन्तं यन्मताभिनिविष्टः स व्यवहारेऽपि तदेव वदति । तस्य च फलं मोहाभावः । अत एव तयाभ्यनुज्ञातः, स्वयं तु मोहरहितः, ततो ययौ । गन्तव्यो देशः पश्चाद्वक्ष्यते तस्याः सिद्धयनन्तरम्, अन्यथा फलविसंवादे, सर्वमेवोक्तं व्यर्थं स्यात् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—कथन मात्र से ही वक्ता के माहात्म्य से उसे शास्त्रार्थ ज्ञान हो जायेगा इस अभिप्राय से भगवान् यह पद दिया है इच्छित गति को उशती गति (सुन्दर गति) कहते हैं आत्मनः गतिम् (अपनी गति को), अपनी गति अपने ही द्वारा जानी जा सकती है अन्य के द्वारा नहीं जानी जा सकती यह इससे बताया गया है । स्वमात्रा यह पद इस बात का ज्ञापक है कि उन देवहूतिजी ने भी उन कपिल देवजी के कहे हुए अर्थ को हृदय में निश्चित कर लिया । उनने भी पूर्वभाषा का परित्याग किया और शास्त्रार्थ की दृढता से ब्रह्मवादिनी हो गई । जिसका जिस मत में अधिक आग्रह हो जाता है वह व्यवहार में भी उसे कहता है । उसका फल है मोह का अभाव । मोह न होने ही से तो उनने अपने पुत्र को जाने की अनुमति दे दी, कपिल देवजी में तो मोह था ही नहीं इसलिये चले गये । सिद्धि के बाद ही उन (देवहूति) को जहाँ जाना है उस देश को कहेंगे पूर्व में यदि बतादें और फल यदि विपरीत हो जाय तो सारा कहा कहाया व्यर्थ हो जाय ।।१२।।

आभास—तस्याः स मार्गः सिद्ध इत्याह–सा चापीत्यादि विंशत्या—

आभासार्थ—उसका वह मार्ग सिद्ध था इसे कहते हैं—

श्लोक—**सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक् ।**
तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता ।।१३।।

श्लोकार्थ—तब देवहूति जी भी सरस्वती के मुकुट के सदृश अपने आश्रम में अपने

पुत्र के उपदेश किये हुए योग साधन के द्वारा योगाभ्यास करती हुई समाधि में स्थित हो गई थी ।।१३।।

सुबोधिनी–योगे परित्यागस्यानङ्गत्वात् स्वस्य परित्यागाधिकाराभावात् तस्मिन्नेवाश्रमे सा स्थितेत्याह–**सा चापि** पूर्वोक्तापि तस्मिन्नेव स्वाश्रमे स्थिता, तनयोक्तेन योगोपदेशेन योगयुक्ता जाता । स्वगृहे योगो न सिद्धयतीति दूषणं तत्र नास्ति, यतः **सरस्वत्यास्तदाश्रममापीडं** मुकुटस्थानीयम् । गृहमगृहं वा न प्रयोजकं किन्तु विशिष्टदेशत्वमेव । **समाहितेति** सावधानान्तःकरणा । अनेन यमा उक्ताः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—परित्याग योग का अङ्ग नहीं है और देवहूतिजी को परित्याग का अधिकार भी नहीं था इसलिये उसी आश्रम में वह रही । सा चापि का अर्थ है कि पूर्वोक्त वह देवहूतिजी अपने उसी आश्रम में रही अपने पुत्र के कहे हुए योग के उपदेश से योगयुक्त हो गयी । योग अपने घर में सिद्ध नहीं होता है ऐसा दूषण उस (योग) में नहीं है क्योंकि देवहूतिजी का वह आश्रम सरस्वती के मुकुट की जगह था । घर या बाहर इसमें प्रयोजक नहीं है किन्तु विशिष्ट देश इसमें आवश्यक है । 'समाहिता' का अर्थ है सावधान अन्तःकरण वाली । इस कथन से यम का ग्रहण हो जाता है ।।१३।।

आभास—नियमानाह—

आभासार्थ—नियमों को कहते हैं—

श्लोक—**अभीक्ष्णावगाहकपिशान् जटिलान् कुटिलालकान् ।**
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ।।१४।।

श्लोकार्थ—त्रिकाल स्नान करने से उनकी घुँघराली अलकें पीली पीली जटाओं में परिणत हो गई तथा चीर (वस्त्रों) से ढका हुआ शरीर उग्र तपस्या के कारण दुर्बल हो गया ।।१४।।

सुबोधिनी–**अभीक्ष्णेति** । स्निग्धकुञ्चितकेशा अपि संस्कारव्यतिरेकेण निरन्तरावगाहेन कपिलवर्णा जाताः; केशा जटिलाश्चान्योन्यश्लेषयुक्ताः, पूर्वं कुटिलालकाः, एतादृशान् **बिभ्रतीति** । देशपरिकराणामसंस्कार उक्तः । शरीरस्याप्यसंस्कारमाह–**आत्मानमिति । च**-कारेण दन्तनखादिसंस्कारा अपि निर्वतिताः । **उग्रतपसा युक्तं कृशं** वा । तपसैव ज्ञानं भवतीति नियमानन्तरं तपो निरूपितम् । तपः साङ्गं चेत्याह–**चीरिणमिति** । चीरवाससैव तपः कर्तव्यमिति । कृशत्वं च तस्याभिव्यञ्जकम् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—चिकने और घुँघराले केश भी संस्कार के बिना और निरन्तर स्नान करने के कारण पीले वर्ण के हो गये । केश भी एक दूसरे से लिपट कर जटा के रूप में हो गये जो

पहले कुटिल अलकाओं के रूप में थे। ऐसे बालों को धारण करती थी। देश का और परिकरों का असंस्कार कहा। शरीर भी उसका असंस्कृत था उसे आत्मानम् से कहा और च से दांत नख आदि का भी असंस्कार लिया जाता है। उग्र तपस्या से युक्त अथवा कृश ज्ञान तप से ही होता है इसलिये नियमों के अनन्तर तप का निरूपण किया। उसने तप भी साङ्ग (अङ्ग सहित) किया था यह 'चीरिणं' से बताया है चीर (वस्त्र) पहन कर ही तप करना चाहिये उसके तप की अभिव्यक्ति, कृशता से हो रही थी ।।१४।।

आभास—तस्या वैराग्यं वक्तुं पदार्थानामुत्कर्षं वर्णयति-**प्रजापतेरिति** पञ्चभिः—

आभासार्थ—उसके वैराग्य को कहने के लिये पांच श्लोकों से पदार्थों के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् ।**
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि ।।१५।।

श्लोकार्थ—उन देवहूतिजी ने प्रजापति कर्दमजी के तप और योगबल से प्राप्त अनुपम गार्हस्थ्य सुख को जिसके लिये देवता भी तरसते थे, त्याग दिया ।।१५।।

कारिका—**अलौकिकं तदुत्कृष्टं सर्वोपकरणोत्तमम् ।**
गृहं च सर्वशोभाढ्यमुद्यानातिमनोहरम् ।
मनः सौख्यप्रदं स्वस्य तादृशे ममतां त्यजेत् ।।१।।

अविद्यमानसन्त्यागे लोकयोर्भ्रष्ट एव हि ।
ऐहिकं सुगमं नो चेत् दूरे ह्यन्यस्य साधनम् ।।२।।

कारिकार्थ—वह अलौकिक उत्कृष्ट, सब उपकरणों से युक्त घर, सब शोभा से युक्त अति मनोहर बगीचा, अपने मन को सुख पहुँचाने वाले इन सब की ममता का परित्याग किया। अविद्यमान के त्याग में तो दोनों लोकों से भ्रष्ट ही हो जाता है। जब ऐहिक सुख उसको सुगम नहीं है तो अन्य जो पारलौकिक है उसका साधन तो दुर्लभ ही है ।।१-२।।

सुबोधिनी-प्रथमं तदलौकिकं गार्हस्थ्यमित्याह-**प्रजापतेर्ब्र**ह्मतुल्यस्य, नाम्नापि तुल्यस्य, तपोयोगाभ्यां विजृम्भितं विवाहप्रभृतिविमानभोगादिकं तपोयोगाभ्यामेव जातम् । यद्यपि भगवता संपादितम्, तथापि त्यागे तत्त्वं हेतुर्न भवतीति **तपोयोगाभ्यामेव विजृम्भित**मित्युक्तम् । **गार्हस्थ्यं** गृहस्थाश्रमः सपरिकरः । **अनौपम्य**मुत्तरलोकानां फलरूपत्वात्, किन्नरादीनां च फलरूपत्वात्, मर्यादात्वेन तथोत्कर्षाभावाच्च, ब्रह्मादीनां गार्हस्थ्याभावात् गार्हस्थ्यं कर्दमस्यानुपममेव । **वैमानिकानां** किन्नरादीनां तत्सम्भवमाशङ्क्य परिहरति-**प्रार्थ्यमिति** । नियतभोगिनां मध्ये वैमानिका उत्तमाः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—पहले उस अलौकिक गार्हस्थ्य को कहते हैं। कर्दमजी प्रजापति होने से ब्रह्मा जी के समान थे तथा नाम से भी ब्रह्माजी के सदृश थे उनके विवाह प्रभृति एवं विमान भोग आदि तप एवं योग से हुए थे। यद्यपि भगवान् ने उनका संपादन किया था परन्तु उन सब के त्याग में भगवान् कारण नहीं थे इसलिये उन सब के लिये 'तपोयोगविजृम्भितम्' ऐसा कहा। उन कर्दमजी का गार्हस्थ्य (गृहस्थाश्रम) भी सब परिकरों के सहित था और उत्तर लोकों का फलरूप होने से वह अनुपम था यद्यपि किन्नरों का गार्हस्थ्य भी फलरूप है परन्तु उस गार्हस्थ्य की मर्यादा है इसलिये उसमें कर्दम जी के समान उत्कर्ष नहीं है ब्रह्मा आदि तो गृहस्थ हैं ही नहीं इसलिये गार्हस्थ्य कर्दमजी का अनुपम (उपमा से रहित) ही था। यदि कोई कहे कि विमानचारी किन्नर आदि को वैसे गार्हस्थ्य की संभावना होगी उसका परिहार प्रार्थ्यम् से कर दिया है नियत भोगवालों में विमानचारी उत्तम हैं परन्तु वे विमानचारी भी कर्दमजी के गार्हस्थ्य के लिये लालायित रहते हैं ॥१५॥

आभास—परिकराणामुत्कर्षमाह—

आभासार्थ—परिकरों का उत्कर्ष कहते हैं—

श्लोक—**पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।**
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ॥१६॥

श्लोकार्थ—जिसमें दूध के फेन के समान स्वच्छ और सुकोमल हाथी दांत की बनी शय्या थी और सुवर्ण से चित्रित जिनका अन्तभाग था। हाथी दांत के बने आसन और सुवर्ण के पात्र थे आसनों पर कोमल कोमल गद्दे बिछे हुए थे ॥१६॥

सुबोधिनी—पय इति । दुग्धफेनवत् कोमला उज्ज्वला उत्तुङ्गाः शय्या दन्तनिर्मिता रुक्मपरिच्छदाः शय्याः, काष्ठांशाः सुवर्णेन चित्रिता अन्तभागा येषाम् । दन्तानामासनानि चकारा-द्भाण्डादीन्यपि हैमानि । **सुस्पर्शानि** कोमलानि नानाविधानि वस्त्राण्यास्तरणानि । परिकराणि द्विविधानि, भाण्डमयानि वस्त्रमयानि चेति द्वयमुक्तम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—दूध के फेन (झाग) की तरह उज्ज्वल (श्वेत) ऊँची हाथीदांत की बनी तथा सोने के परिच्छद (चित्रों) से युक्त शय्याएँ (पलंग) थी। शय्याओं में जो लकड़ी का हिस्सा था वह सोने से चित्रित अर्न्तभाग वाला था। दाँत के बने आसन और चकार से पात्र भी सोने के थे उन आसनों के आस्तरण (बिछोने) अनेक प्रकार के कोमल वस्त्रों के थे। परिकर दो प्रकार के होते हैं भाण्डमय और वस्त्रमय उन दोनों को ही यहाँ कहा है ॥१६॥

श्लोक—**स्वच्छस्फटिककुडय्चेषु महामारकतेषु च ।**
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललना रत्नसंयुताः ॥१७॥

श्लोक—गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम् ।।१८।।

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—स्वच्छ स्फटिक की भीतें थी और महामरकत मणि के बने हुए घरों में रत्नमय दीपक शोभित हो रहे थे रत्नों के आभूषणों से युक्त स्त्रियाँ भी घर में विद्यमान थीं घर का बगीचा भी फूलों से लदे हुए कल्पवृक्षों से रम्य था जिसमें कलरव करते हुए पक्षियों के जोड़े विद्यमान थे तथा भोरों का गुञ्जार हो रहा था । कमल की गन्ध से सुवासित बावड़ियों में प्रविष्ट और कर्दमजी के द्वारा उपलालित देवहूतिजी का गन्धर्व गुण गान करते थे ।।१७।।१८।।१९।।

सुबोधिनी–स्वच्छेति । **स्वच्छानि** निर्मलानि **स्फटिकमयानि कुड्यानि** येषु गृहेषु; कुड्यान्येव वा । महामरकतनिर्मितेषु च तत्र योजिता रत्नमयाः प्रदीपा आभान्ति । स्त्रीरहिता गृहा अपि न शोभन्त इति **ललनाः** स्त्रियोऽपि रत्नाभरणसंयुतास्तेषु गृहेष्वाभान्ति । **गृहस्योद्यानं** पुष्पवाटिका, देवद्रुमैः कल्पवृक्षै रम्यम् । कूजतां विहङ्गानां मिथुनानि यत्र । गायन्तो मत्ता मधुव्रता यत्र । उद्यानस्य सर्वविषयत्वप्रतिपादनाय, उद्दीपनविभावत्वाय च पारावतानां कूजनम्, भ्रमराणां च गानमुक्तम् । **यत्र** विमाने उद्याने, गृहे वा **प्रविष्टमात्मानं** देवहूतिं **विबुधानुचरा** गन्धर्वादयो **जगुः** । **वाप्यां** च प्रविष्टमुत्पलगन्धयुक्तायाम्, कर्दमेन चोपलालितम्, कर्दमसहितं वाऽऽत्मानं जगुः ।।१७।।१८।।१९।।

व्याख्यार्थ—स्वच्छ निर्मल स्फटिकमय हैं भींते जिनमें ऐसे घरों में अथवा स्वच्छ स्फटिकमय हैं भींते महामरकत मणि से बने हुए घरों में रत्नमय दीपक शोभित हो रहे थे । स्त्रियों के बिना घर भी शोभा नहीं देते अतः रत्नों के आभरणों से संयुक्त स्त्रियाँ भी उन घरों में शोभित हो रही थीं । घर का बगीचा पुष्पवाटिका कल्पवृक्षों से मनोरम था और चहचहाते हुए पक्षियों के जोड़े जिनमें थे । वह बगीचा सब प्रकार के विषयों का प्रतिपादक होने से उद्दीपन विभाव के लिये पारावतों (कबूतरों) का कूजन भी उसमें था और भोंरों का गान भी उसमें कहा गया । उस विमान में, उद्यान में, अथवा घर में देवहूतिजी ने जब प्रवेश किया तो गन्धर्व आदि ने गान किया । कमलों की सुगन्ध से युक्त बावड़ी में प्रविष्ट हुए कर्दमजी के द्वारा उपलालित अथवा कर्दमजी के सहित देवहूतिजी को गाना सुनाने लगे ।।१७-१८-१९।।

आभास—एवं गार्हस्थ्यं वर्णयित्वा तत्त्यागो भगवद्ध्यानार्थ एव युक्त इति वक्तुं कैवल्यशास्त्रे भगवत्स्मरणं दृढं न भवतीति निरन्तरभगवत्स्मरणार्थं भगवदिच्छया भगवत्त्वेन, पुत्रत्वेन च पुत्रे स्नेहः स्थित इत्याह—

आभासार्थ—इस तरह गार्हस्थ्य का वर्णन करके उसका त्याग भगवान् के ध्यान के लिये ही उचित है मोक्षशास्त्र में भगवान् का स्मरण दृढ़ नहीं होता है इसलिये निरन्तर भगवत्स्मरण के लिये भगवान् की इच्छा से भगवत्स्वरूप से और पुत्ररूप से पुत्र में स्नेह स्थित था उसे कहते हैं—

श्लोक—**हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम् ।**
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषकातरम् ।।२०

श्लोकार्थ—देवहूतिजी का वह घर और उद्यान जिसके लिये इन्द्राणियाँ भी लालायित रहती थी उस घर और उद्यान की ममता उन्होंने त्याग दी । किन्तु पुत्र वियोग से व्याकुल होने के कारण उनका मुख कुछ उदास हो गया ।।२०।।

सुबोधिनी—हित्वेति । आखण्डलयोषितामिन्द्रस्त्रीणा**मीप्सिततमं** तद्गृहं हित्वा, पुत्रे निर्गते पुत्रविश्लेषेण किञ्चित् कातरं वदनं चकार । शास्त्रपुत्रत्वयोः संरक्षार्थम्—**किञ्चिदिति** । किञ्चिदित्यव्ययम्, क्रियाविशेषणं वा ।।२०।।

व्याख्यार्थ—आखण्डलयोषिताम् (इन्द्र की स्त्रियों के लिये) ईप्सिततमम् (अत्यन्त चाहे गये) तद्गृहम् (उस घर को), हित्वा (छोड़ कर) पुत्र के चले जाने पर पुत्र के वियोग से उसने मुख को कुछ उदास किया । शास्त्र और पुत्रत्व की रक्षा के लिये मुँह को कुछ उदास किया । किञ्चित् यह अव्यय है अथवा क्रिया विशेषण है ।।२०।।

आभास—न केवलं वदन एव विकारः, किन्तु हृदयेऽपीत्याह—

आभासार्थ—केवल मुख पर विकार हो ऐसा नहीं था किन्तु हृदय में भी दुःख हुआ—

श्लोक—**वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।**
ज्ञाततत्त्वाऽप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ।।२१।।

श्लोकार्थ—पति के वन में चले जाने के अनन्तर पुत्र का भी वियोग हो जाने से आत्म ज्ञान सम्पन्न होकर भी वह ऐसी व्याकुल हो गयी, जैसे बछड़े के बिछुड़ जाने पर उससे प्यार करने वाली गाय ।।२१।।

सुबोधिनी—वनमिति । पत्यौ प्रव्रजिते सति वनं च प्रविष्टे सति प्रव्राजस्तु परित्यागो लोकस्येति लोकस्थितो न परित्यागी । ये तु भिक्षादिनियमा उक्तास्ते आश्रमस्थानाम्, तत्र परित्यागः पूर्वसिद्धपदार्थानामेव । स्वतन्त्रपरित्यागे वनप्रवेश एव । तदाह—**वनं प्रव्रजित** इति । अपत्यविरहेण चातुरा भर्तुर्विरहो नित्य उक्तः । वनगमनात् तत्सङ्गे पुत्रविरह उक्त इति सोऽपि नित्यः; अतः आतुरा । ननु शास्त्रतो ज्ञानेन देहाध्यासे निवृत्ते विरहद्वयं न बाधकमिति चेत्त-

त्राऽऽह–ज्ञाततत्त्वेति । ज्ञातं तत्त्वमात्मनो यया । एतादृश्यपि पुत्रे दूरं गते वत्से नष्टे गौरिव व्याकुला जाता, यतो वत्सला पुत्रस्नेहाधिक्य-युक्ता ॥२१॥

व्याख्यार्थ—पति के संन्यास ग्रहण कर वन में प्रवेश करने के अनन्तर, परित्याग लोक का किया जाता है अतः यदि संन्यासी दुनिया में रहता है तो वह संन्यासी नहीं हो सकता । जो भिक्षा आदि नियम कहे गये हैं वे तो आश्रम में रहने वाले के लिये हैं । वहाँ जो परित्याग होता है वह तो पूर्वसिद्ध पदार्थों का ही होता है । स्वतन्त्र परित्याग में तो वन में ही प्रवेश करना चाहिये । इसी को बताने के लिये "वनं प्रव्रजिते पत्यौ' ऐसा कहा । वह पुत्र के विरह से आतुर (व्याकुल) हुई भर्त्ता (पति) का विरह तो नित्य था इसे पहले ही कह दिया था । वन में जाने से उसके सङ्ग में पुत्र का विरह कहा था वह भी नित्य था इसलिये वह आतुर हो गई, व्याकुल हो गई । यदि शंका हो कि शास्त्र से उसे ज्ञान हो गया था उस ज्ञान से उसका देहाध्यास मिट गया तो दोनों ही का विरह उसके लिये बाधक नहीं होना चाहिये इसका उत्तर ज्ञाततत्वा आदि से दिया गया है देवहूतिजी ने आत्मतत्व को जान लिया था ऐसा होने पर भी पुत्र के दूर चले जाने पर (बछड़े के दूर चले जाने पर जिस गाय का अपने बछड़े पर अधिक प्यार है उस गाय की तरह) व्याकुल हो गयी ॥२१॥

आभास—अयं स्नेहः तस्या उपकाराय जात इत्याह—

आभासार्थ—यह स्नेह उसके उपकार के लिये हो गया—

श्लोक—**तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् ।**
बभूवाचिरतो वत्स ! निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे वत्स विदुर ! अपने पुत्र कपिलदेव रूप भगवान् हरि का ही चिन्तन करते करते वे कुछ ही दिनों में ऐसे ऐश्वर्य सम्पन्न घर से भी उपरत (विरक्त) हो गयी ॥२२॥

सुबोधिनी–तमेवेति । तमेव पुत्रं भगवन्तं योगे ध्यायती **अचिरतः** शीघ्रमेव तादृशे गृहे निःस्पृहा जाता; यतः स हरिः । स्पृहा च दुःखात्मिका । **वत्सेति** विदुरसम्बोधनं त्वयाऽप्येतत्कर्तव्यमिति बोधनार्थम् । परित्यागलक्षणं वैराग्यं प्रकृते नास्तीति स्पृहाभाव एवोक्तः २२।

व्याख्यार्थ—अपने पुत्ररूप भगवान् का योग में ध्यान करती हुई शीघ्र ही उस प्रकार के ऐश्वर्यशाली घर से निस्पृह हो गयी क्योंकि कपिलदेवजी भगवान् थे । स्पृहा (इच्छा) दुःखरूप होती है । वत्स! यह विदुरजी का सम्बोधन है इस सम्बोधन का तात्पर्य यह है कि विदुर! तुम्हें भी ऐसा करना चाहिये । यहाँ परित्याग रूप वैराग्य न होने से स्पृहा का अभाव कहा है ॥२२॥

आभास—न केवलं भगवाध्धनेन गृहानासक्तिः सिद्धा, किन्तु योगोऽपि सिद्ध इत्याह—

आभासार्थ—केवल भगवान् के ध्यान से ही घर में अनासक्ति सिद्ध नहीं थी किन्तु योग भी उसे सिद्ध हो गया—

श्लोक—**ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् ।**
सुतं प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ।।२३।।

श्लोकार्थ—फिर वे, उन कपिलदेवजी ने भगवान् के जिस ध्यान करने योग्य प्रसन्न मुख कमल युक्त स्वरूप का वर्णन किया था, उसके एक एक अवयव का तथा उस समग्ररूप का भी चिन्तन करती हुई ध्यान में तत्पर हो गयीं ।।२३।।

सुबोधिनी—ध्यायतीति । सुतो यदाह भगवद्रूपं सर्वेषामेव योगिनां ध्यानगोचरं सुत एव भगवानिति सुतं ध्यायती । **सुत** इति वा पाठः । **प्रसन्नवदनमिति** तस्य ध्याने भगवान् प्रसन्न एवाभिव्यक्त इति कार्यसिद्धिसूचनार्थं प्रसाद उक्तः । समस्तव्यस्तप्रकारो ध्यान उक्तः इति तथैवाऽऽह—**समस्तव्यस्तचिन्तयेति** । समस्तचिन्ता प्रसन्नवदनाम्भोजमिति; व्यस्तचिन्ता सञ्चिन्तयेद्भगवत इति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—पुत्र ने जो भगवान् का रूप कहा था जो सब योगियों के ध्यान का विषय है वह तो पुत्र ही भगवान् था अतः पुत्र का ही ध्यान करती हुई । कहीं सुतं की जगह सुतः ऐसा भी पाठ है । प्रसन्न वदंन (मुख) ऐसा इसलिये कहा कि उन (कपिलदेवजी) के ध्यान में भगवान् प्रसन्न रूप ही दिखाई दिये जिससे कार्य सिद्धि सूचित होती है अतः उनका प्रसाद (कृपा)यहाँ बताया है । समस्त और व्यस्त प्रकार भगवान् के ध्यान में पहले बताये जा चुके हैं उन्हें ही यहाँ 'समस्त व्यस्तचिन्तया' से बताया है । समस्त चिन्तन तो प्रसन्न मुखारविन्द का ध्यान और व्यस्त चिन्तन सञ्चिन्तयेद्भगवतः इत्यादि रूप ।।२३।।

आभास—तादृशध्यानेन यदासीत्तदाह—**भक्तिप्रवाहयोगेनेति** चतुर्भिः—

आभासार्थ—इस प्रकार के ध्यान से जो हुआ उसे चार श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा ।**
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ।।२४।।

श्लोकार्थ—भक्ति के प्रवाह, प्रबल वैराग्य और यथोचित कर्मानुष्ठान से उत्पन्न हुए ब्रह्मसाक्षात्कार कराने वाले ज्ञानद्वारा ।।२४।।

कारिका—**चित्तशुद्धेः साधनानि कार्यं शुद्धस्य चेतसः ।**
ज्ञानस्याऽप्युत्तमावस्था दोषाभावश्च सर्वतः ।।१।।

कारिकार्थ—'चित्तशुद्धि के साधन, शुद्ध चित्त का कार्य। और ज्ञान की भी उत्तमावस्था, सब ओर से दोषाभाव ।।१।।'

सुबोधिनी—भगवच्चिन्तनेन क्रमेण परमामवस्थां प्राप्तवतीति वक्तुं चिन्तनेन जातं क्रममाह—आदौ भक्तिप्रवाहो जातः। स चोपायभूत इति योगः, ध्यानेन प्रथमं भक्तियोगो जात इत्यर्थः। भक्तेः प्रवाहनित्यतैवेति **प्रवाह**पदम्; ततो दृढं वैराग्यम्; ततो भगवद्धर्मेषु परमश्रद्धया परलोके **युक्तं यदनुष्ठानजातं** निवृतिधर्मरूपम्; तदनन्तरं ब्रह्मप्रापकं ज्ञानम्। एतावता साधनत्रयसहितेन ज्ञानेन चित्तमत्यन्तं शुद्धं भवति ।।२४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के चिन्तन से(क्रम से)परम अवस्था को वह प्राप्त हो गयी इसे कहने के लिये चिन्तन से जो हुआ उस क्रम को कहते हैं। सर्वप्रथम तो भक्ति प्रवाह हुआ वह भक्ति प्रवाह उपायभूत था इसलिये वह भी योग कहलाया अर्थात् ध्यान से पहले भक्तियोग हुआ। भक्ति के प्रवाह की नित्यता होने से ही यहाँ प्रवाह पद दिया है। उसके अनन्तर दृढ वैराग्य हुआ. वैराग्य होने पर भगद्धर्मों में परम श्रद्धा से परलोक के लिये उचित जो कर्मानुष्ठान जो निवृत्ति धर्मरूप है उसके अनन्तर ब्रह्म प्राप्ति का साधन ज्ञान इस तरह इन उक्त तीन साधनों के सहित ज्ञान से चित्त अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ।।२४।।

आभास—तदा शुद्धचित्तकार्यमाह—

आभासार्थ—तब शुद्ध चित्त का कार्य कहते हैं—

श्लोक—**विशुद्धेन तदाऽत्मानमात्मना विश्वतोमुखम्।**
स्वानुभूत्वा तिरोभूतमायागुणविशेषणम् ।।२५।।

श्लोकार्थ—चित्तशुद्ध हो जाने पर वे उस सर्वव्यापक आत्मा के ध्यान में मग्न हो गयीं, जो अपने स्वरूप के प्रकाश से मायाजनित आवरण को दूर कर देता है ।।२५।।

सुबोधिनी—**विशुद्धेनेति। तदेति** तदैव शुद्धिः, न ज्ञानात्पूर्वं चित्तं शुद्धं भवतीत्युक्तम्। अतो **विशुद्धेनाऽऽत्मना आत्मानं ध्यायती जातेति** पूर्वेणैव सम्बन्धः। संसारावस्थातः तदानींतनमात्मानं विशिष्टमाह—**विश्वतोमुखमिति**। पूर्वमात्मा हृदयाभिमुखः शरीरप्रवणः। शुद्धे तु चित्ते सर्वतोमुखमात्मानं दृष्टवती। सर्वत्र विद्यमानः सर्वतोमुखः। पूर्वं चाविद्यावच्छिन्नो देहाभिमानी, साम्प्रतं च तद्गतमित्याह—स्वानुभूत्यैव तिरोभूता **माया** प्रकृतिः, तद्गुणाः सत्त्वादयः, **तद्विशेषा**स्तत्कार्याणि परिच्छेदादयो यस्य ।।२५।।

व्याख्यार्थ—तदा इसलिये कहा कि उसी से चित्तशुद्धि होती है पहले ज्ञान से चित्त शुद्ध होता है ऐसा नहीं कहा। इसको स्पष्ट करने के लिये ही 'विशुद्धेन आत्मना आत्मानं ध्यायती' इस पूर्व कथन से उस का सम्बन्ध हैं। संसारावस्था से उस समय के आत्मा की विशिष्टता को

कहते हैं "विश्व तो मुखम्" आत्मा पहले तो हृदयाभिमुख थी और शरीर प्रवण था परन्तु जब शुद्ध हो गयी तो वह आत्मा सर्वतोमुख हो गयी उस आत्मा को उस देवहूति ने देख लिया । सर्वतोमुख का अर्थ है सब जगह विद्यमान् । पहले जब तक आत्मा अविद्या से युक्त थी तब तक वह देहाभिमानी थी अर्थात् वह अपने देह को ही आत्मा समझे हुई थी । परन्तु अब तो देह के अन्तर्गत आत्मा को समझने लगी अतः अपनी अनुभूति (अनुभव) से माया (प्रकृति) तिरोहित हो गयी और उसके गुण जो सत्व-रजः-तम हैं वे भी तिरोहित हो गये । उन गुणों के विशेष तथा उनके कार्य परिच्छेद आदि जिसके हैं वे सब चले गये ।।२५।।

आभास—आत्मज्ञाने प्रादुर्भूते मायागुणकार्याणि लीयन्त इति अविद्यातत्कार्य-विलये ब्रह्मण्येव स्थितो जात इत्याह—

आभासार्थ—आत्मज्ञान के प्रकट हो जाने पर माया तथा गुण के कार्य चले जाते हैं जब अविद्या और उसके कार्यों का विलय हो जाता है तब वह ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है—

श्लोक—**ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ।**
निवृत्तजीवभावत्वात्क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृतिः ।।२६।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जीव के अधिष्ठानभूत परब्रह्म श्री भगवान् में ही बुद्धि की स्थिति हो जाने से उसका जीव भाव निवृत्त हो गया और वे समस्त क्लेशों से मुक्त होकर परमानन्द में निमग्न हो गयीं ।।२६।।

सुबोधिनी—**ब्रह्मण्यवस्थितमतिरिति** । तदेव ब्रह्म पूर्वं ध्यातो भगवानिति ततो ज्ञातवती । ततोऽपि स भगवान् न ध्यानमपेक्षते, किन्तु **आत्मन्येव** स्वस्मिन्नेव **सम्यक् आश्रयो** यस्य तादृशं ज्ञातवती । एवं स्वस्मिन् भगवत्स्फुरणे जीवभावो निवृत्त इत्याह—**निवृत्तेति** । आधाराधेयभावोऽपि निवृत्तः । स्वस्य परिच्छेदेऽपि तिरोहितानन्दत्वं जीवभावः, प्रकटानन्दः स्वयमेव भगवान् जात इत्यर्थः । एवं सति अविद्यादयः सर्वे क्लेशाः क्षीणा भवन्ति; क्लेशेषु च निवृत्तेषु परमा निर्वृतिः प्राप्यते । प्राप्यं रूपमधिकारातीतमिति ज्ञापनार्थम् । प्राप्तेऽपि भगवद्रूपे पुनर्निवृत्तिरुक्ता । ब्रह्मभावेऽपि वा आधाराधेयभावः स्थित एव । मध्यावस्था वा एषा ।।२६।।

व्याख्यार्थ—वही ब्रह्म जिसका पहले ध्यान किया था जो भगवान् था अतः उसे जान गयी । इसके बाद उन भगवान् के ध्यान की अपेक्षा नहीं हुई किन्तु अपने ही अन्दर जिनका निवास है ऐसा वह जान गयी । इस तरह अपने ही अन्दर भगवान् की स्फूर्ति हो जाने से उसका जीवभाव चला गया यहाँ तक कि मेरे अन्दर भगवान् है ऐसा आधार और आधेय भाव भी निवृत्त हो गया । यदि अपने को परिच्छिन्न माने तो भी आनन्द का तिरोधान हो जाता है और अपने में जीव भाव हो जाता है अर्थात् प्रकट हुआ वह आनन्द स्वयं ही भगवान् हो गया । ऐसा ही जानने पर अविद्या आदि सब क्लेश क्षीण हो जाते हैं और जब क्लेश हट गये तो फिर परम संतोष प्राप्त हो जाता है ।

प्राप्त करने योग्य जो रूप है वह अधिकारातीत है इसे ज्ञापित करने के लिये यह कहा। भगवद्रूप के प्राप्त होने पर भी फिर निवृत्ति कही। अथवा ब्रह्मभाव होने पर भी आधाराधेय भाव स्थित हो रहा। यह मध्या अवस्था है ॥२६॥

श्लोक—नित्यारूढसमाधित्वात् परावृत्तगुणभ्रमा ।
न सस्मार तदात्मानं स्वप्नदृष्टमिवोत्थितः ॥२७॥

श्लोकार्थ—निरन्तर समाधि में स्थित रहने के कारण उसकी विषयों के सत्यत्व की भ्रान्ति मिट गई और उसे अपने शरीर की भी सुधि न रही, जैसे जागे हुए पुरुष को अपने स्वप्न में देखे हुए शरीर की सुधि नहीं रहती ॥२७॥

सुबोधिनी—निवृत्तौ जातायामिन्द्रियैः पुनरानयनापेक्षाभावात् नित्यारूढसमाधिर्जाता। नित्यमारूढः समाधिर्यया सा देवहूतिर्नित्यारूढसमाधिः। तस्या भावकथनं तत्स्थैर्यार्थम्, एवं समाधिदार्ढ्ये परावृत्ताः गुणैः कृता भ्रमा यस्याः। आनन्दतिरोभावस्तमसः, परिच्छेदो रजसः, भेदः सत्त्वस्येति त्रयोऽपि निवृत्ताः। एवं सति अध्यासाश्रयभूतस्य देहस्यापि स्फुरणं सर्वदोषहेतुर्न जातमित्याह—**न सस्मारेति**। स्वप्नदृष्टं देहं यथा उत्थितः, अहमिति न मन्यते, तदपेक्षयाऽपि इमं देहमात्मानं न सस्मार स्मृतवत्यपि न ॥२७॥

व्याख्यार्थ—निवृत्ति हो जाने पर पुनः उन विषयों को इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं करती हैं अतः उसे नित्यारूढ समाधि हो गयी। नित्यारूढ समाधि का अर्थ है नित्य आरूढ है समाधि जिससे ऐसी वह देवहूति जी नित्यारूढ समाधि है। उसके भाव का कथन उनकी स्थिरता के लिये है। इस तरह समाधि की दृढता हो जाने पर गुणों से होने वाले जितने भी भ्रम हैं वे मिट जाते हैं अर्थात् देवहूति जी के गुणों से होने वाले सब भ्रम मिट गये। तमोगुण से आनन्द का तिरोभाव, रजोगुण से परिच्छेद और सत्वगुण के द्वारा भेद ये तीनों ही उसके निवृत्त हो गये। जब ऐसा हो गया तो अध्यास का आश्रय भूत जो देह है उसकी स्फूर्ति रहने पर भी वह देह दोषजनक नहीं रहा इसको 'न सस्मार' से कहा है। जैसे स्वप्न में देखे हुए देह को जाग जाने पर उस (स्वप्न में देखे हुए) देह को मैं हूँ ऐसा नहीं मानता। परन्तु जगे हुए को स्वप्न में देखे हुए देह का स्मरण रहता है किन्तु देवहूति जी ने तो उस देह का स्मरण भी न किया ॥२७॥

आभास—ननु देहास्मरणे कथं देहस्तिष्ठेदिति शङ्कां परिहरन्, तस्य देहस्यान्तर्ज्ञानप्रकाशेन प्रकाशमानत्वमाह—

आभासार्थ—शंका होती है कि देह का जब स्मरण नहीं रहता है तो देह रहेगी कैसे इस शंका का परिहार करते हुए उस देह की अन्तर्ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमानता को कहते हैं—

श्लोक—**तद्देहः परतः पोष्योऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् ।**
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ॥२८॥

श्लोकार्थ—उनके शरीर का पोषण भी दूसरों के द्वारा ही होता था । किन्तु किसी प्रकार का मानसिक क्लेश न होने के कारण वह दुर्बल नहीं हुई । उसका तेज और भी निखर गया और वह मैल के कारण धूमयुक्त अग्नि के समान सुशोभित होने लगी ॥२८॥

सुबोधिनी—तद्देह इति । परतः योगनिर्मितस्त्रीभिः पोषितोऽप्यकृशः; बहिर्वस्त्रादिनैव पोषो न तु भोजनकृतः, तथापि न कृशः । तत्र हेतुः—**आध्यसम्भवादिति** । आधिर्मनःपीडा । मृत्युः पूर्वमेव जित इति देहवृद्धिश्चानपेक्षितेति केवलं मनःपीडयैव देहह्रासो भवति; तदभावादकृशः । चकारात् कान्तिनाशाभावश्च । अन्तःस्थितज्ञानेन, बहिःस्थितमलेन च **मलैरवच्छन्नो बभौ** । उभयमेकत्र साधयितुं दृष्टान्तः—**सधूम इव पावक** इति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—योगनिर्मित स्त्रियों से पोषित उसका शरीर दुर्बल नहीं हुआ, योगनिर्मित स्त्रियां उसके शरीर का वस्त्र आदि से ही पोषण करती थीं भोजन से पोषण नहीं करती थीं तथापि उसका शरीर कृश नहीं हुआ । कृश न होने में कारण बताया है आध्यसम्भवात् आधि कहते हैं मानसिक पीड़ा को उसका देवहूति जी में अभाव था अतः वह कृश नहीं हुई । मृत्यु को तो उनने पहले ही जीत लिया था अतः देह की वृद्धि तो अपेक्षित थी नहीं केवल मन की पीड़ा से ही देह का ह्रास (कृशता) होता है वह मनः पीड़ा उसमें न थी अतः उसमें कृशता नहीं हुई । 'च' से देह की कान्ति का नाश भी न हुआ । अन्तः स्थित ज्ञान से और बाहर स्थित मैल से वह ढकी हुई होने पर शोभित हुई तेज और मैल के साथ का दृष्टान्त सधूम इव पावकः से कहा है ॥ २८ ॥

कारिका—**अन्तःप्रज्वलितो वह्निर्बाहिर्निःसृतधूमकः ।**
तादृशो ज्ञानसंपन्नस्तपसा मलिनो बभौ ॥१॥

कारिकार्थ—अन्दर अग्नि प्रज्वलित हो और उसका धूँआ बाहर निकल रहा हो उस तरह ज्ञान से सम्पन्न तप के द्वारा मलिन शोभा पाता था ॥१॥

आभास—कदाचिदुत्थानदशायां देहं स्मरिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—

आभासार्थ—कभी उत्थान दशा में देह का स्मरण करेगी ऐसी आशङ्का करके उसका समाधान करते हैं—

श्लोक—**स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् ।**
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ॥२९॥

श्लोकार्थ—बाल उनके खुले हुए थे वस्त्र भी गिर गया था तथापि निरन्तर श्री भगवान् में ही चित्त लगा रहने के कारण उसे अपने तपोयोगमय शरीर की कुछ भी सुधि नहीं थी, केवल प्रारब्ध ही उसकी रक्षा करता था ।।२९।।

सुबोधिनी–स्वाङ्गमिति । तपोयोगाभ्यां व्याप्तम् । **मुक्तकेशमिति** दैवगत्या केशविमोकेऽपि, वस्त्रविमोकेऽपि, स्त्रीणां लज्जया अत्यावश्यकेऽपि निमित्ते देहं न बुबुधे । स्थितिस्तु दैवाधीनेत्याह–**देवगुप्तमिति** । अबोधे हेतुः–**वासुदेवे प्रविष्टा धीर्यस्य** ।।२९।।

व्याख्यार्थ—तप और योग से व्याप्त (देह का) दैवगति से बालों के बिखर जाने का तथा वस्त्र के गिर जाने का भी जिसका कि स्त्रियों को अत्यावश्यक लज्जा के कारण ध्यान रखना आवश्यक होता है तथापि उन्हें देह का भान ही नहीं था । उनके देह की स्थिति तो प्रारब्ध वश ही थी क्योंकि उनकी बुद्धि तो वासुदेव में प्रवेश कर चुकी थी ।।२९।।

आभास—एवं तस्या बाह्याभ्यन्तरव्यवस्थामुक्त्वा, आन्तरं फलितमाह—

आभासार्थ—इस तरह उन देवहूतिजी की बाहर की और भीतर की अवस्था को कहकर आन्तर फलित को कहते हैं—

श्लोक—**एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरतः परम् ।**
आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं भगवन्तमवाप ह ।।३०।।

श्लोकार्थ—विदुरजी ! इस प्रकार देवहूतिजी ने कपिलदेवजी के बताये हुए मार्ग द्वारा थोड़े ही समय में नित्यमुक्त परमात्मस्वरूप श्री भगवान् को प्राप्त कर लिया ।।३०।।

सुबोधिनी–एवमिति । सा देवहूतिः **कपिलोक्तेन मार्गेण** भक्तिज्ञानयोगात्मकेन, **अचिरतः** शीघ्रमेव, **परमात्मानं** ब्रह्मानन्दं **भगवन्तं** सर्वशास्त्रप्रतिपाद्यं **अवाप** । हेत्याश्चर्ये । स्त्रिया मुक्तिर्दुर्लभेति ।।३०।।

व्याख्यार्थ—उन देवहूतिजी ने कपिलदेवजी के कहे हुए भक्ति ज्ञान योगात्मक मार्ग से शीघ्र ही ब्रह्मानन्द सर्व शास्त्र प्रतिपाद्य भगवान् को पा लिया स्त्री की मुक्ति दुर्लभ है परन्तु फिर भी वह मुक्त हो गई यह आश्चर्य की बात है इसे सूचित करने के लिये ही 'ह' पद दिया है ।।३०।।

आभास—तस्या मुक्तिः सर्वजनीना जातेति क्षेत्रप्रसिद्ध्या निरूपयति—

आभासार्थ—उसकी मुक्ति सब लोकों में प्रसिद्ध रूप से हुई इसे क्षेत्र की प्रसिद्धि से निरूपण करते हैं—

श्लोक—**तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ।।३१।।**

श्लोकार्थ—वीरवर ! जिस स्थान पर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी, वह परम पवित्र क्षेत्र त्रिलोकी में 'सिद्ध पद' नाम से विख्यात हुआ ।।३१।।

सुबोधिनी—तद्वीरासीदिति । वीर इति सम्बोधनं तथा शौर्यकरणार्थम्, स्वधर्मप्रतिपादनेन विश्वासार्थं वा । तत् **क्षेत्रं** नाम्ना सिद्धशब्दवाच्यम्, **सिद्धपदं** पुण्यतममासीत्, **त्रैलोक्यविश्रुतमिति** तन्मुक्त्यैवेति तन्मुक्तौ प्रमाणम् । अन्यथा सर्वेषु तीर्थेषु विद्यमानेषु तस्यैव कथं प्रसिद्धिः स्यात् । अतः प्रसिद्धिहेतुमाह—**सा संसिद्धिमुपेयुषीति** । सा हि सम्यक् सिद्धि**मुपेयुषी** प्राप्तवती ।।३१।।

व्याख्यार्थ—'वीर'! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि तुम्हें भी देवहूति जी की तरह वीरता दिखानी चाहिये । अथवा उनने अपने धर्म का प्रतिपादन किया इसके विश्वास के लिये है । वह क्षेत्र सिद्ध शब्द नाम से पुकारा जाने लगा । सिद्ध पद अत्यन्त पवित्र था । तीनों लोकों में उसकी प्रसिद्धि थी यह प्रसिद्धि देवहूति जी की मुक्ति के कारण हुई देवहूति जी की मुक्ति में यह प्रमाण है अन्यथा सब तीर्थों के रहते हुए भी उसी की ऐसी प्रसिद्धि कैसे हुई । उस क्षेत्र में उनने सिद्धि को प्राप्त की इसलिये उस क्षेत्र की 'सिद्धि' पद नाम से प्रसिद्ध हो गयी ।।३१।।

आभास—शरीरस्य विनियोगमाह—

आभासार्थ—उसके शरीर का विनियोग कहते हैं—

श्लोक—**तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित् ।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य ! सिद्धिदा सिद्धसेविता ।।३२।।**

श्लोकार्थ—साधुस्वभाव विदुरजी ! योग साधन के द्वारा उनके शरीर के सारे दैहिक मल दूर हो गये थे । वह एक नदी के रूप में परिणत हो गयी, जो सिद्ध गणों से सेवित और सब प्रकार की सिद्धि देने वाली है ।।३२।।

सुबोधिनी—तस्या इति । तपोयोगेन **विधुतं मार्त्यं** मृदंशो यस्य । जलमेव हि घनीभूतं मृद्भवति, यथा हिमः, यथा वा करकाः, यथा वा सैन्धवम्, योगीश्वरो वा, महता तापेन तत् विशकलितं भवति, अत एव एतादृशं मर्त्यं तत् सरिदभूत् । सा स्त्रोतसि सरस्वत्याः प्रविष्टा **स्रोतसां प्रवरा** सरस्वत्येवाभूत् । **सौम्येति** विश्वासार्थम् । यथा वा सोमः अमृतमयः, पाने विशकलितावयवो भवति; नवम्याः सोमकलायाः पातामय इति । ततः प्रभृति सा सरस्वती सिद्धिदा जाता तत्रैव । अतः सिद्धसेविता जाता ।।३२।।

व्याख्यार्थ—तप और योग के द्वारा उनके देह के अन्दर का मिट्टी का भाग समाप्त हो गया था क्योंकि जल ही जब गाढा हो जाता है तो वह मिट्टी के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे हिम (बर्फ) अथवा करका (ओले) अथवा सेंधा नमक अथवा योगीश्वर जब खूब ताप लगता है तो बर्फ या ओले पानी बन जाते हैं इसलिये उनका इस तरह का जो मर्त्य शरीर था वह नदी हो गया। वह सरस्वती के स्रोत में प्रविष्ट होकर बहने वालों में श्रेष्ठ सरस्वती हो गयी। सोम्य यह सम्बोधन तुम इस बात का विश्वास करो इसके लिये है। जैसे सोम अमृतमय है और पीने के समय उसके अवयव अलग अलग हो जाते हैं। नवमी जो सोम कला है उसका पीने वाला यम है ऐसा कहा गया है। जब से देवहूति जी नदीरूप होकर जल में प्रविष्ट हुई तब से वह सरस्वती वहीं पर सिद्धि देने वाली हो गयी। अतः वे सिद्धों से सेवित हुई ।।३२।।

आभास—एवं तस्याः सर्वसिद्धिमुक्त्वा स्त्रीमुक्त्यवधिभूतां सर्गलीलां समाप्य, तस्य सर्गस्य विसर्गसाधकत्व एव सर्गत्वं सेत्स्यतीत्युत्तरोपयोगार्थं कपिलस्य स्थिति-माह–**कपिलोऽपीति** त्रिभिः—

आभासार्थ—इस तरह उनकी सब प्रकार की सिद्धि को कह कर स्त्री की मुक्ति ही जिसकी चरम सीमा है ऐसी सर्गलीला को समाप्त करके उस सर्गलीला की विसर्ग साधकता होने पर ही उसमें सर्गलीलापन सिद्ध होगा अतः उत्तरलीला में उपयोग के लिये कपिल देवजी की स्थिति को तीन श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—**कपिलोऽपि महायोगी भगवान् पितुराश्रमात् ।**
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ।।३३।।

श्लोकार्थ—महायोगी भगवान् कपिलदेवजी भी माता की आज्ञा ले पिता के आश्रम से ईशान कोण की ओर चले गये ।।३३।।

सुबोधिनी–गतिः स्तोत्रं प्रतिष्ठा च त्रयमाह गुणान्वितम्। तत्र प्रथमं गतिमाह–**महायोगी** गमनेऽपि प्रयासरहितः, मातुः सिद्धिं च ज्ञात्वा, अग्रे कर्त्तव्यमपि जानातीति। **भगवानिति** सर्ग-नियामकत्वे हेतुः। पितुराश्रमात् मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं प्रति ययौ। एषा वै देव-मनुष्याणां शान्ता दिक् ।।३३।।

व्याख्यार्थ - गुण से युक्त कपिल देवजी की गति, स्तुति और प्रतिष्ठा इन तीनों को कहते हैं उसमें पहले गति को कहते हैं वे महायोगी थे अतः उनको गमन में किसी प्रकार का प्रयास (कठिनता) नहीं हुआ। माता की सिद्धि को जान कर आगे क्या कर्त्तव्य है इसको भी जानते हैं। कपिल देवजी सर्ग के नियामक थे इसमें उनकी भगवत्ता कारण है पिता के आश्रम से माता की आज्ञा लेकर पूर्वोत्तर दिशा की ओर चले गये यह दिशा देवताओं तथा मनुष्यों के लिये शान्त है ।। ३३ ।।

आभास—गमने सिद्धादीनां स्तोत्रमाह—

आभासार्थ—गगन के समय सिद्ध आदि ने जो स्तुति की उसे कहते हैं—

श्लोक—**सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोरगैः ।**
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ।।३४।।

श्लोकार्थ—वहाँ स्वयं समुद्र ने उनका पूजन करके उन्हें स्थान दिया । वहाँ पर सिद्ध, चारण, गन्धर्व मुनि और अप्सरागण तथा नाग उनकी स्तुति किया करते हैं ।।३४।।

सुबोधिनी—सिद्धेति । ये केचित् सिद्धिकामुकाः, ते भगवदंशाः षड्विधा निरूपिताः । उरगा वासुकिप्रभृतयः **गणैरिति** पाठे, अप्सरसां गणा येषां ते इन्द्रादयः, तैः स्तूयमानः । यत्र गच्छति तेनाऽपि पुरस्कृत इत्याह—**समुद्रेण दत्ते अर्हणनिकेतने** यस्य ।।३४।।

व्याख्यार्थ—जो कोई सिद्धि की कामना करते हैं वे छः प्रकार के हैं उनका भगवान् के अंशरूप से निरूपण है । उरग से वासुकि आदि लिये जाते हैं । जहाँ गणैः ऐसा पाठ है वहाँ अप्सराओं के गण हैं जिनके ऐसे इन्द्र आदि देवता लिये जाते हैं उन इन्द्र आदि देवताओं से स्तुति किये जाते हुए वे मुनि जहाँ भी जाते थे वहीं उनका आदर सत्कार होता था । यहाँ तक कि समुद्र ने भी उनका सत्कार किया उनको ठहरने का स्थान दिया ।।३४।।

आभास—एवं तस्य गमनमध्यस्थितिर्निरूप्य तत्र स्थितस्य कृत्यमाह—

आभासार्थ—इस तरह उनके गमन का और मध्य स्थिति का निरूपण करके वहाँ पर रहते हुए उन्होंने क्या किया उसे कहते हैं—

श्लोक—**आस्ते योगं समास्थाय साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।**
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै समाहितः ।।३५।।

श्लोकार्थ—वे तीनों लोकों को शान्ति प्रदान करने के लिये योगमार्ग का अवलम्बन कर साँख्याचार्यों से स्तुति किये जाते हुए समाधि में स्थित हो गये ।।३५।।

सुबोधिनी—आस्त इति । योगं सम्यगास्थाय सम्यगास्ते । तत्र स्थितो द्वयं कृतवान्—साङ्ख्यमतप्रवृत्तिः, त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यर्थं शुभाशंसनं च । अतः साङ्ख्याचार्यैः स्तुतः ।३५।

व्याख्यार्थ—योग का सहारा लेकर ठीक तरह से रहने लगे । वहाँ रहकर उन्होंने दो कार्य किये एक तो सांख्यमत की प्रवृत्ति और दूसरा लोकों के कल्याण के लिये उनकी मंगल कामना करना इसलिये सांख्याचार्यों ने उनकी स्तुति की ।।३५।।

आभास—एवं तच्चरित्रमुक्त्वा उपसंहरति—

आभासार्थ—इस तरह उनके चरित्र को कहकर अब उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**एतन्निगदितं तात ! यत्पृष्टोऽहं त्वयानघ !**
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ।।३६।।

श्लोकार्थ—निष्पाप विदुरजी ! तुम्हारे पूछने से मैंने तुम्हें यह भगवान् कपिलदेवजी और देवहूति जी का परम पवित्र संवाद सुनाया ।।३६।।

सुबोधिनी—एतन्निगदितमिति । कपिलस्य यच्चरित्रं पृष्टं तन्निगदितम् । संवादोऽपि **पावन** इति निगदितः । एतस्य द्वितीयसर्गरूपत्वात्सर्गोऽपि निगदित इत्यर्थः । **च**कारद्वयेन द्विविधोऽपि सर्ग उपसंहृतः ।।३६।।

व्याख्यार्थ—कपिल देवजी का जो चरित्र तुमने पूछा था वह मैंने तुम्हें कहा । संवाद भी पवित्र करने वाला है इसलिये कहा । इसके द्वितीय सर्गरूप होने से सर्गलीला भी कही गयी । दो 'च' से दोनों प्रकार के सर्ग का यहाँ उपसंहार किया गया है ।।३६।।

आभास—एतच्चरित्रश्रवणस्य फलमाह—

आभासार्थ—इस चरित्र के श्रवण का फल कहते हैं—

श्लोक—**य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।**
भगवति कृतधीः सुपर्णकेतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ।।३७।।

श्लोकार्थ—यह कपिलदेवजी का मत अध्यात्मयोग का गूढ रहस्य है । जो पुरुष इसका श्रवण या वर्णन करता है वह भगवान् गरूड़ध्वज की भक्ति से युक्त होकर शीघ्र ही श्री हरि के चरणारविन्दों को प्राप्त करता है ।।३७।।

सुबोधिनी—य इदमनुशृणोतीति । कपिलमुनेर्मतं साङ्ख्यम् । **आत्मयोगे**ष्वात्मप्राप्त्युपायेषु **गुह्यं** गोप्यमनु शृणोतीति शिष्यरूपेण, न तु प्रभुरूपेण । **योऽभिधत्ते** सम्यक् शिष्यहृदये स्थापयति, तावुभावपि भगवति कृतबुद्धी, तस्मिन्नेव **सुपर्णकेतौ** गरुडध्वजे कालातिक्रमार्थम्, शास्त्रपर्यवसानार्थं च तादृशे निश्चितबुद्धि, तत्पदारविन्दमुपलभते । एतस्य मतस्य श्रवणं भगवति मतिनिश्चयार्थम् । यत्रैतन्मतश्रवणेऽपि भगवत्पदप्राप्तिर्भवति तत्र किं वक्तव्यं तन्मतानुसारेण प्रवृत्तस्य सम्पूर्णसर्गलीलाश्रोतुर्वा ।।३७।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां तृतीयस्कन्धे त्रयस्त्रिंशाध्यायविवरणम् ।

व्याख्यार्थ—कपिल मुनि का मत सांख्य शास्त्र जो आत्म प्राप्ति के उपायों में गोप्य है इसको प्रभु रूप से नहीं किन्तु शिष्यरूप से सुनता है तथा जो ठीक तरह से शिष्य के हृदय में स्थापित कर देता है वे दोनों ही भगवान् में भक्ति रखने वाले होते हैं। उन्हीं गरुड़ ध्वज भगवान् में निश्चित बुद्धि होते हैं। गरुड़ अत्यन्त शीघ्र गति वाले हैं अतः भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति उन्हें शीघ्र हो जायेगी काल इसमें कोई बाधा नहीं कर सकेगा और शास्त्र का पर्यवसान भी इसी में है। इस मत का श्रवण भगवान् में बुद्धि को निश्चित करने के लिये है। जहाँ इस मत के सुनने मात्र से भगवत्पद प्राप्ति होती है तो फिर इस मत के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले को या सम्पूर्ण सर्ग लीला को सुनने वाले को भगवत्प्राप्ति हो इसमें तो कहना ही क्या है ।।३७।।

कारिका—**तृतीयस्कन्धविवृतिः श्रीकृष्णचरणाम्बुजे ।**
निवेदितातियत्नेन सर्वसिद्धान्तगुम्फिता ।।१।।

कारिकार्थ—सब सिद्धान्त जिसमें भरे पड़े हैं ऐसी यह तृतीय स्कन्ध की व्याख्या बड़े प्रयत्न से श्री कृष्ण के चरणारविन्द में अर्पित की है ।। १ ।।

कारिका—**सुज्ञेषु भक्तिहृदयेषु निवेदयामि सर्गाभिधा यदि यथार्थतया विचिन्त्या ।**
लीला सदैव मतियुक्तिभिरन्विताङ्गी भाव्या तदा विवृतिरुज्ज्वलयुक्तियुक्ता ।।२।।

कारिकार्थ—भक्ति जिनके हृदय में है ऐसे सुज्ञों (विद्वानों) को मैं निवेदन करता हूं कि इस सर्गनाम की लीला को यदि आप विचारेंगें तो यह लीला आप को सर्वदा मति और युक्ति से संयुक्त दीखेगी तब उज्जवल (प्रकाशमान) युक्ति से युक्त इस (सुबोधिनी) व्याख्या की आप भावना करेंगे ।। २ ।।

कारिका—**सर्वभक्तसमुद्धारे सर्वार्थोत्पादकं हरिम् ।**
त्रयस्त्रिंशत्सर्गयुतं वन्दे सर्गाय माधवम् ।।३।।

कारिकार्थ—सभी भक्तों के उद्धार के लिये सब अर्थों (प्रयोजनों) के उत्पादक सर्वदुःख-हारी तेंतीस प्रकार के सर्ग से युक्त माधव भगवान् को इस सर्गलीला की समाप्ति में प्रणमन करता हूं ।। ३ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के तेंतीसवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत) टीका हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

*** तृतीय स्कन्ध सम्पूर्ण ***

तृतीय स्कन्ध के समापन पर भक्त शिरोमणि सूरदासजी की भेंट

भक्ति महिमा

भक्त सकामी हू जो होई । क्रम क्रम करिकै उधरै सोई ।
सनै सनै विधि-लोकहिं जाई । ब्रह्मा-सँग हरि-पदहिं समाई ।
निष्कामी वैकुंठ सिधावै । जन्म-मरन तिहिं वहुरि न आवै ।
त्रिविध भक्ति कहौं सुनि अब सोई । जातै हरि-पद प्रापति होई ।
एकै कर्म-जोग कौं करैं । वरन-आसरम धर विस्तरैं ।
अरु अधर्म कबहूँ नहीं करैं । ते नर याही विधि निस्तरैं ।
एकै भक्ति-जोग कौं करै । हरि-सुमिरन पूजा विस्तरैं ।
हरि-पद-पंकज प्रीति लगावैं । ते हरि-पद कौं या विधि पावैं ।
एकै ज्ञान-जोग विस्तरैं । ब्रह्म जानि सब सौं हित करैं ।
ते हरि-पद कौं या विधि पावैं । क्रम-क्रम सब हरि-पदहि समावैं ।
कपिलदेव बहुरौं यौं कह्यौं । हम तुम में संवाद जु भयौ ।
कलिजुग मैं यह सुनिहै जोई । सो नर हरि-पद प्रापत होई ।
देवहूति सुज्ञान कौं पाइ । कपिलदेव सौं कह्यौ सिर नाइ ।
आगै मैं तुमकौं सुत मान्यौं । अब मैं तुमकौ ईश्वर जान्यौं ।
तुम्हरी कृपा भयौं मोहिं ज्ञान । अब न व्यापि हैं मोहि अज्ञान ।
पुनि बन जाइ कियौ तन त्याग । गहि कै हरि-पद सौं अनुराग ।
कपिलदेव सांख्यहि जौ गायौ । सो राजा मैं तुम्हैं सुनायौ ।
याहि समुझि जो रहै लव लाई । सूर बसै सो हरिपुर जाइ ॥१३॥
॥३९४॥

"सूरसागर"

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण के तृतीय स्कन्ध के अध्याय २५ से ३३ तक

श्लोकानुक्रमणिका

	अध्याय	पृष्ठ		अध्याय	पृष्ठ
अकर्त्तुः कर्मबन्धोऽयं	२७	१२७	अहं सर्वेषु	२९	१९७
अकल्प स्वाङ्ग	३१	२४६	अहो बत	३३	३२७
अत एव शनैश्चित्तं	२७	११६	अहिंसा सत्यम	२८	१४१
अत्रैव नरकः	३०	२३७	अक्षिणी चक्षुषा	२६	१००
अथ ते सं	२६	५०	आत्मजाया	३०	२२१
अथ तं सर्वं	३२	२८९	आत्मतत्त्वाव	३२	३११
अथ मे देव	२५	९	आत्मनश्च परस्याऽपि	२९	२०२
अथ मां सर्व	२९	२०३	आदीपनं स्वगा	३०	२३५
अथ यो गृह	३२	२८२	आद्यः स्थिर	३२	२९०
अथाप्यजो	३३	३२१	आध्यात्मिका	२९	१९३
अथो विभूतिं	२५	४१	आरभ्य सप्त	३१	२४७
अधस्तात्	३०	२४०	आस्ते योगं	३३	३४०
अनादिरात्मा	२६	५२	आस्तेऽवमत्यो	३०	२२८
अनिमित्तनिमित्तेन	२७	१२८	आक्षिप्तात्मेन्द्रियः	३०	२२३
अनिमित्ता भाग	२५	३४	इति प्रदर्श्य	३३	३३२
अन्तः पुरुष	२६	७९	इति मातुर्वच	२९	१८७
अपीच्यदर्शनं	२८	१४८	इति स्वमातुः	२५	११
अभिसन्धाय	२९	१८८	इन्द्रियाणि	२६	६६
अभीक्ष्णा	३३	३३३	इत्येतत्कथितं	३२	३०८
अर्चादावर्चयेत्	२९	२०२	इत्येवं शैशवं	३१	२६४
अर्थज्ञात्	२९	२०६	इमं लोकं	२५	४३
अर्थाश्रयत्वं	२६	८७	ईडितो भगवानेवं	३३	३३०
अर्थेह्यविद्यमानेऽपि	१६	११५	उल्वेन संवृतः	३१	२४६
अर्थैरापादितैः	३०	२२४	ऊरू सुपर्ण	२८	१५७
असेवयाऽयं	२५	२९	एकाः प्रपद्यते	३०	२३८
अहमुच्चा	२९	२०१	एतदण्डं	२६	१०१
अहं ममाभिमान	२५	१६	एतद्भगवतो	२९	२०९

	अध्याय	पृष्ठ		अध्याय	पृष्ठ
एतद्वै श्रद्धया	३२	३०६	कृन्तनंवावयवशो	३०	२३५
एतन्निगदितं	३३	३४८	केवलेन ह्यधर्मणे	३०	२३६
एतावानेव लोकेऽस्मिन	२५	४८	कौमोदकी	२८	१६३
एतान्य संहृत्य	२६	१००	क्रियया क्रतुभि	३२	३१०
एतावानेव	३२	३०३	क्लेदनं पिण्डनं	२६	६४
एतावाने व सङ्ख्यातो	२६	६७	क्वचित्तत्त्वावमर्शेन	२७	१२८
एते ह्यभ्युत्थिताः	२६	१०६	कृमिभि क्षत	३१	२४५
एतेरन्यैश्च	२८	१४२	गुणाभिमानिनो	२९	२१५
एवं कृतमति	३१	२६०	गुणैर्विचित्रां	२६	५६
एवं कुटुम्बं विभ्राण	३०	२३७	गुदंमृत्यु	२६	१०७
एवं कुटुम्बभरणे	३०	२३०	गृहेषुकूटश्चमेषु	३०	२२३
एवं स्वभरणा	३०	२२७	गृहोद्यानं	३३	३३६
एवं विदिततत्वस्य	२७	१३२	ग्राम्यधर्म	२८	१४०
एवं प्रत्यवमृश्यो	२७	१२४	चतुर्भिर्धामतिवः	३१	२४३
एवं रैत्य	३२	२८८	चालनं व्यूहनं	२६	६१
एवं पराभिध्या	२६	५७	चित्तेन हृदयं	२६	१०८
एवं निशम्य	३३	३१९	चेतः खल्वस्य	२६	१५
एवं हरौ भगवति	२८	१७०	जन्तुर्वै भवः	३०	२२०
एवं सा कपिलोक्तेन	३३	३४४	जानुद्वयं जलजः	२८	११५
ऐश्वर्य पारमेष्ठ्यं	३२	२९२	जीवतः स्वाङ्गा	३०	२३५
कटुतीक्ष्णोष्ण	३१	२४५	जीवस्य संसृती	३२	३१२
कपिलस्तत्व	२५	२	जीवस्य ह्यनुगो	३०	२७६
कपिलोऽपि	३३	३४६	जीवा श्रेष्ठा हि.	२९	२०४
कर्तृत्वं कारणत्वं	२६	७९	त एते	२५	२५
कर्मणा दैव	३१	२४२	तच्छ्द्धया	३२	२८३
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य	२९	१८९	ततस्तेना	२६	१०१
करम्भपूति	२६	६६	ततस्ते क्षीण	३२	२९७
कललं त्वेकरात्रेण	३१	२४२	ततो वर्णाश्च	२९	२०६
कषायो मधुर	२६	६४	तत्र तत्र पतन	३०	२३३
काचित्त्वय्युचिता	२५	३०	तत्राऽपि स्पर्श	२९	२०५
काञ्चीगुणोल्लसत्	२८	१४७	तत्राप्यजात	३०	२२७
कार्यकारण	२६	५८	तत्सृष्टसृष्ट	३१	२७१
कालस्येश्वर	२९	१८५	तदर्थं कुरुते	३१	२६६
कीर्तन्यतीर्थ	२८	१४८	तदस्य संसृति	२६	५८
कुटुम्बभरणा	३०	२२६	तदा पुरुषः	२५	१७

	अध्याय	पृष्ठ
तदे तन्मे	२५	३२
तद्देहः पर तः	३३	३४३
तद्वीरासी त्युग्यतम	३३	३४५
तस्मिन् प्रत्य	२६	१०६
तमासीनम कर्माणं	२५	६
तमिमं ते	२५	१५
तमात्म नो	३१	२७
तमेवध्यायती	३३	३३८
तयोर्निर्भिन्न	३०	२३२
तस्मात्वं	३२	२९८
तस्मादहं	३१	२५९
तस्मादि मां	२८	१७९
तस्मान्न कार्यः	३१	२७९
तस्मान्मत्य	२९	२०७
तस्मिल्लब्धपदं	२८	१२५
तस्यत्वं	२५	८
तस्यावलोक	२८	१६७
तस्यास्त द्योग	३३	३४५
तस्यै तस्य	३०	२१८
तस्योप पन्न	३१	२४९
तामसाच्च	२६	८६
तिति क्षयः कारू	२५	२०
तु दन्त्यामत्वचं	३१	२६४
तेजोगुंण	२६	९९
ते न संसार	२७	११४
तेनांऽवसृष्ट	३१	२६१
तेष्वग ान्तेषु	३१	२६९
तैजसात्तु	२६	८१
तैजसानीन्द्रियाण्येव	२६	८५
तैदर्शनीया वयवैः	२५	४०
तं त्वागता	२५	९
तं त्वामहं	३३	३२९
त्रैवर्गिकास्ते	३२	२९४
त्व चं रोमभिः	२६	१०७
त्वं देह तन्त्र	३३	३२४
दक्षिणेल पथा	३२	२९६
देवानां गुण	२५	३६
देहेन जीव	३१	२७५
देहोऽपि दैव वश्यः	२८	१७४
देहंतुतं	२८	१७३
देह्यन्य देह	३१	२५५
दैवात् क्षुभित	२६	७०
दैवेना प्रसादितं	३०	२३८
द्यौतनं पाचनं	२६	९३
द्रव्या कृतित्वं	२६	९२
द्रव्योपलब्धि	३१	२७८
द्विपरार्धावसाने	३२	२८५
द्विवतः परकाये	२९	१९९
द्वैपायन सस्वस्त्वेवं	२५	५
धिष्ण्या नामेक	२८	१४२
ध्यानायनं	२८	१६९
ध्यायती भगवद्रूपं	३३	३३९
न कर्हिचित्	२५	४२
न चास्य कश्चित्	२९	२१२
नभसः शब्द	२६	८९
न तथाऽस्य	३१	२६९
नभो गुणविशेषो	२६	९९
न भो दधाति	२९	२१४
न युज्य मानयाः	२५	१९
नरकस्योऽपि	३०	२२०
न लोलुपायोप	३२	३१३
नह्यस्य वष्मण	२५	३
नाड्योऽस्य निरभिधन्त	२६	१०४
नाऽन्यत्रमद्भगत	२५	४५
नाथ मान ऋषि	३१	२४८
नाभिहृद	२८	१५९
निर्भिद्यताऽस्य	२६	१०३
निर्विण्णा नितरा	२५	६०
निर्विभेद विराजस्त्व	२६	१०४
नित्यारुढ समा	३३	३४२

	अध्याय	पृष्ठ
निवृत्तिधर्म	३२	२८५
निवृत्तिबुद्ध्यवस्थानो	२७	११६
निषेवितानिमित्ते	२९	१९३
नूनं दैवेन	३२	२९२
नैकात्मतां मे	२५	३८
नैततूवलाय	३२	३१३
पतितो भुवि	३१	२६१
पयः केन निभा	३३	३३५
पञ्चभि पञ्चभि	२६	६४
परच्छद	३१	२६२
परस्यदृश्यते	२६	९९
पश्यन्ति ते	२५	३९
पश्यत्ययं	३१	२५७
पितरि प्रस्थिते	२५	५
पुरुषं प्रकृति	२७	१२५
प्रकृतिस्थोऽपि	२७	११२
प्रकृतिःपुरुषस्येह	२७	१३०
प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य	२६	६८
प्रजापते	३३	३३४
प्रकृते पुरुषस्य	२६	६०
प्रभाव पौरुषं	२९	६८
प्रसङ्ग मजरं	२५	२७
प्रजापतिः स्वां	३१	२७०
प्रसन्नवदनाम्भोज	२८	१४६
प्राणाद्वाय	२६	१०४
प्रावोच भक्ति	३२	३१२
प्राप्नोतीहा	३७	१३४
प्राणस्य शोधयेत्	२८	१४३
प्राणयामैर्दहेत	२८	१४५
बलंमेपश्य	३१	२७१
बर्हिजात विरागाय	३२	३१३
बाहूंश्च मन्दर	२८	१६२
बुद्ध्या ब्रह्माऽपि	२६	१०७
ब्रह्मण्यवस्थित	३३	३४१
भक्ति प्रवाह	३३	३३९
भक्ति योगश्च	२९	२०९

	अध्याय	पृष्ठ
भक्तियोगो बहु	२९	१८७
भक्त्या पुमाञ्जात	२५	२६
भावनं ब्रह्मणः	२६	९७
भुक्त भोगा परि	२७	१३०
भूत सूक्ष्मेन्द्रिय	२७	१२२
भूतानां छिद्र	२६	८८
भूतैपञ्च भिरा	३१	२६६
भूतेन्द्रियान्त	२८	१७७
भृत्यानुकम्पित	२८	१६४
भेददृष्ट्या	३२	२९१
मदाश्रया	२५	२४
मद्गुणश्रुतिमात्रेण	२९	१९०
मद्धर्माचरणैः	२९	१९६
मद्धिष्ठय दर्शन	२९	१९४
मद्भक्तः प्रति	२७	१३४
मद्भयाद्वाति	२५	४६
मनसश्चन्द्रमा	२६	१०४
मनसैतानि	२९	२०८
मनोऽचिन्तत्यात	२८	१४४
मनोबुद्धिरहंकार	२६	६६
मन्यभानस्तदा	२७	१२३
मय्यनन्येन	२५	२३
महतां बहुमानेन	२९	१९५
महत्तत्वाद्विकु	२९	७४
महाभूतानि पञ्चैव	२६	६५
मातुर्जग्धान्न	३१	२४४
मार्गणनेन	३३	३३०
मासेन तु	३१	२४३
मुक्त लिङ्गं सदा	२७	११९
मुक्ताश्रयंहि	२८	१७१
मृदुत्वं कठिनत्वं	२६	९०
मौनं सदासन	२८	१४१
य आद्यो	२५	८
य इदमनु	३३	३४८
य इदं	३२	३१३
यच्छ्रीतिकेत	२८	१६४

	अध्याय	पृष्ठ		अध्याय	पृष्ठ
यच्छौचनि:सृत	२८	१५३	येत्विहासक्त	३२	२९३
यत्तस्सत्वगुणं	२६	७२	यैंने हृशी	३१	२५६
यत्तत्रिगुणं	२७	६३	ये स्वधर्मं न	३२	२८४
यत्त प्रविष्ट	३३	३३६	योग आध्यात्मि:	२५	१४
यथा गन्धस्य	२७	१२६	योगस्य लक्षणं	२८	१३८
यथा जलस्य	२७	१२१	योगेन विविधाङ्गेन	३२	३११
यथा वात	२९	१९७	योजनानां सह	३०	२३४
यथा पुत्राश्च	२८	१७५	योऽन्त: प्रविश्य	२९	२११
यथा प्रसुप्तं	२६	१०९	योपयाति शनै:	३१	२७३
यथा महान	३२	३०७	यो मां सर्वेषु	२९	१९८
यथा साङ्ख्येषु	२९	१८३	यो योगो	२५	३१
यथा ह्याति	२७	१३१	यं यमर्थमुपा	३०	२१९
यथाक्ष्णोद्रव्या	३१	२७९	य पञ्चभूत	३१	२५२
यथेन्दियै:	३२	३१०	रजसा कुण्ठ	३२	२९३
यथोल्मुवात	२८	१७६	रस मात्रात्	२६	९५
यदध्रुवस्य	३१	२१९	रूप भेद विद:	२९	२०५
यदा न योगो	२७	१३५	रूप भेदास्पदं	२९	२१०
यदामन:स्वं	२८	१४५	रूप मात्रात्	२९	९३
यदाऽस्यचित्तं	३२	३००	रेतस्तस्मा	२६	१०४
यदैवमध्यात्मरत	२७	१३३	लसत्पङ्कज	२८	१४६
यदैवाऽहन्द्रि	३२	२८४	लक्षणमहृदादीनां	२९	१८३
यद्वच्छयोपस्थि	२७	११७	लक्षणं भक्ति	२९	१९१
यद्भूयाद्वाति	२९	२१३	लालोक्य साष्टि	२९	१९२
यद्यक्रिधते	२५	४	लोकस्य मिथ्याभि	२९	१८५
यद्यसद्भि:	३१	२६७	वनं प्रव्रजिते	३३	३३७
यद्वनस्पतयो	२९	२१३	वह्निर्वाचा मुखं	२६	१०७
यद्विदुह्यंनिरुद्धा	२६	८०	वक्षोऽधिवास	२८	१६०
यन्नामधेय	३३	३२५	वायुनोत्क्रमतो	३०	२२८
यन्मायथोरु	३१	२५३	वायोश्चस्पर्श	२६	९१
यमदूतौ तदा	३०	२३०	वार्त्तायां लुव्यमाना	३०	२२५
यमादिभिर्योग	२७	११७	वासुदेवेभगवती	३२	२९९
यस्तवत्रवद्ध	३१	२५१	विदित्वार्थं कपिलो	२५	३३
यातनादेह	३०	२३१	विराग्ये येन	२९	१८४
यास्ताभिस्तान्ध	३०	२३६	विशुद्धेन तदा	३३	३४०
या मन्यन्ते	३१	२७४			

	अध्याय	पृष्ठ		अध्याय	पृष्ठ
विश्वमात्मगतं	२६	७१	सिद्ध चारण	३३	३४७
विषयानभिसन्धाय	२९	१८९	सूर्यद्वारेण	३२	२८५
विष्णुर्गत्यैव	२६	१०७	सोऽनन्तोऽन्तकर:	२९	२१६
विसृज्या सर्वोत्याग्र	२५	४३	सोऽप्येतय	२८	१७२
वैकारिकस्तैजस	२६	७७	सोऽहं वसन्न	३२	२५८
वैकारिकाद्विकु	२६	७९	सञ्चिन्तयेत्	२८	१५१
शयान: परिशोचाद्भि:	३०	२२८	संशहोऽथ	२६	८२
शायितोऽशुचि	३१	२६३	स्थितं व्रजन्त	२८	१४९
शुचौ देशे	२८	१४३	स्रवन्ति सरितो	२९	२१४
श्रद्धधानाय	३२	३१३	स्वच्छत्वमविकारित्व	२६	७३
श्रद्धत्स्वै तन्मतम	३३	३३१	स्वच्छस्फटिक	३३	३३५
स एव भक्ति	२९	१९२	स्वधर्माचरणं	२८	१३९
स एव विश्वस्य	३३	३२२	स्वयोनिषुयथा	२८	१७८
स एव प्रकृति	२६	५५	स्वाङ्गतयो	३३	३४३
स एव यर्हि	२७	११६	हस्तौ च	२६	१०४
सङ्ग न कुर्यात्	३१	२७२	ह्रासं हरे:	२८	१६८
स चापि भगवद्धर्मात्	३२	२८३	हित्वातदीप्सित	२३	३२७
सतदैवाऽत्मना	३२	३००	हिरण्मयादण्ड	३६	१०२
सताप्रसङ्गा	२५	२६	क्षुतृट्परीतो	३०	२३२
सत्यं शौचं	२१	२६८	क्षुतृड्भ्यामदरं	२६	१०७
सत्वं भृतो	३३	३२३	क्षुत्पिपासे	२६	१०४
सन्द ह्यमान	३०	२३२	क्ष्माम्भोऽनलानिस्ल	३२	२८७
सम्यग्दर्शनम	३१	२८०	ज्ञान मात्रं परं	३२	३०१
सर्व भूत समत्वेन	२७	११७	ज्ञानमेकं परा	३२	३०३
सर्व भूतेषु	२८	१७९	ज्ञानयोगश्च	३२	३०९
स संसृत्य	३२	२९१	ज्ञान वैराग्य युक्तेन भक्ति योगेन	२५	४७
सह देहेन	३१	२६५	ज्ञान वैराग्य युक्तेन भक्ति युक्तेन	२५	१८
सहस्रशिरसं	२६	७८	ज्ञानं दृष्ट तत्त्वेन:	२७	१२९
सा चापि	३३	३३२	ज्ञानं नि:श्रेय	२६	५१
सातुबन्धे	२७	११७	ज्ञानं तददात्	३१	२५४
स.लोक्यसार्ष्टि	२९	१९२			

आश्रय का पद

विहाग—भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो

श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिन सब जग माहि अंधेरो ।
साधन और नहिं या कलि में जासों होय निवेरो ।
सूर कहा कहे दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो ।।